।उत्तरकथा॥

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

•

•

प्रथम संस्करण
१९८२ ई०

•

लोकभारती प्रेस
१८, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

मूल्य : ६०.००



भारतीय नारी की सुषुप्त अस्मिता को

प्रकरण-क्रम

आमुख

कभी महाकाव्य को ही यह श्रेय एवम केन्द्रीयता प्राप्त थी कि जीवन की समग्रता को
सर्जनात्मक प्रक्रिया के द्वारा रचना के रूप मे प्रस्तुत करे, परन्तु औद्योगिकता के
विकास-क्रम मे गद्य का विकास गत दो सौ वर्षों में तीव्र गति से हुआ। मुद्रण आदि
के आविष्कार का प्रभाव साहित्य, समाज और लेखक की प्रकृति, प्रयोजन और
प्रेयता पर भी पडा। साहित्य के सम्बोधन का दायरा तो अवश्य बढा पर उसका
ण-धर्म छीजा ही, और आज का साहित्य तथा लेखक इस स्थिति के हानि-लाभ के
च खड़े है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया मे उपरोक्त केन्द्रीय महत्त्व अब उपन्यास को
भी प्राप्त हुआ। निश्चय ही इसमे पश्चिमी एवं भारतीय महान् कथाकारो का योग-
दान रहा है।

कोई भी रचना, भले ही वह शुद्ध गद्य की ही क्यों न हो, जब तक सृजनात्मकता, जो
कि मुख्यत काव्यात्मकता ही होती है, से प्रसूत नही होती तब तक वह कभी भी प्रति-
सृष्टि नही बना करती; अनुकृति भले ही बन जाए, पर साहित्य अनुकृति नही हुआ
करता। इसीलिए साहित्य मे 'काव्य-दृष्टि' संज्ञा तो है लेकिन 'गद्य-दृष्टि' नही। साथ
हा साहित्य, समग्रता के प्रति प्रतिश्रुत होना है न कि जीवन के किसी एक पक्ष के प्रति,
चाहे वह पक्ष कोई भी क्यो न हो।

जीवन या यथार्थ को जब तक रचने का भाव लेखक मे नही होगा तब तक उसे
रचने का कोई अर्थ ही नही है। लेखक रचता है इसीलिए वह कथा-स्रष्टा है,
..व प्रस्तुत नही करता इसीलिए वह कथा-वाचक नही है। प्राय लोग रचना से
आनन्द नही, भोग की अपेक्षा करते है। रचना से सरलता की उनकी मांग—अपने से
कही साक्षात् न हो जाए—के भय से उत्पन्न होती है। रचनो का विद्रूपन उनके
स्वत्व के बौनेपन के लिए चुनौती होता है इसलिए जब भी उन्हे ऐसा कुछ दिखता
मिलता है, वे असुविधा अनुभव करते है। वे यह भूल जाते है कि किसी भी प्रकार
की सृष्टि कभी भी सरल नही हुआ करती क्योंकि वह अन्तर्सम्बन्धो की जटिल
प्रक्रिया होती है, इसलिए न जीवन सरल है और न साहित्य या कोई कला। इस
सरलता के सन्दर्भ में एक बात भाषा के बारे मे भी कह देना आवश्य है।
भाषा, भाषा ही होती है—गद्य या पद्य नही, और न ही सरल या कठिन।
रचना मे अनतराशी भाषा का कोई अर्थ नही होता क्योंकि वहाँ प्रत्येक शब्द न केवल
अपने को ही प्रतिष्ठित या व्यक्त करने के लिए होता है बल्कि जो प्रस्तुत नही है,
बल्कि जिसे प्रस्तुत किया जाना है—के लिए भी वह वहाँ है। साथ ही पूर्वापर संबंध

एवं क्रम से अगले शब्द को भी गति और ध्वनित करने के लिए है। साधारणतः
जब चूल बैठालने की प्रक्रिया में अनगढ़ पत्थर रच दिये जाने पर रत्न हो जाता है
तो क्या वह सरल रह जाता है? चूंकि वह सरल नही रह जाता है इसीलिए अमूर्
हो जाता है। पूर्ण सरल, तो केवल तत्त्व ही होता है और तत्त्व स्वयं सृष्टि नह
होता। इसीलिए सृजनात्मकता अहोरात्र साधारणता को मूल्यवान बनाने में लगी है
जब भी रचना के कद मे हमारा कद छोटा होगा तभी हमें रचना मे सरलता आदि
बालकोचित अपेक्षाएँ होंगी। रचना या उसकी भाषा सरलता का भ्रम भले ही दें प
सरल नही होती। अस्तु—

चूंकि प्रथम-खण्ड की भूमिका मे इस उपन्यास के बारे में कुछ तो कह ही चुका
अत. यहाँ केवल इतना ही जोडना चाहूँगा कि उपन्यास 'उत्तरकथा' की मूल परि
कल्पना महाकाव्यात्मक है तथा इसके पात्रों, नगरों को घटनाओं के अंगारों तथ
रम्यताओं के बीच मे गुजार कर देखा गया है, परन्तु कथा की बुनावट मे काव्य-दृष्टि
तथा शब्द-शक्ति का पूरा सहयोग लिया गया है इसलिए सादे कथनों मे भी झंकृ
का भाव मिलेगा। संगीत में राग को पूरी तरह खोल डालने के लिए वादक आल
के द्वारा सब कुछ को मँथ डालता है। इस प्रक्रिया मे अनेक बार जहाँ राग-भाव य
जुलूस-वृत्ति रही वहाँ 'नेति-नेति' की औपनिषदिक मानसिकता में से भी एकान
गुजरना पड़ा है। वैसे कह नही सकता कि यह कितना-कुछ इस उपन्यास में सम्भ
हुआ है। मैं तो सम्प्रेषण के छोर पर हूँ, निष्पत्ति के नही, जहाँ कि आप हैं।

इसके प्रथम-खण्ड की कुछ समीक्षाएँ निकली हैं, आभारी हूँ; पर उनसे भी कही अधिक
ढेरों अनाम, अपरिचित, विभिन्न प्रदेशो तक के पाठकों के जैसे आत्मीय तथ
आलोचनात्मक पत्र मिले उनसे निश्चय ही प्रेरणा एवं बल मिला। साथ ही य
विश्वास भी उत्तरोत्तर दृढ ही हुआ कि हमारे सामाजिक परिवेश में आज अस्मित
को लेकर लाख विषमताएँ गहराती दिखें परन्तु अभी भी धरती, धरती ही है औ
मनुष्य, मनुष्य। अभी भी रचना की उदात्तता के सम्बोधन के लिए लोगों मे आकुलत
और चिन्ता दोनो है। लेखक शायद हताश हो गये हो पर लोग नही। संक्रान्ति के
इस कठिन समय में यदि लेखक अपने धर्म से च्युत हो जाएगा तो इसके लिए व
स्वयं दोषी होगा न कि समाज या युग।

इति नमस्कारान्ते—

४ मार्च, १९८२
९९ ए, लूकरगंज,
इलाहाबाद।

—



॥ उत्तरकथा ॥

(द्वितीय-खण्ड)

॥ उत्तरोत्तर प्रकरण ॥

चातुर्मास—
आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद और आश्विन—
उनाले [ऊष्ण काल] और सियाले [शीत काल] के सेतु-मास !! आकाश के मेघ बनकर धरती पर नीचे उतरने के मास। आकाश, बादल बनकर धरती पर एक आत्मीय, एक स्वजन बनकर, रूप और गन्ध बनकर उतरे इसकी कैसी उत्कट लालसा होती है। समस्त सृष्टि, आकण्ठ पृथ्वी को जैसी आकुलता होती है इसकी कोई कल्पना आकाश को कभी नहीं हो सकती है। जो तपा न हो वह इस स्वत्वगत पिपासा को कभी अनुभव नही कर सकता। नितान्त आकाश बने रहने में अद्वितीयता भले ही हो परन्तु जो समग्रता, जो आत्मीय कुल-बान्धवता, जो वैश्विकता कीच-कांदों वाली इस धरित्री मे है वह इस अगाध आकाशीय अद्वितीयता में कहां ? सारी ऋतुएं, सारे नक्षत्र लगते तो आकाश में है परन्तु उनके कोर, उनकी कृपा की साक्षी, भोक्ता धरती ही है। वैशाख-ज्येष्ठ की झुलस और तपन के बाद आषाढ़ का प्रथम नक्षत्र लगा नही कि पशु-पक्षी, झुलसे फूल, म्लान वनस्पतियां सबके सब कैसे स्वागत-समारोह की छोटी-छोटी घंटियां टुनटुनाने लगते हैं। स्त्रियों के चपल नेत्रों की भांति एक निःशब्द कोलाहल वृक्षों-वनस्पतियों, नदियों-नालों में भरने लगता है। पठारी एकान्त के सन्नाटो में हवा, कैसी बांशी-भाषा सी सुनायी पड़ने लगती है। पश्चिम दिशा के अरब-सागर से उठने वाले काले-कजरारे मेघों के लिए कौन-कितना हुमस रहा है इसे कोई नहीं व्यक्त कर सकता। पाखी ऐसी उड़ानें भरने लगते हैं कि जैसे अपनी चोंचो में मेघो को उठा कर ले आएंगे और किसी ने टोका नही तो सूर्यास्त को दे आएंगे। हवा में झूमती हुई फुनगियां ऐसी उमगती पड़ेंगी कि अगर पेड़ो ने उन्हें थाम न रखा होता तो सबकी सब पक्षी बन जाती। थूहर, खजूर, आम, केला-कदली, नीबू-नागकेसर, सूखे नाले, ऊंडो [गहरी] बावड़ियां,

वनस्पतिहीन डूंगरियां, खुरदरे चरागाह—कौन है जिसे मेघों की गन्ध नहीं आने लगती है ? धरती पर जब पहली आषाढ़ी बूंद टपकती है तब ऊनी-ऊनी [गरम-गरम] धूल कैसे हौले से, फूल-सी निःशब्द चिटख उठती है। गाम-गोमरों [सीवानों] पगडण्डियों और गरवटों की गरम-गरम धूल में कैसे बताशे ही बताशे छिटक उठते हैं। सूखे राड़े चबाते बैल, कपासे-बिनौले खाती गायें-भैंसें गर्दनें हिला गलघंटियां बजाते हुए कैसे हेर लेने लगते हैं कि अरे, आषाढ़ी मेघ आ गये क्या ? और हमें किसी ने बताया तक नहीं ? आषाढ़ के स्मरण मात्र से उन पशुओं की चिकनी त्वचा कैसी थरथराने लगती है जैसे जल के एकान्त को किसी ने छू दिया हो। हवा के स्पर्श में हलकी सी मार्दवता आ जाती है जिसे किलोलते बछड़े अपनी उठी पूंछों से छूना चाहते हैं। यदि खूंटों से बंधे न होते तो आषाढ़ की अगवानी ऐसे बंधे-बंधे होती ? अब तक तो नदी पेले पार पहुंच गये होते। मेघों के खूंद मुंह में दबाये सीधे अपने गांव ही पहले लाते। त्वचा पर बूंदों का प्रथम स्पर्श कैसा अप्रतिम ठण्डा लगता है न ? आषाढ़ नहाकर देह कैसी मुलायम धुली चिकनी हो जाती हैं। ऐसी धुली, एड़ी जैसी साफ देह छूने पर लगता है न कि जैसे जल पर हाथ फिसला पड़ रहा है। भैंसों का आबनूसपन तक कैसा चमचमाने लगता है कि वर्ण तो बस कृष्ण-वर्ण ही है। थनों का दूध तक उजला गया लगता है। रोम-रोम से, अन्तरतम से कैसी उत्कण्ठा, पुकार आने लगती है कि--आषाढ़ आए तो !! आषाढ़ न हुआ बल्कि एक ऐसा सम्बोधन हुआ जिसकी प्रतीक्षा मे धरती अश्रुस्नात राधा बनी तपी है। स्त्री-देह को भी ऐसे आत्मीय, एकान्त सम्बोधन की प्रतीक्षा नहीं होती होगी जैसी कि सहस्र-मुखी, सहस्र-नयना धरती को अकेले आषाढ़ की होती है।

आषाढ़ का पहला दौंगरा बरसा नहीं कि पीली-पीली घासों-तिनकों के बीच से वर्षा-जल बारीक-बारीक रास्ते बनाता कैसे सोचता हुआ चलता लगता है न कि जैसे चीटियों की नकल करता चल रहा है। अनन्त परिश्रम करता वह शिशु वर्षा-जल अज्ञात से अज्ञात, अनाम से अनाम, छोटी से छोटी जड़ों तक आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों—दो-चार दिनों में पहुंच कर ही रहता है। छोटे-छोटे गड्ढों में चलते-चलते जब वह हठात् गिरकर भरने लगता है तो आपको हंसी आती है कि इस नवजात को अभी धरती पर ठीक से चलना भी नहीं आया। घासों-वनस्पतियों के ज्येष्ठ मासी धूल-धूसरित व्यक्तित्व, उदास पीले-खिन्न मुख आषाढ़ी जल को अपने निकट पहुंचा देखकर कैसे झटपट अपनी देह की धूल झाड़ने लगते हैं। उनके स्वत्व, उनके मुख कितने दयनीय थे परन्तु चार-आठ दिनों की आषाढ़ी वर्षा के बाद तो ऐसा लगता है कि आषाढ़, जड़ों से होता हुआ फुलगियों तक पहुंच कर ही रहेगा। वनस्पतियों की देह भरने लगती है। खाया-पीया अंग लगा दिखने लगता है। वृक्षों-पौधों की नयी-नयी — निष्कलुष कोंपलें कैसी पलक-झापा लगती हैं। इन दिनों सारे अरण्य कैसे सम्पन्न और सन्तुष्ट लगते हैं। कल तक वन में, हवा में कैसा उदास, सूना सन्नाटा था, पीले पत्ते कराहते लगते थे पर दो ही चार दिनों में मिट्टी तक से कैसी गन्ध आने लगती है कि जैसे, क्या गन्ध केवल चन्दन की ही होती है, माटी की नहीं ? यह माटी-गन्ध वन में

वृक्षों-वनस्पतियों की औषधता से मिलकर अरण्य-गन्ध बन जाती है। इन दिनों वन में जाने पर ऐसा लगता है कि भाषा के लिए आकुल किसी व्यक्तित्व के पास आये हैं। आपको अपनी अँगुलियों में उस व्यक्तित्व के स्पर्श का बोध तक अनुभव होता है।

वैशाख-ज्येष्ठ में छाँहों और सघनता की तलाश में जाने कहाँ द्वीपान्तर कर गये पाखी वापस अपने पेड़ों पर लौटने लगते हैं। इन दिनो की पेड़ों की प्रसन्नता देखकर लगता है कि पत्ते, न उड़ पाने वाले पाखी हैं और पाखी, उड़ते हुए पत्ते हैं। इन दिनों की वाचाली हवा में झुके पड़ रहे पेड़ कैसे लगते हैं जैसे कि दुहरी होती हुई स्त्रियाँ खिल-खिला रही हों। और ये तोते ? कैसे भाषा-प्रवीण पाखी होते है जैसे राजमहलों की दासियाँ हों जिनके देखने, चलने, अंग-संचालन तक से भाषा झरती होती है। ऐसी उत्फुल्ल और उन्मुक्त भाषामयता किसी अन्य पाखी में नही होती है। मैना मे पट्ट-महिषियों वाला माधुर्य अवश्य होता है पर चपलता नहीं। कोयल की चपलता मे राज-कुमारियों की चंचलता होती है पर तोतों वाली आकण्ठमयता नहीं। तोते जैसे ध्वनि और भाषा से निर्मित पाखी लगते हैं। तोते कुछ भी करें, भले ही निःशब्द धूप में उड़ते हुए दिख भर जाएँ—भाषा का ही बोध देते हैं। किसी अनार या आम पर तोते हों, तब उनका व्यवहार देखिए। बच्चे भी अपनी माँ पर ऐसे लदे नहीं पड़ेंगे जैसे तोते अनार और आम पर लदे पड़ते हैं। आम में अभी मंजरियाँ आयी नहीं कि तोतों ने मँडराना शुरू किया नहीं। केरी से आम होने तक एक-एक आम कुतर डालेंगे। कोई कितना पत्तों से अपने आम इन शैतान तोतों से बचाए ? आषाढ़ आने तक आम बचते ही कितने है ? तब भी इन बचे-खुचे आमो पर भी तोते जब देखो टूटे पड़ रहे हैं। आम न हुए, माँ के स्तन हुए। कोई आम से लिपटा पड़ा है, तो कोई उसकी लम्बी टहनी से चिपटा झूला पड़ रहा है। कोई स्थान न मिलने पर चारों ओर मँडराते हुए झपटने के लिए आकुल है तो कोई चिपटे पड़े तोते को ही चोंच से मार-मार कर हटा देने पर लगा है। कोई तोता किसी दूसरे तोते की तरह नही है। और यह शोर ?—बाबा ! रे बाबा ! उस आम्रवृक्ष के ही नही, देखने वाले तक के कान तोतों की इन भाषा-चीखो से फट कर रह जाएँ। आम पर फैली धूप की मलमल कैसी चिथड़े-चिथड़े किये दे रहे हैं ये तोते !—पाखी हैं कि आफत !!

भीगी वृक्ष-छालों पर काले चीटों की लम्बी-लम्बी कतारें आम, वटवृक्ष के तनों से शाखा, और शाखा से प्रशाखाओं की ओर जा रही होती हैं। वटो के चारो ओर लाल फलों को कुतर कर फैला कर चीटे उनके चारो ओर मँडराते कैसे प्रसन्न दिखलायी देते हैं। कैसी दुर्वह और कितनी असह्य लू-गर्मी के बाद तो वृक्षों, वनस्पतियों, पक्षियों और जीवों को यह आषाढ़ी उत्सवता मिली है। भला इस उत्सवता मे भी कोई निर्द्वन्द्व न हो ? कोयल की वाचालता अब काफी कम हो गयी है इसलिए कोयल-कौवों की झड़पें भी काफी कम हो गयी हैं। बयाएँ भी अपने लटकते घोसलों में बार-बार आ-जा रही हैं। पीपल की सबसे ऊँची फुनगी पर पंजे साधे, पर तौले, गर्दन उठाये चील पश्चिमी क्षितिज की ओर ऐसे ताक रही है कि आषाढ़ी मेघ इसी ओर से तो आएँगे!

आषाढ़ी मेघों का आना ही नहीं, वह चाहे, और दो-चार पर मारे तो थोड़े उड़ने पर अरब-सागर तक देख सकती है। ढेर सारी चीलें गोल की गोल में उपरले आकाशों में ऐसे निश्चिन्त मँडरा रही हैं जैसे इन्दर राजा के आँगन में गरबा-नृत्य करने का उन्हें आमन्त्रण मिला था। उनकी निश्चिन्त उडान देख कर ऐसा लगता है कि उन्हें नीचे उतरने की कोई उतावली नहीं क्योंकि पहले वर्षा हो तो, उन्हें नीचे आने में देर ही कितनी लगेगी ? और फिर ये मेघ-पाहुने इधर ही से तो आएँगे। उन्हे मालवी धरती का निमंत्रण कौन देगा ? ये नदी-नाले, ये थूहर-बबूल ? इतने ऊपर से उन बेचारे मेघों को कुछ दिखेगा भी ? देखना, मेघों को कैसे घेर कर मालवी धरती पर हम उतार कर लाती हैं।

आषाढ की प्रतीक्षा मनुष्य भी करता है। इस मानवीय प्रतीक्षा को भाषा, भाव, अभिव्यक्ति सभी कुछ तो प्राप्त है। प्रकृति ने सृष्टि में जड़ और चेतन के जो भेद किये हैं वे वस्तुतः अभिव्यक्तिगत ही हैं। जड़ की भाषा उसका स्वत्व है परन्तु इसके बाद जो जितना अधिक चेतन है उसके पास उतने ही अधिक ध्वनि के विकसित स्वरूप हैं। मनुष्य ने इस ध्वनि को व्यवस्थित भाषा का स्वरूप दिया। मनुष्यों मे भी चेतना के स्तर हैं। किसी के लिए जीवन भर भाषा, मात्र गाली होती है तो किसी के लिए भाषा, मन्त्र होती है। भाषा को यह गाली का स्वरूप या मन्त्र की महत्ता देने वाला स्वयं मनुष्य है। भाषा तो बाह्य है। मनुष्य अपने अन्तर में उठनेवाले आनन्द को उत्सव का, पर्व का रूप देकर गान-नृत्य, गन्ध-वर्ण में परिणत कर देता है। मनुष्य के इस उदात्त स्वरूप, उत्सव-भाव को यह सृष्टि किस कृतज्ञ भाव से ग्रहण करती है इसे साधारण नहीं समझ पाते। शांति के लिए 'स्वाहा' उच्चारण के साथ दी गयी एक आहुति सम्पूर्ण सृष्टि के लिए कितनी मांगलिक होती है इसे कभी मानवेतर सृष्टि में पैठ कर कोई देखे, तभी समझा जा सकता है। मनुष्य की रचना प्रकृति ने उसके 'स्व' के लिए की ही नहीं है। वह तो सृष्टि मात्र के प्रतिनिधित्व के लिए जन्मा है। तभी तो मनुष्य आषाढ़ भर तो किसी प्रकार प्रतीक्षा करता है कि थोड़ी सी वर्षा हो तो, नदी-नाले चलने लगें, हवा में थोड़ी ठंढक आ जाए, वृक्षों की वानस्पतिक उपस्थिति अनुभव होने लगे और ऐसी माधवता श्रावण आते-आते बहुत कुछ हो भी जाती है। जिस खिड़की से कभी लू की लपटें आती थी अब उसी से ठंडे बायरे के झोंके रह-रह कर आने लगते हैं। इस बीच वृक्षों के पत्ते नहा लिये तो कैसी हरीतिमा आ गयी न ? मेघ-गर्जन पर ऐसा लगता है कि जैसे खम्भों पर जलती चिमनियाँ चौंक-चौंक पड़ रही हैं। घर-आँगन सभी जगह कैसा सुहावना लगने लगता है जैसे कोई मेहमान आने को है और अभी तक सतरंजी भी बाहर ओटले [चबूतरे] पर किसी ने नहीं बिछायी। भला ऐसी रम्य, काम्य ऋतु में समस्त सृष्टि की ओर से अब मनुष्य को कोई उत्सव मनाने से रोक सकता है ? गोठों के लिए श्रावणी फुहार में भीगते हुए सुदूर वनों के जलाशयों तक जाने से कोई रोक सकता है ? आनन्द के लिए उपकरण की नहीं, मन की उत्सवता चाहिए। जंगल में पीपल या बट-वृक्ष के भीगे तने से पीठ टिकाये वर्षा मे टाट सिर से

ओढ़े, ठंडी हवा में कांपते किसी ग्वाले, पोप से पूछिए कि तेज सपाटे मारती हवा में छितरी पड़ती बांसी की इस बेसुरी तान में क्या आनन्द आ रहा है ! वर्षा की माधवता जब अपने अन्तर में सम्पन्न होगी तभी वर्षोत्सव अनुभव किया जा सकता है। गीली, भीगी गोधूली में गायों-भैंसों के साथ लौटना भी एक उत्सव है यह अनुभव करने के लिए अपने अन्तर में अनासक्त चरमोत्कर्षता चाहिए। स्त्रियाँ हैं कि वर्षा थोड़ी सी रिमझिम हुई और निकल पड़ी। गांव के बाहर जिस आम या पीपल या नीम की शाखा थोड़ी नीची हुई उसी पर रस्सी का झूला डाला और हिचकोले लेने लगी। और कहीं दो-चार हुईं तो रस्सी में पटिया फँसाया और दोनो ओर सखियां खड़ी हो गयी। कैसे हुमस-हुमस कर पेंगे बढ़ायी जा रही है। वाल हवा के साथ छितरे पड़ रहे हैं। पल्लू का पता ही नही चल रहा है। रिमझिम में सारा मुँह कैसा छिटा पड़ रहा है जैसे कोई दूध की धार मुँह पर छींट रहा हो। झूले के साथ देह और देह के साथ हीरामन मन भी कैसा ऊपर-नीचे आ-जा रहा है। जल को ठेलने की तरह ही हवा को ठेलते हुए ऊपर जाते समय सीने पर कैसा मीठा-मीठा सा दबाव लगता है, जैसे किसी का हाथ हो—किसका ?—हिश्‌ !! परन्तु लौटते में पैरों के बीच से उड़ते लुगड़े के बीच से हवा की लकीर कैसी ठण्डी-ठण्डी सी, पिंडलियों को जाँघों को थरथरा देती हैं। कमर तक सब सुन्न सा पड़ जाता है जैसे रस्सी न थामो तो अभी बस चू ही पड़ेंगे। और इस ऊब-चूभ मे मन का रसिया हीरामन न जाने कितने नदी-नाले, गांव-कांकड़, सम्बन्धों के औचित्य-अनौचित्य को लांघकर कैसे-कैसे सपने देखने लगता है कि किसी को उनकी जरा सी भनक या आहट भी हो जाए तो फिर कुएँ में ही फांदना पड़े। गीत की एक हिलोर ऊपर से नीचे आती है और फिर हवा के दबाव में कैसे थरथराती ऊपर चली जाती है—'चालो रे गामड़े मालवे !!'—झूले की यह उपकरणहीन मन की उत्सवता अर्धचन्द्राकार रूप में आती है, फिर ऊपर आकाश में जाकर कैसे फिर पलटती है। ऐसी उत्सवता में सारे वन-प्रान्तर, नदी-नाले, वनराजियां, पशु-पक्षी सभी तो नारी-कण्ठ की इस आकुल रसमयता में अभिषेकित हो जाते हैं। मनुष्य की यह कैसी उत्सव-सुगन्ध है जिससे समय की देह भी सुवासित लगती है। श्रावण मे अरण्य की भांति आकण्ठ भीगना और क्या होता है ?

और श्रावण बीतते न बीतते श्रावण-पूर्णिमा आ जाती है। तीज के लिए पीहर आयी नववधुएँ पुनः लड़कियां बनी कैसे दुईपाटी के फूल लगती हैं। श्रावण-पूर्णिमा के रक्षा-बन्धन के बाद फिर ससुराल लौट जाती हैं। अपने गांव के साथ कन्यात्व कैसा बँधा हुआ है ; बाकी कहीं जाओ, वधू तो होना ही है। श्रावण फुहारों का मास है परन्तु भाद्रपद तो झड़ी के लिए ऐसा ही प्रसिद्ध है जैसे कि कथाकरी सखाराम बुवा की कथा, जिसे सुनते हुए डूबते जाओ। परसों से भाद्रपद आरम्भ हो जाएगा। आषाढ़ में जल धरती में पहुँचा ही होगा कि श्रावण में वह अंकुरित हुआ और भाद्रपद में तो फूल बनकर खिल उठता है। दूर्वा और कोटि-कोटि अनाम घासें, मात्र लिखी हुई वनस्पतियां ही न रहकर भाद्रपद में चलते हुए पौधे लगने लगती हैं। कल तक के उघड़े

धरती के सारे अंग धानी चुनरी से ढँक-मुँद जाते हैं जैसे कन्या अब गोरी हो गयी है, अंग ढँकना आना ही चाहिए।

श्रावण में उपवनों, जलाशयों के किनारे गोठें होती हैं। वैष्णव-मन्दिरों की हवेलियों के परकोटों से निकल कर ठाकुर जी भी वन-विहार के लिए पूरे तामझाम के साथ निकल पड़ते हैं। मनुष्य का या भगवान का, किसी का वन-विहार को निकलना ही उत्सव है। ठीक ही तो है, श्रावण की वर्षा, वर्षा थोड़े ही होती है, वह तो नेत्रों से देखे जाने वाला माधव-स्पर्श होती है। पूर्णवयस्का वर्षा तो भाद्रपद की होती है। श्रावण की वर्षा तो मिथुन-नयनों की ऐसी भाषा होती है जो आँखों की राह सीधे अन्तर को सम्बोधित करती है और मन में कैसे चाँदी की घंटियाँ टुनटुनाने लगती हैं। ऐसे में नयन मिलते कहाँ हैं ? तत्काल पलकें इन्हे न ढाँपें तो पता नहीं क्या हो जाए ? श्रावण-वर्षा तो बस, मीठी गुनगुनी धूप होती है। इस धूप की हल्दी का आलेप करने को जी करता है, तो मन उस धूप को ठुमरी के बोल सा गाना चाहता है; नहीं, कानों में झुमके सा धारण कर लेना चाहता है।—वन-विहार के लिए पूड़ियाँ, गुलगुले, भजिये, अचार, मुरब्बे न जाने क्या-क्या पीतल के डिब्बों में लिये आँवला-पूजन के लिए घर से निकल कर खुले में पहुँचकर मन कितना सम्पूर्ण होता है, इसे पुरुष क्या जानें ? किसी स्त्री से पूछो। नाक में नथ, हाथ में गोखरू, कुहनी के ऊपर बाजूबंद, पाँव में पायल-बिछिया पहने जब दल की दल गाँव-कस्बे से बाहर निकले और तालाब की पाल पर पहुँचे नहीं कि श्रावण की फुहारें कैसे आपको हल्के से भिगोने लगती हैं, जैसे वैष्णव-मन्दिर की होली हो। मुखियाजी ठाकुरजी के झूले से चाँदी की पिचकारी सटा कर 'बोल गिरिराज-धरन की जय !!' कहकर सुवासित केसर-जल से होली खेलते हैं तो देश, काल, मान-मर्यादा कही कुछ रह जाती है ? देह कैसे खुली किताब हो जाती है न ? उत्सव तभी उत्सव है जब वह सम्बन्धहीन हो। मन कैसे देह पर से उतरी काँचली [चोली] सा पीछे छूट गया लगता है। फुहारों से छनती आती श्रावणी जंगली हवा पोर-पोर को कैसे सजग बना देती है जैसे सारे रोम जिह्वा हो गये हैं। नारी-देह की इस उत्सव-भाषा को आज तक न जिह्वा ही मिल पायी और न अभिव्यक्ति ही। ऐसी ठंडी हवा में देह के कस उठने के साथ चोलियाँ तक कैसी कस उठती हैं कि साँस लेना भी दूभर हो जाता है। तालाब के पाल की भीगी काली मिट्टी में गोरे-पतले पाँव कैसे फिसले पड़ते हैं जैसे दही पर चल रहे हों। पाँवों की अँगुलियों के बीच से काली मिट्टी कैसे उगी-उगी सी लगती है न ? देह में कही स्पर्श हो, एक आयु में भोग जैसा ही लगता है। अँगुलियों की मच्छियाँ [बिछिया] काली मिट्टी में सन उठती हैं। मिट्टी से सने पैर ऊपर उठाते साड़ी भले ही पिंडलियों तक उठ जाए तो आप चौंकते नहीं कि किसी की ललचायी दृष्टि पड़ रही होगी और आप घबरा कर साड़ी नीचे करने लग जाएँ। कैसा उन्मुक्त है न सब ? कोई निषेध नहीं, कोई अवगुण्ठन नहीं। मन के साथ इस तन को भी जितना और जैसा चाहो भीगने दो। वृक्षों की भाँति अपनी देह को भी भीगने देने की उन्मुक्तता, आनन्द और सुख कितना अप्रतिम होता है, यह किसी श्रावणी-सोमवार के वन-

वि[illegible] बहू बनकर ही अनुभव किया जा सकता है।

परन्तु भाद्रपद में मात्र वृष्टि ही नहीं होती बल्कि मूसलाधार वृष्टि होती है। दिनों नहीं बल्कि आठ-आठ दस-दस दिन तक मेघ छंटने का नाम ही नहीं लेते। कितने ही पर्तों और रंगों के मेघ उन दिनों आकाश में भरे होते हैं कि पता ही नहीं चलता। कम्बल ओढ़े, नेवतियों से गिरते पानी की अनवरत आवाज सुनते बैठे रहने के अलावा आप और कुछ कर ही नहीं सकते। सूर्योदय और सूर्यास्त का प्रश्न ही नहीं। सूर्य के दर्शन करके उपवास तोड़नेवाली स्त्रियों को दो-दो, तीन-तीन दिन से ज्यादा भूखा रह जाना पड़ता है। पेड़ों की फुनगियों तक झुक आये मेघ कैसे वाचाली भाव से बरसते ही चले जाते हैं जैसे नवागता भाभी के सामने देवर वाचाल हो जाते हैं। श्रावण में जो नदी-नाले चलने लगे थे वे भाद्रपद में कैसे अनुभव सम्पन्न स्त्रियों की भांति खिलखिलाकर दौड़ने लगते हैं। मालवे का सारा भीगा पठार इन खिलखिलाते, दौड़ते-भागते नदी-नालों से ऐसा मुखर हो उठता है जैसे मालवी पठार की पखावज को नदी की अँगुलियों से भाद्रपद बजा रहा हो। मालवी नदी-नालों में पूर [बाढ़] आती है तब भी यहाँ कभी अतिवृष्टि नहीं होती। प्रत्येक मूसलाधार वृष्टि के बाद ऐसा लगता है कि जैसे अर्घ्य-जल था जो लुढ़क कर बह गया। इस सलवटी धरती में ठहरता कुछ नहीं। उत्तरी पठार का सारा जल, नालों से दुहता हुआ नदियों, और नदियों से बड़ी नदियों में पहुँच मालवी पठार और कान्तार लांघ कर गंगा-यमुना के मैदान में पहुँच जाता है। गाम-गोयरे के नदी-नाले कालीसिंध और क्षिप्रा से होते हुए पार्वती में मिलते हैं और पार्वती, चम्बल के दुर्गम कांठों और निर्जन जंगलों से होती हुई यमुना में विसर्जित होकर अगत्या तीर्थराज प्रयाग में पहुँच कर मालवी पठार की पार्वती भी गंगा बन ही जाती है। मालवे का उत्तरी जल जहाँ एक ओर बंगाल की खाड़ी से जुड़ा हुआ है वहाँ दूसरी ओर दक्षिणी जल, नर्मदा के माध्यम से ओंकारेश्वर-महेश्वर के तापसी कांठों से होता हुआ अरब-सागर से जुड़ा हुआ है। अधिकांश पठारी-जल ढलॅग जाता है तब भी वर्ष भर के लिए तालाब, बावड़ियाँ, कुण्ड, कुएँ—सब जल भरे रहते हैं। कमल और सिंघाड़े, ईख और पूंखड़े, गेहूँ और कपास की प्यास बुझाता मालवी पठारी बिल्लौरी जल खेतों-खेतों बहता रहता है। तभी तो इस शस्य श्यामला माटी वाले मालवे के लिए प्रसिद्ध है कि—मालव धरती गहन-गंभीर, डग-डग रोटी, पग-पग नीर !!

पर, इस बार तो श्रावण भी भाद्रपद जैसा ही मूसलाधार बरसा, भगवान जानें अब भाद्रपद में क्या हो। मालवे के समस्त कृष्ण-पठार पर अहोरात्र धाराधर बरसते मेघ ऐसे लगते जैसे मालव-माटी के इस कृष्ण-पार्थिव का चातुर्मासी अभिषेक अनुष्ठान सम्पन्न हो रहा है, जिसमें मेघ-गर्जन ही [illegible] है। इस वर्षा में भीगे [illegible] की सुरसुरी अभी तक नहीं गयी। भला ऐसी भीगी हवा में तार पर फैले लत्ते-[illegible] गलने कुछ भी तो नहीं सूखते। बिस्तर [illegible] गोदड़ों-लिहाफों की रुई तक ऐसी ठण्डी, [illegible] हुई रहती कि ओढ़ने पर भीगेपन का बोध होने। जब तक आँच [illegible]

तक कपड़े क्या, हाथ-पाँवो का भीगापन भी बना ही रहता है। और इस आँच की भली चलायी, इन दिनो की आँच—गीली लकड़ियाँ एक तो जलती नहीं हैं और राम-राम करके किसी तरह जल गयी तो ऐसा लगता है कि जैसे बड़े ही सोच-सोचकर, अहसान करती सी जल रही हैं। आप कहीं बिगड़ न उठें इसलिए कसमसाती, धुआँ देती ऐसी जलेंगी कि क्या मजाल जो पानी गरम हो जाए। सड़कें तो अपना पानी नालियों मे बहाकर बड़ी जल्दी साफ सुथरी हो जाएँगी, इसके बाद नालियाँ जानें और उनका भाग्य !! सडकों का यह ढेर सा पानी बड़ी नालियों से होता हुआ सेरियों-मुहल्लों की तंग नालियों में हलर-हलर करता भर उठेगा। हठात् इतने पानी के कारण वे नालियाँ जरूर ही उफना जाएँगी और तब गलियो में न केवल नाली-जल ही बल्कि सारा कूड़ा-कर्कट, मैला भर उठता है। चूते, टपकते घर से निकले नही कि बाहर की तेज बौछार के साथ-साथ नालियों का यह उफनाता गन्दा पानी घुटनों से भी ऊपर पहुँचने लगता है। भला इस अशौच की स्थिति मे घर मे कोई घुस ही कैसे सकता है ? तो क्या हर बार बाहर से भीगकर लौटने पर आदमी स्नान करे ? ऐसे मे निमोनिया क्या डबल-निमोनिया न होता हो तो हो जाए। आदमी की जान को कोई एक साँसत है ? माना कि आपने एक हाथ से छाता और दूसरे से धोती ऊँची कर ली है पर अब सामान वाले झोले के लिए तीसरा हाथ कहाँ से लाइएगा ? चलिए, यह तो है ही : लाख माना कि आप अपनी इस गली के अभ्यस्त हैं। पैर तक जानते हैं कहाँ कच्चा है और कहाँ गड्ढा है, लेकिन जब चारों ओर पानी ही पानी हो तो पैरों के कोई आँख तो है नहीं कि वे इस मार गंदे पानी मे भी सब कुछ देख लेंगे। मान लो भूल से नाली की गहराई में पैर पड गया, तो ? आपका और आपके साथ सामान का भी हो गया न गंगा-स्नान ? ये मगरमुँहे, कार्तिक-चौक, सिंहपुरी की गलियाँ हैं कि आफत। अच्छे-भले दिनों मे भी आप अकेले हो निकल जाएँ तो आपका भाग्य और कहीं सामने से कोई आ गया और यदि वह भी आप ही की तरह का कोई आदमी हुआ तो किसी तरह किसी के घर की सीढ़ियाँ चढकर या आड़े-तिरछे होकर निकल जाएँगे; पर पानी-छाँटे के दिनों में तो आप किसी की सीढियाँ चढने से भी रहे। ऐसे मौसम में तो प्राय: पहले से ही वर्षा का मारा कोई कुत्ता बैठा हुआ होगा जो क्यों उठने लगा ? और किसी के सूने बरामदे की ओर तो झाँकने की भी हिम्मत नही पड़ेगी क्योंकि वहाँ भी कोई गाय या नन्दी महाशय वर्षा रुकने की प्रतीक्षा मे खड़े होंगे।—ऐसी असंख्य विसंगतियाँ, विषमताएँ हमेशा ही होती हैं तब भी श्रावण-भाद्रपद मालवा के अपने प्रिय ही नही बल्कि आत्मीय मास हैं। वर्षा धुले वृक्ष, नगर, कस्बे, ग्राम, घर, खुले जंगल, वनराजियाँ, लोगों की देह, स्त्रियो के नेत्र—सब ऐसे खिले-खिले नहाये-धुले लगते हैं कि जैसे माँ ने मुँह धोकर गलने [गमछे] से कस कर पोछ दिया हो और गाल न केवल निकल ही आया बल्कि चमचम करने लगा हो।

कल श्रावण-पूर्णिमा है ।

सामान्यतः तो अब यह भाई-बहन का रक्षा-बन्धन का पर्व हो गया है परन्तु वस्तुतः यह ब्राह्मणों का पर्व रहा है, जिसे 'श्रावणी' कहा जाता रहा है । 'श्रावणी' के दिन ब्राह्मण मात्र बड़े ही अनुष्ठान पूर्वक सामूहिक रूप से सूर्योदय के पूर्व ही किसी नदी, कुण्ड या जलाशय पर एकत्र होते हैं । पंचगव्यादि के साथ अनेक बार सामूहिक स्नान होता है । उपरान्त बड़े ही शास्त्रोक्त एवं सांगोपांग रूप में यज्ञ और कर्मकाण्ड होता है । समवेत वेद-मंत्रों के पाठ एवं उच्चारण के साथ केसर-कुंकुम रंजित नये यज्ञोपवीत धारण किये जाते हैं । पुराने यज्ञोपवीत खण्डित करके प्रवाहित कर दिये जाते हैं । विभिन्न वर्णी रेशमी सोलों-मुकुटों में त्रिपुण्ड्र या वैष्णवी तिलक लगाये, शिव-गाँठ या विष्णु-गाँठ के नये यज्ञोपवीत धारण किये यह ब्राह्मण-समुदाय अप्रतिम दृश्य लगता है । ब्राह्ममुहूर्त में घर से गये लोग श्रावणी की रिमझिम में प्रायः भीगते हुए अपराह्न में ही घर लौट पाते हैं । इसीलिए रक्षा-बन्धन का पर्व मालवा में सन्ध्या को ही मनाया जाता है । इन श्रावणियों से लौटकर इतिहास के किन्हीं युगों में राजपुरोहित राजा को—

येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः
तेन त्वामभि बध्नामि रक्षे मा चल मा चल ।

यह मन्त्र पढ़ते हुए राजा के मंगल के लिए, राज्य के शुभ के लिए रक्षा-कवच बांधा करते थे । प्रतिदान में राजा, पुरोहित को विविध प्रकार की दक्षिणा देता था । कालान्तर में जब अन्य वर्ण और वर्ग के लोगों को ब्राह्मण रक्षा-कवच के स्थान पर रक्षा-सूत्र बाँधने लगे तो राज-दक्षिणा ताँबे के पैसों की दान-दक्षिणा में परिणत हो गयी । समय के साथ यह आज का रक्षा-बन्धन हो गया । जब कि बहन के द्वारा भाई के पूजन की परम्परा दीपावली के बाद की द्वितीया पर है ।

'श्रावणी' का सारा प्रबन्ध दुर्गा ने स्वतः ही कर डाला था । तीनों लड़कियाँ कुन्ती, कान्ता और मणि तुलसी-क्यारे के पास नीचे चौखण्डी में बैठी हुई बत्तियाँ बट रही थीं और उनमें घी लगाकर सहेज कर रख रही थीं । तब भी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने अपनी ओर से सहेज दिया कि जनेऊ के दो-चार जोड़े और भी रख देना क्योंकि प्रायः लोग सब कुछ लाते हैं पर जनेऊ लाना ही भूल जाते हैं । इधर कुछ वर्षों पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल में वार्धक्य दिखने भी लगा था । कनपटी के पास

सफेद होने लगे थे तथा अपने पिता की भाँति बाल भी झड़ने लगे थे। सच तो यह है कि विगत वर्षों में इतनी तेजी से अप्रत्याशित परिवर्तन हुए कि घर-परिवार और कुल-कुटुम्ब की सम्पूर्ण जिम्मेदारी उन पर लगभग आकस्मिक आ गयी सी लगी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल अपनी आयु से कहीं अधिक बड़े लगने लगे थे। पिता और फुन्दी काका की हत्या के बाद इन पर तथा पूरे परिवार पर माँ, अवन्ती काका और दुर्गा के 'बड़दा' की छत्रछाया अब भी थी परन्तु देखते-देखते शेष लोग एक-एक करके कैसे उठ गये, चले गये कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल गम्भीर हो उठे। पिता की मृत्यु के बाद दुर्गा के बड़दा, पण्डित शिवशंकर आचार्य जब एक दिन सब कुछ गोविन्द और दुर्गा को सौंप कर कहने को तो चारों धाम की तीर्थयात्रा पर ही गये परन्तु भवितव्य को कौन जानता है? उस दिन पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को जितना अकेलापन अनुभव हुआ वैसा तो किसी भी दिन नहीं हुआ होगा। माँ, श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल वृद्ध होने के साथ-साथ मन से बहुत बुझ गयी थीं। वैसे तो दिन भर काम-काज में इन बातों की ओर अधिक ध्यान नहीं जा पाता परन्तु जब कभी कोई विषम परिस्थिति उत्पन्न होती तब बहुत कुछ याद भी आता परन्तु रात में तो प्रायः बिस्तरे पर पड़े-पड़े स्वजन, आत्मीय, विगत की घटनाएँ सब एक-एक करके याद आते। कैसे पट्टी पर लिखी इबारत की भाँति लिखे हुए लोग कोई मिटा देता है और हम अवश बने केवल देखने के लिए बाध्य हैं। न हमारे किसी उत्साह, आवेश, आसक्ति या और कुछ का कोई अर्थ है और न प्रासंगिकता ही। एक दिन ऐसे ही हम भी पट्टी पर से पोंछ दिये जाएँगे। कैसा असंग खेल है यह। कण-कण, पल-पल करके एक रचना बनती है और उसी क्षण से उसे मिटाने की प्रक्रिया भी आरम्भ हो जाती है। कोई बता सकता है कि इतनी सभ्यताएँ, इतनी संस्कृतियाँ, इतने आक्रमण, युद्ध, तानाशाह, सम्राट, सब पोंछे जाकर कहाँ फेंक दिये गये हैं?—और ऐसे ही मौकों पर प्रायः दुर्गा घर का सारा काम-धाम निबटा कर गलने से हाथ-पैर पोंछती दिखलायी देती। प्रतिदिन वह पूछ लिया करते कि अवन्ती काका ने खा-पी लिया कि नहीं?

बड़े काका पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल को यद्यपि दुर्गा ने बाँध रखा था, परन्तु आज तक कोई ऐसा व्यक्ति, कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं हो सका है जो वास्तविक की अनासक्ति को आबद्ध रख सके। पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल ने अपनी माता श्रीमती पार्वती देवी शुक्ल की मृत्यु के बाद स्वयं को यजमानी-वृत्ति से पृथक कर लिया था परन्तु दादा पण्डित महादेव शुक्ल और 'फुन्दी' की हत्या के बाद तो वह दुःखी से कहीं अधिक तो वीतरागी हो गये। अब वह त्र्यम्बक के साथ ही नीचे बैठक में रहने लगे। अब वह प्रत्येक सोमवार को 'चिन्तामणि-गणेश' जाते, फलतः इतनी दूर आने-जाने में तथा वहाँ पाठ-पूजन करने में देर रात तो हो ही जाती थी। रोज तो वह महाकाल जाते तो आठ-नौ बजे तक लौट आते थे। ऐसे में यदि दुर्गा उनके भोजन के लिए चौका लिये बैठी रहती थी, तो कोई बात नहीं थी परन्तु जब से उन्होंने प्रति सोमवार 'चिन्तामणि-गणेश' जाना शुरू किया और आधी-आधी रात तक लौटना

होता तो उस समय भी दुर्गा का चौका लिये बैठे रहना उन्हें असुविधा देने लगा अतः काफी विवाद के बाद दुर्गा ने यह माना कि काका स्वयं ही अपना भोजन निकाल कर खा लिया करेंगे। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बिस्तरे पर पड़े-पड़े देखते कि सोमवार को दुर्गा सारा चूल्हा-चौका रोज की अपेक्षा देरी से ही समेटती है, तभी तो कितनी ही रात में पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल क्यों न लौटें, चूल्हे पर रखा भोजन हमेशा ही कुछ न कुछ गरम ही मिलता। पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल को ऐसे समय भोजन करते हुए लगता कि वह लाख अपने को निर्बन्ध करना चाहते हों परन्तु दुर्गा उनकी ही नहीं परिवार के सारे लोगों की चिन्ता किये बिना मान नहीं सकती। उन्होंने सोमवार को व्रत रखने की अभी चर्चा चलायी भर होगी कि दुर्गा ने पूरा घर सिर पर उठा लिया कि ऐसा उसके रहते कभी नहीं हो सकता। इस आयु में इतनी दूर का आना-जाना और उस पर उस दिन व्रत !!—सो वह किसी दिन नहीं होने देगी, और सबको चुप रह जाना पड़ा।

माघ चल रहा था। यह मास भी कितना विचित्र होता है, दिन और रात के तापमान में जमीन-आसमान का अन्तर मिलेगा। धूप में कितनी तेजी होती है परन्तु इधर सूर्यास्त हुआ नहीं कि बारी (खिड़की) से इतनी तेज ठण्डी हवा आने लगेगी कि घर के भीतर के पर्दे ही नहीं बल्कि श्रीनाथ जी के चित्र की पवित्रा (रेशमी माला) भी हिलने लगती है। ऐसे मे कठिनाई यह होती है कि दिन के समय निकला व्यक्ति रात के इस विपरीत मौसम की तैयारी करके तो नहीं चलता। पुराने लोग तो हिरावल न सही तो दोहर तो ले ही लेते हैं। उस दिन चतुर्थी थी। पश्चिमी आकाश मे चतुर्थी का चन्द्रमा घुली हुई चांदनी के साथ उगते हुए या उगे हुए कैसे संकोच के साथ आकाश की प्रशान्त नीलिमा में अकेले हंस सा दिखता है परन्तु पलक झपकते वह हंस कब उड़ गया या चन्द्रमा कब डूब गया पता ही नहीं चलता। एकदम चन्द्रमा विहीन हो जाने पर आकाश भी कैसा सिटपिटाया सा लगता है।

'चिन्तामणि-गणेश' बड़ा ही सिद्धपीठ माना जाता है। मध्य-युग में कभी यहाँ तन्त्र का बड़ा भारी पीठ था। वर्तमान मन्दिर भी पाँच सौ वर्ष प्राचीन तो निश्चित ही है। मन्दिर के चारों ओर जिस प्रकार की गढ़ी बनी है वह बतलाती है कि मध्य-युग के उस अराजक युग में तान्त्रिकों के लिए यह गढ़ी शरणस्थली रही होगी। गढ़ी की बीसियों कोठरियाँ आज या तो उजड़ गयी हैं, या टूट-फूट गयी हैं परन्तु उन दिनों गाणपत्य-सम्प्रदाय के योगी, अवधूत और तान्त्रिक पूरे देश से आते रहे होंगे। क्षिप्रा

का सारा का सारा तट मंगलनाथ से लेकर गढ़काली, भर्तृहरी की गुफा, महाकाल, चिन्तामणि-गणेश सभी इन वैरागियों के अड्डे थे। वैसे तो ये सारे स्थान पर विशेषकर 'चिन्तामणि-गणेश' जिस प्रकार सुदूर निर्जन में हैं उससे स्पष्ट है कि सामान्य नागरिक इधर नहीं ही जाते रहे होंगे। अन्य स्थानों तक बस्तियाँ बस गयी हैं पर 'चिन्तामणि-गणेश' चूंकि क्षिप्रा पार सुदूर में है इसलिए वह आज भी एकान्त में है। दो-चार भक्त, साधकों को छोड़ दें तो दिन में भी ग्वाले या सँपेरे या जंगलों में कंडे-लकड़ियाँ बीननेवालियाँ भूल कर भी मन्दिर मे नहीं आतीं। आश्विन की नवरात्र में अष्टमी की रात को पण्डित नारायण जी पण्ड्या अवश्य आते हैं। बाकी के अधिकांश लोगों ने इस स्थान का केवल नाम भर ही सुन रखा होगा।

प्रत्येक सोमवार को पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल गत कुछ वर्षों से यहाँ नियमित आने लगे हैं। वैसे तो आयु कम नहीं थी परन्तु जिस प्रकार उन्होंने अपने को साध रखा था उस कारण वह साठ से अधिक नहीं लगते थे। पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल मन्दिर के प्रागण में एक खम्भे के पास बैठे हुए गायत्री का जाप कर रहे थे। पाँचवीं माला चल रही थी। प्रत्येक वार माला समाप्त होती और वह माला वाला हाथ मय धोती के सिर तथा आंखो से छुला लेते। पांचवीं माला आरम्भ करते समय उन्होंने चतुर्थी के चन्द्रमा की बारीक, ठण्डी चांदनी प्रांगण में होले होले चलते देखी थी। गायत्री के बाद 'दुर्गा सप्तशती' का पाठ किया और जिस समय देव-दर्शन करने गये तब देखा कि पुजारी जी, जो कि अवधूत थे, बैठे हुए गणेश-स्तोत्र का सस्वर पाठ कर रहे थे। अभी आरती शेष थी। मन्दिर के गर्भ-गृह में तैल से चीकट हुए दीवट में बड़ा सा एक दीपक जलते हुए मन्दिर के उस एकान्त अँधेरे को जैसे व्याख्यायित कर रहा था। चूंकि एकदम निरभ्र शान्ति थी इसलिए गर्भ-गृह के ऊपर के गुम्बद में गणेश-स्तोत्र के स्वर प्रतिध्वनित हो रहे थे। वैसे सोमवार को ही दो-चार और लोग भी शहर से आ जाते हैं इसलिए लौटते मे पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल का उन लोगों का साथ हो जाता है, परन्तु आज संयोग से उनमें से कोई भी नहीं था। हठात् पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल को लगा कि आज रात कुछ ज्यादा ही हो गयी है और आज लौटने में साथ भी कोई नहीं होगा और अगर अवधूत के स्तोत्र-पाठ की समाप्ति तथा आरती की प्रतीक्षा करेंगे तो आध-पौन घण्टा और लग जाएगा। और उन्हें अवचेतन में लगा कि आज ऐसा करना ठीक नहीं होगा। वह जैसे ही प्रतिमा के सम्मुख दण्डवत करने को हुए कि संस्कार आड़े आ गये। अन्तर में उन्होंने स्वयं को ही धिक्कारा कि कभी तो ऐसा नही किया तब आज वह किस आशंकावश ऐसा करना चाहते हैं? मनुष्य पूजा-पाठ में ही कतर-ब्योंत करता है, है न? नहीं, किसी भी कारण से नियम-भंग नहीं करना चाहिए? फिर घर ही तो जाना है रास्ते के साथ की भली चलायी। अरे मन्दिर से निकले नहीं कि देखते-देखते क्षिप्रा माता आ जाती हैं और उसके बाद तो बस्ती ही बस्ती— बस, और क्या !! और बताओ नियम भंग कर देने से क्या किसी का साथ हो जाएगा? नहीं !!

आरती के स्वर, घण्टे-घड़ियालों की घनन-घनन कानों में गढ़ी के बाहर तक भी बने रहे। मन्दिर और गढ़ी के बड़े से फाटक तक बड़ा सा मैदान अँधेरे में डूबा हुआ था। मन्दिर के प्रांगण में पहुँच कर जैसे ही आकाश की ओर देखा तो लगा कि आधी रात के आसपास दिखलायी देनेवाले तारों में से एकाध उग आया था। रात का भीगापन बतला रहा था कि ओस काफी देर से गिर रही है। लाल गमछे से पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल ने अपनी पगड़ी के ऊपर से लपेट कर कान बाँध लिये और हिरावल ठीक से ओढ़ ली। चलने के लिए छड़ी उठाते हुए वह अवधूत से बोले,

— अच्छा महाराज ! नमो नारायण !!

अवधूत मन्दिर के कपाट बन्द कर चुके थे। लकड़ी की चट्टियाँ प्रांगण के पत्थरों पर बहुत स्पष्ट सुनायी पड़ रही थी। अवधूत के हाथों मे तालियों का बड़ा सा गुच्छा था, बोले,

— पंडित जी ! आज तो किसी का साथ भी नही है।

— क्यों ? क्या भगवान का साथ नहीं है ?

— भगवान तो सर्वत्र विद्यमान है, फिर भी अकेले इत्ती रात मे जाना ?

— महाराज ! क्या रात और क्या दिन।

— आप रुकें मैं लालटेन लेकर आया, क्षिप्रा पार करवा देता हूँ। उस पार तो बस्ती आ ही जाती है।

— अरे नहीं अवधूत महाराज ! इत्ती रात में चार मील का आना-जाना किसलिए ? अँधेरा, जाड़ा-ये सब यही गढ़ी तक ही है जहाँ बाहर निकले और चार कदम चले कि न कहीं जाड़ा और न कहीं अँधेरा।

— शुकुल जी ! जाड़े की बात नहीं है। क्षिप्रा तक बड़ा ही झाड़-झंखाड़ वाला ऊबड़-खावड़ रास्ता है। क्षिप्रा जी की यह कगार है न इसलिए खादर बहुत हैं और इन खादरों में....

— चोर-डाकू ? तो महाराज ! ताँबे की इस दँतखुदनी के अलावा चाँदी का छल्ला तक तो है नही कि कोई कुछ लूट लेगा। हाँ, प्रसाद के ये चिरौंजी दाने जरूर हैं—ले ले, भगवान का प्रसाद पाकर चोर-डाकू भी तर जाएगा।

— वह सब कुछ नही महाराज ! इन खादरों में साँपों के सैकड़ों बिल हैं तभी तो दिन भर सँपेरे यहाँ घूमते रहते है।

— क्या बात करते है आप भी। साँप तो पैरों की आहट पर खुद ही भाग जाते है, और फिर यह छड़ी जो है...।

— न हो तो फिर आप लालटेन लेकर जाएँ। सुनसान जंगल मे और ऐसे अँधेरे में प्रकाश साथ में होना ही चाहिए महाराज !

— भली चलायी आपने भी। आठ दिन तक आपकी लालटेन सम्हाली जाए और फिर अगले सोमवार को उसे टाँग कर लाऊँ। ना कही !! आप बिल्कुल चिन्ता न करें ....लीजिए, दस मिनिट और लग गये....अच्छा, नमो नारायण !

— जय चिन्तामणि-गणेश !!
और अवधूत को वहीं गढ़ी के बड़े फाटक में जो खिड़की थी उसके बाहर ही विदा दी। हर बार उन्होंने देखा है कि इस खिड़की में वह ताला अपने हाथों से बन्द करते हैं और उस समय तालियों की झनझनाहट बाहर तक सुनायी देती है। गढ़ी से बाहर आते ही माघी ठण्डी हवा का तेज झोंका आया, जैसे झोंका पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल की प्रतीक्षा ही कर रहा था। गढ़ी के भीतर के घुलेपन में और बाहरी जंगली घुलेपन में तात्विक अन्तर था। उसमें सीमा थी जबकि यहाँ सब कुछ असीम था। चारों ओर ठण्डी निस्तब्धता थी परन्तु जंगली हवा की सोरकारी और तेजी, झाड़ियों और पेड़ों से स्पष्ट थी। पता नहीं कैसे, पर अँधेरे मे वजन अनुभव होता है, और ऐसा लगता है न कि इस अमानुषी वजन के कारण चीजों, व्यक्तियो और स्थितियों तक के स्वत्व अपने से बाहर नही निकल पाते। एक पाथरी भाषाहीनता आ जाती है। यह भाषाहीनता ही तो चीजों, व्यक्तियों और स्थितियों को वजनी बनाती है। इस अभि-व्यक्तिहीनता मे सबके व्यक्तित्व ऐसे ऐंठे हुए हो जाते हैं कि प्रत्येक को प्रत्येक से भय लगने लगता है। रात्रि में इसीलिए भय लगता है कि हमारी सारी संप्रेषणा पथरा जाती है। दिन में जिन झाड़ियों को हमने हँसते-खिलखिलाते देखा होता है, जिन रास्तों को, पगडंडियो को धूप में दूर तक जाते हुए, मुसकराते हुए देखा होता है उन सबमें रात्रि मे अपरिचिति का एक ऐसा भाव बद्धमूल हो जाता है कि दूसरे को क्या स्वयं उन्हे ही अपने से भय लगने लगता है। अभी तक जो झाड़ी चुपचाप थी वही हठात् किसी झींगुर के झन्ना उठने पर स्वयं ही कैसी आसन्न हुई रहती है, कभी इसे भी जानने की चेष्टा की है ? जिस किसी कारण से भी रात्रि की उस निस्तब्धता में सहसा कगार छपाक की आवाज के साथ टूट पड़ती होगी तो क्या नदी नहीं चौंकती होगी कि इस निःशब्दता मे यह क्या था ? सम्भव है यह किसी गरीब खरगोश के औंधाते हुए फिसल पड़ने के कारण हुआ हो और वह बेचारा मारे भय के भागा हो और हठात् कगार टूट पड़ी हो या कोई पक्षी बैठे-बैठे डाली पर से फिसल पड़ा हो तो पत्तियाँ शब्द कर उठी हों। यह कोई आवश्यक नहीं कि रात के अँधेरे में निर्जन जंगल में सदा ही कोई आक्रमण करने पर ही उतारू ही हो। उल्लू भी जीव है। उसे भी तो बोलने का वैसा ही अधिकार है जैसा कि किसी अन्य मधुकंठी पक्षी को गाने का। अब यदि रात की निःशब्दता मे उसका बोलना आपको अमंगलकारी, अशुभ लगता है तो वह क्या करे ? इसके लिए प्रकृति को तो दोषी माना जा सकता है परन्तु उल्लू को नही। पेड़ की कोटर ही जब किसी का घर हो तो वह वही ही तो रहेगा और वहीं ही तो बोलेगा ? प्रकृति, मनुष्य की भाँति भेद-दृष्टि नही रखती। उसके लिए जिस प्रकार प्राणिमात्र समान हैं उसी प्रकार शब्द मात्र, स्वाद मात्र, स्पर्श मात्र सभी कुछ तो उसके ही हैं। तब भला भय की क्या बात है ? अंश में भय होता है, सर्वांश में नही। हवा भी तो जल की ही भाँति अपनी समानान्तरता, समतलता में चलती है। जहाँ खाई-खादर होते हैं वहाँ वह भी तो जल की ही भाँति नीचे उतरती है और आवृत्ति के साथ भरने

लगती है। शब्द और प्रकाश सभी के साथ यही प्रक्रिया है। इन प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन प्रकृति किसी को नहीं करने देती। परन्तु यह उल्लंघन कहाँ है? जब कोई नीचे उतरेगा तो फिसलना क्या स्वाभाविक नहीं है? हवा भी जब नीचे उतरेगी तो क्या फिसलेगी नहीं? और जहाँ तक फिसलने का प्रश्न है, वह सबका एक ही ढंग का होता है। हमारी आपकी ही तरह जैसे जल ढलँग कर नीचे उतरता है वैसे ही हवा भी। और इस फिसलने पर कुछ सूखे पत्ते, टहनियाँ, बारीक धूल खरखरा उठेंगे ही। दिन में भी प्रकृति का यह महाव्यापार अनाविल सम्पन्न होता रहता है परन्तु अनन्त शोर, गति एवं व्यस्तता में इस प्रकार की कोमल प्राकृतिकताओं की ओर ध्यान ही नहीं जाता; परन्तु रात की अकलंक निस्तब्धता में हल्की से हल्की आवाज तक अपने पूर्ण व्यक्तित्व के साथ सुनायी देती है। और जब फिसलने का आभास देती आवाज हो तो लगता है न कि कोई नीचे उतरा, लेकिन कोई कौन? इस कोई की काल्पनिक उपस्थिति की कल्पना से ही हमको भावी आक्रमण, संकट, भय न जाने क्या-क्या लगने लगता है। जैसे कोई आसन्न आक्रमण जो घटित होने के बिन्दु तक आपके बिल्कुल निकट आ चुका है, और आप रोम-रोम से कान हो जाते हैं और व्यक्तित्व से जल भरे स्पंज के समान। पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल भगवन्नाम एवं प्रभु-स्मरण करते हुए गरवट के उस कच्चे रास्ते से चले जिसके एक ओर साथ में पगडण्डी भी चल रही थी। रात के समय किसी पगडण्डी पर चलना निरापद नहीं होता क्योंकि उसके दोनों ओर प्रायः झाड़ियाँ होती हैं और इन्हीं झाड़ियों में तो ही बाँबियों के मुँह हुआ करते हैं। गरवट कुछ भी हो, एक तो खुली होती है दूसरे चौड़ी होने के कारण तारों के प्रकाश में उसे थोड़ा-बहुत तो देखा ही जा सकता है। प्रायः रात में तथा ऐसे सुनसान में चलनेवाले रह-रह कर खाँस लेते हैं, कुछ तो भी बीच-बीच में बोल लेते है, हाथ की लाठी यदाकदा ठपकारते चलते हैं और न हुआ तो पैरो को कभी-कभी फटकार लेते हैं। इन सारी बातों का तात्पर्य यही होता है कि यदि कोई जन-जनावर बैठा हो, या बिल से बाहर झाँक रहा हो तो या तो रास्ते से हट जाए या वही दुबक जाए। तारे उस प्रशान्तता में आपको प्रकाश तो नहीं देते परन्तु आपमें प्रकाश का भाव उत्पन्न करते हैं। पण्डित अनन्तीलाल शुक्ल बराबर सोचते जा रहे थे कि अवधूत ने क्या ठीक नहीं कहा था कि वह उन्हें क्षिप्रा तक छोड़ दें? किसी भय के कारण वह इस बात को बारम्बार नहीं याद कर रहे थे केवल साथ के कारण सोच रहे थे। अवधूत लालटेन के लिए आग्रह कर रहे थे परन्तु नहीं लिया। लालटेन से स्थिति में कोई अन्तर तो नहीं आता परन्तु उसके प्रकाश में पथ दिखता है। किसी भी चीज के दिखने से कितनी विश्वसनीयता, आश्वस्ति होती है। इससे भी अधिक लालटेन, एक सहयात्री के साथ में होने का भाव भी देती है—और, सदा एक से दो भले यही नीति का सार!! पर, अब उस सब पर सोचने से लाभ?—अरे, अब क्षिप्रा जी दूर ही कितनी हैं?—आपाकोश तो आ ही गये होंगे।—आज थोड़ी ज्यादा ही देर हो गयी। प्रायः तो दुर्गा-सप्तशती के चुने हुए अंग तथा गायत्री की तीन मालाएँ, उसके बाद अवधूत जी का गणेश-स्तोत्र और आरती—बस। पर आज,

जैसे ध्यान ही नहीं रहा। पूजन में मन ऐसा रमा कि जब चतुर्थी की चाँदनी उन्हें फलाँग कर मन्दिर के प्रांगण के पार जा रही थी तब ध्यान गया।--बीच-बीच में वह ज़ोरों से खाँसते हुए चल तो रहे ही थे परन्तु अपने को उपस्थित भी अनुभव करते चल रहे थे। थोड़ी-थोड़ी देर में वह क्षिप्रा पर बने रेलवे-पुल को उस अँधेरे में देखने की चेष्टा करते जा रहे थे। ऐसे निचाट वीरानेपन में किसी भी चीज, व्यक्ति का दिख जाना कैसा उत्साह भर जाता है। दिन के समय तो वह रेलवे-पुल आधे रास्ते से ही दिखने लगता है। जंगलों मे दूर से दिखते गाँव किनारे के पेड़ों का समुदाय या सड़क पर बीच-बीच में आ जाने वाली पुलियाएँ या नदी पर की झुकी कमरवाली रपट ऐसे ही भाव उत्पन्न करते हैं जैसे सहसा कोई आत्मीय मिल गया हो। उस रपट पर से बहते हुए जल का मन्द-मन्द बोलते हुए रपट से उतरना कैसा पारिवारिक लगता है न? पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल को जब बहुत ही डूबी-डूबी आत्मस्थता लगने लगती तो वह खँखारने लगते। ऐसा खँखारना भी अपने से बाहर निकलने की चेष्टा जैसा ही होता है। प्रत्येक पग के बीतने के साथ अन्तर में यही लगता कि; देखा, कहीं कुछ नहीं है। अरे, आदमी डरने लगे तो घर की दीवालें भी डराने लगती हैं...और वह निर्भय होने लगते। और वह क्षिप्रा की कगार उतरने लगे। नदी पर न जाने किस जमाने की रपट थी। गाड़ियाँ तो बगल से उथले जल में होकर निकल जाती हैं पर पैदल यात्री यदि सम्हल कर रपट के पत्थरों पर पैर न रखें तो या तो उनकी नोकों के कारण या फिर काई के कारण पानी मे बिना गिरे नही रह सकते। पूर [बाढ़] के दिनो में गाड़ियों का यातायात रुक जाता है परन्तु उन दिनों पैदल यात्री तब रेल की पटरी-पटरी होते हुए रेलवे-पुल पर से होकर आते-जाते हैं। कगार उतरते समय पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल को लगा कि जैसे अँधेरा बढ गया है। कँटीली झाड़ियों के कारण गरवट तक के दोनों ओर दूर तक केवल वनस्पति का विस्तार ही विस्तार ऐसा था जो बड़े पेड़ों वाला जंगल जैसा तो नहीं कहा जा सकता था पर उस विस्तार की प्रकृति और स्वभाव मे जंगलपन अवश्य था।

वह कगार उतर ही चुके थे। रपट पर क्षिप्रा का चलना और दूसरी ओर होले से उतरने का जैसे शब्द तक उन्हें सुनायी पड़ने लगा था। तभी उन्हे लगा कि कोई चीज फूत्कारी। अभी वह चमरौधा पहने अपना पाँव फटकारें तभी उन्हें लगा कि यह फूत्कारी क्या है। वह क्षणान्त में ही संकट की भयावहता अनुभव कर ले गये। कोई साँप था जो अपनी बाँबी के बाहर बैठा हुआ था। उस अँधेरे में पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल उसका उठा हुआ फन तो देख सके पर उसे पूरा देख सकने की स्थिति भी नहीं थी। भाग वह सकते नहीं थे। यही विवशता उस प्राणी के लिए भी रही होगी तभी तो साँप ने भी उनकी उपस्थिति के तत्काल बाद घात की सारी तैयारी कर ली थी। हाथ की छड़ी से उस अँधेरे में वह कितना सटीक प्रहार उस पर कर सकते थे, कहना कठिन था। निर्णायक क्षण के पूर्व दोनों ही ठिठके। पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल हाथ की छड़ी घुमा कर उसके उठे हुए फन पर प्रहार करें, इसी बीच साँप ने विद्युत वेग के

तथा पूरी शक्ति के साथ उनके दाहिने पैर में दाँत गड़ाये और जिस फुर्ती से झाड़ी में विलुप्त हुआ उसमें कोई भी कुछ नहीं कर सकता था। साँप के भागने की हल्की सी सुरसुराहट हुई अवश्य थी परन्तु उस समय उसकी ओर ध्यान जाने का प्रश्न ही नहीं था। वह बैठ गये और साँप ने जहाँ दाँत गड़ाये थे उसे दोनों हाथों से कस कर थाम लिया। अब इतना स्पष्ट था कि अब वह साँप यहाँ बैठा नहीं है कि अब और कोई भय हो। और इस घटना के बाद भी क्या कोई भय बचा था? तत्काल सिर से गमछा खोला और साँप के काटे हुए स्थान के कुछ ऊपर खूब कस कर बाँध लिया ताकि खून का दौरा ऊपर की ओर न हो सके। यदि यह दुर्घटना गढ़ी के आस-पास घटी होती तो तत्काल गढ़ी में पहुँच कर अवधूत महाराज की सहायता से चीरा लगा कर कोई चीज भर लेते ताकि विप खून में न फैने। पर यहाँ, इस स्थिति में इससे अधिक कुछ नहीं किया जा सकता था। अब तो केवल घर जल्द से जल्द पहुँचा जाए और त्र्यम्बक को जगाया जाए। इतनी आधी रात में त्र्यम्बक ही क्या, कोई भी क्या कर सकता है? उस अँधेरे में जितना भी दिखा था उससे तो यही लगा था कि वह साँप, पूरा नागनाथ था।

पैर बँधा होने पर भी वह जल्द से जल्द रेल की पटरियों के बीच से जाती पग-डण्डी से घर पहुँचना चाह रहे थे। तिरछे जाकर ही बेगमपुरा के बाहर ही बाहर वह महाकाल के पास सिंहपुरी होते हुए मगरमुँहे पहुँच सकते थे। उन्हें पूरी तरह स्पष्ट था कि विप थोड़ी ही देर में अपना काम शुरू कर देगा और शायद उसके थोड़ी ही देर बाद यह स्थिति भी आ जाएगी कि कोई कुछ नहीं कर सकेगा। हाँ, उस स्थिति के बाद तो एक ही अनिवार्यता होगी....मृत्यु !! अपने सन्दर्भ में पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल को मृत्यु से कोई भय नहीं। सत्तर पार के व्यक्ति, उस पर अविवाहित तथा कोई सांसारिक या पारिवारिक कोई दायित्व भी नहीं—भला ऐसे व्यक्ति को क्या मोह हो सकता है? तब भी परम वीतरागी के लिए भी यह जीवन बड़ा अलम्य फल होता है। हठात् हाथ से छिटक कर वह अलम्य फल दूषित हो जाए या आप उससे वंचित कर दिये जाएँ तो सिवाय सन्तोष के व्यक्ति और क्या कर सकता है? इस प्रकार के दैव-संयोगों की बात दूसरी है, नहीं तो सामान्य स्थिति में मनुष्य अन्तिम समय तक उसमें अपनी लालसा के दाँत गड़ाये रखना चाहता है।

पहले जिन झाड़ियों को पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल बचा-बचाकर चलते जा रहे थे, उन्हें अब वह लगभग रौंध कर घर की ओर तेजी से बढ़ने लगे। चूँकि कद-काठी बचपन ही से मजबूत रही है इसलिए वह अपने छोटे भाई फुन्दी की भाँति पहलवान तो कभी नहीं रहे परन्तु वह भी मन के न केवल मजबूत बल्कि साहसी थे। जीवन के जल में वह फुन्दी से अधिक गहरे पैठे थे। माँ तथा अपने परिवार की जैसी उपेक्षा उन्होंने तीव्रता से अनुभव की उसमें वह अन्तर्मुखी हो गये थे। मन की इस वीतरागिता ने उन्हें एक प्रकार से वैरागी सा बना दिया था। प्रायः वह वैरागी साधुओं के साथ समय-समय पर उठते-बैठते थे। उनकी इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति ने उन्हें

निश्चेष्ट बना दिया था। किसी भी बात या सम्बन्ध के प्रति वह अपने में एक ऐसी अभिव्यक्तिहीनता पाते थे जैसे वह आकण्ठ ठण्डे हो गये हैं। तब भी वह मन से दृढ़-संकल्पी ही रहे हैं। यही कारण था कि पाँव बँधा होने पर भी वह जिस अजित भाव से चलने में भागने को भी जोड़े हुए थे उससे लग नहीं रहा था कि उन्हें साँप ने काटा है और वह घर को ओर नहीं बल्कि अपने जीवन की समाप्ति की ओर बढ़ रहे थे। पिंडली पर अँगोछा काफी कस कर बँधा था इसलिए पैर क्रमशः सुन्न होता जा रहा था। पैर में सुन्नता बंधे होने के कारण आ रही थी अथवा विष के व्यापने के कारण ऐसा हो रहा था, कहना कठिन था। तब भी पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल इतना तो स्पष्ट ही देख-समझ पा रहे थे कि मृत्यु अब आसन्न निकट है। फिर भी वह यहाँ और ऐसे निचाट सुनसान में अनाथ की भाँति नहीं मरना चाहते थे। ऐसी विषमता में तो जब तक देह गंधाने नहीं लगेगी तब तक किसी को पता ही नहीं चलेगा।

और महाकालेश्वर की सड़क तक पहुँचते-पहुँचते उन्हें लगा कि चलना, जो कि देह का सहज धर्म है, कितना दूभर होता जा रहा है। सामान्यतः तो 'चलने' की इस क्रिया की ओर कभी ध्यान भी नहीं जाता परन्तु कभी यही सहज क्रिया कैसी दूर का फल हो जाती है। उन्हें शायद यह भी भ्रम होने लगा कि कनपटी के पास भी तेज झनझनाहट होने लगी है। एक बार यह भी ध्यान आया कि यहीं पास ही तो श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय रहती हैं, न हो उन्हीं के यहाँ कुछ देर रुक लिया जाए। परन्तु अभी यह विचार आया ही होगा कि स्वयं उन्हे ही लगा कि कोई यह सुने तो क्या कहे! नही, सिवाय चलते रहने के और कोई नियति नहीं थी। सिवाय म्युनीसीपाल्टी की एकाध लालटेन के और कभी किसी गली के आवारा कुत्तों के रह-रह कर भौंकने के न किसी की प्रतीति थी और न कोई उपस्थित लग रहा था। खिड़की-दरवाजे बंद किये घर, मुहल्ले और वीरान रास्ते सोये हुए थे। आधी रात के बाद का ठंडा मौसम और अँधेरा बाढ़ के पानी सा गली-सेरियों में धुन्ध बन कर फैला हुआ था। हल्का भीगापन घरों-दीवालों पर जैसे लिखा लग रहा था। काली, निर्जन निर्द्वन्द्वता में सारा वातावरण सन्नाटे में चुप खड़ा था। आज के पूर्व अपना होना कभी उन्होंने इतना स्पष्ट नहीं अनुभव किया था। वही एकमात्र विवादी स्वर थे जो उस सन्नाटे में बज रहे थे।

जिस समय मगरमुँहे की गली में वह पहुँचे तो दोनों पैर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व कैसा सीसे जैसा भारी लगा। एक स्थिति आती है जब अपना ही बोझ नहीं उठ पाता तब भला कोई दूसरे का बोझ क्या उठा सकता है? पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण उनकी देह को जैसे अपने से पृथक नहीं करना चाहता था। आपकी चेतना इसके विरुद्ध जाना चाहती है और देह है कि उस पुकार पर निढाल होने को तत्पर होती है। कैसा विकट होता है यह क्षण कि चट्टान होने को उत्कट इस देह को हम पंख देकर आकाश में उछाल देना चाहते हैं लेकिन ऐसा नहीं हो पाता और हम चेतना और देह में सदा-सदा को विभक्त हो जाते हैं। जीभ न केवल ऐंठी हुई ही लग रही थी बल्कि एकदम सूखी, काठ जैसी हो रही थी। भाषा और शब्द तो दूर, उन्हें लगा कि अब वह शायद

किसी प्रकार की कोई आवाज तक नही निकाल पाएँगे। घर के पास के गणपति-मन्दिर के चबूतरे पर बैठकर सदा की भाँति सुस्ताने को कैसा मन हुआ परन्तु इस क्षण ऐसा लगा कि यदि वह बैठ गये तो फिर कभी नही उठ पाएँगे। निश्चित ही वह बूझ ले गये कि अब केवल अन्तिम चलना, अन्तिम बैठना और अन्तिम पुकारना ही एकमात्र बच गया है। किसी प्रकार सामने दिख रहे घर तक पहुँच जाएँ, घर के दरवाजे पहुँच कर ही अब वह बैठ सकते है और अन्तिम बार यदि वह पुकार सकते हैं, तो केवल—'त्र्यम्बक !!' अब जो भी कुछ है, वह बस एक बार ही के लिए है। सच तो यह है कि अवश्य जिजीविषा ही थी जो वह यहाँ तक आ सके। संकल्पी मन ही था जो उन्हे इस दारुण अवस्था में भी घर तक ले आया था। वस्तुतः तो वह न जाने कब रास्ते ही में शेष हो चुके थे। ऐसा होता है न कि अपनी स्वयं की गति न होने पर भी किसी प्रवाह में पड़कर हम बड़ी दूर तक यात्रा कर ले जाते हैं। विष रक्त में न केवल मिल ही चुका था बल्कि उसने उनकी चेतना और अवयवों को भी प्रभावित करना शुरू कर दिया था। यदि इतनी निर्ममता से पैर न बँधा होता तो वह आधे रास्ते मे ही ढह गये होते।

सच तो यह है कि वह नहीं जानते कि वह किस प्रकार दरवाजे पर पहुँचे। दरवाजे की 'कल' पर हाथ गया। 'कल' के लोहे के कड़े में पौषिया ठण्ढापन स्पष्ट था। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता था कि हाथ में उसका स्पर्श जैसे बज उठा हो। पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल को वह ठण्ढापन पूरी देह में थरथरा गया। 'कल' का कड़ा बोला अवश्य पर दरवाजा खुला नहीं। चूँकि रोज की अपेक्षा आज अधिक देरी हो गयी थी इसलिए सावधानी के ख्याल से दरवाजा भीतर से बन्द कर लिया गया था, और ऐसा होना स्वाभाविक भी था। 'कल' पर उनका हाथ था अवश्य परन्तु पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल दरवाजे से सटे-सटे ऐसे फिसलते चले गये जैसे दरवाजे पर से उन्हें नीचे की ओर कोई छील रहा हो। उन्होंने अपनी समझ से तो 'त्र्यम्बक !!' कह कर पुकारा भी परन्तु बाद में स्वयं उन्हें ही लगा कि वह पुकार गले से शायद ही बाहर गयी हो। अतः शेष बची अपनी अन्तिम सारी शक्ति को समेट कर जब दुबारा 'त्र्यम्बक !!' पुकारा उसमें यही आर्तता थी कि इसके बाद वह कुछ नहीं कर सकते, और वह दरवाजे पर ही ढह गये। हल्की सी आवाज करती हाथ से छड़ी छिटकी और सब शान्त हो गया।

सामान्यतः तो श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल शुरू दिन से ऊपर ही सोती रही। हाँ, जीवन के अन्तिम दिनों में पति पण्डित महादेव शुक्ल भले ही बैठक में सोने लगे थे परन्तु वह उसके बाद भी ऊपर अपने उसी कमरे में सोती रही जिसमे वह बहू के रूप में प्रथम रात्रि को सोयी थी। परन्तु अब इस वार्धक्य में दिन भर ऊपर-नीचे चढ़ना-उतरना न केवल कष्ट ही देता था बल्कि अब इसकी कोई खास आवश्यकता भी वैसी नहीं रह गयी थी। चौकसी वह अब भी करती हैं परन्तु चौकसी, चौकसी में अन्तर आ गया है। उनके सासूत्व में केवल इतना ही अन्तर आया होगा कि अब वह हर बात में दुर्गा को नहीं टोकती हैं इसलिए उनके पल्लू में अब ढेर सारी चाभियाँ भी नहीं बँधी रहती हैं। शरीर भी अब साथ नहीं देता कि दुर्गा के पंखों पर चौबीसों घण्टे निगरानी रख सकें। और फिर इन बच्चों के मारे वह दादीमाँ अधिक हो गयी थीं। इन बच्चों के मारे जब सारे दिन नीचे ही रहना है तो फिर कौन दिन भर घुटनों पर हाथ धर-धर के चढ़े-उतरे? हालांकि वह नीचे से ही गाहे-बगाहे दुर्गा को आदेश देना कभी नहीं भूलतीं कि दालों को धूप दिखायी कि नहीं? पापड़ों पर यदि फफूँद चढ गयी तो सारी मेहनत बेकार जाएगी। स्त्री का मन और उसकी इन्द्रियाँ उसकी गृहस्थी से इतनी जुड़ी होती हैं कि लाख वह गोमुखी में हाथ डाले 'ओम नमो भगवते वासुदेवाय' की माला फेर रही हो पर क्या मजाल जो किसी दिन बघार [छौंक] जरा सा भी जल जाए। मिर्च की धाँस आयी नहीं कि उनकी पराँच शुरू हुई नहीं। तब भी वह नीचे बैठे हुए बच्चों से घिरे अब बहुत अधिक सासूपना नहीं दिखा पाती हैं।

पति वाली बैठक में रात को अब देवर पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल सोते हैं। ऊपर बेटे-बहू खा-पीकर भले ही पहले सो जाएँ परन्तु देवर-भौजाई की नीचे वाली मजलिस बच्चों के सो जाने पर भी देर रात तक चलती रहती। देवर के कारण श्रीमती

कृष्णादेवी शुक्ल को उज्जैन में होने वाली गतिविधियों, परिवर्तनों का पता घर बैठे ही चल जाता और भाभी के कारण पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल को सगे-सम्बन्धियों की गतिविधियों, करियावरों के बारे में सब मालूम हो जाता। इसके अलावा देवर के कारण नीचे भी मनसायनता रहती, नहीं तो बच्चों का क्या !! लिखे-पढ़े, बहुत हुआ तो किस्से कहानियाँ सुन-सुना लीं और सो गये। बच्चे तो सोये नहीं कि नींद में डूबे नहीं, और तब श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल क्या करें ? तकिये पर सिर रखा नहीं कि लगता कि नींद के अलावा और सब कुछ आ रहा है। बुढ़ापे में नींद भी कैसी देह की खाल-सी झूलकर लटक जाती है। ऐसी सौगात में तो यह अच्छा हुआ न कि बोलने-बतियाने को घर ही का एक आदमी मिल गया। जब तक महाकाल से 'रोज' पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल लौटते हैं तो बच्चे अपनी लिखाई-पढ़ाई तब तक कर रहे होते हैं। वह भी चौखण्डी में या झँझरी वाले दालान में बच्चों के पास ही बैठे हुए आसन बिछा माला फेरती रहती है। जाड़ों में देर रात तक सिगड़ी [मिट्टी की खुली अँगीठी] तापते हुए बच्चों से घिरे देवर-भौजाई के बीच किसी दिन धरम-करम की बातें होतीं तो किसी दिन कुल-कुटुम्ब के करियावरों के किस्से होते। इन बातों में सगा-सोई, कुल-कुटुम्ब, जात-परजात, शादी-ब्याह, जनेऊ-मुक्ते सभी आ जाते। धरम-करम की बातों में पण्डित अवन्ती लाल शुक्ल को बहुत आनन्द आता जब कि करियावरों की चर्चा में श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को रस मिलता। यह स्त्रियों की ही विशेषता होती है कि कुल-कुटुम्ब ही क्या बल्कि मुहल्ले-टोले में भी किसके यहाँ कब बच्चा पैदा हुआ इसका जैसा घटे-पल का पक्का हिसाब उनके पास होगा वैसा सरकारी कागजों में भी नहीं हो सकता। यही क्या, बल्कि मनुष्य और गृहस्थी से सम्बन्धित अच्छी से अच्छी और बुरी से बुरी बात तथा घटना वर्षों बाद भी उन्हें ऐसी याद होंगी कि जैसे कल की ही बात हो। किसकी बहू ने सब के दिनों में सोंठ नहीं खायी तो दो बच्चों के बाद ही पेट निकल आया नहीं तो क्या, दस बच्चे भी जनने पड़ें तब भी क्या मजाल जो पेट निकल आए। स्त्रियों के केवल अपने गीत और राग ही हैं बल्कि सच तो यह है कि वेद-पुराणों के समानान्तर के अपने अनुभवों के उपनिषद भी हैं जिन्हें केवल स्त्रियाँ ही श्रुत-ज्ञान से जानती आयी तभी तो स्त्रियों के गीतों के बोल और उनकी धुनें कैसे युग-युग से अक्षुण्ण हैं ?

समय और नैकट्य, व्यक्तियों में और स्थितियों में आमूल परिवर्तन तक ले आते हैं। वैसे श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल के सन्दर्भ में यदि आमूल न भी सही तब भी काफी परिवतन तो आ ही गया था। कभी यही देवर और इनका परिवार ऐसा था कि अन्त तक वही नहीं झुकी थीं। विषम से विषम परिस्थिति में भी श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल नहीं पिघलीं परन्तु अब वह कैसे आँच के पास रखे घी सी सदा पिघली लगती हैं। अब यही देवर है कि जिसके न लौटने तक प्रायः वह भी नहीं खाती हैं। हर सोमवार को चिन्तामणि गणेश से लौटने में देर हो जाती है तो अपने बिस्तरे में लेटे रहने पर भी कान दरवाजे पर ही लगे रहते। जरा सा खटका हुआ नहीं कि 'कौन?' 'अच्छा' हुए उठ पड़ती हैं। प्रायः जाड़ों में दशमी-टापू [दूध में सने आटे की

बाटियां, जिन्हें यहां के लोग पक्का मानते हैं] सिगड़ी में भार देती हैं और पास में बैठे हुए माला फेरती रहती हैं। वैसे तो ये दशमी-टापू किसे नहीं पसन्द हैं, परन्तु बच्चे तो सिवाय इसके और कुछ खाना ही नहीं चाहते इसलिए जब दादीमां टापुओं को राख में भार रही होती हैं तब किताबों में सिर गड़ाये होने पर भी दबी आँखों से सारे बच्चे दूर से ही गिनना नहीं भूलते कि दो दादीमां के, दो छोटे दादू [पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल को बच्चे इसी नाम से पुकारते हैं] के और बाकी के जो टापू हैं वे ही उन लोगों के हैं। लाख ऊपर से भोजन कर आये हों परन्तु जो मजा गरम-गरम घी में बसे टापुओं के खाने में आता है वह भला किसी दूसरी चीज में कहां आएगा ? और कहीं साथ में केरी [आम] का अथाना [अचार] भी हुआ, तब तो बस, लार ही चूने लगती है। दशमी-टापुओं के पीछे एक-एक कौर के लिए बच्चों में वो ले-दे होती है कि तब दादीमां और छोटे दादू को अपने हिस्सों में से देना पड़ जाता है। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल जब बच्चों को इस प्रकार अपने हिस्से में दे रही होती हैं उस क्षण उनकी वृद्ध, किन्तु सुन्दर आँखों में ऐसी अपूर्व सन्तुष्टि झलकने लगती है जैसी कि प्रथम सन्तान को पहली बार देखने पर स्त्री में होती है। वे तब आँखों से देखती ही नहीं लगतीं बल्कि जैसे आँखों की जीभ से बच्चों की देह चाट रही हों। ऐसे समय जब कभी दुर्गा भी पहुँच गयी होगी और सासूमां को ऐसे मगन देखा होगा तो कैसे निश्वास निकल गयी होगी कि यदि इनकी यह ममता सब दिन रही होती तो यह घर तोरण-वन्दनवार जैसा सजा लगता। ऐसा नहीं कि श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को यह नहीं लगता हो कि लोगों, सम्बन्धों और स्थितियों के बारे में उनकी धारणाएँ काफी गलत थीं, परन्तु लगना एक बात है और ऐसे लगने को स्वीकारना बिल्कुल भिन्न बात है। वह भी मानती हैं कि न केवल वे दिन ही बीत गये हैं बल्कि उन दिनों के बहुत से लोग चले गये। जिस घर की दीवाल में कभी बारी [खिड़की] नहीं रही होगी आज वहाँ बड़ी-सी खिड़की खुल आयी होगी। कभी उनका भी मन कचोटता है कि शायद कुछ दूसरा भी हो सकता था परन्तु वह हमेशा गलत ही गलत थीं यह स्वीकारना तो शायद किसी दिन उनसे नहीं हो सकेगा। स्वतः ही उदार बनते-बनते मन की एक स्थिति ऐसी आ जाती कि यदि ऐसे ही वह होती गयीं तो वह पूरी तरह बिखर जाएँगी, और बिखरना कौन चाहता है ? कोई भी गाँठ हो, एक सीमा तक छिलते रहने पर उस स्थिति पर पहुँच जाती है कि उसके आगे गाँठ को कोई नहीं छील सकता है। मनुष्य के व्यक्तित्व में भी स्वत्व की ऐसी गाँठ होती है कि अपनी की हुई गलतियों को जब वह कालान्तर में उन्हें याद करके लगभग पश्चात्ताप करना चाहता है तब उसी का मन टोकता है कि यह तुम क्या कर रहे हो ? इस बिन्दु से मनुष्य का मन फिर अपनी गाँठ की ओर लौट जाता है। यद्यपि इस प्रकार के परिताप या पश्चात्ताप का स्वयं के लिए जो भी अर्थ हो परन्तु उन सन्दर्भित व्यक्तियों, स्थितियों के लिए अब न कोई अर्थ, न प्रयोजन कुछ नहीं रह गया होता है तब भी पूर्ण परिताप मनुष्य नहीं करना चाहता। भूलें करना जितना नैसर्गिक है उतना ही मानवीय है परिताप या पश्चात्ताप...

अन्त तक अपनी भूल न स्वीकारना।

सभी-सांझ से बच्चे पढ़ने बैठ जाते हैं और ऊपर से भोजन का बुलावा आने तक सबका लिखना-पढ़ना पूरा हो जाता है। उसके बाद तो गोदड़ों [लिहाफो] में ओढ़े-बैठे एक दूसरे से सटे सिगड़ी में हाथ सेकते दादीमाँ या छोटे दादू से किस्सा-कहानी सुनना सबसे अच्छा लगता है। कितनी ही रात हो जाए परन्तु कहानी का लोभ नहीं छूटता। आँखें झपी पड़ती हैं परन्तु बारम्बार हथेलियां उलटकर आँखें रगड़ ली जाती हैं और सब हुँकारी भरते चलते हैं। कभी-कभी चूल्हा-चौका समेट कर दुर्गा या खाली हुए तो त्र्यम्बक भी आ जाते हैं उस दिन तब प्रायः किसी के घर शादी-ब्याह, जनेऊ में लेन-देन की बातें होती कि हमारे यहाँ उन्होंने विवाह मे अँगूठी सींची [देना] थी या पायल या रुपये ? ऐसे समय प्रायः बच्चों से कहा जाता कि—'चलो, अब सोओ, सवेरे स्कूल नहीं जाना है क्या ?' और बच्चे बहुत ही बेमन से यहाँ-वहाँ करते उठ जाते कि नींद भी भगायी और आज न तो पटवारी-पण्डित वाला किस्सा ही सुना, न कोई राजा-रानी की कहानी ही हुई। और बच्चे मन ही मन बाबा-माँ को कोसते हुए सो जाते। पर जिस दिन पटवारी-पण्डित या प्लेग के दिनों का वर्णन सुनने को मिलता उस दिन न तो बच्चों को ही ध्यान रहता और न दादी माँ और छोटे दादू को ही खबर रहती कि रात कितनी बीत गयी। घर के सब लोग बैठे हुए हों तो आँच तापते हुए विगत की कथा सुनना कैसी सुगन्ध देता है न ? आप जब उस युग और उन आत्मीयजनों की चर्चा सुनते हैं, जिन्हें आपने नहीं देखा है, तब भी ऐसी कथा सुनते हुए ऐसा लगता है न कि आप उनके चलने-बैठने, खाँसने-खँखारने तक की आवाज भी सुन रहे हैं। लगता है कि ये सब बीत कर भी अभी घर के बाहर के चबूतरे पर से उतरे ही होंगे और आप चाहें तो आवाज देकर वापस बुला ला सकते हैं। कोई-कोई वर्णन सुनकर तो आपकी आँखें मारे हँसी के निचुड़ी पड़ती हैं, कि पटवारी-पण्डित स्त्रियों का अभिनय कर रहे है। कैसे लगते होंगे ? ठीक इसी तरह दादीमाँ जब प्लेग का वर्णन सुनाती हैं कि लोग भागे जा रहे हैं—भीड़ ही भीड़...तब कैसा भय लगता है न ?

हर बार जिस व्यक्ति की कथा सुनने में बच्चों को विशेष आनन्द मिलता था उसके नायक थे—पटवारी-पण्डित !! वस्तुतः यह उनका नाम नहीं था परन्तु लोगों ने निष्कर्ष निकाल कर जानी-पण्डित से पटवारी-पण्डित बना दिया था। जानी-पण्डित का नाम या पण्डित बलवन्तराम गोविन्दराम जानी। जानी उनका अवटंक था। जानी-पण्डित किसी दूर के रिश्ते से श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल के मामा लगते थे। बहुत

में उन्होंने अपनी छोटी मासी के विवाह पर इन्दौर में अपनी ननिहाल में देखा था। वैसे जानी-पण्डित आगर के पास के तनोड़े गाँव के रहनेवाले थे। मन्दिर की पूजा करना और इसके लिए मिली माफी की जमीन में काश्त करना यही जानी-परिवार का पेशा था। शायद जानी-पण्डित भी यही करते परन्तु दैवयोग से आगर में चौथी क्लास तक सरकारी स्कूल खुला। पिता का ब्राह्मणत्व जाग उठा कि लड़के को भी पढ़ाया जाए, और एक दिन पण्डित गोविन्दराम जानी पुत्र को स्कूल में भर्ती करवा आये। माँ बचपन ही में चल बसी थी इसलिए परिवार में ले-देकर पिता-पुत्र ही थे। तनोड़े से आगर रोज पैदल सवेरे जाना और शाम होने तक लौटना। चार-छह मील का रोज का आना-जाना वैसे तो जानी-पण्डित को अखर जाता परन्तु तलाव की पाल के चारों ओर छावनी वाले नारायण भाई का जो बगीचा था उसमें से आम के दिनों में आम, इमलियाँ, नीबू, अनार आदि चुरा कर खाने के लोभ में रास्ते की दूरी नहीं अखरती। आये दिन नारायण भाई के बगीचे के रखवाले जानी-पण्डित को पकड़ लेते और कभी-कभी पिटाई भी कर देते थे। इसी तरह मास्टर साहब भी आये दिन उनकी पिटाई करते क्योंकि वह खुद ही शैतानी नहीं करते थे बल्कि दूसरे लड़के भी उन्हें देखकर बदमाशी करते थे। लेकिन तब भी पाँच वर्ष में चार क्लास पास कर ही ले गये और 'स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट' मिला। सार्टीफिकेट का मिलना क्या हुआ गोया गजट में नाम छपा हो। उन दिनों चौथी क्लास पास करना बहुत बड़ी बात समझी जाती थी और एक दिन पण्डित गोविन्दराम जानी को तहसील का चपरासी बुलाने आया। पण्डित गोविन्दराम जानी चपरासी देखकर ही बहुत घबरा गये थे और जब तहसीलदार साहब का बुलावा सुना तो होश फाख्ता हो गये। रास्ते भर सोचते रहे कि पता नहीं क्या आफत आ गयी। लेकिन जब तहसीलदार ने उन्हें उनके पुत्र के चौथी क्लास पास हो जाने पर बधाई दी और कहा कि वह चाहें तो उसे आज पटवारी बनाया जा सकता है। बेटा पटवारी बन जाएगा, उसे सरकारी नौकरी मिल जाएगी, इस विचार से ही उनका दिमाग आसमान में उड़ने लगा। और जिस दिन पण्डित बलवन्तराम गोविन्दराम जानी खनखनाती जरीब और सरकारी पीला बस्ता लिये तनोड़े पहुँचे तो गाँव भर में हल्ला मच गया। अब तक जिस जानी-परिवार को पटेल-नम्बरदार तो दूर, साधारण लोग भी कुछ खास महत्व नहीं देते थे, वह रातों रात महत्व के हो गये। लोगों को लगा कि यह लड़का एक दिन अवश्य ही घोड़े पर बैठकर गिरदावर कानूनगो बनेगा इसलिए इसकी खुशामद आज से ही करनी चाहिए।

वैसे जरीब और वह पटवारियों वाला पीला बस्ता बहुत दूर नहीं ले गया। यही तनोड़े के आसपास के गाँव-खेड़ों, खेतों-खलिहानों तक ही उनकी सीमा रही। शायद इतनी ही सीमा बनी रहती परन्तु इस बीच बन्दोबस्त का जमाना आ गया। बन्दोबस्त की नौकरी किस गिरदावरी से कम थी परन्तु मर्दुमशुमारी ने तो उनकी चौहद्दी झालरापाटन तक लगी ग्वालियर राज्य की सीमा तक पहुँचा दी। अब एक चपरासी उनकी भी अर्दली में उनके पीछे-पीछे चलता होता। बन्दोबस्त की पैमाइश के कारण

सारे लोग उन्हें 'राम-राम पंडिज्जी !' जरूर करते। उज्जैन कमिश्नरी की सब तरह की जमीन का जैसा हिसाब उनकी अँगुलियों पर था वैसा किसी दूसरे पटवारी के पास नहीं था। तभी तो जब बन्दोबस्त का काम पूरा हुआ तो तहसीलदार ने पूरी कचहरी के सामने पण्डित बलवन्तराम गोविन्दराम जानी को सार्टीफिकेट दिया और उनका नाम मर्दुमशुमारी के लिए सरकार के पास भेज दिया। फलतः उनके जैसा तजुर्बेकार कारकून गेरू और मर्दुमशुमारी का रजिस्टर लिए फिर गाँव-गाँव में देखा जाने लगा। हर घर, हर दरवाजे जाकर जानकारी हासिल करके घर की दीवाल पर गेरू से संख्या लिखते-लिखते जब वह भटक रहे थे तब उन्हें कई दिनों बाद सूचना मिली कि पिता नहीं रहे।

पिता की मृत्यु ने उन्हें कठिनाई में डाल दिया। घर पर वह रह नहीं सकते थे इसलिए पूजा नहीं कर सकते थे और काश्त भी खुद करना कठिन ही था अतः जानी-पण्डित ने अपने एक दुःखी चचेरे भाई को रहने के लिए घर तो दिया ही साथ ही खेत और मन्दिर की पूजा भी दी। वैसे जानी-पण्डित कभी हिसाबी-किताबी आदमी नहीं थे। अपनी ईमानदारी और हरदिल-अजीज स्वभाव के कारण सारे गाँवों-लोगों के बीच लोकप्रिय थे। कभी भी किसी की जमीन और उसके दावे के बारे में कोई गलत-बयानी दर्ज नहीं की होगी इसलिए सब उन्हें चाहते थे। अभी वह गाँव में पहुँचे ही होते कि लोग उनके ठहरने, खाने-पीने का सारा प्रबन्ध कर देते। चूँकि वह पक्के ब्राह्मण थे इसलिए स्वयंपाकी थे तब भी कोई अरींठ सुलगा देता, दाल-चावल बीन देता, तरकारी काट देता। कई बार अदहन तक चढ़ा दिया जाता परन्तु उसमें दाल छोड़ने का काम भला कोई दूसरा कैसे कर सकता था? और जानी पण्डित नहा-धोकर भोजन भी बना रहे होते और पूजा-पाठ भी करते जाते। सेठ-साहूकार के यहाँ से घी, आम आ जाते तो पटेल के घर से गुड़-शक्कर आ जाता। गाँवों में भला दूध की क्या कमी हो सकती थी? अधिकांश काश्तकार, खासकर छोटे किसान सब उनसे खुश थे परन्तु बड़े किसान, जमींदार या मालगुजार लोग कोई खास प्रसन्न नहीं थे, फिर भी उपेक्षा तो नहीं ही करते थे। वस्तुतः जानी-पण्डित न ऊधो के लेने में थे न माधो के देने में थे। किसी की चौपाल में बैठ गये और रजिस्टर खोलकर अपना काम करने में लग गये। और जब काम पूरा हुआ तो अपने रास्ते। वैसे बहुत अधिक किसी के भी मामले में फटे में पाँव देना उनका स्वभाव नहीं था। हाँ, अपने से बना तो भला कर दिया अन्यथा 'दूरं वन्दे' ही भली। इस खरे स्वभाव के कारण वह बहुत दूर और देर तक झगड़ों-झंझटों से बचते आये परन्तु जमीन-जायदाद के मामले होते ही ऐसे हैं कि काजर की कोठरी में से कोई बेदाग निकल पाया है? आये दिन जमींदार-मालगुजार लोग उनसे कुछ न कुछ गलत काम करवाने के लिए जोर, लालच सभी तरह का दबाव डालते पर वह हर बार बचा ले जाते। उनके वैयक्तिक जीवन में भी कोई विशेष सम-रसता नहीं थी। जिस चचेरे भाई को घर-खेती दी वह अब पूरी तरह कब्जा करने के चक्कर में था। चूँकि पिता की मृत्यु हो गयी थी अतः उनका विवाह आज करते-करते जो टला कि वह तब जीवन भर कुँआरे ही रह गये। उन्होंने

पटवारी की नौकरी में स्वयं को केन्द्रित कर लिया। वह महीनों पर नहीं आते और वहाँ था भी क्या ?

जब लोगों ने देखा कि जानी-पण्डित किसी भी दबाव और लालच में गलत काम नहीं करते हैं तो उनका नाराज होना भी स्वाभाविक था। एक मालगुजार साहब किसी विधवा की जमीन अपने नाम करवाना चाहते थे। वह उस बुढ़िया को उस जमीन से बेदखल तो नहीं करना चाहते थे पर उनकी मंशा मात्र यही थी कि इसके मरने पर वह उस जमीन पर कब्जा हासिल कर सकें। सिर्फ इतनी सी बात के लिए वह जानी पण्डित को कुछ नकदी और एक घोड़ी देना चाहते रहे। परन्तु जब जानी पण्डित इसके लिए तैयार नहीं हुए तो उसकी प्रतिक्रिया होनी ही थी। इस बीच उस विधवा को मालगुजार साहब की इस कारगुजारी के बारे में भनक लग गयी तो वह तहसीलदार तक पहुँच गयी। मालगुजार साहब को लगा कि यह सब पटवारी जानी-पण्डित की शह से हो रहा है।

अतः एक दिन वह उस गाँव से अपने गाँव तनोड़े लौट रहे थे। तनोड़े से कोई तीन-चार मील दूर पर बीड़ और टेकरियों का लम्बा सिलसिला है। वहाँ पहुँचते तक सूर्यास्त का समय हो आया। पूरे रास्ते एक साँस में ही आये थे अतः एक पत्थर पर विश्राम करने के लिए बैठ गये। ठीक ही तो था, गाँव अब रह ही कितना गया था ? इन डूँगरियों के उस पार तो आगर के तालाब की ऐसी ठण्डी हवा आती है कि गर्मियों की भरी दोपहरी में भी सब सुहाना लगने लगता है। वहीं से तनोड़े के झाड़ के [पेड़ आदि] भी दिखने लगते हैं।....उनकी आँखों के आगे अकेली गरवट बिछी पड़ी थी। इस बीड़ की तरफ दूर-दूर तक बहुत कम बस्ती है इसलिए इस रास्ते पर ऐन दोपहरी में भी ऐसा सूँता-सन्नाटा रहता है कि भूले-भटके किसी अकेले पक्षी की आवाज भी बड़ी देर तक सुनायी पड़ती है। हाँ, हाट-बाजार के दिन जरूर कुछ भील-सोंधिये [आदवासी जातियाँ] सौदे-सुलुफ वाली तेल की शीशियाँ या टोकरे सिर पर लिये मिल जाते हैं। यह स्थान वैसे सुरक्षित नहीं था क्योंकि डाके वालों को यह स्थान बड़ा प्रिय है। पूरे दिन में एकाध बैलगाड़ी या दो-एक लोगों के शायद ही कोई मिलता, और खासकर साँझ पड़ने के बाद तो कोई भूल कर भी इधर नहीं आता-जाता। ठीक है ऐसे खुले में सूर्यास्त के बाद की गोधूली का प्रकाश बड़ी देर तक बना रहता है, तब भी यहाँ देर तक बैठा रहना उन्हें असुविधाजनक लग रहा था। और चाँदनी रात होती तब भी कोई बात नहीं थी, कृष्ण-पक्ष जो चल रहा था। ऐसे में भय न भी रहे तब भी असुविधा तो अनुभव होती ही है। वह उठना चाह रहे थे पर थकान ऐसी चीज है कि चलते रहो तो बँटी रहती है पर कहीं गलती से भी बैठ गये तो पोर-पोर से पैरों की राह ऐसी निचुड़ी पड़ेगी कि पैर उठाने भारी हो जाते हैं। पास रखे बस्ते को उन्होंने झाड़ा और वह उठने को हुए तो देखा कि जिधर से वह आ रहे थे उधर ही से तीन-चार लोग घोड़े दौड़ाये चले आ रहे हैं। दूर से उड़ते उनके साफों से साफ लग रहा था कि ये डाकू लोग हैं और कहीं धाड़ा [डाका] मारने जा रहे हैं।

उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए चारों ओर देखा कि कहीं कोई जगह या चट्टान आदि हो तो इन डाकुओं से अपने को छुपा लें। हालांकि उनके पास कानी कौड़ी नहीं थी, परन्तु तब भी कहीं ये लोग परेशान ही न करें इसलिए वह रास्ते से हट जाना चाहते थे। उनके उठते तक वे लोग सिर पर आ खड़े हुए। सबने अपने मुँह पर ढाटे [मुंह पर कपड़े लपेटे रखना] बाँध रखे थे। उन्हें इस बात पर आश्चर्य हुआ कि उन लोगों ने उनसे कुछ नहीं पूछा बल्कि अपनी लाठियों से सीधे मारना शुरू कर दिया। वह लहू-लुहान होकर गिर पड़े। बस्ता छिटक कर दूर जा गिरा। उनमें से किसी एक ने कहा कि, 'बस, जान से नहीं मारना है...चलो !!' और वापस अपने घोड़े मोड़ कर लौट गये। जानी-पण्डित को समझते देर नहीं लगी कि ये डाकू नहीं थे, लेकिन तब कौन थे ? क्या किसी ने केवल उन्हें मारने के लिए ही भेजा था ? लगता तो ऐसा ही है, तो फिर किसने भेजा ? किसने ?? कहीं मालगुजार साहब ने तो....???

पता नहीं वह वहाँ कब तक बेहोश पड़े रहे परन्तु उन्हें होश जब आया तो उन्होंने देखा कि कोई उन्हें बैलगाड़ी में लादे लिये जा रहा है। गाड़ी वाला उन्हें आगर के अस्पताल में छोड़ गया जहाँ वह तीन माह तक पड़े रहे। अस्पताल से जिस दिन वह बाहर आये तो उन्होंने देखा कि वह अपने दाहिने घुटने तक टाँग खो चुके हैं। इस घटना का आतंक तो निश्चय ही था परन्तु लगता है कि मालगुजार की शिकायत पर उन्हें अपनी नौकरी से भी हाथ धोना पड़ा। घर, पूजा और खेती वह पहले ही अपने चचेरे भाई के हाथों खो चुके थे और अब वह नौकरी से भी हाथ धो बैठे। शायद परिवर्तन का यही बिन्दु था जहाँ से वह जानी-पण्डित के स्थान पर पटवारी-पण्डित हो गये। जब तक वह पटवारी थे तब तक किसी ने उन्हें पटवारी-पण्डित नहीं कहा पर जब वह शुद्ध रूप से जानी-पण्डित हो गये तब लोगों ने उन्हें पटवारी-पण्डित कहना शुरू किया।

जब दादीमाँ बहुत सहज होतीं तब कभी-कभी पटवारी-पण्डित की कथा थोड़ी नाटकीयता के साथ सुनाने लगतीं कि लँगड़े होने के बावजूद वह किस तन्मय भाव से वारकरी सम्प्रदाय वालों की भाँति मंजीरें बजाते हुए 'गोविन्द-गोविन्द' का हरि-कीर्तन करते और तब कथा आरम्भ करते। उनकी कथा का प्रमुख आकर्षण होता उनका निरूपण। जिस एकल-अभिनय के साथ वह तादात्म्य भाव से कथा-गान करते उसमें उनका खण्डित व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता। वैसे भगवान ने उन्हें पूरी कद-काठी तो दी ही थी पर वह सुदर्शन भी थे। लाल गोल पगड़ी, वैष्णवी तिलक, घुटनों से नीचे तक का लहराता अँगरखा और सारंगपुरी सादा दुपट्टा तथा सघन मूँछों के आकर्षक व्यक्तित्व में प्रायः ध्यान नहीं जाता कि वह लँगड़े भी हैं। खासकर जब वह कथा-वाचन करते-करते जिस सहज भाव से इस क्षण नल के रूप में बोल रहे हैं उस समय वह सचमुच ही राजपुरुष लगने लगते पर दूसरे ही क्षण वह परित्यक्ता दयमन्ती बने विलाप कर रहे हैं। एक भूमिका से सर्वथा भिन्न भूमिका में वह जिस नैसर्गिकता से चले जाते थे वह अद्वितीय होता। अभी भर्तृहरि हैं तो तत्काल वह मैया पिंगला भी

हैं। अभी वह कदम्ब पर बैठे आकण्ठ रसिया भाव से गोपियों के चीर-हरण किये आसक्त हैं तो दूसरे ही क्षण यमुना-जल में हाथों से अंग छुपाती, देह चुराती, लाज डूबी आर्त गोपिकाएँ लग रहे हैं। हरिश्चन्द्र बने अपनी रानी से मृतक पुत्र के शवदाह के लिए शुल्क माँगते हुए जिस कठोरता का वह अभिनय करते उसे देखकर स्त्रियाँ विलाप कर उठती थीं। लोग ठठ्ठ के ठठ्ठ मे रात-रात भर बैठे हुए कथा सुन रहे हैं, अभिनय देख रहे हैं और हर्ष-विषाद से आप्लावित है। उन दिनों न कहीं 'ग्यास' [पैट्रोमैक्स] होता था और न ही ऐसी कथाओं में संगत करनेवाला कोई हारमोनियम वाला या तबलची ही होता था। किसी भी मन्दिर के दालान या शिव-मन्दिर के खुले चबूतरे पर पटवारी-पण्डित की मंजीरें बजने लगीं और 'गोविन्द-गोविन्द' आरम्भ हुआ कि उसी गाँव के लोग ही नहीं बल्कि आस-पास के गाँव-खेड़ों के लोग भी अपने गाड़ी-घोड़ो पर चढ़कर आते और लगता कि कोई छोटी-मोटी जात्रा [मेला] लगी है।

यह निश्चित था कि यदि उनका पैर न कटा होता तो वह सरकारी नौकरी में ज्यादा से ज्यादा गिरदावर कानूनगो भले ही हो जाते। वह लौकिकता भले ही होती परन्तु जो लोकप्रियता उन्हें कथावाचक के रूप में मिली वह अभूतपूर्व थी। इसमें उनका सुदर्शन होना तो प्रमुख कारण था ही साथ ही उनका सरल स्वभाव भी बहुत बड़ा कारण था। इसके अतिरिक्त उन्हें किसी भी प्रकार का न तो लोभ ही था और न लालच। किसी भी प्रकार की उन्होंने कोई सांसारिकता जोड़ी ही नहीं। यह सब तो था ही परन्तु वह अपने कथा-वाचन में बीच-बीच में लोगों के मनोरंजन के लिए जिस प्रकार के आख्यान और चुटकुले सुनाते होते थे वे इतने जीवन्त और यथार्थ होते थे कि उपस्थित लोगो को लगता कि महाराज को तो हर घर की राई-रत्ती पता है। जीवन का कौन-सा ऐसा प्रकरण, सम्बन्ध और भाव था जो वह सहज भाव से नहीं उल्लिखित करते चलते थे ?

लेकिन बच्चों को पटवारी-पण्डित के जिस दूसरे पक्ष में बहुत आनन्द मिलता था वह पक्ष जाति-परिवार का होने के कारण उन्हें कुछ-कुछ समझ में आता था इसलिए अधिक रोचक लगता था। पूरे मालवा में जाति के घर दूर देहातों तक में फैले रसे-बसे है। पण्डिताई से लेकर खेती-बाड़ी तक करते हुए इस जाति के लोग मिल जाएँगे। जब इतने सारे लोग-बाग हैं, कुटुम्ब-परिवार हैं तब निश्चय ही छोटे-बड़े, मगल-अमंगल वाले सारे सांसारिक करियावर भी आये दिन होंगे ही। आज यहाँ तो कल वहाँ। कहीं किसी के यहाँ यज्ञोपवीत होगी तो किसी के यहाँ सगाई होने को होगी। विवाह और उत्तरकार्य तो इतने बड़े कार्य होते हैं कि दूर-दराज के सम्बन्धी ही नहीं जाति-बिरादरी के भी आमन्त्रित होते ही हैं। अतः जब जाति का मामला है तो तय है कि यहाँ जरूर सम्बन्ध होगा ही और निमन्त्रण भी घर आया ही होगा। और आप जब घर रहते ही नही तो आया भी होगा तो आपको पता कैसे चलेगा ? अरे भाई, निमन्त्रण होता किसलिए है ? पता लगने के लिए न ? अब आपको किसी भी तरह पता चल गया तो क्या आप निमन्त्रित नहीं हो गये ? रही सम्बन्ध की बात तो सम्बन्ध क्या पास का

वह इस कटु सत्य से न केवल अवगत ही थे परन्तु हर क्षण, हर जगह उसका सामना करने को तैयार रहते थे। कोई भी इस वृत्ति से ऊपर नहीं है; हाँ इसके प्रकार, अभिव्यक्ति में भेद हो सकता है। मनुष्य बिना किसी नुक्ते के कभी किसी को नहीं स्वीकारता। यही नहीं बल्कि जब तक दस-पाँच जनों से, यहाँ-वहाँ, इधर-उधर पूछ-जाँच नहीं लेगा तब तक चैन नहीं होगा। घी आपको खरीदना है, अपनी उलटी हथेली पर चार बार रगड़ कर भी देख लिया तब भी जब तक पास में बैठे को भी चार बार नहीं सुँघा लिया तब तक विश्वास नहीं होता कि यह शुद्ध घी है। जबकि प्रायः इस तरह की मीन-मेख से स्थिति दुरूह ही होती है परन्तु मनुष्य के इस अविश्वासी स्वभाव को क्या कहा जाए?

पटवारी-पण्डित चूँकि यहाँ इतने दिन रह लिये होते थे तो इस परिवार की राई-रत्ती, सारी ऊँच-नीच से वह भलीभाँति परिचित हो जाते थे। यह इसलिए भी वह करते थे कि इस तरह के कौटुम्बिक आयोजनों में आये महानुभावों में दो-एक अवश्य ऐसे होते हैं जो हर आगन्तुक, हर स्थिति की बखिया उधेड़ना अपना अधिकार समझते हैं। ऐसे ही नकचढ़ों की पेशबन्दी के लिए पटवारी-पण्डित सारे हिसाब-किताब से चौकस रहते थे। सारा कार्य समाप्त हो जाने पर लोगों को दो-एक दिन में आगे-पीछे जाना रहता। अब जब कुछ काम नहीं है तो लोगों का कुल-शील ही जाँचा-परखा जा रहा है। विदा के समय सम्बन्धों की निकटता और दूरी के लिहाज से विवाह आदि मांगलिक कार्यों में टीके के साथ रुपया-नारियल या और भी कुछ दिया जा रहा होता तब पटवारी-पण्डित भी अपनी खड़िया में धोती-गमछा, लोटा-डोर, सरौता-पैवशी, गुमाला आदि सहेजने लगते। लोगों को हेर लग जाती कि पटवारी-पण्डित भी जाने की तैयारी कर रहे हैं तब ऐसे ही समय मीन-मेख निकालने वाले महाशय सबके सामने, सबको सुनाते हुए पूछ ही लेते—महाराज! आप पधारे, बड़ी कृपा की पर··· कुछ ठीक से पहचाना नहीं कि इस घर से आपका किस रिश्ते से ? इसी को खाल खेंचना कहते हैं। परन्तु यह महाशय नहीं जानते कि उनका पाला पटवारी-पण्डित से पड़ा है जिन्होंने मालवे के सारे नदी-नालों, कुण्डी-बावड़ियों का जल पिया है, किसी गामोठ-मुखिया से नहीं कि जो मन्दिर के कुएँ के अलावा किसी जल को नहीं चखे होंगे। ऐसे ही समय वह अपनी बड़ी-सी पुटिया में-- शास्त्रोक्त गाँठ लगाते हुए जिस निरानन्द भाव से हँस पड़ते उसमें अपनी ऊँचाई का भाव स्पष्ट रहता। वह उसी प्रशान्त भाव से अँगरखे-की 'कस' कसते और फिर पगड़ी सिर पर रख कर वह तब व्यास जी और अपने परिवार का मीजान मिलाने पर आते। तब व्यास जी ही क्या श्रीमान! मालवे का कौन-सा जाति का ऐसा कुल-कुटुम्ब होगा जो उनका दूर-पास का सम्बन्धी नहीं है?···और सुनना ही चाहते हो तो इतना समझ लो कि व्यास जी की मृतक पत्नी और वह दोनों ही बचपन में साथ-साथ खेलकर बड़े हुए हैं···आगरवाले उपाध्याय परिवार की वह भानजी थीं न? और उसी परिवार के दामोदर जी और दयाशंकर जी उपाध्याय को आप जानते हैं? वह हमारे पिता का ननिहाल है···और तब वह बचपन के दिनों की जैसी आत्मीय झलक,

स्मृतियाँ जिस तन्मय भाव से सुनाते हुए भावुक हो जाते उसे देखकर उन महाशय का तो सिर नीचा ही नहीं हो जाता बल्कि व्यास जी के परिवारवालों को लगता कि ऐसे भद्र आदमी की चार लोगों के बीच में पगड़ी उछाली गयी। जो सुनता वही छिः छिः करता कि देखो लँगड़े होने के बावजूद पटवारी-पण्डित न जाने कहाँ से सिर्फ सुनकर ही भागे चले आये, घरवालों की तरह सूतक का पालन किया और चलते समय पूछा जा रहा है कि आप कौन ? वाह रे दुनिया !! क्या जमाना आ गया। रातों धर्मशाला में खड़े होकर आपकी रसोई-पानी का प्रबंध किया। इतने सम्बन्धी आये थे, क्यों नहीं किसी दूसरे ने यह सब किया ? कोई एक बार भी धर्मशाला में झाँकने गया था कि क्या हो रहा है ? कृतज्ञ होना तो दूर रहा उल्टे पूछ रहे हैं कि आप कौन ?··· और जब दुःखी भाव से, पूर्ण अन्यमनस्कता के साथ पटवारी-पण्डित अपनी खड़िया लिये घोड़ी की ओर बढ़ते तो खिसियाये हुए परिवार के सारे लोग घेर लेते और दो-एक दिन रुकने का आग्रह होता। घर की स्त्रियाँ भीतर से संदेशा भेजतीं कि इस प्रकार दुःखी मन से जानी-महाराज इस घर से कदापि नहीं जा सकते। ऐसा भागवत-व्यक्ति यदि दुःखी होकर गया तो स्वर्गीय आत्मा को तो कष्ट होगा ही और पता नहीं भगवान हमें क्या दण्ड दें, और खड़िया उतार ली जाती और घोड़ी पीछे की ओर ले जाकर बाँध दी जाती।

इस तरह के आयोजनों का दुहरा लाभ पटवारी-पण्डित को मिलता था। एक तो बाकी के लोगों के लिए वह कथा-भागवत बाँच कर अपनी आय कर लिया करते थे, दूसरे इस तरह के जाति के अनुष्ठानों में पता चल जाता था कि बड़नगर या शाजापुर, मणासे या पंड्याखेड़ी, उज्जैन या रतलाम में किस शुक्लजी, किस दवेजी, किस द्विवेदी जी, किस भट्टजी या किस मेहताजी के घर कौन सा मांगलिक या उत्तरकार्य सम्पन्न होनेवाला है। यदि लड़के का विवाह है तो बरात कब, कहाँ जाएगी ? और इस सूचना के मिलते ही पटवारी-पण्डित अपनी घोड़ी दौड़ाते हुए विवाह वालों के दरवाजे खड़े पामणे [पाहुन] बने टीका कढ़वाते मौजूद हैं। प्रायः लोगों मे चख-चख होती कि इस लँगड़े पण्डित मे भला ऐसी क्या बात है कि जब देखो, जहाँ देखो मौजूद हैं और लोग भी बिना दूर-पास का नाता-रिश्ता देखे टीका काढ़ देते हैं, लेकिन क्यों ? कोई इन लोगों से पूछे कि आप तो किसी के काम में दस मिनिट भी खड़े होने को तैयार नहीं और चाहते हैं कि पगड़ी-दुपट्टा आपको ओढ़ाया जाए। न आप लोक-रीत जानें, न शास्त्र जानें। 'समपदी' के लिए कुम्हार के घर से कितने घड़े लेकर किस प्रकार की स्त्रियाँ जाएँगी या 'दातन-पानी' की रस्म में कौन गुलाल लगाएगा, कौन इत्र लगाएगा; वर को धर्मशाला में भोजन के समय कितना देना होगा—जब आप किसी बात में सहयोग नहीं देंगे, तो कोई क्यों आपको अपने माथे पर बैठालेगा ?—भले ही पटवारी-पण्डित लँगड़े सही, बहुत निकट के सम्बन्धी न सही, हो सकता है दूर का भी सम्बन्ध न हो, पर आखिर हैं तो जाति के। जहाँ कहो वहाँ बेचारे मौजूद। और अपने आदमी में क्या लाल लगे होते हैं ? आप फूफा हैं, बहनोई हैं—तो किस काम के ? अपनी गायत्री से ही आपको फुर्सत नहीं। ब्याह में क्या आये कि जैसे अपना पुरश्चरण यहीं

पूरा करने आये हैं—सवेरे से शाम तक गोमुखी में हाथ डाले गायत्री का जाप कर रहे हैं। आपको तो खुद सेवा चाहिए, आप क्या किसी दूसरे की सेवा करेंगे ? न आप धर्मशाला में परस सकते हैं, न आप चीजों की निगरानी कर सकते हैं। यहाँ आये हैं और चिन्ता अपने मन्दिर-ठाकुर की लगी है, तो फिर क्यों आये भैया ? हमने पीले चावल जरूर भेजे थे आपको तो इसलिए कि हमारी चिन्ता में, काम में आकर हाथ बटाएँ, इसलिए नहीं कि आप अपने तरभाणे में प्याले से अपने ठाकुर जी निकालकर नहलाते बैठें और कभी दही के लिए तो कभी शहद के लिए आवाज लगायें। आदमी जनवासे का ध्यान रखे कि आपका और आपके ठाकुर जी का ? भैया का ऐसा ही नियम था तो मिश्री का भोग ही साथ में लाते। पर कभी पटवारी-पण्डित ने भूले से भी किसी को ऐसी साँसत मे नही डाला होगा। एक चुटकी तमाखू तक के लिए कभी किसी बच्चे तक से नहीं कहा होगा।—चले हैं पटवारी-पण्डित का नाता-रिश्ता खोजने।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल जिस ढंग से यह सब वर्णन करतीं तो बच्चों को लगने लगता कि जैसे दादीमाँ के सामने ये सारे लोग खड़े हैं और दादीमाँ सब देख-सुन रही हैं। और बच्चे कभी आश्चर्य से कभी प्रसन्नता से सब सुन रहे होते। उन्हें भी लगने लगता कि जैसे पटवारी-पण्डित का यह बाँस जिस पर वह अपना कटा घुटना टिकाये रहते हैं, लेकर भाग जाएँ तो कितना मजा आये न ? बच्चू, ऐसे गिरें धड़ाम से कि गिरे भले। इस विचार मात्र से जब वे अतिरिक्त हँसने लगते तो दादीमाँ इस हँसी को न जाने क्या समझ कर उन्हें ऐसा डाट देतीं कि बच्चों की सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल बच्चों को बतातीं कि इन्हीं पटवारी-पण्डित बलवन्तराम गोविन्दराम जानी को अपनी मासी के विवाह के अवसर पर केवल एक ही बार और वह भी अन्तिम बार ही देखा था, जिसका स्मरण आते आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। विवाह समाप्ति के बाद धीरे-धीरे एक-एक करके सभी सगा-सोई जा चुके थे। पटवारी-पण्डित भी जानेवाले थे परन्तु कथा-भागवत बाँचने की उनकी रोचक शैली के कारण मन्दिर तथा मुहल्ले के वैष्णवों और लोगों ने उन्हें रोक लिया ताकि अब अधिक लोग उनकी कथा सुन सकें। आये दिन आज औदीच्यों की धर्मशाला में कथा हो रही है तो कभी नागरों की। मोढ़ लोगों की धर्मशाला में पराणों है तो श्रीगौड़ों की पंचायत कैसे पीछे रह सकती थी ? और इस प्रकार भागवत का एक न एक प्रसंग लेकर अगर मन्दिर में कथा होती तो पुराणों के प्रसंगों को लेकर विभिन्न धर्मशालाओं

में अभिनय के साथ कथा होती। पटवारी-पण्डित को सभी जातियों की जातिगत विशेषताएँ, रीति-रिवाजों का भी पता था अतः वह उन्हें भी जोड़ कर कथा को अधिक रोचक बनाते चलते। स्त्रियों का अभिनय तो वह इतना सजीव करते थे कि स्त्रियाँ घूँघट निकाले मुँह में कपड़ा ठूँस-ठूँस कर हँसती होतीं। उनमें प्रचारक के साथ-साथ एक सुधारक भी था अतः वह अमानवीय और मूर्खतापूर्ण रीति-रिवाजों, जैसे 'गाली-गाना' पर ऐसी करारी फब्तियाँ कसते कि लोग लहालोट हो जाते थे।

मासी के विवाह को समाप्त हुए अभी मुश्किल से आठ-दस दिन ही हुए होंगे कि एक दिन शाम को 'शयनारती' के बाद मण्डली में लोग डरे-डरे से चर्चा करने लगे कि लगता है कि पूना वाला ताऊन [प्लेग] यहाँ भी बस आया ही समझो। आये दिन खजूरी-बाजार, इतवारे, जूनी-इन्दौर से खबर आती है कि चूहे मरना धीरे-धीरे बढ़ रहा है। तुकोजीराव अस्पताल में तथा छावनीवाले अस्पताल में गिल्टी की शिकायत वालों से कमरे क्या बरामदे तक भरने लगे हैं। इधर गिल्टी निकली कि तेज बुखार आया और देखते-देखते आदमी चल बसता है। बस, एकाध दिन में ही शहर छोड़कर 'क्वारनटाइन' में रहने के लिए डुग्गी पिटने ही वाली है।...लोग तो अभी से शहर छोड़ने लगे हैं। ठीक भी है मुखिया जी! जान सबको प्यारी है। जान है तो जहान है। सब अपने-अपने नाते-रिश्तेदारों के यहाँ दूर-पास के शहरों-कस्बों-गाँवों की ओर चले जा रहे हैं। लेकिन बाबू साहब! प्लेग तो पूरे मालवा में फैल रहा है। अभी कल ही वो मंजीलाल....कौन मंजीलाल? अरे, वही जिसकी राजवाड़े के सामने कपड़े-टोपी की दूकान है, लाइब्रेरी के नीचे...अच्छा तो यह कहो कि वह किशनपुरे वाले मंजीलाल.... आप तो कह रहे हैं राजवाडे के सामने....कहाँ राजवाड़ा और कहाँ किशनपुरा....अरे यार, आप तो झगड़ने लगे बेबात पर, किशनपुरा राजवाड़े के पास नहीं तो क्या तुको-गंज में है?....हाँ भैया! मंजीलाल क्या बता रहे थे?...कुछ नहीं वह उज्जैन से रात ही लौटे तो बता रहे थे कि वहाँ भी प्लेग का ऐलान माधवराव महाराज की ओर से हो गया है कि लोग शहर खाली कर दें और क्वारनटाइन मे चले जाएँ।... पर भैया! आपने तो ऐलान कर दिया कि क्वारनटाइन में चले जाओ...लेकिन आदमी पूरा घर क्या सिर पर लाद कर ले जाएगा?....और क्या-क्या ले जाएगा?...लो, मिश्रीलाल की सुनो, ये घर को रो रहे हैं और घरों में लोग मरों को रो रहे हैं।....एक को फूँक कर आये नहीं कि लो दूसरा तैयार....हैजे की याद है पंडित जी?....भला पण्डित जी हैजे को भूल सकते हैं?—क्या तुम भी हैजे को ले बैठे ...वह तो हर साल की चीज हो गया जैसे टिड्डी-दल...पर यह ताऊन तो बस सुना ही सुना था कि कहीं पूना में और बम्बई के उधर ही यह कोई जानलेवा बीमारी है....बाबू साहब! हमे तो लगे कि यह बीमारी अंग्रेज साले जानबूझ कर अपने साथ इंगलैण्ड से लाये और हम लोगों में फैला दी। इस पर कुछ लोग हँसने लगे। किसी ने कहा भी कि—बात तो यह हुई।

और देखते-देखते चूहे तो हर मुहल्ले में मरने ही लगे साथ ही आदमी भी चूहों की भाँति मरने लगे। अच्छे खासे झोला हाथ में लिए शाक-भाजी लेने निकले कि

रास्ते में ही बगल में सुरसुराहट होने लगी। आपने अभी बगल खुजलानी शुरू ही की होगी कि देखनेवाले ने कहा कि—भागो भैया, गिल्टी निकलनेवाली है। और आप सिर पर पैर रख कर पहुँचते ही हैं कि गिल्टी बाहर उछल आती है। मारे दहशत के आप पसीने-पसीने। घर भर चौंक उठता है— कि क्या हुआ आपको ? आपके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही हैं। आप बिस्तरे पर निढाल होकर पड़ जाते हैं कि आपको ठण्ढ अनुभव होने लगती है। घर के सारे लिहाफ ओढ़ा दिये जाते हैं परन्तु आपकी कँपकँपी नही दूर होती। लड़के भाग कर वैद जी के पास से दवाई लाते हैं... पर, आप देखते-देखते ही....पूरे शहर में दहशत और भाग-दौड़ मच जाती है। हर चौराहे, नुक्कड़ पर डुग्गी पीट कर ऐलान किया जा रहा है। सबको लग रहा था कि, चलो, भागो यहाँ से।...यह कह देना जितना आसान है पर ऐसा कर सकना उतना ही आसान था ?-ठीक है, भागो...लेकिन क्या-क्या लेकर भागो ? किसे-किसे लेकर भागो ? घर ही मे जब प्लेग से कोई आत्मीय तड़प रहा हो तब कोई भाग सकता है ? आप तो भाग लिये और वह क्या करे ? क्या इसी दिन के लिए उसने यह घर-संसार—का पसारा किया था कि आप लोग उसे कटे बकरे की भाँति तड़पता छोड़ जाएँ ? क्या इसी के लिए वह घानी के बैल की तरह पिसता रहा है ?....लेकिन भागोगे नही तो सरकार के कर्मचारी घरों में घुस-घुस कर लोगों को निकाले दे रहे हैं—तब ?

और उसी शाम को मन्दिर से लौटते में पटवारी-पण्डित ने पिताजी को बताया कि—महाराज मेरा अन्त समय आ गया। और घर पहुँचते ही वह थरथराते हुए बिस्तरे पर गिर पड़े। हाथ का बाँस छिटक कर गिर पड़ा। पिताजी ने गोवर्धन को ख्याली रामजी वैद्य के यहाँ दौड़ाया। उन्होंने दवाई भी दी परन्तु चेता दिया कि आप लोग शहर छोड़कर चले क्यों नही जाते ? सड़क पर मार भीड़ ही भीड़ थी। सरकार घर खाली करवा रही थी। घरों में बीमारों को सरकार की ओर से कोई लाल दवा दी जा रही थी। उन्हे अस्पताल ले जाने के लिए गली तक में गाड़ियाँ घूम रही थी। और देखते-देखते पटवारी-पण्डित को सरकारी गाड़ी पर वे लोग लाद कर ले गये। उसके बाद उनका क्या हुआ वह नहीं जानती।

बच्चो को यह सब सुनते हुए लगता कि दादीमाँ प्लेग के दिनो की कहानी नहीं कह रही हैं बल्कि जैसे वह सब कुछ आज भी देख-सुन रही हैं कि चारों ओर भागते लोग, पुकारते हुए लोग, रोते हुए लोग। लोग ही लोग। कोई किसी की तरह नही था। मरने वाले घरो में पड़े कराह रहे थे और भागने वाले सड़कों पर रोते-कलपते भाग रहे थे। आँखों से सब उसके लिए रो रहे थे जिसे वे घर में मरने के लिए छोड़ आये थे पर पैरों से वह अपने लिए भाग रहे थे। किसी नाली में या सड़क पर या कूड़े के ढेर पर मरा चूहा देखा नहीं कि लोग बेतहाशा भागने लगते। इसमें कौन किस पर गिर पड़ा है इसकी भी चिन्ता नहीं। बच्चे या तो अवाक् बने घिसटते हुए चल रहे थे या फिर रो रहे थे। खजूरी-बजार की उस तंग सड़क पर जब साधारण दिनों में चार आदमियों का निकलना मुश्किल होता है, वहाँ आदमियों की इस पगलायी

बाढ़ में तांगों-ठेलों पर लदा सामान लेकर भागना क्या आसान था ? लोग कुम्हार के गदहे को ही खोल लाये थे और उस पर खांची भर सामान लाद कर भाग रहे थे। सिर पर सामान, कंधों पर बोझ, कमर पर बच्चे, हाथों में झोले, साथ में आये सब साथ में चल रहे हैं कि नहीं....कान फट जाएँ इस तरह लोग गला फाड़-फाड़कर आगे चले गये को, पीछे रह गये को पुकार रहे हैं। रोने वाला रोया ही चला जा रहा है। इस रेल-पेल में भी बहू को घूंघट से ही फ़ुर्सत नहीं। किसी की बकरी के खुर के नीचे किसी बच्चे का पैर दब गया...लो खून बहने लगा.. हाथापाई की नौबत ही आ जाती पर इस ठेलम-ठेल में पता नहीं बकरी और बकरी वाला कहाँ रह गया ...'बचना भैया ! बचके'...देखा इस मनियारी के बच्चे को....क्वारनटाइन क्या जा रहा है जैसे हाट में चूड़ियाँ बेचने जा रहा है....यह नहीं कि औरों की तरह पैदल चले, साला लाट गवर्नर की तरह घोड़े पर चढ़े है...'बचना भैया ! बचके'—सिर तेरा !!

इस हाय-हत्या में कोई चिल्ला पड़ता कि अभी वह बड़े सराफे और सरकारी ताजिये के यहाँ...सैकड़ों मरे चूहे देख कर आया है....कोई उठाने वाला नहीं है...बदबू के मारे बुरा हाल है। इतना सुनते ही लोग फिर बगटुट भागने लगते। कौन किस पर गिरा पड़ रहा है इसकी किसे चिन्ता थी ? तब भी पिताजी को जूनी इन्दौर वाली अपनी बहन का ध्यान तो था ही कि पता नहीं उसका क्या हाल होगा ? इस पर किसी ने कहा कि चिन्ता मत करो जो जिन्दा होंगे वो सब क्वारनटाइन में मिल जाएँगे नहीं तो जैसी भगवान की मर्जी।...लो, इनसे मिलो...क्या क्वारनटाइन एक जगह है कि सब वहाँ मिलेंगे ? कहाँ बिजासनी की टेकरी और कहाँ पलासिया ? कहाँ नौलखा और कहाँ सावेर रोड पर अहिल्या-आश्रम के आगे का मैदान...चारों ओर क्वारनटाइन न बनाये सरकार तो पूरी इन्दौर के लोग कहाँ जाएँ ? अभी पिछले महीने ही जूनी-इन्दौर वाली इन बुआ के लड़की-दामाद मील [मिल] में नौकरी मिल जाने से आ गये हैं, जूनी-इन्दौर में चन्द्रभागा में रहते हैं, पता नहीं उन बेचारों का क्या हुआ होगा ?

राजवाड़े के बड़े से मैदान में चारों ओर के रास्तों से बाढ़ के जल को भांति लोग ठट्ठ के ठट्ठ में उमड़े पड़ रहे थे। लोगों को ऐसे रोते हुए पहले कभी नहीं देखा। किसी का पिता, किसी का भाई, किसी का पति, किसी का पुत्र, लड़की, माँ, बहन... गरज कि सब लँगड़े, अधूरे होकर भाग रहे थे। अगर एक बार किसी का साथ छूटा तो फिर राम भजो। लाख पुकारो, कौन सुनता है ? किसको आपसे सहानुभूति हो सकती थी, जबकि सबको सिर्फ सहानुभूति की ही सबसे अधिक आवश्यकता थी ? भीड़ इतनी ज्यादा थी कि कृष्णपुरे के सँकड़े बाजार में से सब गुजर ही नहीं सकते थे इसलिए काफी भीड़ बोम्बांकेट-मार्केट वाले रास्ते से होकर कृष्णपुरे के पुल की ओर बढ रही थी। बोम्बांकेट-मार्केट के पास इस भीड़ में नन्दलालपुरे की ओर से आती भीड़ भी शामिल हो रही थी। कृष्णपुरे के पुल पर रोज जितनी आसानी से लोग आते-जाते उस पर आज भीड़ के मारे आप चल नहीं सकते थे। बस धक्का आता और आप ठेल दिये जाते। उस खुले में भी दम घुटने लगता था। ऐसी धूल उड़ी पड़ रही थी कि जैसे तोप

के धमाके से मिट्टी उड़ी हो। कई बार तो लगता कि यह पुल जरूर छितरा जाएगा। इस पुल से तोपखाना-रोड पर दूर-दूर तक लोग ही लोग दिखायी दे रहे थे। इस भागने में कुछ वर्ग पकड़ने के लिए चले जा रहे थे। उनका ध्यान था कि इन्दौर-उज्जैन बड़े शहर है, यह महामारी शहरों की बीमारी है पर सावेर, महू, शाजापुर, रतलाम, बड़नगर में यह रोग नहीं होगा। दस-पाँच दिन वहाँ किसी तरह रहकर बीमारी कम होते ही लौट आएँगे। इसलिए जो दो-चार बसें थीं उन पर इतनी अधिक भीड़ हो गयी कि पता नहीं इतने सबको वह किस तरह ले जाएँ। सैकड़ों लोग अकेली रेल के लिए प्लेटफार्म पर बिना कुछ सोचे-समझे न जाने कब से जमा हो गये थे।

जिस ढंग से दूकानें खुली, अधखुली बन्द थीं उससे लग रहा था कि दूकानदार इस जल्दी में दूसरी जूती भी शायद ही पहन पाया होगा। जिन घरों में बीमार छूट गये थे और सरकारी आदमियों ने बाकी के लोगों को घर से निकाल दिया था उन घरों पर बाद में केवल कुण्डियाँ ही चढ़ी हुई थीं। जिन लोगों ने घरों में ताले लगा भी दिये थे, वे बेकार ही थे। जब मुहल्ले के कुत्ते तक साथ में चल रहे थे—तब भला चोरी करने वाला पीछे कौन छूट गया था?....और देखते-देखते पैदल-पुलिस, घुड़सवार, स्काउट के लड़के, धार्मिक सेवादल के लोग भीड़ की सहायता के लिए बाजारों, गलियों में फैल गये। पुलिस और स्काउट की सीटियाँ भीड़ को नियन्त्रित करने के लिए चारों ओर सुनायी पड़ने लगीं। सेवादल के लोग ऊँचे स्थानों पर खड़े होकर आवाज तेज करने के लिए गत्ते के बड़े-बड़े भोंपू मुँह से लगाये लोगों को बता रहे थे कि क्वारनटाइन कहाँ-कहाँ हैं और वहाँ कैसे-कैसे जाना है। इस सारी परेशानी में भी लोग बराबर यह ध्यान रखे थे कि कहीं उनकी बगल में गिलटी तो नहीं निकलने लगी है? और जैसे ही किसी को गिलटी निकलती कि वह सिर का बोझा फेंक कर इस बुरी तरह चिल्लाने लगता कि लोग और दहशत में आ जाते। सिवाय सेवादल के लोगों के और किसी का साहस तक नहीं होता कि उसके पास जाएँ भी। सब नितान्त अपनी तरह एकाकी भाव से आतंकित, त्रस्त और दुःखी थे। केवल इतना हो हुआ था कि भीड़ में पहुँच कर सबको साथ मिलकर भागने में सुविधा हो रही थी।

पलासिया से लेकर छावनी के पीछे के खुले जंगल में नौलखा-गार्डन तक बम्बई-आगरा रोड के लगभग समानांतर रूप से बड़ा क्वारनटाइन था। यही आगे जाकर पीपल्यापाला, दशहरा-मैदान से होता हुआ बिजासनी-टेकरी से चक्कर लगाता हुआ अन्त में सावेर-रोड के पास अहल्या-आश्रम तक क्वारनटाइन के तम्बू, छोलदारियाँ,

कच्ची-पक्की झोपड़ियाँ, टीन-पतरों के बड़े-बड़े अहाते खड़े हो गये थे। कुछ प्रबन्ध सरकार की ओर से था परन्तु बहुत कुछ प्रबन्ध सामाजिक और दातव्य संस्थाओं की ओर से था। घूम-घूम कर लोगों को कुछ खास तरह की दवाइयाँ बाँटी जा रही थी। सबसे बड़ी समस्या सफाई और मरनेवालों को जलाये जाने की थी। जरा भी किसी की तबीयत खराब होती उसे उस स्थान से हटा दिया जाता। ऐसा करते समय उस व्यक्ति के घर के लोग रोने-चीखने लगते। हाहाकार मच जाता पर क्या करते, विवशता थी। इन क्वारनटाइनों के पीछे दूर श्मशान का प्रबन्ध था। जाड़े के दिन उस पर उस खुले में ठण्ड के मारे लोगों का यों ही बुरा हाल। जो तम्बू, छोलदारियों और झोपड़ियों में थे उन्हें कोई तकलीफ खास नहीं थी परन्तु जो टीन के खुले अहातों-बाड़ों में थे उनकी मुसीबत थी। रात भर अलाव जलाया जा सके इतनी लकड़ियाँ कहाँ थीं? ओस और ठण्डी हवा के मारे ओढ़े हुए लिहाफ-गोदड़े सब भीग जाते। खाने-पीने के सामान की वैसी ही समस्या थी उस पर छोटे बच्चों के लिए दूध का क्या हो? विभिन्न वर्गों, परिस्थितियों के लोगों में खाने-पीने, छुआछूत, सफाई जैसी किसी भी छोटी चीज पर कई बार कहा-सुनी हो जाती। प्रायः लोग आँच तापते, हाथ-पैर सेंकते हुए पीछे छूटे घरों और प्लेग में चले गये आदमियों को याद करते हुए दुःखी हो जाते या विलाप करने लगते। किसी का पूरा परिवार ही उजड़ गया था और वह अकेला रह गया था। किसी परिवार में दादी और अकेले पोते-पोती के कोई नहीं रह गया था। किसी वृद्ध सुर की अकेली गर्भवती बहू रह गयी थी, लड़का देखते-देखते चल बसा था। गरज जो था, वह खण्डित था। सबको यही चिन्ता थी कि जो बच गया है वही रह जाए ... बहुत है। सबके चेहरे उदास से अधिक तो रोने से पूरी तरह थके हुए थे। सबको लगता कि मन-मन भर के पत्थर पैरों में बाँधकर सबको इस जंगल में कैदी की तरह बैठाल दिया गया है। अब किसके नाम ऊपर से फरमान आ जाए, यह कोई नहीं जानता था। इस घोर विपत्ति में भी कुछ को अपने पीछे छूटे घर की चिन्ता थी। घरों में क्या नहीं छूटा पड़ा था? सोना-चाँदी, रुपया-पैसा, कपड़े-लत्ते, खाने-पीने की चीजों में भरे कोठार, सामानों से लदी दूकानें सभी कुछ तो था। किसी का तोता आँगन में लटका रह गया था तो किसी की बकरी-मुर्गियाँ बाहर ही छूट गयी थीं। खूँटे से बँधी गाय का पता नहीं पीछे से क्या हुआ होगा? पशुओं को घास का पूला डालनेवाला भी तो पीछे नहीं छूट गया था—बेचारे पशु डकार-रँभा कर ऐसे ही प्राण दे देंगे। गोरू तो हाथ से जाएँगे ही पर पाप अलग चढ़ेगा।...ठाकुर जी की सेवा का क्या होगा? ...तुलसी-क्यारे में बिना पानी के तुलसी मर नहीं जाएगी?...और पता नहीं इस बीच घरों में न जाने कितने चूहे मर-मर कर सड़ रहे होंगे...यह भी कोई विपदा है कि घर-परिवार के आदमी गये। इस खुले जंगल में पता नहीं किस-किस तरह के लोगों से घिरे खाते-पीते जाति गयी और जब वापस घर पहुँचो तो मालूम हो कि घर की सारी चीजें ही कोई ले गया...पता नहीं भगवान! यहाँ कितने दिन इस जंगल में पड़े रहकर भोगना है। पता नहीं कितने वापस लौट कर जाएँगे। रात में सोता कौन था? घंटे-

दो-घंटे की झपकी आयी नहीं कि पास ही में सुनायी पड़ता कि किसी की तबीयत खराब हुई और उसे तत्काल हटा दिया गया है फलतः उसके घर वाले रोना-पीटना मचाये हुए हैं। अँधेरे में जलती चिताओं की लाल-पीली लपटें देख कर बच्चों को कितना भय लगता था। आये दिन शहर से आये या शहर गये लोगों से सुनायी पड़ता कि पूरा शहर दवाई छिड़क कर साफ किया जा रहा है। कूड़ागाड़ियों में मरे चूहे भर कर शहर से दूर ले जाकर उन्हें जलाया जा रहा है। हजारों घर खुले के खुले पड़े हैं। किसी-किसी बारजे में तो तार पर सूखती साड़ी भी वैसी की वैसी पड़ी थी। पूरे शहर में हो आओ, कोई पैर की आहट तक नहीं सुनायी देगी। पुलिस और सेना के गश्त करते सिपाही हर आने-जाने वाले पर कड़ी निगरानी रखे हुए हैं।

और तब एक दिन सुनायी दिया कि 'प्लेग-साहब' की सवारी निकलने वाली है। लोग सब एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे कि यह कौन-सी सवारी है भाई ? श्रावणी-सोमवारों पर किन्हीं-किन्हीं जगहों पर सवारियाँ निकलती हैं। दशहरे पर तो हर जगह सरकार की सवारी हाथी पर निकलती है, पर यह प्लेग-साहब की सवारी क्या बला है ?—सुना तुमने कुछ ?....क्या ?....अरे महू से किसी अंग्रेज कर्नल को ए० जी० जी० ने बुलवाया है। ए० जी० जी० ने सरकार से कह कर इस सवारी का आयोजन करवाया है। ...लेकिन इस सवारी में क्या होगा ?....रहे तुम बकलोल ही !! डुग्गी पिट रही है, नहीं सुनी क्या ? भाँग छाने पड़े थे क्या ? अरे, आज शाम को राजवाड़े से यह सवारी निकलेगी। पूरे शहर का चक्कर लगा कर तब प्लेग-साहब को दशहरे-मैदान में जैसे रावण जलाया जाता है न ? ...बस वैसे ही आग लगायी जाएगी।.... तो यह कहो कि इस महामारी के रावण की सवारी आज निकलेगी....जो समझो !!

और फिर, लोग ठट्ठ के ठट्ठ में तुकोगंज से लेकर तोपखाना-रोड होते हुए राजवाड़े तक खड़े हो गये। छावनी से होते हुए नसिया के सामने से लेकर सियागंज रोड के दोनों ओर लोग ही लोग। हजारों की संख्या में दशहरे मैदान में लोग यह तमाशा देखने जमा हो गये। कल तक जिस महामारी से भयग्रस्त थे आज वही तमाशा बन गयी थी। इन्दौर के लोगों के लिए यह पहली घटना थी कि किसी महामारी की सवारी निकले। महामारियाँ देवी का अवतार तो हो सकती हैं पर ये 'साहब' कब से होने लगीं ? कंधों पर बच्चे बैठाये, गठरी-मुठरी से लदे-फँदे, चीखते-चिल्लाते, धकियाते-कुहनियाते यहाँ से वहाँ तक सड़कों पर लोग ही लोग थे। और तभी बैंड-बाजे सुनायी दिये। बाजों की आवाज आनी थी कि दोनों ओर खड़े लोगों में सकता छा गया। सारी आँखें जुलूस को सबसे पहले देखने को आकुल थीं अतः लोग तिरछे होकर, पंजों के बल खड़े होकर या किसी दूकान के सामने के पटिये पर खड़े होकर —वो ऽ ऽ....की मुद्रा में देखने लगे। जुलूस का पहले शब्द सुनायी दिया उसके बाद जुलूस धीरे-धीरे दिखने लगा। मिलट्री और पुलिस के सिपाही पैदल, घोड़ों पर आगे-आगे थे। सारे सरकारी कर्मचारी होलकरशाही राजभूषा में साथ में चल रहे थे। बीच में बड़े से मंच पर तिमंजिली ऊँचाई माला कागज का एक साहब हैट पहने था। बड़ा-सा सिगार उसके

मुँह में था। साहब जरूर था, पर था आबनूस का। उसके गले में जूते, झाड़ की माला पड़ी थी। उस मंच को घोड़े खींच रहे थे। किसी को समझ में नहीं आ रहा था कि यह सवारी कैसी है? सुना ए० जी० जी० [अंग्रेज एजेन्ट टू द गवर्नर जनरल, जो कि सेंट्रल प्राविन्सेज के राज्यों पर निगरानी करने के लिए इन्दौर में रहता था] और सरकार सीधे दशहरे मैदान में ही पहुँचेंगे। लोग जिस उत्साह से देखने आये थे वैसे ही अवाक बने रहे। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि इसका क्या मतलब है?

लेकिन जब प्लेग-साहब की सवारी दशहरे मैदान में पहुँची और ए० जी० जी० और सरकार ने जब मंच पर चढ़ कर सिगार में आग लगायी तब उसके थोड़ी ही देर में जब सैकड़ों पटाखों के छूटने की आवाज होने लगी तो लोगों की समझ में आया कि यह प्लेग साहब की अन्त्येष्टि की गयी। सैकड़ों रुपयों की बारूद का धुँआ ही धुँआ भर उठा। आतिशबाजी का मजा तो आया ही पर तब लोगों को भोपुओं पर बताया गया कि शहर की पूरी सफाई कर दी गयी है। प्लेग-साहब, सार्वजनिक गंदगी के प्रतीक थे। बारूद के धुएँ से रहे-सहे कीड़े मर जाएँगे और लोग अब आराम से अपने घर लौट सकते हैं—सच?? घर जा सकते हैं क्या?....और फिर तो वो भगदड़ मची कि जैसे बरसों से अपने घर नहीं गये थे।

और जब श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल यह सब सुनाकर खत्म करती उस समय तक सिगड़ी की आँच तो न जाने कब की बुझ गयी होती पर सिगड़ी की मिट्टी में तब भी गरमाहट रहती। एक न एक बच्चा उनकी जाँघ को तकिया बनाकर सो गया होता।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल सो रही थीं। अभी पहली-पहली ही नींद थी। काफी देर तक वह देवर पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल की प्रतीक्षा करती रही। बच्चे सब सो गये थे तब भी वह सिगड़ी की राख में बुझती आँच को कुरेद-कुरेद कर जगाती रही और हाथ-पैर सेंकती रहीं। लेकिन जब प्रतीक्षा करते हुए स्वयं उन्हें नींद का झोंका आने लगा तो वह भी लेट गयी। बैठक में भोजन का सारा प्रबन्ध दुर्गा बहुत पहले ही करके जा चुकी थी। बिस्तरे पर जाने के पूर्व उन्होंने गले में पड़ी चाँदी की दँतखुदनी से दांत साफ किये और वैष्णवी ढंग से लोटे से पानी गटकने लगी। इस बीच वह बराबर सोचती रहीं कि आज अभी तक अवन्ती क्यों नहीं आये? चौखण्डी से ऊपर आकाश मे देखा तो लगा कि आधी रात के आसपास उगने वाले तारों का उगना भी शुरू हो गया। मुँह पोंछ वह बिस्तरे में लेट गयी लेकिन कान उनके बराबर दरवाजे पर थे कि किसी समय कल बजेगी और वह उठकर दरवाजा खोल देंगी। कहीं वह झल्ला भी रही

थी कि दुनिया के सारे मर्द एक जैसे ही होते हैं—न किसी काम के न करम के !! पर रोव दुनिया भर का छाँटेंगे । श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल यही सब सोचते हुए कब सो गयीं, पता नहीं । वैसे अपनी समझ से तो वह आँखें मींच कर प्रतीक्षा ही कर रही थीं । पता नहीं इस बीच क्या हुआ कि उनकी नींद हल्के से खुली । उन्हें लगा कि शायद वह सोने के पहले पानी पीना भूल गयी हैं । लेकिन याद आया कि वह पानी तो पीकर सोयी थीं, तब ? उन्हें लगा कि उन्होंने शायद किसी बर्तन के झनझना उठने की आवाज सुनी थी । हो न हो कोई बिल्ली घुस आयी होगी । उन्हें लगा कि अवन्ती के लिए रखा खाना तो बिल्ली ने नहीं खा लिया ? परन्तु बैठक की झँझरी से कम से कम कोई बिल्ली तो नहीं ही घुस सकती है . तब जरूर ही चूहा होगा....तभी उन्हें लगा कि उनकी नींद उन सब कारणों से नहीं खुली थी वल्कि जैसे उन्होंने सुना कि किसी ने 'त्र्यम्बक' पुकारा था....और आवाज भी शायद अवन्ती की ही थी । और वह दरवाजे के पास जाकर हेर लेती खड़ी रहीं कि यदि अवन्ती होंगे तो फिर पुकारेंगे या 'कल' की आवाज होगी । वह चाहती रहीं कि दरवाजा खोलकर देख लें कि क्या अवन्ती हैं ! परन्तु इतनी रात में बिना आश्वस्त हुए सहसा दरवाजा खोलने का भी साहस नहीं हुआ । दरवाजे के पास अँधेरे तथा निर्जन में साँस रोके खड़ी थीं । समझ नहीं पा रही थीं कि यदि अवन्ती होते तो फिर से पुकारते, कल वजाते या किसी तरह की आहट ही होती । इतनी रात मे तो पलक झपकाने की आहट सुनायी पड़ जाती है, तब भला ...वह शायद लौट ही पड़ती कि उन्हें लगा कि कोई आवाज हुई । सम्भव है कि दरवाजे के बाहर जाड़े के कारण कोई गाय या कुत्ता सटकर बैठा हो...पर उन्हें लगा कि उस आवाज में जैसे एक भाषा थी । यह विचार आते ही उन्हें लगा कि बाहर कोई अवश्य है और वह कोई अवन्ती नही हो सकते, वर्ना वह सीधे-सीधे पुकारते .. तब कौन हो सकता है ?...कोई भी हो सकता है और ऐसे में उन्हें एकदम से अकेले दरवाजा नही खोलना चाहिए...तब ! !

और जब लालटेन लेकर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल अपनी माँ और पत्नी के साथ दरवाजा खोलकर जैसे ही बाहर आये तो देखा कि पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल वही दरवाजे पर ढेर हुए पडे हैं । श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने जैसे ही यह देखा तो वह चीख पड़ीं...'अवन्ती !!'

अपनी सास के पीछे खड़ी दुर्गा को न जाने क्यों लग गया कि छोटे ससुर शायद जाड़े में ठिठुरा गये और उनका देहान्त हो गया ।

अपने पिता पण्डित महादेव शुक्ल की जैसी ही मुद्रा में तथा किसी सीमा तक हाव-भाव में भी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल आयु के बढ़ने के साथ-साथ प्रतिकृति लगने लगे थे। दुर्गा पास ही में बैठी हुई बत्तियाँ बँट रही थी। सहसा हँस दी, तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल चौंके। वह जनेऊ से पीठ खुजला रहे थे, बोले,

— क्या बात है ? तुम हँसी क्यों ?

— बड़ी नादिरशाही है, कोई हँसे भी नहीं ?

— हँसने की किसी बात पर कोई हँसे तो समझ में भी आये। बेबात पर हँसना पागलपन है।

— अच्छा अब चिढ़िये नहीं। मुझे तो हँसी इस बात पर आयी थी कि आपकी बहुत सारी आदतें, लटके अब बिल्कुल बाबा जैसे हो गये हैं।

— तुम्हारा मतलब यह कि मैं जिस प्रकार जनेऊ से पीठ खुजला रहा था वह बाबा की तरह था, है न ? देवी जी, जनेऊ से और किस तरह पीठ खुजलायी जा सकती है, जरा हम भी सुनें ?

एक डिब्बी में बत्तियाँ समेटते हुए लगभग शरारत-भाव से दुर्गा हँसते हुए बोली,

— यह झल्लाना भी।

वह इस शरारत के बाद उठने ही वाली थी कि त्र्यम्बक ने उसका हाथ पकड़ लिया। वह बोली,

— क्या करते हैं, छोड़िए, कोई देख ले तो क्या कहे ?

— क्या कहे ?

— पता नहीं पुरुषों को क्या-क्या सुनने को मन करता है।

वह बैठक के दरवाजे तक पहुँच चुकी थी, वहीं से बोली,
— हाँ, भोग के लिए हनुमान हलवाई के यहाँ से मिठाई लानी है।
— अभी कंठाल की तरफ से आ रहा हूँ। पहले पता होता तो लेता आता। अब इसका मतलब मैं फिर वहाँ तक कवायद करूँ।
— क्या फूफा जी के यहाँ कल के लिए पूरी बात करने नहीं जाएँगे ?
— अरे फूफा जी की बात पर से याद आया कि नागेश्वर मामाजी से भी कल के लिए कहना है। दिन भर अदालत-फ्रीगंज-पटनी बाजार दौड़ते-दौड़ते भुस निकल जाता है। सच मे अब इस समय कहीं जाने को मन नहीं है। बाबा नहीं थे तो अवन्ती काका थे, वही थोड़ा-बहुत सम्हाल लेते थे, अब तो....वही मियाँ दरबार जाये, वही मियाँ भाड़ झोंके...
— आप हो आएँ, मैं रात में पैरों में तेल लगा दूँगी।
— यह बताओ, गोविन्द इन्दौर से आ गया कि नहीं ?
— न आपका प्रिय गोविन्द आया और न आपके लाड़ले राजकुमार साहब ही आये
— इस धूर्जटी का कुछ हिसाब ही समझ में नहीं आता। अरे जब राखी की छुट्टि हो गयीं तो वहाँ हास्टल में बैठे न जाने क्या कर रहा है ?
— नयी उमर के लड़के हैं। देर-सबेर आ ही जाएँगे।
कि इसी बीच 'कल' की आवाज सुनायी दी। अभी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल पूछते ही ज रहे थे कि—कौन ? कि गोविन्द की आवाज सुनायी दी,
— कुन्ती ! कान्ता ! मन्या !—कोई नहीं है क्या ?
बच्चों को जब छोटे मामा की आवाज सुनायी दी तो सब जीने से धड़धड़ाते नीचे उत और शोर करते हुए गोविन्द को घेर लिया और 'कब आए मामा ?' की रट लगा दी चौखण्डी से ही गोविन्द ने देख लिया कि दीदी और जीजा जी बैठक में बैठे हैं। जाक प्रणाम किया तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,
— तुम कब आये ?
— बस, आ ही रहा हूँ।
इस पर दुर्गा ने पूछा,
— और वह नहीं आया ?
गोविन्द समझ गया कि 'वह' से तात्पर्य धूर्जटी से है, बोला,
— मैं कल उसके क्रिश्चियन कालेज भी गया था। चलने को कह रहा था सो दोपह की ट्रेन भी छोड़नी पड़ी। लगता है हास्टल के लड़के उसे पकड़ ले गये।
— पकड़ ले गये ? कहाँ ?
दुर्गा ने 'पकड़ ले गये' जिस भाव से पूछा उसको अर्थ-भंगिमा कुछ दूसरी ही ध्वनि हुई इस पर गोविन्द हँस पड़ा,
— याने नहीं दीदी ! माँडवगढ़ गये हैं सब।
इस पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल किंचित झल्लाते हुए बोले,

— मैंने कहा न उसका घर में दीदा ही नहीं लगता ।

गोविन्द को लगा कि धुर्जटी का इस प्रकार त्योहार के दिन बिना कहे अन्यत्र चला जाना—ठीक नहीं हुआ इसीलिए जीजा जी खीझ उठे हैं,

— यह तो बहुत मना करता रहा । जीजा जी ! जब चार जनों के बीच में रहते हैं तो फिर ऐसा तो चलता ही रहता है ।

दुर्गा ने स्थिति को जल्द ही सहज बनाने के ख्याल से कहा,

— अभी सवेरे की गाड़ी से आये होंगे ।

— बस, सामान रखा और सीधे यहाँ चला आया ।

इस पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— सामान तो वहीं गायत्री मासीमाँ के यहाँ ही होगा ?

पति की इस बात पर दुर्गा झल्लाते हुए बोली,

— अब जब यह हाल है तो पता नहीं बुढ़ापे में क्या होगा ? आप अच्छी तरह जानते हैं कि यह वहीं ठहरता है परन्तु न जाने क्या आदत है कि हर बार वही एक बात जरूर पूछोगे कि कहाँ रुके हो ? कोई सुने तो क्या कहे ?

— मैं क्या जान-बूझकर यह पूछता हूँ ? बस, याद नहीं रहता इसलिए....

— आपको तो यह भी याद नहीं होगा कि आपके कितने बच्चे हैं ?

— तुम अगर मेरे बच्चों में अपने बच्चों को भी शामिल कर दो तो जरूर ही मैं गड़बड़ा जाऊँगा ।

— क्या ??...बच्चों के सामने ये ऊल-जुलूल बकते आपको शर्म नहीं आती ?

दुर्गा लाख झल्ला उठी हो पर पति को निस्पृह हँसते देख वह भी हँस पड़ी । पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल उठ चुके थे । तैयार होते हुए बोले,

— गोविन्द अभी तो तुम बैठोगे न ? मैं जरा दो-एक जगह हो आऊँ ।

पति को देखते हुए दुर्गा बोली,

— ठीक है, आप मामाजी और फूफाजी के यहाँ हो आइए मैं मिठाई गोविन्द से मँगवा लेती हूँ ।

— भाई को मिठाई खिलाने का इससे अच्छा ढंग और क्या हो सकता है ?....चलो ठीक है । और गोविन्द ! सवेरे श्रावणी के लिए चलना है न ?

— आया ही इसके लिए हूँ ।

— तो फिर चार बजे यहाँ पहुँच जाना ।—इन महाशय का भी श्रावणी का प्रबन्ध कर देना ।

अन्तिम बात उन्होंने पत्नी से कही थी इस पर दुर्गा हँसते हुए बोली,

— अच्छा हुआ जो आपने बता दिया ।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल भी हँस दिये और जूते पहनने लगे ।

जिस समय पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल, पण्डित नागेश्वर उपाध्याय के घर पहुँचे तो देखा कि दरवाजा भीतर से बन्द है और एक तरह का सन्नाटा-सा लगा। मन तो हुआ कि लौट जाएँ परन्तु इधर अनेक दिनों से नर्मदा मासी के भी हालचाल नहीं पता थे तथा कल की श्रावणी के बारे में भी—मासाजी को सूचित करना आवश्यक था। दरवाजे की कुन्डी खड़कायी तो दूसरी मंजिल की खिड़की से 'कौन ?' कहते हुए मासी ने झाँका। चूंकि नीचे सेरी में अँधेरा था इसलिए भी मासी को ही क्या, किसी को भी कठिन ही होता, अतः वह बोले,

— मासीमाँ! मैं त्र्यम्बक हूँ।

— अरे!! आज तू किधर भूल पड़ा रे ?

मासी माँ के स्वर में जैसे हल्का-सा उपालम्भ था। हाथ में लालटेन लिये जब मासीमाँ ने आकर दरवाजा खोला तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने देखा कि वह सिर बाँधे हुए हैं और कुछ कमजोर सी लग रही हैं।

— सिर क्यों बाँध रखा है मासीमाँ ? क्या तबियत ठीक नहीं है ?

— अरे कुछ नहीं। जब देह है तो कुछ न कुछ तो लगा ही रहेगा। तू भीतर तो आ। और लालटेन के झूलते प्रकाश मे वे दोनो चलते हुए सूने घर के निर्जन दालानो को पार कर उदास सीढ़ियों से होते हुए ऊपर पहुँचे। बँगवई के पास रखी चौकी पर मासीमाँ ने लालटेन क्या रखी जैसे एक पीले फूल की भापा को पधरा दिया। कोने में रखी छादरी [खजूर की चटाई] को वह अपने लिये फैलाने लगी ताकि त्र्यम्बक बँगवई पर बैठ सके।

— नहीं मासी माँ! आप बँगवई पर ही लेटिये, मैं छादरी पर बैठ जाऊँगा।

— घर में बहुत सयानापन दिखाना ठीक नहीं।

और बँगवई पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बैठे तो कड़ों ने हल्का सा शब्द किया। मासी-माँ दीवाल से पीठ टिका सिर थामे बैठी थी।

— लगता है आपकी तबीयत ज्यादा खराब है।

— यही दो-चार दिनों से ताव [बुखार] आ रहा है, बस।

— इसे आप 'बस' कहती हैं ? न आपने, न मासाजी ने किसी ने भी खबर तक नहीं की।

— अरे बेटा! सबकी अपनी गृहस्थी है। दुर्गा की जान को क्या कम झंझट है ? और फिर तेरे मासाजी भी तो यहाँ नही थे। वह भी तो परसों रात ही नागपुर से लौटे हैं।

— नागपुर गये थे ?

— देश भर के खादी उत्पादकों और खादी-भण्डार वालों का वहाँ सम्मेलन था। पूरे आठ दिनों बाद तो ये लौटे हैं। जिस दिन ये गये उसी दिन थोड़ी तबीयत खराब थी। सोचा कि बरसाती पानी से नहाने से हो गया होगा।

— इसका मतलब यह कि तब से आप बीमार हैं और हमें कोई खबर तक नहीं। ठीक है अब जब आपकी बहू को सब मालूम होगा तब उसीसे निबटिएगा।

— पता नहीं मुझे रोज ही ऐसा लगता था कि एकाध दिन मे तू इधर आएगा ही।... मैं भी क्या पचड़ा लेकर बैठ गयी। बता बच्चे वगैरा सब ठीक हैं न? और दीदी?

— वहाँ किसी को कुछ नहीं हुआ है, पर मासीमाँ! मैं आपसे नाराज हूँ।

— ठीक तो है। तुझे नाराज होना ही चाहिए। बेटा माँ से नाराज नही होगा तो क्या पराया घर ढूँढ़ेगा?

र वह उठने लगीं। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने टोका,

देखिए बहकाइए नहीं।...और आप जा कहाँ रही हैं?

— हर बात में बड़ी धौंस जमाने लगा है रे?

— सच में मासीमाँ! मैं चाय नही पिऊँगा और अभी फूफाजी के यहाँ भी जाना है।

— कल की श्रावणी के लिए?

— मासाजी तो मेरा ख्याल है कि शायद ही जा पाएँ।

— क्यों? क्यों नहीं जाएँगे? मांदो [बीमार] मैं हूँ कि वे?

र अभी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल कुछ कहते तभी नीचे दरवाजे की कुण्डी खटकी। इस कार झटका देकर कुण्डी मासाजी ही बजाते हैं यह सबको पता था। अतः पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने उठते हुए कहा,

— आया मासाजी!

और नीचे पहुँच कर दरवाजा खोला। पण्डित नागेश्वर उपाध्याय ऊपर पहुँच कर स्वस्थ होते हुए बोले,

— मैं आज ही तुम सबको याद कर रहा था। सब ठीक हैं न?

— आप नागपुर गये और हम लोगों को पता ही नहीं चला। यहाँ मासीमाँ की इतनी तबीयत खराब रही और यह नहीं हुआ कि सेरी से किसी को दौड़ा ही दिया होता।

— तुम्हारी मासी की बात वह जानें और तुम जानो।... नागपुर असल में एक तो मैं बेमन से गया था, दूसरे सहसा जाना पड़ा।

— सम्मेलन कैसा रहा आपका?

— जिसका सम्मेलन रहा हो, अपना तो वह नही ही था त्र्यम्बक! मुझे तो न जाने क्यो ऐसा लगा वहाँ कि गांधीजी और खादी के नाम पर चारो ओर से ठठेरे जमा होते-जा रहे हैं।

— ऐसा क्यों कह रहे हैं ?
— देश-सेवकों, समाज-सेवकों के बीच भी वही पंक्ति-पावनता। यह नये ढंग का राजनीतिक ब्राह्मणवाद पनप रहा है त्र्यम्बक !
— लगता है आप वहाँ से काफी नाराज होकर लौटे हैं।
— नाराज नहीं, इसलिए कि नाराज होकर कोई क्या कर सकता है ? खासकर उस आदमी की नाराजगी का तो और भी कोई अर्थ नहीं जो उनके ही वर्ग का न हो। सच तो यह कि कहीं हल्का सा दुःख हुआ कि ये जमा चींटे गांधी को कहीं गुड़ बना कर चट न कर जाएँ....खैर, . लो मैं तुम्हारी दवा सावरेकर जी से ले आया हूँ।

बात का अन्तिम भाग उन्होंने अपनी पत्नी से कहा था, और यह कहते हुए उन्होंने अपनी जैकेट की जेब से दवा की पुड़ियाएँ निकालीं और चौकी पर रखते हुए पूछा,
— शहद तो है न ?
श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय ने कहा,
— शहद-वहद सब है, पर यह बताइए कि कल सवेरे 'श्रावणी' के लिए आप जाएँगे न ?
— अरे, मैं तो भूल ही गया था कि कल 'श्रावणी' है। उसकी तैयारी भी तो कुछ नहीं हुई होगी ! मेरा ख्याल है कि जनेऊ तक तो घर में नहीं होगा।
इस पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने कहा,
— तैयारी करने का काम आपकी बहू का है। आपको तो सिर्फ बताना है कि जाएँगे कि नहीं ?
— सवेरे चार बजे निकलना है न ? आज बादल तो ऐसे घिरे हैं कि बस !!....अरे तुमने—इसे कुछ खिलाया-पिलाया कि नहीं ?
— कुछ भी खाने-पीने का मुँह रह गया है ? इतने दिनों से मासीमाँ की बीमारी में एक दिन भी किसी ने सिर तक तो दाबा नहीं और... वो तो कहिए कि 'श्रावणी' के बारे में पूछने आया तो पता भी चल गया। अब जब घर पर बताऊँगा कि यहाँ क्या हुआ तब मासीमाँ ही अपनी बहू से निपटें।...तो आज्ञा लूँ अब। अभी तो फूफा जी के यहाँ भी जाना है। वैसे सवेरे गोविन्द आपको लेने आ जाएगा।
— इन्दौर से वह भी आ गया ?
— केवल वही आया है।
— क्यों धूर्जटी क्या हुआ ?
— माँडव गया है दोस्तों के साथ।
— चलो, कोई बात नहीं।—अच्छा, अब जाओ, पानी किसी भी समय बरस सकता है।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल विदा होकर पण्डित नारायणजी पंड्या के घर के लिए सती-दरवाजे के लिए निकले। भागसीपुरे से सती-दरवाजा कोई दूर नहीं था परन्तु पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लगा कि वह थक गये हैं। कई बार मानसिक थकान ही शारीरिक थकान बन जाती है। आज वह दिन भर मकानों-दूकानदारो के एक न एक मामले के सिलसिले में वकीलों और कचहरी के चक्कर काटते रहे। सच तो यह है कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल जिस मनःस्थिति के व्यक्ति थे उसमे वह यह सब काम अन्य-मनस्कता से ही करते थे। वह तो दुर्गा उन्हें सन्तुलित किये रहती थी नही तो वह न जाने कब के चिड़चिड़े स्वभाव के हो जाते। प्रायः उन्हें लगता कि घर-गृहस्थी, जमीन-जायदाद या लौकिकता बताना तो बहुत अच्छा लगता है। व्यक्ति को ये सारी चीजें एक सामाजिक प्रतिष्ठा, मान-सम्मान एवं विशिष्टता भी देती है परन्तु उनसे निरत या जुड़ी हुई जो झंझटें हैं, बल्कि कहना चाहिए अमानवीयताएँ हैं वे किसी भी संस्कारी मनस को अन्तरतम तक पीड़ा, दुःख और सन्त्रास ही देती है। किसी न किसी बात पर मुकदमेबाजी तो आम बात है। और फिर मुकदमेबाजी तो मुकदमेबाजी ही होती है—पैसे और समय का घोर अपव्यय। और इसके बाद प्राप्ति क्या होती है?—आपसी शत्रुता, कलह और असन्तोष। यह एक दुश्चक्र है जिससे मुक्ति सम्भव नही। आप निरन्तर एक से दूसरे दुश्चक्र में फँसते जाने के लिए बाध्य हैं। प्रायः वह सोचते हैं कि सिवाय मुकदमेबाजी और वकीलों के घर चक्कर काटने के और कौन-सा भला काम किया? इस कुचक्र में पिता और काका के प्राण तक चले गये और तब भी कोई अन्त नहीं। वह गत वर्षों में न कभी मानसिक रूप से निश्चिन्त ही हो पाये और न कभी अपने अन्तर की इच्छाओं को जान सके कि वस्तुतः वह क्या चाहते हैं? समाज में भले ही वह अधिक चमक-दमक वाले सफल-व्यक्ति, सम्पन्न-व्यक्ति माने जाते हो परन्तु सिवाय उनकी पत्नी के और कौन जानता है कि उनके अन्तर में कितना असन्तोष, हाहाकार है; स्वयं माँ भी नही जानती। सम्पन्नता और शत्रुता एक ही सिक्के के दो एक पहलू हैं। एक विषमता यह भी तो है कि आपकी सम्पन्नता से केवल घर-परिवार के लोगो को ही अपेक्षाएँ नहीं होतीं परन्तु कुल-कुटुम्ब भी कुछ न कुछ आशाएँ तो अवश्य करता है, जिसकी पूर्ति आप या तो कभी नहीं करते या आटे मे नमक के बराबर, जिसका कोई अर्थ सामनेवाले के लिए नही होता। आपने किया भी और व्यर्थ गया—यह देखकर आप में तब अपने प्रति भी और दूसरों के प्रति भी क्षोभ उत्पन्न होता है। माँ प्रायः कहती हैं कि तीन-तीन लड़कियाँ हैं—बहुत दान-दहेज लगेगा। और आप अपनी लड़कियों के दान-दहेज के लिए सुबह से शाम तक कोल्हू के बैल की तरह पिसे चले जाते हैं। बदले में आपको क्या मिलेगा? गोया मनुष्य जन्म आपने यही सब कर्ज चुकाने के लिए ही लिया था। कुछ सार्थक कर सकना आपके बूते का है नहीं। आप तब किस अर्थ में अपने को दूसरों से विशिष्ट समझते हैं? आपने व्यक्तित्व के स्तर पर ऐसा क्या किया कि आप अलग माने जाएँ? पेट भरना विशिष्टता है?—तभी तो 'दादा'

[पण्डित शिवशंकर आचार्य] कहा करते हैं कि त्र्यम्बक ! यह संसार तो तृष्णा है जिसे भोग के द्वारा नहीं जीता जा सकता । इस तृष्णा ने ही तो साम्राज्य स्थापित करवाये, किले और दुर्ग बनवाये, बड़े-बड़े नाटक करवाये पर क्या उनकी तृष्णा बुझी ? जितना घी डालोगे, अग्नि उतनी ही भड़केगी । पुरुषार्थ को संकल्प बनाओ, समिधा नहीं ।

वह पूरे रास्ते यही सब अनायास सोचते रहे । यदि फूफाजी के घर जाना अनिवार्य न होता तो वह घर जाकर निश्चिन्त लेटते । कल सवेरे फिर चार बजे निकलना होगा तब कहीं तीसरे प्रहर तक लौट पाएँगे । शाम को सब रक्षा-बन्धन होगा । त्यौहार के दिन यहाँ जाओ, वहाँ जाओ, यह आ गया, वह आ गया । एक न एक खट्-खट् लगी ही रहती है । कल की इतनी सारी व्यस्तता सोचकर तो और भी थकान लगी। दुर्गा ने तो हमेशा कहा कि पता नहीं आप किस चिन्ता मे फँसे रहते हैं । इतना फैलाव करने की क्या आवश्यकता है जो जी का जंजाल बन जाए ? अरे, जो इतनी सब माया नही फैलाते हैं तो क्या उनका काम नही होता है ? मनुष्य अपने सुख के लिए संसार-गृहस्थी बसाता है या दुःख के लिए ? यदि ये चीजें दुःख देने लगें तो उन्हें क्यो किया जाना चाहिए ? प्रायः वह हँस दिये होंगे पर कह नही पाये होंगे कि एक बार भी यदि जुए में सिर दिया तो फिर आपको नियति बैल बनने की ही होती है, सांड़ के लिए तो पहले दिन ही जुआ उतार फेंकना पड़ता है, और जब पहले दिन नहीं किया तो बाद मे पछताने से बड़ी मूर्खता और क्या हो सकती है ? असल में व्यक्ति अपने तर्क से काम करता है परन्तु एक सीमा के बाद स्थितियाँ अपने ही तर्क से कार्य करने लगती हैं। उन पर से आपका नियंत्रण ढीला हो जाता है । दुर्गा ही क्या किसी के भी सामने आप अपनी व्यथा कहने लगें तो वह तत्काल कह देगा कि—तो फिर क्यों करते हैं ? भला, पूछिए उनसे कि इस फैलावे का क्या मुझे शौक था ? मगरमुँहेवाले घर के अलावा कातिक चौक की हवेली वाला सफेद हाथी पालने को क्या आवश्यकता थी ? और इसके अलावा नया पसारा देवासगेट, फ्रीगंज में हो ही रहा है । यह सब तो है ही उसके ऊपर अंकपात वाले घर का अब क्या करें ? और कहीं आपने बेचने का नाम भी ले दिया तो घर भर के आप पर टूट पड़ेंगे कि क्या पितामहों की सम्पत्ति बेचनी चाहिए ? ऐसा दुष्कर्म तो कुल-कलंक ही करते हैं । जिजी, दुर्गा सभी तर्क देने लगेंगे कि पाँच लड़के हैं । कल को सबका संसार बसेगा तो क्या सब इस घर में अँट सकेंगे ? सबको अपने बाप-दादों की जमीन-जायदाद में से हिस्से के नाम पर क्या मिलेगा अगर तुम बेच दोगे तो ? और फिर देख नही रहे हो कि जायदाद की कीमतें कैसे तेजी से बढ़ रही हैं । और घबराते क्या हो, दस-पाँच बरस में तुम्हारे ये सारे लड़के-बाले देखना अपने पैरों पर खड़े हो जाएँगे तब तुम्हे कोई चिन्ता नही रह जाएगी । और आदमी गर्दन में पड़ आये निर्जीव घट्टे पर फिर जुआ रखकर बैल बनने की अपनी नियति स्वीकारने के लिए विवश होता है ।

सोचते हुए प्रायः पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को अनुभव हुआ है कि आँखें खुली तो बाहर की ओर रहती हैं परन्तु देखती अन्दर की ओर हैं । देखते हुए न देखना ही

सोचना होता है । और जब इस प्रकार हमारी सारी इन्द्रियाँ आत्ममुखी हो जाती है तब व्यक्ति, सिद्ध हो जाता है । इस बीच वह बुआ-माँ के घर पहुँच चुके थे । दरवाजा खोलते हुए जैसे-ही बुआ माँ को आवाज दी तो देखा कि वह सीढ़ियों के सिरे पर ऊपर लालटेन लिये खड़ी हैं । लालटेन का प्रकाश सीढ़ियों पर टूटे जल सा बिछल आया था । पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के ऊपर पहुँचते ही श्रीमती जमुनादेवी पण्ड्या बोली,

— तू जब सीढ़ियाँ चढ़ रहा था तो मुझे दादा की याद आ गयी कि वह भी बिल्कुल इसी ढंग से चढ़ा करते थे ।

इस पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल हँसते हुए बोले,

— आपकी बहू तो कहती है कि मैं बाबा की तरह न केवल हकार ही लेने लगा हूँ बल्कि वैसे ही दँतखुदनी से अपने दाँत भी साफ करने लगा हूँ ।

दोनों बुआ-भतीजे हँस दिये । पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने देखा कि फूफा जी हरसिद्धि-महाकालेश्वर से लौट आये हैं । सामान्यतः तो वह दस बजे के आस-पास ही लौटते [illegible] पर शायद वर्षा के कारण और कल की श्रावणी के कारण आज थोड़े जल्द लौटे दिख[illegible]हे थे । वह बँगवई पर बैठे हुए गोमुखी में माला फेर रहे थे । माला पूरी हो चुकी [illegible] तभी तो उसे सिर से छुलाया और गोमुखी को तहा कर पूजा वाले गवाले में रखते [illegible]ए बोले,

- मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था ।

[illegible]ते हुए जिस आत्मीय दृष्टि से उन्होंने त्र्यम्बक को देखा और बँगवई पर [illegible] जगह बनायी उससे लगा कि वह बँगवई पर नहीं बल्कि अपने हृदय में स्थान बना रहे थे ।

— घर ही से आ रहे हो क्या ?

— घर ही समझ लें । मामाजी को सूचित करता हुआ आ रहा हूँ । याज्ञिक जी से भेंट हुई थी क्या आपकी ?

— कौन याज्ञिक ?....अच्छा, अच्छा वो विश्वनाथ याज्ञिक—हाँ, मिले थे ।....हाँ याद आया मैं विनोद मील से लौट रहा था तो '[illegible]' के सामने भेंट हुई थी । कल की श्रावणी के लिए बोले कि [illegible] तो फिर मैंने भी कह दिया कि अब [illegible] ही करवाना है. वकीलों के कहने के अनुसार नहीं [illegible] क्या जमाना आ गया है कि [illegible] घंटे भर में बनाएंगे पर [illegible] ही देना चाहेंगे । ठीक है [illegible] मनुष्य की ।

[illegible] पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल [illegible] सदा चिढ़ [illegible] है । [illegible] मैंने भी उनसे [illegible]

सब सांगोपांग ही होगा।

— नहीं, याज्ञिक जी तो बड़े ही सत्पात्र हैं। खुद कर्मकाण्डी हैं। कर्मकाण्ड के महत्व को भी समझते हैं पर आजकल के लोगों की मनोवृत्ति ही अजीब हो गयी है, खैर।

तभी बुआ माँ ने टोकते हुए पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल से पूछा,

— अभी तो तूने खाया भी नहीं होगा ?

— खाया तो नहीं है, पर वहाँ आपकी बहू जो रास्ता देख रही होगी। आज तो बुआ माँ ! सवेरे से पाँव में ऐसा सनीचर था कि दिन भर यहाँ-वहाँ भटकता रहा और जब घर पहुँचा तो याद आया कि मासा जी और फूफा जी के यहाँ जाना है। अगर भोजन करने लग जाता तो काफी देर हो जाती इसलिए बस उल्टे पैरों ही चल पड़ा।

— लेकिन मुझे तुम क्या कहने आये ? मैं तो समय से ही गंगाघाट पहुँच जाऊँगा।

बीच में ही टोकते हुए बुआ माँ ने फिर कहा,

— मैं सोच रही थी कि अभी तेरे लिए गरम-गरम पोताये [पराठे] और आलू का शाक तैयार कर देती हूँ। तू हाथ-मुँह धोएगा तब तक सब तैयार हो जाएगा।

— सच बुआ माँ ! आपके हाथ का खाना खाये कितने दिन हो गये न ? कैसे वही दाल-सब्जी अपनी माँ की याद दिलाती है तो कभी बुआ की। हर परिवार के भोजन की अपनी गन्ध और आस्वाद होते हैं।

— बस यही सब याद करता रहेगा कि कभी खाएगा भी ?

— आज नहीं बुआ माँ ! फिर कभी।

और वह सीढ़ियाँ उतरते हुए दीवार तो थामे ही हुए थे पर पैरों को भी सावधानी से रख रहे थे।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल अभी बुआ माँ के घर से निकले ही थे कि सती-दरवाजे की प्रदीर्घ-प्राचीन मेहराब में से दूर गोपाल-मन्दिर के ऊपर के आकाश में बिजली जोरों पर कड़की। एक क्षण को इतना प्रकाश हो उठा जैसे सैंकड़ों मेहताबें किसी ने भक्क से जलाकर हठात बुझा दी। आँखें न केवल चौंधियाई ही बल्कि उसके बाद एकदम अँधेरा लगने लगा। बिजली को कड़कड़ाहट बनने में थोड़ा समय लगा ही करता है तभी तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल इस चकाचौंध के बाद उस भावी प्रचण्ड मेघ-गर्जन की प्रतीक्षा, उस मेहराब मे खड़े-खड़े ही करने लगे। उस लपक में दरवाजे में रखी एवं उत्कीर्णित प्राचीन मूर्तियाँ और प्रतिमाएँ तक कैसी दिप उठी थीं। वैसे तो श्रावण-मास

का कुछ ठीक नहीं क्योंकि प्रायः मेघ घिरे रहते हैं। आज भी दिन भर यदा-कदा बूंदा-बांदी होती रही थी परन्तु जब वह घर से चले थे तब से वर्षा थमी हुई थी। बादलों की सघनता और वर्ण भी ऐसा नहीं था कि यह थमना कुछ देर के लिए ही है, बल्कि जिस प्रकार मेघ आपस में घुले तथा एकरस थे उससे यह लगता था कि शायद अब पूरी रात ही बारिश न हो। इसी भ्रमवश वह बिना छाते के घर से निकल पड़े थे कि जाना ही कितना है और देर ही कितनी लगनी है? और दिन भर छाता उठाये-उठाये ऊब भी चुके थे।

सती दरवाजे से जरा सा आगे बांयें हाथ काफी सीढ़ियों के ऊपर किसी मन्दिर का बड़ा सा पेशवाई स्थापत्य का लकड़ी का दरवाजा है, जिसके बारे में पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को कभी मालूम न हो सका कि यह गणपति का मन्दिर है अथवा दत्तात्रय का मन्दिर, महाराष्ट्रीयों का था, बस इतना ही जानते थे। शायद कभी इस बारे में कोई खास जिज्ञासा भी नहीं हुई होगी। इस मन्दिर तक पहुँचते-पहुँचते जिस प्रकार का रुद्र मेघ-गर्जन हुआ और बताशो जितनी बड़ी-बड़ी बूंदें आयी उससे लगा कि मेघ बरसने के लिए कृतसंकल्पित हैं। प्रखर मेघ-गर्जन की प्रतिगूंज, थरथराहट के रूप में सड़क के कांप उठने से उन्हे पैरों की राह अनुभव हुई। बूंदें, वृष्टि में और वृष्टि, मूसलाधार वर्षा मे क्षणान्त मे ही बदल उठी। अभी वह किसी मकान या दूकान पर दौड़कर चढ़ें और अपने को भीगने से बचायें इसके पहले ही वह आद्यन्त सराबोर हो उठे। और जब सिर से पैर तक भीग ही गये तब किसी दूकान या मकान के सायबान के नीचे खड़े होकर वर्षा के कम होने या थमने की प्रतीक्षा का क्या अर्थ था? हालांकि जिस समय बूंदें .बरस रही थी तब जो दो-चार लोग आ-जा रहे थे वे बारिश के तेज होते ही सड़क को निर्जन कर गये थे। कष्ठाल में रामगली वाले चौराहे पर चाय के एक होटल और हलवाई की दूकान में ही रोशनी थी जो कि बरसते पानी की प्रकम्पितता में झलमला रही थी। वर्षा-जल के टूटेपन में तेज बूंदो के कारण रोशनी का प्रतिबिम्ब उछला पड़ रहा था। भीग वह चुके ही थे अतः अब घर तक भीग कर जाने मे क्या हर्ज था? रुक कर वर्षा के थमने की प्रतीक्षा किसलिए, और कब तक? और जिस प्रकार की वर्षा थी उसमें यही लग रहा था कि अगर रुकेगी भी तो घंटे दो घंटे के पूर्व नहीं। वैसे आश्चर्य नहीं कि यह पूरी रात ही बरसती रहे। कल सम्भव है सबेरे भीगते हुए ही 'श्रावणी' के लिए जाना पड़े। वैसे श्रावणियों के लिए प्रायः लोग भीगते हुए भी जाते रहे हैं। जिस समय गोपाल-मन्दिर पहुँचे तो वहाँ का चौक भी वीरान था। यहाँ जो सांड़ प्रायः खड़े-बैठे रहते हैं वे भी कहीं किसी आड़ में चले गये लग रहे थे। सड़क और नालियों के बहते जल की आवाज, तेज हवा और वर्षा का शब्द सब वातावरण में मुखर थे। पटनी-बाजार में पहुँचते ही जो चिन्ता उन्हें सताने लगी थी, वह थी कि पता नहीं मगरमुँहे की गली वाली म्युनीसपाल्टी की लैम्प जल भी रही होगी कि नहीं, वर्ना इस अंधेरे में और इतनी तेज बारिश में पानी से भरी नालियो के बीच वह घर किस प्रकार पहुँचेंगे?

जिस समय वह खा-पीकर विस्तरे पर लेटे तो उन्हे कमरे मे भीगेपन की सीली ठण्डी गन्ध आने लगी। ऐसी सीली गन्ध से सदा उन्हें असुविधा होती रही है। उन्होंने सोचा भी कि न हो तो एकाध खिड़की ही खोल दें पर भय था कि खिड़की की राह तेज बौछार न आने लगे। वह तो होम करने जाएँ कि कमरे का सीलापन दूर हो और उल्टे हाथ जले कि बौछार से रहा-सहा भी भीग उठे और तब दुर्गा की चार बातें सुननी पड़ें। वह मन मारे पडे रहे। वस्तुतः वह दुर्गा की प्रतीक्षा कर रहे थे। दुर्गा रासोघर में सहेजने-समेटने में लगी थी। रह-रह कर वर्तनो की आवाज से वह समझ रहे थे कि दुर्गा का कितना काम हो चुका है और कितना बाकी है। जिस समय झाड़ू से चौका धुलने की आवाज आती है तब आप समझ सकते है कि इसके पांच-सात मिनिट बाद दुर्गा हाथ पोछती दरवाजे पर खड़ी दिखने वाली है। इस कमरे मे ऐसे ही लेटे-लेटे उन्होंने वर्षों-वर्षों दुर्गा की प्रतीक्षा की है। इसी प्रकार यहाँ कमरे मे चिमनी जलाते हुए वह प्रतीक्षा करते लेटे रहे हैं। चिमनी तब कैसे उनके वयस्क होने के साथ लालटेन में बदली और उसके बाद दो-चार बरस पूर्व बिजली के आने तक वह लालटेन यहाँ रहा करती थीं। पूरी रात लेकिन आज भी चिमनी ही जलती है, वह भी एकदम मन्दी लौ में। हजारों बार दुर्गा से कहा होगा कि न हो तो रात का वल्व ले आते है, मगर नही। दुर्गा ऐसी महरानी है कि जो चीज मन में धार लेती है उससे कोई उसे विचलित नही कर सकता है। पैसों और खर्च के मामले में उसकी दृष्टि पाई-पाई पर रहेगी। यह नहीं कि वह कंजूस है या पैसा खर्चना नही जानती बल्कि वह खर्चती है, निस्संकोच भाव से खर्चती है परन्तु अपव्ययी नही है। सबके प्रति उदार भी है परन्तु सन्तुलित रूप में। इस तरह के मामले में वह सास-ससुर को छोड़कर किसी को भी टोक देगी। ठीक है उसका टोकना तिक्त नही होता, अप्रिय भी नही लगता पर वह तरह नही दे सकती। और अगर आपने उसे टोक दिया तो वह असग हो जाएगी। ऐसे लोगों की असगता से भी तो सामनेवाले को असुविधा होने लगती है। कुल मिला कर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को दुर्गा हाथ का खिलौना नही वरन अस्त्र लगती है, इसलिए अपने स्वत्व की प्रतीति विनम्रता के क्षणों मे भी कराती है।

इस बीच दुर्गा अपनी नित्य की परिचित शैली में आ उपस्थित हुई। लाल गलने से पहले हाथ पोछे, फिर चूड़ियाँ पोंछीं और तब गलने से पैर रगड़कर सुखाये गये। प्रतिदिन दुर्गा इसी शैली मे हाथ-पैर पोंछती-सुखाती है और इसके बाद उस गीले गलने को तार पर फैला दिया जाता है। आज भी गलने को तार पर फैलाने के बाद विस्तरे पर पहुँचने के पूर्व एक बार सारी खिड़कियो को देखा गया कि वे बन्द की गयी हैं कि नहीं। कुन्ती-कान्ता के जिम्मे विस्तरे लगाना और सब खिड़की-दरवाजे आदि देखना है। वैसे किसी दिन वे लोग भूलती तो नहीं हैं पर बच्चियाँ ही हैं, भूल भी सकती हैं। और जब वह इस सबसे भी आश्वस्त हो ली तो अन्तिम रूप से चिमनी को देखने लगी कि लौ ज्यादा तो नहीं है?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल इस बीच काफी खिसिया गये थे, बोले,

— मेरा ख्याल है कि लौ कुछ ऊँची है।
— नहीं तो।
पति की बात का निषेध तो उसने कर दिया था पर अपनी बात की संपुष्टि के लिए दुर्गा ने फिर एक बार चिमनी की ओर देखा।
— नहीं तो, क्या ? इस प्रकाश में तो तुम तक दिख रही हो।
और हँसते हुए पति की बात जब दुर्गा की समझ में आयी तो वह खिसिया गयी। बिस्तरे पर बैठकर वह अपना तकिया ठीक करते हुए बोली,
— अच्छा, अब आप अपने बिस्तरे पर ही रहिये।
— बाद में तो तुम आयी हो, मैं तो पहले से ही यहाँ हूँ।
तकिये पर सिर रख कर वह लेटी ही थी कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को तीन-चार छींकें तड़ातड़ आयीं। दुर्गा बोली,
— भीग गये न ?
— क्या करता ? बुआ माँ के घर से चलते ही....
— तो वहीं थोड़ी देर और रुक जाते।
— थोड़ी देर के लिए ? देवी जी ! आपको भगवान ने ऐसे सुन्दर नेत्र प्रदान किये तो थोड़े से कान भी दे देता ताकि आप जो देखतीं वह सुन पातीं और समझ पातीं कि जो बरस रहा है वह जोरों के साथ बरसता पानी है।
दुर्गा ने पति के सिर पर हथेली रखी कि सिर तप तो नहीं रहा है ? और लगभग झिड़कते हुए बोली,
— बोलना तो कोई आपसे सीखे।
— और वश में करना तुमसे।
सिर पर रखी प्रिया की हथेली को अपने हाथ से दाबते हुए पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने दुर्गा की आँखों में झाँका। पति का ऐसा झाँकना बचाने के ख्याल से उसने प्रश्न किया,
— मासी जी मिली थीं ?
— अरे हाँ, मैं तो बताना ही भूल गया कि गाँधी-भण्डार के काम से पिछले दिनों मासाजी तो नागपुर गये थे और पीछे से मासी खूब बीमार रहीं।
— सच कह रहे हैं ?
— नहीं तो क्या झूठ ?
— और हम लोगों को कानों कान खबर तक नहीं हुई ?
— देख लो अब तुम भी।
— क्या देखूं ? ठीक ही तो है। मासीमाँ किससे खबर करवातीं ? आपसे मैं कितना कहती हूँ कि चार-आठ दिनों में जो दो-चार घर हैं वहाँ हो आया करें पर आपका भी यही हाल है—एक अनार सौ बीमार।
— देवी जी ! मेरी तरह तुम्हें अगर दिन भर जूतियाँ चटकारनी पड़ें तब समझो कि पुरुष होना कितनी मुसीबत है।

— अच्छा ??
— और नहीं तो क्या। तुमसे एक तिनका तक तो इधर से उधर होता नहीं।
— अच्छा जी !!
— नहीं तो क्या झूठ कह रहा हूँ ?
— जरा मैं भी तो वह तिनका-पुराण सुनूँ।
— मामाजी को नाथद्वारा पत्र देने के लिए कहा था कि तुम या जिजी कोई उन्हें जवाब दे दे, किया ?

अपने सिर पर बड़ी ही नाटकीयता से हाथ छुलाते हुए दुर्गा बोली,
— भगवान दे तो पूरी दे। आधी-सूधी देकर दूसरों की मुसीबत हो, इससे क्या लाभ ?

पत्नी की बात पर हँसते हुए वह बोले,
— मेरे प्रश्न में से तुमने अपना यह सुभाषित कहाँ से निकाला ?
— मामाजी के पत्र का जवाब सासूमाँ दें या आप दें, यह तो समझ में आता है पर आधी रोटी पर बीच में दाल झेलनेवाली मैं कौन होती हूँ ?...अच्छा छोड़ो, पर मासीमाँ की तबीयत अब कैसी है ?....इतने दिन नहीं गये तो हो गयी न हेठी ?.... अब कल वहाँ जाना ही पड़ेगा, बल्कि सवेरे ही वर्ना वह सोचेंगी कि...खैर, बुआमाँ के यहाँ तो सब कुशल है न ?
— वो मैंने मासाजी की 'श्रावणी' की तैयारी के लिए कह दिया कि दुर्गा सब कर लेगी, चिन्ता न करें।
— तैयारी के लिए बड़ी जल्दी कहा आपने ? अब आधी रात में कोई चीज कम-ज्यादा हो तो ?
— मैं मान ही नहीं सकता कि तुम्हारे हाथ में कोई प्रबन्ध हो तो कोई चीज कम-ज्यादा हो जाए।
— किसी दिन यह भरम टूटेगा तब पता चलेगा।....वैसे मैं जानती थी कि एक-दो आदमियों का अतिरिक्त प्रबन्ध करके रखना चाहिये। पता नहीं ऐन मौके पर कौन आ पहुँचे।
— यह हुई बात। तभी तो मैंने पूरे विश्वास के साथ मासी-मासाजी को निश्चिन्त कर दिया था। हाँ, वो, गोविन्द मिठाई ले आया न ?
— गट्टू के यहाँ आज कलाकंद था ही नहीं, पेड़े मँगवा लिये हैं।
— तो पेड़ों में क्या बुराई है ? हाँ, वो गोविन्द जैसे ही आये सवेरे, उसे मासाजी के यहाँ भेजना न भूलना।
— क्या बात है ?
— जाकर उन्हें बुला लाएगा।
— आपको लौटे एक घंटा हो गया और इतनी सारी बातें अब इस आधी रात में कर रहे हैं ?
— आधी रात के पहले तुम अपनी छाया भी नहीं दाबने देती हो, तब भला किसे

बताता ।
— क्या दाबने नहीं देती ?....बड़े आये दाबनेवाले....हां नहीं तो ।
और वे दोनों पति-पत्नी हो उठे ।

किसी समय वृष्टि कम हुई हो तो पता नहीं परन्तु जिस समय सवेरे चार बजे गोविन्द ने कुंडी खटखटायी उस समय लगभग मूसलाधार वर्षा हो रही थी । दरवाजा खोला तो देखा कि लड़का पानी में तरबतर भीगा है । चिन्ता करते हुए पूछा,
— छाता क्या हुआ तुम्हारा ?
— छाता ? यह क्या है हाथ में ?
दुर्गा नींद से उठकर हठात आयी थी और उसने केवल भीगे गोविन्द को ही देखा था । उसे एकदम भीगा देखा तो वह और भी खिसिया गयी, बोली,
— सारे कपड़े भीग गये न ?
गोविन्द हँसते हुए कपड़े निचोड़ते हुए बोला,
— छाते में वर्षा से तो बच जाते हैं पर छाते से छनकर आती फुहार भी इस मूसलाधार वृष्टि में इतनी अधिक होती है कि आपके कपड़े-लत्ते, मुँह सब भीग उठते हैं ।
चौखण्डी के खम्भे से टपकता छाता टिकाते हुए वह बोला । अपनी तरबतर चप्पलें भी दालान में दीवाल से खड़ी करके रख दी ताकि पानी चू जाए । पैरों का पानी जब पिंडलियों पर से झड़ गया तो उसने खोंसी हुई धोती नीचे की और सीढ़ियां चढ़कर रसोईघर में पहुँचा जहाँ उसकी दीदी स्टोव जलाकर चाय का पानी चढ़ा रही थी । वह पाट लेकर बिछाकर सामने बैठने को हुआ तो दुर्गा बोली,
— वोऽऽ रस्सी पर दूसरी धोती और कुरता है, बदल डालो ।
— *ऐसी कोई बात नहीं है, दीदी ! कपड़े गीले नहीं, बस जरा ठण्डा गये हैं, थोड़ी देर में सूख जाएँगे ।*
— अच्छा, अपना ज्ञान अपने तक ही रहने दो, जैसा कह रही हूँ, वैसा करो तो ।
दुर्गा पानी में चीनी डालते हुए बोली । गोविन्द समझ गया कि दादा [पण्डित शिवशंकर आचार्य] बड़े होने पर भी जिस दीदी की बात को माना करते थे भला वह छोटा होकर कैसे नहीं मान सकता है ?
कपड़े बदलकर लौटा और पाट पर बैठते हुए बोला,
— जीजाजी अभी नहीं जागे ?
— रात में वह भी खूब भीगे थे । खूबछींकें आयी थीं...जगा तो आयी थी उन्हें...

आ ही रहे होंगे।...तुम भी तो खूब भीग गये। मैं तो तुम्हें रात ही मना करने वाली थी कि जब सवेरे आना ही है जल्दी तो क्यों जा रहे हो ? पर तुम शायद कहकर नहीं आये थे न ?

— मासीमां से यह तो कहा था कि दीदी के यहां जा रहा हूँ पर रात में लौटूंगा नहीं यह नहीं बताया था। लौट गया तो अच्छा ही हुआ। मासीमां खाने के लिए बैठी थीं। महाराजिन तो जा चुकी थीं। जब मैंने उन्हें चूल्हे पर तवा चढ़ाते देखा तो दीदी ! इतनी खिसियाहट लगी कि क्या बताऊँ। यहां खा ही चुका था परन्तु जब उन्हें रोटियां बनाते देखा तो हिम्मत नहीं हुई कि कहूँ कि नहीं खाऊँगा।

दुर्गा चाय की पत्ती डाल चुकी थी। स्टोव बुझा दिया तो कमरे में निःशब्दता उभर आयी। दुर्गा बोली,

— और क्या, तुम्हारे तो ठाठ ही ठाठ हैं।

तभी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल गलने से मुंह पोंछते हुए दिखे। दुर्गा ने उठकर उनके लिए भी पाट लगा दिया और बोली,

— मंजन-वंजन किया या झूठे मुँह पोंछते आ रहे हैं ?

— देखा गोविन्द ! स्त्री अपने पति को भी बच्चा ही समझती है।

— आदत का नाम बच्चा होता है, इसमें आयु या सम्बन्ध क्या करे ? क्यों ठीक है न गोविन्द ?

गोविन्द हँसते हुए बोला,

— किसी भी स्थिति को सूत्र-वाक्य कैसे दिया जाना चाहिये यह आपसे सीखना चाहिये।

दुर्गा ने दोनों के सामने चाय के कप बढ़ाये। चाय का कप उठाते हुए पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— महाशय ! कुछ ऐसा भी बोला करो जो हम जैसे साधारण आदमी भी समझा करें। तुम तीनों भाई-बहन जब देखो शास्त्र ही बोलते हो।

शायद गोविन्द कुछ जवाब देता परन्तु इस बीच दुर्गा गोविन्द से बोली,

— चाय पीकर तुम नागेश्वर मासाजी को लिवा लाओ।

— ठीक है।

— पर मेरी समझ में यह नहीं आ रहा है कि इस घनघोर वर्षा में 'श्रावणी' के लिए कितने लोग आएँगे ?

पति की बात पर दुर्गा बोली,

— कोई बहाना तो नहीं खोज रहे हैं न जाने के लिए ?

— तुम्हारे रहते कोई ऐसा कर सकता है ?

और सब हँस दिये। चाय हो चुकी थी। गोविन्द उठते हुए बोला,

— रात विधु और शेखर दोनों ही चलने के लिए कह रहे थे।

— क्या नाव से ?

पानी वैसे भी ठण्डा होता ही है। यों ये नदी में नहाते भी नहीं हैं और जब तीन-चार बार नहाना पड़ेगा तो देखना कि 'ये' सारी सावधानी बरतें। रात में वैसे भी भीगना हुआ ही है।

और जिस समय पूजा करने के लिए बैठे और गोविन्द ने उन्हें ओढ़ने के लिए अलवान दी तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लगा कि दुर्गा अलवान बनकर यहाँ भी उपस्थित है। वह मात्र हँस दिये।—सारा कर्म-काण्ड, पूजा-पाठ, हवनादि, यज्ञोपवीत बदलना करते-कराते गुरु-दक्षिणा देकर जब आसन लपेट कर बगल में दबाये तो तीसरा प्रहर हो रहा था। सारे समय वर्षा कम भले ही हुई हो पर रुकी नहीं। क्षिप्रा के जल में जब तेज वृष्टि होती तो लगता कि जैसे कोई झारे से बूंदें झार रहा हो। लौटते समय वर्षा थोड़ी कम हो गयी थी। पण्डित नागेश्वर उपाध्याय तो पटनी-बाजार से ही अपने घर जाना चाहते थे परन्तु पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने जाने नहीं दिया, और अच्छा ही हुआ।

दुर्गा इन लोगों को 'श्रावणी' के लिए विदा कराने के बाद बरसते में ही विधु को लेकर मासीमाँ के यहाँ पहुँची। कुछ सेवा-सुश्रुषा की, कुछ मान-अवमानना की और चलते समय कह आयी कि उनका पथ्य वह भेज देगी तथा मासाजी वहीं भोजन करेंगे। और जब पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को इस प्रबन्ध का पता चला तो अंजली में ब्रह्मार्पण का जल लेते हुए बोले,

— स्त्री माँ, बेटी, बहन, प्रिया सब कुछ होती है, इस उक्ति को पूर्ण रूप में किसी को देखना हो तो वह दुर्गा में देख सकता है।

और हँसकर तब ब्रह्मार्पण किया, ग्रास छोड़े। चूल्हे के पास बैठी दुर्गा ने अपने इष्टदेव के प्रति नेत्रों को ही प्रणाम की भाषा बनाकर गहरी साँस ली।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने सोचा था कि शाम को रक्षा-बन्धन का कार्य जल्द समाप्त हो जाएगा तो गायत्री मासीमाँ के यहाँ हो आएँगे। अनेक दिनों से जाना नहीं हो पाया था। परन्तु बच्चों ने रक्षा-बन्धन बांधने-करने में इतनी देरी कर दी कि तब मन ही नहीं हुआ कि अब इस आंधी-छांटे में तथा दिन भर की भारी थकान के बाद किसी के यहाँ जाओ भी, तो एक तो इतनी देर से जाओ उस पर लौटने की जल्दबाजी अलग। ऐसा ही है तो इस प्रकार की सांसत में जाने की आवश्यकता ही क्या है? केवल नाम करने के लिए जाने में क्या तुक है? इसलिए कल नहीं गये और आज के लिए कार्यक्रम बनाया। कल दुर्गा से मासीमाँ के यहाँ चलने के लिए कहा भी था तब भी वह बहुत ही निश्चिन्त भाव से बच्चों के राखी वाले कार्यक्रम में मनोयोगपूर्वक सहयोग देती रही। दुर्गा हमेशा कहती है कि त्योहार के दिन, कोई कितना ही अपना क्यों न हो, आदमी को दूसरे के घर उत्सव मनाने के स्थान पर अपने ही घर रहना चाहिए। बरस भर के त्योहार के दिन भी दूसरे के घर तो आनन्द, उत्सव हो और आपका घर बन्द रहे, आपके लोग दूसरों का मुँह देखें, यह कौन ढंग है? नहीं, व्यक्ति को अपना परिवार, अपना घर जैसा भी हो, उस दिन तो घर-परिवार में ही रहना चाहिए। वैसे दुर्गा कभी अपना-पराया नहीं करती है परन्तु कब-किस बात में या मौके पर तात्विक हो जाएगी कहना कठिन है। सामान्यतः तो वह कुल-कुटुम्ब, नाते-रिश्तेदारों के साथ आत्मीय ऊष्णता, उदारता और सहिष्णुता से ही व्यवहार करेगी। किसी को शिकायत का मौका नहीं देगी। आप एक करेंगे तो वह सवाया करने की ही चेष्टा करेगी परन्तु कब वह अपने पति और बच्चों को अपने में समेट कर अवस्थित हो जाएगी इसे कोई क्या, स्वयं पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल तक नहीं बता सकते थे।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल का विचार था कि आज वह और दुर्गा ही जाएँ। अगर

कल जाते तो बात दूसरी थी, रक्षा-बन्धन का त्योहार था। पर्व के दिन बच्चों को देखकर गायत्री मासीमां को भी अच्छा लगता पर आज बच्चों को ले जाने में क्या तुक है? लेकिन जब बच्चे कल के दिन कहीं नहीं जा सके तो गोविन्द-मामा से तय किया था कि कल वह आएँ और उन्हें घुमा लाएँ। बच्चे गोविन्द-मामा की प्रतीक्षा ही करते रहे और वह आये ही नहीं इसलिए बहुत दुःखी हुए। लेकिन जब बच्चों ने मां को भी तैयार होते देखा तो पूछ ही लिया कि कहां जा रही हैं? और जब मालूम हुआ कि 'दादी मां' के यहां जा रहे हैं तो बच्चों ने अपने से घोषणा कर दी कि वे भी जरूर जाएँगे और सब तैयार भी हो गये। वैसे दुर्गा ने चालू चलऊ ढंग से मना भी किया कि वहां क्या करोगे? तो बच्चों ने बता दिया कि मामा को लेकर थोड़ा घूम ही आएँगे। दुर्गा को बच्चों की बात संगत भी लगी अतः वह निश्चिन्त भाव से शीशे से मुँह सटाये अपना टीका गोल करती हुई सन्तुष्ट खड़ी हुई थी कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने पीछे से आकर पूछा,

— क्या बच्चे भी चल रहे है?
— चलने दीजिए। आपको कौन गोदी में उठाना है इन्हे?
— तुम भी कमाल करती हो। बच्चों के साथ होने से उलझन नहीं होगी?
— बच्चों से उलझन तो होती ही है पर आपके बच्चों की उलझन आप नहीं उठाएँगे तो क्या कोई दूसरा आएगा?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल तत्काल समझ गये कि वह शायद गलत ढंग से तर्क कर रहे हैं। दुर्गा जिस सहज और निर्द्वन्द्व भाव से तैयार हो रही थी उसे देखकर बिल्कुल नहीं लग रहा था कि बच्चों के चलने में उसे कोई उलझन हो रही है, जबकि बच्चों की उलझन मुख्यतः होती मां को ही है। पिता का क्या! जब जरा सहन नहीं हुआ तो बच्चों पर झल्ला लिये और उन्हे चलता किया। कहां चलता किया? कहां, माने उन्हें उनकी मां के पास। मां के पास पहुँचकर वे ही बच्चे कैसे विमुग्धी हो जाते हैं। माताएँ अपने किस्सों-कामों में बझी हैं और बच्चे इधर-उधर से आकर मां को छूकर या उस पर गिर-टूट कर सन्तोष पा जाते है। न बच्चों को कोई उलझन होती है और न स्त्रियों को ही अपनी बातों, कामों में किसी प्रकार का व्यवधान लगता है।

दुर्गा इस बीच कर्णफूल पहन चुकी थी। खुँसी साड़ी को एडी से नीचा करते हुए वह बोली,

— आप हर बात में इतने जल्द परेशान क्यों हो जाते हैं? बच्चे जा रहे हैं तो आपको क्या? वे अपनी दादी मां के यहां जा रहे हैं। त्योहार के दिन आप तो सब जगह आएँ-जाएँ और बच्चे घर ही में बँधे रहें, है न?...कल शायद गोविन्द से बच्चों ने तय किया था कि वह उन्हें घुमा देगा। आप बिल्कुल चिन्ता न करें। अगर आपको वहां से कहीं और जाना हो तो हम लोगों को मासी मां के यहां ही छोड़-कर चले जाइएगा।

वह इतना सब बोल गयी परन्तु एक बार भी पति की ओर देखने की उसे आवश्यकता

नहीं अनुभव हुई। वह बोलते हुए फैले कपड़े, खुले हुए बक्से आदि ठीक करती जा रही थी। अपनी बात समाप्त करते ही वह मुड़ी और पति की आँखों में मुस्कराते हुए झाँकते हुए बोली,

— और साल-छह महीने में अगर घंटा-दो घंटा बच्चों को भी दे दें तो क्या बुरा है?

दुर्गा ने यह वाक्य जिस स्त्रियोचित मुग्धता के साथ कहा उसमें पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल का पुरुष नहा उठा।

आज से भाद्रपद लगा था, पर इस समय कई दिनों के बाद बादल छँटे से थे। बादलों के बीच-बीच से आकाश के स्वच्छ नीले टुकड़े बहुत ही आकर्षक लग रहे थे। चौमासे में जिन दिनों मेघाच्छन्नता रहती है, कैसा घिरा-घिरा सा लगता है। तब उन दिनो याद ही नहीं पड़ता है कि कोई आकाश भी है। इस समय बादलों के बीच से धूप भी झरती सी लग रही थी। भीगे मकानों और भीगे रास्तों पर गिरी धूप कैसी प्रिया जैसी लग रही थी जैसे कि प्रिया, नेत्रों से बड़े ही चुराये-चुराये ढंग से देख रही है।

ताँगे के पीछे के तकियों से टिके पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा अपने में ही सोचते बैठे थे। बच्चे भी लगभग सहमे से मौन थे। कुन्ती और कान्ता अब बड़ी हो रही थीं। साड़ी में वे दोनों कुछ ज्यादा ही बड़ी दिख रही थीं। उनके नेत्रों में भी जैसे ठहराव आ चला था। वे नेत्र अब केवल देखते ही नहीं थे बल्कि सोचते भी थे इसलिए उनमें एक भाषा का भी यदा-कदा बोध कौंध जाता था। लेकिन मणि तम्बाकू रंग का रेशमी पोलका और उस रंग की मेखला ['परकर' या घघरिया] में थी। मणि भूषा से ही नहीं बल्कि अपने नेत्रों तक से बचपन के अधिक निकट थी। विधु और शशि माँ-बाबा की चुप्पी पर आँखों ही आँखों में बातें करते तथा ओठों के कोनों तक मुसकराहट दाबे मौन तो थे ही पर कहीं हँस न पड़ें इसलिए इधर-उधर देखते जा रहे थे। उनकी यह भी चेष्टा थी कि वे भी मणि की भाँति शिष्ट और सभ्य लगें जबकि हँसी उनमें लबालब भरी थी जो उनकी गम्भीर-स्थिति में भी छलकी पड़ रही थी। किसी बहाने की प्रतीक्षा थी, पर ऐसा बहाना भी बाबा की अनुपस्थिति में ही होना चाहिए अन्यथा बाबा न बोलने पर भी आँखों से ही ऐसा घुड़कते है कि जैसे चीरा लगा दिया हो—बाबा रे !! लोगों के तो डाटने की आवाज होती है परन्तु बाबा के तो देखने में भी आवाज होती है।

महाकाल मन्दिर वाली सड़क एकदम निर्जन थी। ताँगे के घोड़े के घुँघरुओं की आवाज सड़क पर बिखरी पड़ रही थी। कई दिनों की लगातार वर्षा से घबराये लोग इस खुले मौसम और सुहानी धूप को भोगने के लिए चबूतरों पर निकल आये थे। स्त्रियाँ खिड़कियों-दरवाजों में खड़ी बातें कर रही थीं।

— बहुत चुप हैं आप ?

पत्नी की बात सुनकर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लगा कि सच ही, वह न जाने क्या

सोचते हुए अपने से कहीं दूर चले गये थे। बोले,

— नहीं तो।

— नहीं तो क्या !! आप नही जानते कि आपके मुख पर हर बात लिखी होती है। आपको छुपाना भी नही आता।

— छुपाना कोई अच्छी बात तो नही।

— तो सब कुछ स्पष्ट हो जाना भी तो ठीक नहीं।

— तुम क्या सुनना चाहती हो ?

— मैं तो यह चुप्पी तोड़ना चाहती थी, बस।

और दुर्गा हँस दी। माँ को हँसते देखा तो विधु और शशि जो ओठों में हँसी दबाये हुए थे, ऐसे निर्दोष रूप से खिलखिलाकर हँसे कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को भी बच्चों के इस बचपने पर हँसी आ गयी। इसके बाद तो मणि को छोड़कर सभी हँस पड़े। मणि ने अप्रत्याशित गंभीर रह कर अपने को पृथक् रखते हुए केवल मुसकरा दिया।

— तू बड़ी सयानी बनी बैठी है मणि ! क्या बात है ?

माँ ने जब पूछा तो वह बोली,

— ये दोनों तो रास्ते भर इस प्रतीक्षा ही में थे कि किसी तरह हँसने का बस मौका भर मिल जाए।

पुत्री की बात पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— और नहीं तो क्या, ये दोनों बहुत शैतान हैं। सबको मणि की तरह गम्भीर होना चाहिए।

पिता ने जिस तरह कहा उसका व्यंग्यार्थ विधु और शशि भी समझ ले गये और जोरों से हँसने लगे। इस तरह हँसने पर दुर्गा ने डाट पिलाते हुए कहा,

— बड़ों के सामने हँसने का यह कौन ढँग है ?

अभी इस डाट पर वे दोनो खिसियाएँ और मणि खुलकर हँसे इसके पूर्व ही श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय का घर आ गया।

अनेक दिनो बाद त्र्यम्बक-दुर्गा को सपरिवार जब श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने देखा तो प्रसन्न हो उठी। वह अपनी सदा की सादी सफेद भूषा में ही थी। हॉल में सदा की भाँति अगरु की गन्ध आ रही थी। खिड़कियों से बाहर के दृश्य और धुली धूप के कारण यह हॉल खिलखिलाता लग रहा था। दादी माँ को प्रणाम करके विधु और शशि जाकर खिड़कियों से बाहर का दृश्य देखने लगे। मणि के अवचेतन तक में यह प्रतीति

लग रही थी कि उसे सयानेपन से व्यवहार करना चाहिए। यद्यपि भूषा और व्यक्तित्व से वह अधिक से अधिक 'गौरी' ही कही जा सकती थी। श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय का ध्यान मणि में आरम्भ होते हुए इस कैशोर्य की माधवी की ओर गया और उन्हें लगा कि लता में जब सबसे प्रथम फूल फूटने को होता है तब लता में कैसे एक नेत्र-भाषा वाला व्यक्तित्व आ जाता है। वह इस मधु-माधवता में नहा उठी, हँसते हुए बोलीं,

— क्या दादी-नानी बनी बैठी हो बड़ों में, जाओ नीचे, तुम भी खेलो।

तभी विधु ने दादी माँ से पूछा,

— गोविन्द-मामा कहीं गये हैं क्या दादी माँ ?

— हाँ, आज रतलाम गये हैं।

दुर्गा इस सूचना पर चौंकी, बोली,

— रतलाम गया है ? पर कल तो उसने कुछ नहीं बताया इस बारे में।

— वसन्ती की बहू के इस बीच दो पत्र आये थे कि राखी पर जब गोविन्द-काका आएँ तो उन्हें रतलाम अवश्य भेज दें। मैंने उससे कहा भी कि एकाध दिन बाद हो आना रतलाम, तो वह बोला कि उसकी दो दिन की ही छुट्टी है इसलिए वह सबेरे ही चला गया।

— हो सकता है लौटे।

— हो सकता है, पर अगर रतलाम मे ही समय लग गया तो यह भी सम्भव है कि सीधा इन्दौर ही निकल जाए।....कुछ काम था क्या उससे ?

— काम तो क्या, उससे इस बार बात ही नहीं हो सकी....'ये' भी उससे गाँव के बारे में कुछ बातें करना चाह रहे थे। जब 'यह' कुछ कहते हैं तो कह देता है कि वह गाँव, खेत किसी के बारे में कुछ नहीं जानता। बाद में तब 'यह' मुझ पर झल्लाते हैं कि····

और हँसते हुए श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने वाक्य पूरा किया।

— बड़े भाई तो थे ही, इस छोटे ने भी....मुझे तो अनेक बातों में गोविन्द तुम्हारे बड़दा का प्रतिरूप ही लगता है।

यह कहने को तो श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय कह गयीं परन्तु उन्हें लगा कि वह अपनी सीमा लाँघ गयी हैं, जैसे पल्लू सिर से गिर पड़ा हो, और वह पल्लू ठीक करने के ढंग पर सचेत हुईं, लेकिन मासीमाँ की बात सुनकर दुर्गा जिस प्रकार स्वत्व से मुसकरायी उसे देखकर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को अच्छा तो बहुत लगा परन्तु अपने से वह कहीं असन्तुष्ट भी हुईं कि पण्डित शिवशंकर आचार्य को लेकर किसी के भी सामने चर्चा करने की क्या आवश्यकता थी ? बात कहकर जब श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने लगभग . चौंकते हुए दुर्गा को देखा तो दोनो को प्रति-नेत्रों में कहने और सुनने की आत्मीयता दिखलायी दी। पुरुष को लेकर स्त्रियों की मार्दवता सबसे अधिक उनके नेत्रों में ही देखी जा सकती है। ऐसे क्षणों में स्त्री पूरी तरह आँख हो जाती है। परिचित पुरुष यदि सन्तान हुआ तो वह आँख, माँ हो जाती है; भाई हुआ तो वह आँख,

बहन हो जाती है, और यदि प्रिय हुआ तो वह आँख, तन्मय प्रिया हो जाती है। स्वयं श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को लगा कि वह बात तो गोविन्द की कर रही थीं परन्तु दृष्टि में शिवशंकर आचार्य थे। स्मरण करते नेत्रों की यह माया ऐसी घोषित थी कि पलकें क्या यदि दोनों हथेलियों से ढाँप कर भी छुपातीं तब भी सम्भव नहीं था। खासकर स्त्री तब और अधिक असुविधा अनुभव करती है जब उसे यह मात्र संकेत भर भी हो कि मन की इस गोपनीयता को सामनेवाला कुछ-कुछ समझता है। हालांकि दुर्गा मासीमाँ के नेत्रों के राग-स्मरण को देखकर भी अनदेखा कर रही थी, तब भी श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को यह तो लग ही रहा था कि दुर्गा ही सही, परन्तु कोई अन्य उपस्थित है तो। दुर्गा भले ही 'शिवशंकरजी' की बहन हो, पर है तो अन्य ही। जब कि दुर्गा को इन मासीमाँ को देखकर न जाने कैसा-कैसा राग उमड़ता रहा है कि बड़दा के संन्यस्त मन को थोड़ी सी ही सही, पर एक ऊष्मा दी तो है। बिना स्त्री के पुरुष का जीवन कैसे वनस्पतिहीन मरुस्थल जैसा होता है न ?

इस बीच श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय अपने को साध चुकी थीं। अधिक अच्छा होता कहना कि उन्होंने स्वय को सन्तुलित कर लिया था और जैसे ही भर आँख दुर्गा को देखा, तो देखा, कि वह कुछ सोच रही है। स्त्री की घ्राण शक्ति इतनी तीव्र होती है कि उसके बारे में आपने सोचा नहीं कि वह अज्ञात में ही चौंक उठेगी। अनायास जूड़े पर हाथ चला जाएगा, पल्लू में चुन्नटें डलनी शुरू हो जाएँगी।

— क्या सोच रही हो दुर्गा !

— मुझे भी ऐसा लगता है मासीमाँ ! कि यह भी बड़दा की भाँति कोई प्रतिक्रिया नहीं करता। हमेशा अनुपस्थित लगता है। और कुछ पूछो तो अजीब फीकेपन से ऐसी आत्मीयता से हँसेगा कि जैसे मिट्टी मुँह में भरे बच्चा सामने आ खड़ा हो और मिट्टी खाने के बारे में पूछने पर मुँह खोलकर कहे—कहाँ ??

इस बात पर दोनों ही हँस दीं। साथ ही पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल की हँसी भी सुनायी दी तो दोनों को लगा कि वे दोनों अकेली नहीं हैं। दोनों को ही लगा कि कैसा अच्छा था न कि वे किसी अनुपस्थित व्यक्ति की स्मृति में अपने-अपने ढंग से खोयी हुई थीं। कैसा एकान्त था जो दूसरे के जरा से उपस्थित हो जाने के विचार से ही टूट गया था। नौकरानी नाश्ता लेकर आयी थी। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने उससे पूछा,

— बच्चे नीचे हैं ?

— जी, बगीचे में हैं।

— ध्यान रखना। नाश्ता तो हो गया होगा उनका ?

— जी।

नौकरानी के जाते ही दुर्गा ने सबको नाश्ता दिया। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने प्लेट लेते हुए कहा,

— त्र्यम्बक ! अब इन लोगों के ब्याह-शादी का भी कुछ सोचो।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने हँसते हुए जवाब दिया,

— किधर से शुरू किया जाय ? मेरा ख्याल है कि छोटे से आरम्भ करना ज्यादा आसान होगा।

हँस तो तीनों ही पड़े पर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय बोलीं,

— मैं गोविन्द और धूर्जटी की बात कर रही थी। कुन्ती और कान्ता के लिए अभी से लड़के खोजने लगो।

इस पर पण्डित त्र्यम्बक बोले,

— मेरी बड़ी मुसीबत है मासीमाँ !

— क्यों ? ऐसा क्या हुआ भला ?

— एक अनार सौ बीमार की कहावत ही समझिए मेरी। घर देखो, फ्रीगंज का सारा कारोबार सम्हालो। देवास-गेट की दूकानों का भी ध्यान रखो। उस पर गोविन्द महाशय की जमीदारी की खोज-खबर लो। एक घर यहाँ तो दूसरा घर अंकपात में। उस घर को जस का तस रहने दिया नहीं जा सकता क्योंकि, नहीं तो आस-पास वाले अपनी गाय-भैंसें ही उसमें बांधने लगेंगे और बनवा लो तो फिर उसकी भी साज-सम्हाल करो। और अब आप कहती हैं कि इनके लिए लड़कियाँ और लड़के खोजे जाएँ तो, मेरा तो कल्याण ही हो गया तब।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल की व्यस्तता सुनकर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय हँसते हुए बोलीं,

— जब इतनी ही दौड़-भाग है तो फिर एक मोटर खरीद लो।

— इसे कहते हैं मासीमाँ ! कि रोग आँख में और दवा घुटने की।

— भैया ! जब संसार है, जमीन-जायदाद है, घर-परिवार है तो फिर यह सब दौड़-भाग तो रहेगी ही। और यह बात तो समझ में नहीं आती कि दुर्गा और कृष्णा बहन के रहते तुम घर-परिवार देखते हो।

— मैं घर-परिवार नहीं देखता यह आपसे किसने कहा ? गोविन्द ने ?

— उसका खूब नाम लिया तुमने। उसका बस चले तो वह आप दोनों को आसन पर बैठा कर दिन-रात पूजे।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल हँसते हुए बोले,

— अच्छा हुआ कि ऐसा नहीं हुआ वर्ना हम लोग आसन पर बैठ जाते तो फिर यह पसारा कौन देखता-सुनता ?

— इस पसारे की अब ज्यादा दिन चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। दो-चार वर्षों में सारे बच्चे बड़े हुए जा रहे हैं और देखना तुम लोगों से ज्यादा अच्छा सब देखे-भालेंगे।

— लेकिन तब तक तो मेरा तैल ही निकल जाएगा।

दुर्गा जो अब तक चुप बैठी थी, बोली,

— मासीमाँ ! यह बुरा न मानें तो एक बात कहूँ ?

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने हँसते हुए कहा,

— तुम दोनों में बड़ी स्पृहणीय समरसता है।

— मासीमाँ ! मैं इनसे हमेशा कहती हूँ कि इतना पिसारा करने की क्या आवश्यकता है ? जितनी चिन्ता आवश्यक हो उतनी ही करनी चाहिए...और फिर सम्पत्ति अर्जित कर कोई निश्चिन्त रह सका है ?

इस पर तपाक से पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— इनसे पूछिए मासीमाँ ! कि मैंने क्या फैलावा किया ? यह सब तो बाबा का ही किया-धरा है ।

— तो आपको गोविन्द की जमीन-जायदाद के लिए अतिरिक्त देखना-भालना पड़ता है, है न ?

— देखो दुर्गा ! तुम जानती हो कि मैंने कभी इस बारे में शिकायत करने की बात तो दूर बल्कि शिकायत की भाषा मे सोचा तक न होगा परन्तु एक चिन्ता तो स्वाभाविक ही है कि वहाँ की खेती-बाड़ी, गाँव-घर सब ठीक-ठिकाने हैं कि नहीं ।

इस पर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने कहा,

— आदमियों को तो यह सब करना ही पड़ता है त्र्यम्बक !....गोविन्द इस साल लॉ कर लेगा । उसके बाद उससे कहो कि अपना घर-दुआर सम्हाले ।....मैं तो चाहती हूँ कि उसके लॉ करते ही उसका विवाह भी हो जाए तो तुम लोग उसकी ओर से निश्चिन्त हो जाओ ।

इस पर दुर्गा बोली,

— ऐसा हो जाए तो हम सबको गंगा-स्नान का पुण्य-लाभ मिले मासीमाँ !

— बड़ी हताशा से बोल रही हो, क्या बात है ?

— मुझे नहीं लगता कि आपके अलावा वह किसी और की बात मान सकता है ।

— कह नहीं सकती कि तुम्हारी बात ठीक ही है पर, सच मे स्थिति थोड़ी विकट ही है । अभी कल की ही बात है कि बातों ही बातों में मैंने उससे विवाह की चर्चा चलायी तो मुझे तुम्हारे बडदा की याद हो आयी । यह भी उनकी ही तरह हाथ गूँथ कर, नेत्र झुका कर मौन खड़ा रहता है—बस !!

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल हँसते हुए बोले,

— बड़दा की यह मानस-सन्तान है । भला संन्यासी के घर संन्यासी नहीं उत्पन्न होगा तो क्या विलासी होगा ?

— अच्छा, आप तो रहने ही दीजिए ।

दुर्गा की झल्लाहट पर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय बोलीं,

— दुर्गा ! तुम पाँच बेटों की नहीं बल्कि छह बेटों की माँ हो ।

इस पर तपाक से पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— देखिए मासीमाँ ! मैं अपने पाँच बेटों का तो ठेका ले सकता हूँ पर दुर्गा के छठे बेटे का नहीं ।

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को हँसी आ गयी, बोलीं,

— दुर्गा तो अपनी सास के बेटे का भी बोझ उठाये हुए है ।

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय की बात दोनों को समझने में थोड़ा समय तो लगा परन्तु बात जैसे ही समझ में आयी कि दोनों ही खुलकर हँस दिये। दुर्गा बोली,

— मासी माँ! आपको मालूम है कि नर्मदा मासी की तबीयत खराब थी पिछले दिनों?

— गोविन्द ने ही बताया था। नागेश्वर भैया भी तो नागपुर गये थे। क्या कहूँ, इस तरह की एक तो सूचना ही देर से मिलती है और फिर सामान्य निकलना भी नहीं हो पाता है।....नर्मदा भी किसी से नहीं कहलवा सकी।

तभी ताँगे की घंटियाँ सुनायी दीं। सबको लगा कि कोई ताँगा आया और रुका। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने नेत्रों को कान बनाते हुए जैसे आहट ली और बोलीं,

— लगता है नागेश्वर भैया और नर्मदा हैं।...कल मैं आप सबकी राह देखती रही और कोई नहीं आया।

दुर्गा बोली,

— कल रात में देर हो गयी थी, नहीं तो आते।

— अरे त्योहार के दिन तो देर-सबेर होती ही रहती है।

इस बीच पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बारजे तक देख आये थे कि किसका ताँगा है, आते ही बोले,

— आपका अन्दाज ठीक था मासी माँ।

अभी कुछ श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय जवाब दें कि सीढ़ियों पर न केवल आहट ही हुई बल्कि दोनों दरवाजे पर दिखलायी भी दिये। आते ही श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने अपनी जेठानी के चरण-स्पर्श किये। देवरानी को अपने से सटाते हुए श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय बोली,

— तुमने तो कुछ भी कहने का मुँह नहीं रहने दिया नर्मदा!

— ऐसी मुझसे क्या भूल हुई भाभी?

अपनी देवरानी की हथेली को अपनी हथेलियों में लेते हुए कहा,

— तुम भला भूल कर सकती हो?....मैं तो यह कह रही थी कि तुम भैया के पीछे इतने दिनों बीमार रहीं और मुझे सूचना ही नहीं। आत्मीयता भाव ही नहीं होती उसे धरती पर चलना भी चाहिए।

— बीमार तो कुछ खास नहीं थी।

— कभी शीशे में इधर अपने को देखा है?....नहीं, भैया! आगे से जब भी कहीं जाओगे तो नर्मदा को मेरे पास छोड़ कर ही जाओगे। समझे?

— आप कहें तो मैं इसे अभी छोड़ देता हूँ, लाना तो त्र्यम्बक! जल!!

और वातावरण सहज हो आया। सब अपने स्वत्व के साथ हँसे ही नहीं वरन् प्रसन्न भी हो उठे।

— छोड़ना तो आसान है नागेश्वर! पर दूसरी इसके पैर की धोवन भी मिल जाए तो कहना।

— न मिले भाभी ! संन्यासी हो जाएँगे।
— बड़े संन्यासी बन जाएँगे। खेल समझ रखा है न ?
इस पर दुर्गा बोली,
— मासी माँ ! आजकल तो जो देखो वही संन्यासी बनने को आकुल है।
कोई कुछ कहे इसके पहले ही पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने हँसते हुए कहा,
—मासी माँ ! स्त्रियों की प्रगति यदि ऐसी ही होती रही तो देखिएगा कि बच्चे तक संन्यासी पैदा होंगे।
इस पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने घुड़का,
— बहुत बोलना सीख गया रे ?
इस बीच पण्डित नागेश्वर उपाध्याय ने अपने झोले से एक पैकेट निकाला और अपनी भाभी के सामने रख दिया।
— इसमें क्या है भैया ?—दुर्गा ! खोलो तो इसे।
— कुछ खास तो नहीं भाभी ! नागपुर में कुटीर-उद्योगों की एक प्रदर्शनी भी लगी थी। उसमें असम-बंगाल के मण्डप देखने योग्य थे। साड़ियों के अकल्पनीय रंग और ऐसा सुन्दर काम कि बस देखते ही रहो।
दुर्गा ने इस बीच बण्डल खोल डाला था। गहरे कुंकुमी रंग की रेशमी साड़ी थी। पल्ले पर जरी के नाचते हुए मोर बने थे और किनार के नाम पर छोटे-छोटे मयूरपंखों की पाँत बनी थी। कपड़ा छू कर और काम देख कर मन जुड़ा रहा था।
साड़ी को देख कर दुर्गा बोली,
— कितनी सुन्दर है न मासी माँ !
श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,
— दुर्गा ! तुम्हारे मामा जी अपनी भाभी के लिए लाये हैं।
— मेरे लिए ?
परम आश्चर्य के साथ श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने अपने देवर की ओर देखा, जो कि पूछने जैसा ही था।
— क्यों ? आप आश्चर्य क्यों कर रही हैं ?
— लो, आश्चर्य न प्रकट करूँ तो क्या करूँ ? नर्मदा पहने, दुर्गा पहने, वसन्ती-वासुदेव की बहुएँ पहनें तो शोभा भी दे, उचित भी है....मैं भला... और इधर कभी मुझे दूसरे किसी वर्ण में देखा है ? भैया ! विधवा और शव को चाहे चीनांशुक ओढ़ाओ या टाट—चीज को बिगाड़ना ही है।.. क्या मैं गलत कह रही हूँ ?
बात का अन्तिम सबसे कहा गया था। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि इसके आगे या इसके सामने क्या कहा जाए। यह कितना बड़ा कटु सत्य था। भरे-पूरे कुटुम्ब में भी सबकी अपनी-अपनी नियति यथार्थ और भिन्न होती है।
श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय सबकी असमंजसता बूझ ले गयीं। वही अत्यन्त सहज होते हुए बोलीं,

— लेकिन भैया ! तुम्हारी पसन्द है अद्वितीय। यह रंग और काम इधर देखने को भी नहीं मिलेगा, है न नर्मदा ? क्यों दुर्गा ?

साड़ी की सुन्दरता इतनी स्पष्ट थी कि कोई क्या कहता। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय पुनः बोलीं,

— तो मैं इसे रख लूँ नागेश्वर भैया ?

— भाभी ! मैं नहीं जानता कि क्या कहूँ ?

इस पर वह खिलखिला पड़ीं, बोलीं,

— परन्तु मेरे पास कहने और करने के लिए दोनों हैं....नर्मदा ! सुनो....

— क्या भाभी !

— इसे पहन कर दिखाओ तो।

इस पर शायद पण्डित नागेश्वर उपाध्याय कुछ कहने जा रहे थे तो वह टोकते हुए बोलीं,

— अपनी चीज मैं किसी को दूँ, तुम बोलनेवाले कौन होते हो ?

साड़ी को देते हुए नर्मदा से बोली,

— तुम जब प्रथम दिन बहू बनकर लाल साड़ी में आयी थीं उस दिन, सच मानो मेरा कितना मन हुआ था कि तुम्हें 'बेटी' कह कर पुकारूँ।...शायद आज कह सकूँ...पहनो तो इसे।

वातावरण में हठात् सन्नाटा छा गया। उस आत्मीय शून्यता में श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय का साड़ी देता हाथ और नर्मदा का साड़ी ग्रहण करता हाथ ही कुछ बोले हों तो बोले हों, बाकी के पास केवल एक भाषाहीन प्रतीति थी कि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय सबके मर्म को छू गयी थीं।

— "कुन्ती ! कान्ता ! चलो उठो !"
अभी सवेरे के चार बजे होंगे कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को अपनी माँ की आवाज सुनायी दी। इस पुकारने के बाद तो उनका आत्मालाप भी सुनायी पड़ने लगा कि—आज-कल की लड़कियाँ कैसी हैं कि दस बार जगाओ तो एक बार मुश्किल से जागती हैं। अरे हमारे जमाने में क्या मजाल था कि किसी को जगाना पड़े। पहले तो खारा-मीठा पानी भी इसी समय उठकर भरना पड़ता था। पूरे घर का कचरा काढ़ना पड़ता था। जितनी सुविधा दो आदमी उतना ही मटरू होता जाता है....अब बताओ, जब देर से क्षिप्राजी जाओगे तो लौटने में देर तो होगी ही और फिर घर के दूसरे कामों का क्या होगा ? और यह कार्तिक-स्नान है कि लौटते में धूप निकल आए ? या यह कि लौटते में भी तारे रहे ? सड़कों-सेरियों में धूप आ गयी है, मेहतरानियाँ झाड़ू लगाते धूल उड़ा रही हैं और धूल आप पर, कपड़ों पर, पूजा की सामग्री पर छा रही है, तो फिर ऐसे कार्तिक-स्नान से क्या लाभ कि भगवान के बजाय इन महारानियों का दर्शन हो। शायद श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल अपनी तैयारी कर चुकी थीं। अपनी पौत्रियों को फिर पुकारा,
— अरे लड़कियो ! आज चलना नहीं है क्या ?
— हम भी तैयार हैं दादी माँ !
नीचे से आ रही ये आवाजें सुनते पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बिस्तरे में पड़े थे। जब 'कल' के खुलने और बन्द होने की आवाज सुनायी दी तो उनको तथा दुर्गा को लग गया कि 'दादीमाँ' अपनी पोतियों के साथ बगल में धोती और पूजा-पात्र हाथ में लटकाये कार्तिक-स्नान के लिए निकल पड़ी हैं। रोज ही दुर्गा अपनी सास का यह दिनारम्भ देखती-सुनती है। कार्तिक में वह पूरे महीने भर क्षिप्रा-स्नान करने जाती हैं इसलिए

थोड़ा शोरगुल ज्यादा होता है अन्यथा सासूमाँ अपने बिस्तरे में ही पड़े-पड़े माला फेरते हुए बीच-बीच में भगवान का नाम लेती रहती हैं जिससे घर भर को, खासकर बहू को पता चल जाए कि वह कब की जाग गयी हैं। दुर्गा भी तब उठकर अपनी गृहस्थी के कार्यों में व्यस्त हो जाती है। सामान्यतः तो पति सोते ही रहते हैं पर आज जाग गये थे। रोज तो पत्नी के उठ जाने के बाद खूब खुल-फैलकर सोते हैं। कई बार इतने गहरे सोते उन्हें दुर्गा ने देखा है जैसे पूरी रात के बाद अब जाकर सोने को मिला हो। पति को जगा देखकर उसे लगा कि कार्तिक-स्नान के शोर के कारण इनकी नींद टूट गयी है, जबकि वास्तव में वह इस शोर के पूर्व ही जाग गये थे। दुर्गा बिस्तर पर बैठी हुई अपने बाल, कपड़े आदि सहेज-समेट रही थी। उसका टीका फैल आया था जिसे वह बिना शीशा देखे भी अपने पल्लू के छोर से ठीक करती बैठी थी। स्त्रियों के स्वत्व में सारे समय सतर्कता का एक ऐसा अवचेतनिक छन्द होता है कि जिसके कारण वह सारे समय आद्यन्त माधवता का बोध देती हैं। पुरुष कभी ऐसी सतर्क माधवता नहीं प्राप्त कर पाता। दुर्गा के पाँव की अँगुली की छोटी-सी मच्छी [विछिया] बिस्तर की चादर में उलझी चमक रही थी जिसकी ओर उसका ध्यान नहीं गया था। वह दोनों हाथ पीछे किये अपनी चोली की कसें बाँध रही थी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने वह मच्छी उठा ली और उसे राग भाव से देखने लगे। अपने को जब दुर्गा व्यवस्थित कर चुकी तो उसका ध्यान गया कि 'ये' चुपचाप क्या कर रहे हैं? और जैसे ही उसने अपनी बिछिया को पति के हाथ में देखा, और देखा कि पति उसे बहुत ही मुग्ध भाव से देख रहे हैं तो पहले तो उसे उलझन हुई परन्तु उसे भी पति को लेकर राग हो आया। लेकिन यह मनःस्थिति क्षणान्त ही रही जैसे कि धूप का एक क्षण का कोई जादू था जो उस क्षण के बाद उस जादूत्व के साथ न जाने कहाँ सुगन्ध-सा उड़ गया था। पति के हाथ से लगभग झपट्टा मारने के ढंग पर उसने मच्छी ली, और छिः-छिः भाव से बोली,

— बड़े अच्छे लग रहे हैं!

दोनों के नेत्र हठात मिले। नेत्र भी स्त्री-पुरुष होते हैं। उनमें भी न केवल संवाद होता है बल्कि कई बार संभोग तक हो जाता है। अँगुली मे बिछिया डालते हुए वह बोली,

— बड़ी जल्दी जाग गये आज?

— हाँ, पर तुम भी तो जाग गयीं।

— मेरे जागने का तो यह समय ही है। लगता है जिजी-बच्चों की आवाज से आपकी नींद टूट गयी।

— ठीक से नहीं कह सकता। ...तुम लेकिन जिजी को समझाती क्यों नहीं?

— क्या?

दुर्गा ने 'क्या' ऐसे चौंककर अर्धमुड़े भाव से कहा कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को वर्षों पूर्व की प्रथम रात्रि वाली दुर्गा की याद हो आयी। कैसी अप्रतिम लगी थीं उस रात यह। उन्हें हमेशा स्त्री नदी लगती रही है। बेचारा तट नदी के पीछे-पीछे भागता जाता है और नदी खिलखिलाती आगे-आगे भागी चली जा रही होती है।

— दुर्गा ! इस समय तुम बहुत सुन्दर लग रही हो ।
दुर्गा ने बहुत ही नाटकीयता के साथ हाथ से माथा छूते हुए कहा,
— हे भगवान ! पता नहीं आपका क्या होगा ।
— क्यों ?
— सबेरे-सबेरे लोग उठकर भगवान का नाम लेते हैं ।
— तो क्या 'दुर्गा' भगवान का नाम नहीं है क्या ?
— अच्छा, आपको कोई काम न हो और कच्ची नींद में जाग गये हों तो एक बार फिर से सो जाइए । मैं चलूं अपने काम-धन्धे में लगूं ।
— तो मैंने क्या तुम्हारा हाथ पकड़ रखा है ?....
दोनों हँस पड़े । वह पुनः बोले,
— मजाक छोड़ो दुर्गा ! तुम जिजी को समझा सकती हो ।
— क्या समझाने को कह रहे हैं ?
— यह सब धरम-करम तो ठीक है दुर्गा ! पर इस उमर में यह आधीरात में कार्तिक स्नान करने जाना....
— तो आप ही क्यों नहीं समझाते ?
— जिजी किसी की सुनती भी हैं ? बाबा तक को पत किया नहीं वह भला...
— जिन्होने पति-बेटे की नहीं सुनी वह बहू की बात सुनेंगी, है न ? यही आपकी बुद्धि है ?
— पता नही इन बुड्ढे लोगों को दूसरों को परेशान करनेवाले नये-नये ढंग कौन सिखाता है ?
— आपके ऋषि-मुनि, और कौन ?...लेकिन मैं कहती हूँ कि आपने अपनी बेसिर-पैर की बातें शुरू की न ? आप भगवान के लिए फिर से सो जाएँ ।
— मजाक नही दुर्गा ! मान लो अँधेरे में सीढ़ियों पर से पैर ही फिसल जाए । कार्तिक की इस ठण्डी हवा में इत्ती सवेरे ठण्डे पानी से स्नान करेंगी । बुढ़ापे का शरीर है । हवा और ठण्ड कही सीने में चिपक जाएँ तो बैठे-बिठाए हो गयी न मुसीबत सबकी ? मुझे क्या !! तुम्हीं लहसुन के तैल की मालिश करना और शहद में बसन्त-मालती चटाना ।
दुर्गा को 'बसन्त-मालती' चटाने की बात पर हँसी आ गयी, बोली,
— आपको एक बसन्त-मालती का नाम क्या याद हो गया है कि कान में दर्द हो तो भी आप उसी को चटाने के चक्कर में रहेंगे ।
— अरे भाई, न सही बसन्त-मालती तो उसकी चचेरी बहन मधु-मालती सही ।
— मतलब यह कि होगी कोई न कोई मालती ही, है न ? दवाई मात्र के लिए आपको एकमात्र नाम मालती ही याद है ।
इस बार पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल जोरों पर हँस पड़े । तभी दुर्गा को लगा कि बातों में देर हो रही है अतः वह उठने को उद्यत हुई तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने दुर्गा का हाथ

पकड़ कर बैठाल लिया। इस बैठालने में अनजाने ही हाथ जोरों से पकड़ा गया था अतः हाथ में झटका लगा और दो-तीन चूड़ियाँ चटख उठीं। चूड़ियाँ टूटकर बिस्तर पर फैल गयी। अपनी कलाई सहलाते हुए मधुर भाव से झिड़कती हुए दुर्गा बोली,

— क्या करते हैं ? चूड़ियाँ भी चटख गयीं। इतने जोरों से हाथ पकड़ा जाता है कहीं ?

कलाई मे लाख दर्द रहा हो पर आँखों मे बहुत दूरागत खिलखिलाहट अँजी लग रही थी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने उस खिलखिलाहट की सुगन्ध को गहते हुए कहा,

— लाओ, मैं कलाई मल देता हूँ।

— हटिये, बुड्ढे होने आये पर अभी लड़कपन नहीं गया।

— मेरा लड़कपन नही गया तो कौन तुम्हारा बालापन ही अस्त हो गया है ?

सच ही दोनों की आँखें व्यक्तित्व ग्रहण कर संभोग करती लग रही थीं। वह बोली,

— ऐसी बातें करते शरम तो आती नहीं आपको। कल जब बहुएँ-दामाद आ जाएँगे तो वे सब आपको क्या कहेंगे ?

— कहेंगे क्या ? देखना हमें-तुम्हे देखकर न जलें, तो मेरा नाम बदल देना।

और दुर्गा को लगा कि पति के रसियापन का कोई अन्त नहीं है। लेकिन इनका क्या, अभी थोड़ी ही देर में बिना सोचे-समझे कि अभी चूल्हा जला कि नही और चाय माँग बैठेंगे। इस बीच वह चूड़ी के टुकड़े बीन चुकी थी। दुर्गा को उठते देख पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— मैं कहता हूँ कि क्षिप्रा-स्नान के लिए जिजी के साथ तुम क्यों नही जातीं ?

— और पीछे से चूल्हा-चौका कौन आप करेंगे ?

— मैं यह सब नहीं जानता। कुन्ती का इस साल मेट्रिक है और कान्ता का मिडिल है। अगर ये दोनो इसी तरह नहान-वहान के चक्कर में रहीं तो फिर हो गया समझो।

— आप भी बड़े अजीब आदमी हैं।

— क्यो ? इसमें अजीब की क्या बात है ?

— और तो कोई हत्थे चढ़ता नहीं आपके तो सवेरे-सवेरे मुझी पर चढ़ दौड़े। जब देखो मुझी को दुनिया भर की सुनाएँगे।

— अगर तुम्हें नहीं सुनाऊँगा तो क्या किसी पड़ोसी की पत्नी को जाकर सुनाऊँ ?

— आप ही सासू माँ से क्यों नही कहते ? उनके सामने तो भीगी बिल्ली बन जाते हैं।...बुरी बनूँ तो मैं, है न ? आप चाहते हैं कि मैं उनसे कहूँ कि वे कुन्ती-कान्ता को साथ न ले जाया करें...आपके-हमारे कान के वो कीड़े झड़ेंगे कि याद करेंगे, समझे ?

— अच्छा तो है, कान साफ हो जाएँगे।

— बड़े आये कान साफ करवानेवाले...पता नहीं, कभी-कभी आपको यह घर-परिवार में महाभारत मचवाने की क्या सूझती है।

— लगो न अब वे सिर-पैर की बातें करने। देवी जी ! अगर मैं ऐसा करता होता न, तो श्रीमती दुर्गा देवी शुक्ल इस घर में दिखलायी भी नहीं देती।

— खाँत [इच्छा] रह गयी हो तो यह भी पूरी कर लीजिए। किसने आपका हाथ पकड़ा है ?

और दुर्गा जो कि जाने के बिन्दु पर ठहरी हुई बतिया रही थी, जाने को उद्यत हुई। उसकी साडी के पल्लू को जब पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने थामा, तो वह बोली,

— अच्छा अब छोड़िए। सबेरे-सबेरे कोई काम-धाम नहीं तो यही पुराण ले बैठे। दुर्गा ने अपना पल्लू छुड़ाने के लिए अपना हाथ पति के हाथ तक पहुँचाया तो पति ने पल्लू के स्थान पर हाथ पकड़ लिया। एक क्षण को वह ठिठकी और उसने हाथ छुड़ा लिया। वस्तुतः उन्होंने दुर्गा का हाथ छोड़ा नहीं बल्कि दुर्गा ने लगभग अपना हाथ छुड़ाया। इस छुड़ाने में वितृष्णा की पूरी वाक्यात्मकता थी। जिस समय दुर्गा कमरे से निकल कर आँखों से विलीन हुई तो उन्हे लगा कि क्या दुर्गा ने सच नहीं कहा कि जिन जिजी को उनके पति और पुत्र कुछ नहीं कह सके भला उन्हें कोई बहू कुछ कहे तो वह हाय-हत्या नहीं मचा देंगी ?....बिस्तरे पर वह लेटे हुए यही सब सोचते रहे परन्तु कहीं यह भी भाव था कि उनकी अपनी खिसियाहट भी कुछ दूर हो तथा इस बीच दुर्गा की अन्यमनस्कता भी दूर हो जाएगी। बिस्तरे पर अभी जहाँ दुर्गा बैठी थी चादर में सलवटें भरी हुई थीं। सलवटें अपने टूटेपन में भी एक वृत्त का आभास दे रही थीं। एक पूरा जीवन उनकी आंखो के आगे तिर उठा। इस तिरने के साथ जैसे-जैसे वह गहरे पैठते वैसे-वैसे याद आ रहा था कि दुर्गा जैसी सहनशीला पृथिवी पर वह कितने निश्चिन्त चल सके। उसने अपने को सम्पूर्ण सौंपकर पूरा जीवन कितना निरापद बनाया न ?...और गहरी निश्वास निकलने लगी। इस बीच स्टोव जलने की आवाज सुनायी देने लगी। स्टोव की यह आवाज चाय बनने की सूचना थी। सबेरे का आलोक, धूप के प्रकाश में कैसे संकोच के साथ घरों की खपरैलों पर पक्षियो सा आकर बैठने लगा था। वह मजन करने के लिए उठे।

रास्रोघर में रोज को ही भाँति पीढा डालकर वह चाय पीने लगे। होटलों में तो चीनी के कप-बशी [प्लेट] चल गये थे पर घरों में अभी भी पीतल के कप-बशी ही चलते थे। चीनी के बर्तनों के साथ न केवल वर्जना का ही भाव था बल्कि उनके साथ म्लेच्छता की भावना भी जुडी हुई थी। चूँकि पीतल के कप-बशी गरम बहुत हो जाते थे इसलिए दुर्गा बराबर तकादा करती थी कि सूरत-बम्बई आते-जाते किसी के हाथ दो पुट [दो पर्त के] वाले कप-बशी क्यों नहीं मँगवा लेते जो गरम नहीं होते। वर्ना तो बशी [प्लेट] में चाय ठन्ढी करो तब भी हाथ तो जलने ही लगता है इसलिए हाथ पर गमना रखो और उस गमने पर बशी—अजीब तमाशा लगता है। चाय फूँक रहे हैं और चाय है कि ठण्डी होने पर ही नहीं आ रही है। और अगर चाय ठण्डी भी हो गयी तो बशी पर ओठ लगाये नहीं कि ओठ ऐसे जल उठेंगे कि जैसे किसी ने डाम [दागना] लगा दिया हो।

पिछवाड़े की खिड़की से जाड़ों में धूप आती है तो फर्श कैसा मीठा गुनगुना लगता है और गर्मियों में जब धूप न आकर ठण्डी हवा फिर-फिर आ रही होती है तब कितना सुखद लगता है। रोज इसी समय चाय पीते हुए पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल दुर्गा से न जाने कितनी गार्हस्थिक योजनाओं पर बातें करते होते हैं। पहले जब घर-गृहस्थी की चिन्ता बाबा-माँ करते थे तब दोनों के नेत्र न जाने कौन सी भाषा कहते-सुनते थे पर बाबा के बाद से जब घर-गृहस्थी के ओठ इन लोगों को होना पड़ा है तब से नेत्रों ने बोलना बहुत कम कर दिया है। प्रत्येक दिन इसी समय तय होता कि आज क्या-क्या करना-धरना है, कहाँ-कहाँ जाना है, किसके यहाँ क्या देना-लेना है। पर आज स्टोव या कभी-कभी किसी वर्तन या सँड़सी-चिमटे की आवाज के अलावा बड़ी ही निर्जनी शान्ति लग रही थी। परन्तु इस शाति के बावजूद भी, कोई भी तीसरा उन दोनों को देखता तो कह सकता था कि वे अपने अन्तर में एक-दूसरे से प्रश्न और उत्तर कह-सुन रहे हैं। परन्तु ऐसा लग रहा था कि जैसे दोनों के बीच कोई बाल आ गया है। अन्य दिनों तो लाख काम करते हुए भी दुर्गा पति से देखना-बोलना भी करती जाती है परन्तु आज जैसे देखना-बोलना बचाने के ख्याल से रोज के कामों के अलावा भी वह ऐसा काम खोजती लग रही थी जिसे घर-गृहस्थी की भाषा में 'धराऊ-काम' कहते हैं। सवेरे-सवेरे अचार की वनियों-मर्तबानों को हिलाते किसी स्त्री को सुना है? तीज-त्यौहारों पर बनाये जानेवाले चावलों को इस समय निकाल कर फटकारने कौन बैठता है? गनीमत यही थी कि दुर्गा क्रोशिया लेकर कोई झालर नहीं बिनने लगी थी।... इस प्रातःकालीन चाय के समय तक चूंकि बच्चे या तो सोते रहते हैं या फिर नीचे पढ़ते रहते हैं इसलिए पूरे दिन सिर्फ यही समय तो इन पति-पत्नी को ऐसा मिलता है जिस समय कुछ परामर्श हो सकता है। रात में इतनी देर हो जाती है तथा इतनी थकान रहती है कि बिस्तरे पर पहुँचे नहीं कि पलकें झपकने लगती हैं। इसलिए प्रातःकाल का ही समय ऐसा होता है जिसे शान्त तथा एकान्त भी कहा जा सकता है। पर जब देखा कि दुर्गा कुछ भी बोलना नहीं चाह रही है तो वह खिसिया गये। ठीक है, उनसे कोई भूल हुई है कि सबेरे-सबेरे ऐसी बात नहीं करनी चाहिए थी तो कम से कम दुर्गा को यह मनोमालिन्य दूर करने में क्या पहल नहीं करनी चाहिए? और फिर ऐसा उन्होंने क्या कह दिया जो दुर्गा इतना मान किये है? कौन से ऐसे लाल टूट गये? ठीक है, तो फिर!!

अभी यह प्रतिऐंठन पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल पूरी तरह अनुभव करें और सम्भव हो तो उसे भाषाबद्ध कर कह भी डालें कि तभी उन्हें 'कल' की आवाज सुनायी दी तथा साथ ही पुकारना भी,

— भैया साब? भैया साब!

इस तरह 'भैया साब' तो उन्हें या घर में किसी को भी कोई परिचित नहीं पुकारता। फिर आवाज भी अपरिचित की ही लगती है। वह प्रत्युत्तर में 'कौन है' कहने ही जा रहे थे कि नीचे से ही कुन्ती-कान्ता की एक साथ आवाजें भी सुनायी दीं,

— बाबा ! माँ !!
साथ ही तेज-तेज सीढ़ियाँ चढ़ना भी सुनायी दिया। एकदम इतना सारा अप्रत्याशित एवं लड़कियों का हड़बड़ाकर बोलना सुनकर दुर्गा भी चौंकी और पति को शायद पहली बार देखते हुए बोली,
— क्या बात है, देखिए तो।
और हाथ की बशी नीचे रखते हुए पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल तेजी से उठे, साथ ही दुर्गा भी चिन्तित भाव से उठ खड़ी हुई। तब तक कुन्ती-कान्ता ऊपर आ चुकी थीं। बदहवास सी हालत में दोनों को हाँफते हुए देखकर पति-पत्नी दोनों ही ने एक साथ पूछा,
— क्या बात है ? तुम दोनों परेशान क्यों हो ?
— बाबा !...वो... दादी माँ हैं न...
— हाँ, तो क्या हुआ दादी माँ को ?...कहाँ हैं वो ?
— गिर पड़ीं, सिर फट गया....नीचे ताँगे में हैं।
— क्या ??
और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के पैरों से ही नहीं बल्कि सभी के धड़धड़ाते नीचे उतरने से बेचारी सीढ़ियाँ तक खोल उठीं। घर के लोगों को देखा तो वह अपरिचित ताँगेवाला घबराते हुए बोला,
— माँ जी को काफी चोट आ गयी है भैया साब !
ताँगेवाले की बात सुनने की फुर्सत किसे थी ? मगरमुँहे में वैसे तो ताँगे नहीं ही आते थे—परन्तु स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए ताँगेवाला गणपति-मन्दिर तक ताँगा ले ही आया था। गणपति-मन्दिर के बाद गली मुश्किल से एक आदमी के आने-जाने भर की रहती है। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ताँगे में पीछे वाली सीट पर लगे तकिये से सिर टिकाये थीं। अंगोछी से सिर कसकर बँधा था। खून बहुत बहा है यह उनके मुँह को देखकर लग रहा था। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को और दुर्गा को माँ की चोट की गम्भीरता का पता सुनकर नहीं चला था। वे समझे थे कि साधारण सी चोट होगी पर जब माँ की हालत देखी तो सन्नाटे में आ गये। एक क्षण को पति ने जब पत्नी की ओर देखा तो दुर्गा को यह नहीं लगा कि पति ने केवल देखा है बल्कि यह देखना वैसा ही, बल्कि उसी वाक्य का अगला भाग है जो कि सबेरे कहा गया था। वाक्य का यह अगला भाग मात्र इतना ही था कि—देख लिया न; मैं क्या कह रहा था ?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल तत्काल गये और तैयार होकर लौटे। इस बीच दुर्गा सास के पास ही बनी रही। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने लौटकर ताँगेवाले से कहा,
— चलो भाई, अस्पताल ले चलो।
और पत्नी से बोले,
— तुम भी सब सहेज-समेट कर आ जाना। मैं डाक्टर जोशी के पास पहले जाता हूँ।....और हाँ, हो सके तो किसी को भेजकर मासाजी को खबर करवा देना।
दुर्गा ठगी सी ताँगे को जाते देखती रही। गली के पत्थरों पर रपटते पैरों को सम्हालते

हुए घोड़ा कैसा चौंक-चौंक पड़ रहा था। न जाने क्यों सासू माँ का इस प्रकार अवश बने ताँगे में जाना दुर्गा को एक अपशकुन जैसा ही लगा।

प्रायः अन्त, दुर्घटना जैसा लगता है, जबकि समापन, कैसा ही क्यों न हो, एक उत्सव का बोध देता है। अन्त के बारे में ऐसा लगता है कि आप कितने अवश, छोटे तथा एकाकी हैं जबकि समापन मे लगता है कि आप समृद्ध हुए हैं, आप अपने 'स्व' की सीमित परिधि से निकलकर विशाल हुए हैं। आप केवल अकेले सुर थे परन्तु समापन की वृन्दता में पहुँच कर विशाल स्वर-लिपि में बजते हुए अनहद नाद हो गये हैं। सृष्टि को, प्रकृति को अन्त नहीं, बल्कि समापन ही प्रिय है, तभी तो प्रत्येक क्षण प्रकृति में उत्सवभाव लगता है, भले ही हिमांधियों की रौद्रता हो या लू की प्रचंडता। पतझर आता है तो सारे वृक्षों के पत्र एक साथ झरने लगते हैं। एक भी वृक्ष इस पतझर पर आपत्ति नहीं उठाता कि नहीं, वह अपने पत्र नहीं देगा। समष्टि के आह्वान में व्यक्ति बेसुरा नहीं बजना चाहता। उत्सव-बोध का अर्थ ही है समरसता। सृष्टि में, प्रकृति मे समष्टि की नियोजना है न कि व्यक्ति की आपत्तियाँ। व्यक्ति की पूर्णता ही इसमें है कि वह समष्टि में सामरस्य भाव से तदाकृत हो जाए। निरन्तर समर्पित होते जाना ही अक्षुण्णता है। समर्पण में खो जाने का नहीं बल्कि अपने होने का बोध बना रहता है। पतझर में विभिन्न पत्ते न जाने किन-किन वृक्षों, पथों से आकर मिलते हैं और सेरियों, गलियों, सड़कों, वनपथों पर दौड़ते दिखायी देते हैं। क्या ऐसा नहीं लगता कि जैसे किसी उत्सव में सम्मिलित होने के लिए ये सब आमन्त्रित हैं, और ये कैसे समुदाय-भाव से एक-दूसरे से बतियाते हुए, खिलखिलाते हुए, आपस में गिरते-पड़ते उस विराट की पुकार पर दौड़ते चले जा रहे हैं? इस आमंत्रण को गाँवों-कस्बों, खेतों-खलिहानों, जंगलों-अरण्यों सभी कहीं सामान्य भाव से देखा जा सकता है। सृष्टि में न कहीं पंक्ति-पावनता है और न किसी के प्रति पक्षपात है और उपेक्षा। एक अनाहूत, अवधूत भाव से प्रकृति के सारे कर्म यहाँ हैं। 'स्वाहा' की वाणी है जो कहीं फूल है तो कहीं पात है; जो कहीं पतझर है तो कहीं बाढ़ में ढहती कगार है, जो कहीं बिजली बनकर टूटी पड़ रही है तो कहीं खेतों में लहलहा रही है। आक्षण सृष्टि में यह यज्ञ सम्पन्न नहीं हो रहा है बल्कि सृष्टि का अर्थ ही है—यज्ञ !! और इस यज्ञ का भी एकमात्र प्रयोजन है निरन्तर एवं उत्तरोत्तर अपने उस 'स्व' की प्राप्ति, जो विराट है। 'स्व' विराट को और विराट 'स्व' को प्रतिरूपायित कर रहा है। उस एक अद्वैत को जान सकने के लिए ही द्वैत निरन्तर होते हुए समर्पित हो रहा है। विभिन्न द्वैतताएँ ही अद्वैत हैं।

जाता है तभी तो समग्र द्वैतताओं को व्यंजित करनेवाली कोई सत्ता है तो वह अद्वैत ही है। इसी तरह समग्र को केवल एक ही व्यक्त कर सकता है, शून्य नही। जब भी शून्य को अभिव्यक्त होना होता है तब वह एक से ही आरम्भ और अन्त करता है।

सामने चिता जल रही थी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल माँ के लिए परितापित होने के स्थान पर लगभग तटस्थ लग रहे थे। यह नहीं कि माँ से उन्हें आसक्ति नहीं रही। बाबा की मृत्यु के बाद आज माँ का चला जाना बहुत-कुछ व्यंजित कर रहा था। पिता के वृक्ष की छाया का नाम माँ है। वृक्ष ऊपर जाना चाहता है जबकि छाया नीचे उतरना चाहती है। माता-पिता की यह विपरीतता ही परिवार को सुख-समृद्धि से युक्त बनाती है। माँ के जाने के बाद छायाहीनता लगने के साथ यह भी लग रहा था कि सृष्टि जहाँ बड़े मनोयोग से आपका पोषण करती है वहाँ सन्तुलन बनाये रखने की दृष्टि से उतनी ही कर्मठता से संहार भी करती चलती है। आप अपने को जो भी समझें, सृष्टि या प्रकृति के लिए उसका कोई अर्थ नही है, बल्कि उसकी दृष्टि में, नियोजना में आपका क्या स्थान है, यही सर्वोपरि है। हम साधारण हों या विशिष्ट-तदनुरूप में एक तिनके या एक घास की ही भाँति अनाम रूप से नोंचे जाकर उखाड़ दिये जाते हैं। साधारणतया तो कभी बाद में यह भी प्रतीति नहीं बच रहती कि यहाँ कभी कोई घास भी थी। कभी बाबा भी थे। जब वह थे तो क्या लगता था कि किसी दिन बाबा नहीं रहेंगे? परन्तु एक दिन आया कि इतने दिनों तक होने पर भी उस दिन के बाद से कहीं नही हैं। माँ कल तक 'है' थी। वह कितनी तेजी से सबके देखते-देखते 'हैं' से 'थीं' होती जा रही हैं। क्या हम इसमें कुछ भी परिवर्तन, एक क्षण का भी, कर सकते हैं? जब नहीं, तो फिर अपने को लेकर हम क्यो परेशान रहते हैं? जिस देह को देखकर, छूकर, उसका स्तन पान कर मन मे न जाने कितना कुछ घिरता था—वह आधारभूत देह ही अब नही होगी। आज माँ नही रही तो कल हम भी तो नहीं रहेंगे। यह विचार हमें लाख असुविधा दे पर है तो सत्य ही। शायद पाँचों तत्व फिर कभी इस रूप में, इस सम्बन्ध और नाम के साथ हमारे सामने नहीं होंगे—केवल इसी बात का ही तो हमें परिताप होता है न? नही तो नष्ट क्या हुआ? क्या कुछ नष्ट भी होता है? दर्पण में देखी गयी प्रतिच्छवि यथार्थ होने पर भी भ्रम ही होती है इसलिए वह दार्पणिक यथार्थ भी मिथ्या है और उसके विनष्ट होने की प्रतीति भी मिथ्या है। पाँचों तत्व पहले भी यथावत थे और बाद मे भी यथावत ही हैं। केवल स्वरूप और नाम नष्ट हुआ जो कि तत्व थे ही नहीं, तब भला पाँचों तत्व इसमें क्या करें?

कसी बड़ी नदी को देखिए। नर्मदा जब अरब-सागर में विलयित होती है तो क्या उसका अन्त हो जाता है? नहीं, पचासों मील तक समुद्र में अपने स्वत्व को घोषित करती होती है कि वह नर्मदा भी है और समुद्र भी। परन्तु अगत्या सागर के विशाल धैर्य, स्याम और अगाध अद्वैत व्यक्तित्व में नर्मदा का द्वैत-व्यक्तित्व विलयित हो जाता है और पूर्णरूप से समुद्र बन जाती है। जिस क्षण या जिस विन्दु पर नर्मदा अपना नर्मदात्व अन्तिम रूप मे समाप्त करती है, उस क्षण, उस विन्दु पर रंग, गन्ध और स्वर का समापन-उत्सव सम्पन्न हो रहा होता होगा। हम उसे न देख पाएँ, न जान पाएँ तो यह हमारी सीमा है, अज्ञान है; परन्तु वह निश्चय ही है। गंगा के बारे में यह न केवल धार्मिक प्रवाद ही है कि बल्कि वैज्ञानिक सत्य एवं तथ्य है कि वह बंग-सागर में अन्त:सलिला बनकर कन्याकुमारी तक अपनी द्वैतता अक्षुण्ण बनाये रहती है। जहाँ तीन समुद्र मिलते हैं वहीं वह अन्तिम रूप से समर्पित होकर पूर्ण बनती है। प्राकृतिक प्रक्रिया का यह आधारभूत सिद्धान्त क्या मनुष्य पर लागू नहीं होता? मनुष्य के सन्दर्भ मे अन्त, मृत्यु कही जाती है, जो कि सामान्यतः घटित होता है। मृत्यु यदि अनपेक्षित है तो ऐसा लग सकता है कि आपका अन्त हुआ है परन्तु यदि उसका वरण वैसे किया गया है जैसे कि प्रत्येक दिन का वरण हम सहज भाव से करते हैं तो मृत्य उत्सव बन सकती है। वैसे भी केवल नाम का झर जाना ही मृत्यु है—साधारणतः ही परन्तु राम-कृष्ण, बुद्ध-ईसा या गाँधी के साथ भी मृत्यु घटित हुई है। ये व्यक्त रूप में व्यक्ति नहीं हैं परन्तु विशाल अर्थ में ये नाम रूप मे तो हमसे-आपसे अधिक विद्यमान लगते हैं, तब ये मृत तो नहीं हुए। गंगा की भाँति ये समय-सागर में अन्त:सलिला बनकर अभी भी जीवन्त हैं। जिसका जितना निरपेक्ष व्यक्तित्व होता है उसका उतना ही दीर्घकालिक गंगा-व्यक्तित्व होता है। जो परिवार की सीमा तक सीमित है उसका अन्त भी पारिवारिक होता है। इस क्रम में जिसका जितना बृहत्तर व्यक्तित्व होता है वह उतना ही देश काल की अगाधता, स्यामता, अगमता के बीच भी द्वैत से अद्वैत होता जाता है। अद्वैत होना ही इस सृष्टि, प्रकृति सबका लक्ष्य है। घर-परिवार, जाति-देश, धर्म-सम्प्रदाय, इतिहास-सभ्यताएँ—ये सब सीमाएँ हैं। आनुपातिक रूप से ये सीमाएँ केवल छोटी-बड़ी सीमाएँ हो सकती हैं, और हैं भी परन्तु जो तात्विक व्यक्तित्व है, सृजनात्मक चेतना है वह इन सबका उल्लंघन करती है। उत्तरोत्तर अपने स्वत्व पर से सब कुछ उतार देनेवाला संन्यासी ही 'अद्वैत है। अपने नाम या सत्ता या स्वत्व का उल्लंघन हो इसके लिए सब कुछ के प्रति असंग, अनासक्त होना ही पड़ता है। मानवीय व्यवहार-जगत मे आचरण करते समय ऐसा असंग व्यक्तित्व केवल करुणामय ही हो सकता है क्योंकि आचरित करुणा भी अद्वैत है, परन्तु मानवेतर सृष्टि के साथ आचरण करते समय उसका व्यक्तित्व अवधूत होता है। जिस विन्दु पर करुणामय और अवधूत व्यक्तित्व एकाकार होते हैं वही पूर्णता है। मानवीय समग्रता ही ऐसे व्यक्ति का अकेलापन होता है। बिना इस प्रकार अकेले हुए कोई भी सम्पूर्णता का या समग्रता का साक्षात नहीं कर सकता। वह शेष का प्रतिनिधि हो

जाता है तभी तो समग्र द्वैतताओं को व्यंजित करनेवाली कोई सत्ता है तो वह अद्वैत ही है। इसी तरह समग्र को केवल एक ही व्यक्त कर सकता है, शून्य नहीं। जब भी शून्य को अभिव्यक्त होना होता है तब वह एक से ही आरम्भ और अन्त करता है।

सामने चिता जल रही थी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल माँ के लिए परितापित होने के स्थान पर लगभग तटस्थ लग रहे थे। यह नहीं कि माँ से उन्हें आसक्ति नहीं रही। बाबा की मृत्यु के बाद आज माँ का चला जाना बहुत-कुछ व्यंजित कर रहा था। पिता के वृक्ष की छाया का नाम माँ है। वृक्ष ऊपर जाना चाहता है जबकि छाया नीचे उतरना चाहती है। माता-पिता की यह विपरीतता ही परिवार को सुख-समृद्धि से युक्त बनाती है। माँ के जाने के बाद छायाहीनता लगने के साथ यह भी लग रहा था कि सृष्टि जहाँ बड़े मनोयोग से आपका पोषण करती है वहाँ सन्तुलन बनाये रखने की दृष्टि से उतनी ही कर्मठता से संहार भी करती चलती है। आप अपने को जो भी समझें, सृष्टि या प्रकृति के लिए उसका कोई अर्थ नहीं है, बल्कि उसकी दृष्टि में, नियोजना में आपका क्या स्थान है, यही सर्वोपरि है। हम साधारण हों या विशिष्ट-तदनुरूप में एक तिनके या एक घास की ही भाँति अनाम रूप से नोचे जाकर उखाड़ दिये जाते हैं। साधारणतया तो कभी बाद में यह भी प्रतीति नहीं बच रहती कि यहाँ कभी कोई घास भी थी। कभी बाबा भी थे। जब वह थे तो क्या लगता था कि किसी दिन बाबा नहीं रहेंगे? परन्तु एक दिन आया कि इतने दिनों तक होने पर भी उस दिन के बाद से कहीं नहीं हैं। माँ कल तक 'है' थीं। वह कितनी तेजी से सबके देखते-देखते 'हैं' से 'थीं' होती जा रही हैं। क्या हम इसमें कुछ भी परिवर्तन, एक क्षण का भी, कर सकते हैं? जब नहीं, तो फिर अपने को लेकर हम क्यों परेशान रहते हैं? जिस देह को देखकर, छूकर, उसका स्तन पान कर मन में न जाने कितना कुछ घिरता था—यह आधारभूत देह ही अब नहीं होगी। आज माँ नहीं रहीं तो कल हम भी तो नहीं रहेंगे। यह विचार हमें लाख असुविधा दे पर है तो सत्य ही। शायद पाँचों तत्व फिर कभी इस रूप में, इस सम्बन्ध और नाम के साथ हमारे सामने नहीं होंगे—केवल इसी बात का ही तो हमें परिताप होता है न? नहीं तो नष्ट क्या हुआ? क्या कुछ नष्ट भी होता है? दर्पण में देखी गयी प्रतिच्छवि यथार्थ होने पर भी भ्रम ही होती है इसलिए वह दार्पणिक यथार्थ भी मिथ्या है और उसके विनष्ट होने की प्रतीति भी मिथ्या है। पाँचों तत्व पहले भी यथावत थे और बाद में भी यथावत ही हैं। केवल स्वरूप और नाम नष्ट हुआ जो कि तत्व थे ही नहीं, तब भला पाँचों तत्व इसमें क्या करें?

किसी अतात्विकता को कोई तात्विकता क्या अनन्त काल तक ढोती रहेगी ? और क्यों? एक संयोग था कि पाँचो तत्व किसी प्रक्रिया में एक स्वरूप पा गये थे। वह संयोग, वह प्रयोजन अपनी ही प्रक्रिया मे बिखर भी उठा। आज के पूर्व क्या हम थे ? आज के बाद क्या हम होगे ? जब नही, तो फिर इस आज को हम अनन्त कैसे बना सकते है! जब यह नही सम्भव है तो फिर इसके लिए परिताप ? जो बिखर उठा है वह क्या परिताप करने के लिए स्वय वहाँ बैठा हुआ है ? जो बिखरा जब यहाँ नही है तो फिर हम कौन हैं ? होना जितना अनिवार्य है उतना ही न होना भी अनिवार्य है।

लेकिन इस ज्ञान-ध्यान के बाद भी माँ के अभाव की पूर्ति नही हो सकती। माँ ने अपने अन्तिम दिनों में जो कष्ट उठाया उस तक को वह कह नहीं पायी क्योंकि वह होश मे आयी ही नही। डाक्टर जोशी ने तो देखते ही बता दिया था कि दिमाग पर साघातिक चोट लगी है। इसका उपचार बम्बई में हो तो हो, उज्जैन-इन्दौर में तो नहीं ही है और इस गम्भीर हालत में बम्बई तक की यात्रा निश्चय ही घातक हो सकती है।—बारम्बार पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लगता रहा कि उस दिन सवेरे जो अनायास ही वह दुर्गा से कह रहे थे यदि वह एक दिन पूर्व भी मन में आती तो वह निश्चित ही लड़कियों के बजाय दुर्गा को माँ के साथ भेजते। परन्तु जिस स्थिति में यह दुर्घटना घटी उसमें दुर्गा ही नही, कोई भी क्या कर सकता था ?

रोज ही तो रामघाट जाती हैं। उसकी एक-एक सीढ़ी पहचानी हुई है। वह यह तक जानती हैं कि कौन सी सीढ़ी सादे पत्थर की है और कौन सी सीढ़ी किसी प्राचीन पत्थर की है। वह आँख मूँद कर भी रामघाट की सीढ़ियाँ इस उमर में भी चढ़-उतर सकती हैं। पचास-साठ वर्षों मे यह घाट ही क्या बल्कि पूरी उज्जैन जैसे देह हो गयी है। रामघाट तो ऐसा खुला, सुहाना है कि देखते ही बनता है। कपड़े आदि रखने के लिए छोटे-छोटे शिवालों के चारों ओर चबूतरे हैं। ब्राह्ममुहूर्त में भी रामघाट के खुलेपन में कोई असुविधा नहीं होती, सब दिखता है, और तो और पण्डे-पुरोहितो का चन्दन घीसना तक दिखलायी देता है। घाट की सीढ़ियों से क्षिप्रा का मन्द-मन्द जल कैसे होले-होले बातें करता लगता है। कही किसी प्रकार का कोई परायापन नही, बल्कि परम आत्मीयता लगती है। अब इसे होनी ही कहा जाएगा, और क्या !! घाटों पर साँड़ कहाँ नहीं होते ? महाकाल की नगरी में नन्दी नहीं होंगे तो क्या बम्बई में होंगे ? बड़े क्या, छोटे तक साँड़ो को छूकर आते-जाते ही रहते हैं। साँड़ो को भी इसकी कोई चिन्ता नही होती। कभी कुछ ज्यादा हुआ तो थोड़ा फुँफकार लेते हैं लेकिन तब भी साँड़ अविश्वसनीय ही होते हैं। वे जिस वर्चस्वी, अनासक्त भाव से खड़े या टहलते रहते हैं उसमे अपने उपास्य शिव की अक्खड़ता और अवधूतता दोनों ही झलकती हैं। किसी अन्य की स्थिति या उपस्थिति किसी का भी अर्थ उनके सामने

नहीं होता तभी तो वे निर्द्वन्द्व बने रहते हैं, बल्कि गर्वीले भाव से निर्द्वन्द्व।
बड़ी देर से एक सांड़ सीढ़ियों पर खड़ा हुआ था। कुन्ती और कान्ता आगे-आगे चल रही थीं। इन दोनों के पास से निकलने पर सांड़ ने अपनी आँखें थोड़ी तिरछी कीं जिनमें भाव था कि उसे इतनी सवेरे किसी का इतने पास से गुजरना प्रिय नहीं है अतः वह थोड़ा फुनफुनाया भी। सांड़ को फुनफुनाते देख पीछे-पीछे आती श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल ने सांड़ से थोड़ा बचकर निकलना चाहा। पता नहीं रात में किसने केला खाकर छिलका सीढ़ियों पर ही फेंक दिया था। छिलके पर पैर पड़ते ही श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल हठात् फिसलीं। उनके फिसलने और फिसलने की आवाज से सांड़ पुनः चौंका। अभी वह लड़कियों के पास से गुजरने के प्रति रुष्ट था ही और जब दुबारा उसे चौंकना पड़ा तो वह क्रुद्ध हो उठा। उसने श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल को लपक कर एकदम सींगो पर उठा लिया। आगे जाती हुई कुन्ती-कान्ता ने सांड़ को लपक कर दादीमाँ को सीगों पर उठाते देखा तो अवाक रह गयी। अभी वे दोनों कुछ सोचें-समझें और चीखें-चिल्लाएँ इसके पहले ही सांड़ ने दादीमाँ को उछाल दिया। इस उछाल दिये जाने के कारण श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल का सिर सीढ़ियों के पत्थरों पर जोरों से टकराया और खून बहने लगा। आस-पास कोई था भी नहीं, और जो थे, विशेष कर महिलाएँ, वे इस मुँह अँधेरे में घाट की सीढ़ियों पर नीचे की ओर थी, जो दूरी के कारण सुन तो सकती थीं पर देख नहीं सकती थी। साथ ही यह इतने क्षणान्त में हुआ था कि लड़कियों के चिल्लाने और लोगों के दौड़कर आने के पूर्व ही जेता भाव से सांड़ हुँकारता हुआ इतनी तेजी से घाट पर दौड़ पड़ा कि कपड़े बदलती स्त्रियाँ, चन्दन घीसते पण्डे और संकल्प कराते पुरोहित सबमें खलबली मच गयी। भगदड़ मच गयी। एक शोर सा उठने लगा—क्या हुआ ? क्या हुआ ?? किसी की समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि सांड़ को किसने छेड़ा ? सामान्यतः पत्थर के नन्दी और सचमुच के सांड़ में लोग कोई भेद करते ही नहीं, तब भला इतनी सवेरे-सवेरे सांड़ कैसे भड़क उठा ? जब दो लड़कियों को रोते-कलपते और एक वृद्धा को खून से लथपथ सीढ़ियों पर पड़े देखा तो कुछ समझ में आया और बहुत-कुछ नहीं भी। कुछ ने पहचाना और बहुतों ने नहीं भी। तब भी जल्दी-जल्दी एक तांगे पर वृद्धा को अपनी पोतियों के साथ लाद कर लोग-बाग फिर 'गंगा-स्नान' में लग गये।

लेकिन दुर्गा क्या कहे ? निश्चय ही श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल उसकी माँ नहीं थीं। भले ही इधर दो-चार वर्षों में वह बहुत कठोर सास न रह गयी हों परन्तु सास वह मृत्युपर्यन्त रही। लेकिन जिन दिनों वह कठोर सास थीं तब भी दुर्गा ने बराबर चाहा कि श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल में उसके लिए भी 'माँ' अंकुरित हो सके। इस सारी सद्चेष्टा के बावजूद भी श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल तो उसकी माँ कभी नहीं बन सकीं परन्तु दुर्गा ने निश्चय ही उनके साथ बेटी, भले ही उपेक्षित, का सा ही व्यवहार किया। दुर्गा को लगा अपने व्यक्तित्व से बाहर निकल कर भिन्न आचरण करना सर्वथा असम्भव है। अपने पैरों से अपना ही चलना हो पाता है। कभी-कभी ऐसा भी

लगा है कि सासूमाँ उसके प्रति कोमल भी हुई हैं परन्तु एक सीमा के बाद एक बड़ी बात आड़े आ जाती है कि हम अपने पूर्व आचरण से भिन्न कैसे व्यवहार करें ? क्योंकि ऐसा भिन्न आचरण हमें पूर्व आचरण के लिए गलत ही तो ठहराएगा, और तब क्या हम ऐसी विषमता का सामना कर सकेंगे ? मनुष्य की यह कौन सी आदिम मनोवृत्ति है कि वह समस्त विवेक, ज्ञान-ध्यान के बाद भी अपने को बृहत्तर बनाने से डरता है। जबकि आकण्ठ आत्मकेन्द्रित होना ही भय की पराकाष्ठा है। जीवन में सबसे निरापद है बृहत्तर होना। यह जानते हुए भी हम ऐसा होना क्यों नहीं चाहते ? निरन्तर आत्मकेन्द्रित होकर भय की मनःस्थिति में रहने में कौन सा सुख है ? आप जब दूसरे के सामने बहुत-कुछ उसके जैसे हो गये हैं और सामनेवाला आपसे आत्मीयता अनुभव करने लगा है, तब भय कहाँ रहा ? क्या यह स्थिति अधिक आनन्द की नहीं है ? तब ! ! सासूमाँ उदार थीं परन्तु सामान्य स्त्रियों वाली सीमित उदारता के साथ ही। अपनी ओर से सारी आत्मीय ऊष्मा के बाद जब दुर्गा इस नतीजे पर आ गयी कि सासू माँ उससे माँ के रूप में व्यवहार नहीं करेंगी तो वह भी उत्तरोत्तर निरपेक्ष होती गयी। जब अपेक्षा ही नहीं है तो फिर दुःख भी नहीं होगा। जो मिलेगा, जितना मिलेगा, जैसा मिलेगा उसे प्राप्त कर न आप सुखी होंगे और न दुःखी। जीवन भर दुर्गा ने सासूमाँ के सामने अपने को न-कुछ के रूप में ही प्रस्तुत भी किया होगा और बनाये भी रखा होगा परन्तु तब भी सासूमाँ को ऐसा नहीं लगा। सासूमाँ को दुर्गा नगण्य बहू न लग कर सदा व्यक्तित्व लगती रही। माना कि किसी बात का जवाब नहीं दिया होगा और कोई आदेश ऐसा न होगा जिसे उसने पूरा न किया होगा तब भी वह व्यक्तित्व लगती रही। जिसका मौन, गूंगेपन का पर्याय न होकर स्वत्ववान का चरित्र लगता था इसीलिए दुर्गा, बहू से अधिक चुनौती लगती थी। वह प्रत्येक क्षण दुर्गा की आज्ञाकारिता से भी आहत होतीं इसीलिए मौके-बे-मौके दुर्गा का अपमान, अवमानना आदि किसी से भी चूकती न थीं। जब कभी श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल दुर्गा, के स्वत्व को पैरों तले रौंद सकीं की तुष्टि अनुभव करती रही हैं उस समय वह परम प्रसन्न दिखती थीं। दुर्गा को सदा के लिए बिशु द्वारा लांछित करवा देने की योजना सफल नहीं हो पायी जिसका उन्हें जीवन भर दर्द सालता रहा। उनकी सारी चेष्टा यही तो रही कि दुर्गा उनकी बातों का उत्तर देती जिह्वा बने तो, ताकि वह उसे खींच कर निकाल फेंके। पर हर बार उन्हें दुर्गा पर इतनी झल्लाहट होती कि इस ससुरी ने कभी उन्हें जेता होने का आनन्द भी नहीं उठाने दिया।

लेकिन दुर्गा को आज ऐसा लग रहा था कि धूर्जटी के होने के समय सासूमाँ ने जो लात वर्षों पूर्व मारी थी उसका दर्द आज अधिक हो रहा था। चोट भले ही उस दिन लगी थी पर चोट, आँसू तो आज ही बन सकी। प्रतिक्रिया की भी कोई भाषा होती है— इसे इतने वर्षों बाद तथा इतनी सन्तानों की जननी बनने के बाद दुर्गा समझ सकी, और वह रो पड़ी। पता नहीं वह अपने लिए रोयी या सासूमाँ के लिए—

— सासूमाँ ! यह क्या हो गया ?

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल की त्रयोदशा के दिन मामा पण्डित गोवर्धन व्यास भी नाथद्वारे से आ गये। बड़े दिनों बाद मामा को देखकर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा को इस दुःख के बीच भी बड़ा अच्छा लगा। गत आठ-दस वर्षों में ही मामा अब शरीर से भी इतने जीर्ण लग रहे थे कि जैसे बहुत ही वृद्ध हो गये हैं। मामा, माँ से तो छोटे ही थे, भले ही नर्मदा मासी से बड़े हों। माँ और मामा को साथ खड़ा कर देने पर कोई भी कह सकता था कि मामा, माँ से आठ-दस वर्ष बड़े होंगे। सारे दाँत झड़ गये थे। सिर में पहले ही कौन बाल थे परन्तु अब तो सिवाय गर्दन के पास एक घेरे के कहीं सूँघने को भी बाल नहीं रह गये थे। जीवन भर उपेक्षित जीवन जीने के कारण तथा नियमित सादा भोजन भी समय पर न मिलने के कारण वह स्वस्थ से अधिक तो रोगी लगते थे, वैसे उन्हें कोई स्पष्ट रोग नहीं था। सुँती देह थी जो कि और दुबला गयी थी फलतः हथेलियाँ, अँगुलियाँ सब अधिक ही लम्बी लगती थीं। हाथों की नाड़ियाँ भब्बों में उभर आयी थीं तथा चमड़ी भी चिरने लगी थी। ध्यान से देखने पर कुछ-कुछ हाथ काँपते भी थे लेकिन तब भी पण्डित गोवर्धन व्यास ने अपने को बहुत कुछ साध रखा था।

इस समय नीचे की बैठक में पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल आज पूर्णरूपेण गृहस्वामी के भाव से पहली बार बैठे लग रहे थे। बाबा की मृत्यु के बाद माँ थी तो उनका स्वयं का महत्त्व न केवल माँ के बाद ही बल्कि अवन्ती काका के बाद ही आता था। बाबा और माँ के जाने के बाद परिवार के सर्वेसर्वा के रूप में अजीब असुविधाजनक अकेलापन लग रहा था। माँ का सारा उत्तरकार्य त्रयोदशा के दो-चार दिनों बाद तक भी चलता रहा। पहले दुर्गा को भी हर बात सासूमाँ से पूछ-कह करके ही करनी होती थी पर अब तो परामर्श करने को केवल पति-पत्नी ही बचे थे। घर का तथा धर्मशाला का सब अवेरना-धवेरना [चीजों की साज-सम्हाल] चलता रहा। तम्बू-कनात से लेकर बर्तन-भांडे तक का लौटालना। पत्तल दोनों का हिसाब-किताब। मालिन, कहारिन, नाइन, धोबिन आदि का नेग-रसम। उस पर आये-गये रिश्तेदार-मेहमान धीरे-धुस्ते ही सब गये। आज एक गया तो कल दो गये। कोई बैलगाड़ी-दमनी से गया तो कोई रेल-मोटर से गया। आसपास के गाँवों-देहातों से आनेवाले तो सवेरे आये और देर रात होने पर भी लौट गये पर आगर-शाजापुर के नाते-रिश्तेदार कैसे भला पूरी रसम हुए बिना बाला-बाला धर्मशाला से ही लौट जाते? आये तो सब अपने-अपने से पर गये दो-दो, तीन-तीन करके। इस सारी दौड़धूप-आपाधापी में बहन-बेटियों, बहनोई-दामादों के सन्दर्भ में कहीं प्रथा सम्बन्धी भूल-चूक न हो जाय नहीं तो सारी आयी-गयी दुर्गा के मत्थे जाती कि घर में सास के जाते ही अब बहन-बेटियों का सम्मान करनेवाला कौन बैठा है? अतः दुर्गा के लिए हर रिश्तेदार का आना और उससे भी अधिक हर नातेदार का लौटना बहुत बड़ा सिर दर्द था। मामाजी और मासाजी न होते तो भी इतना बड़ा करियावर होता ही पर तब पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा की भारी दुर्गत भी होती। गोविन्द को अभी अनुभव ही क्या है? कौन पास का है और कौन दूर का है इसका

भी तो ज्ञान नहीं है। धूर्जटी को भली चलायी। अभी कालेज में पहुँचे हैं पर क्या मजाल जो उनकी मक्खनजीन की पेंट की क्रीज और सफेदी में दाग आ जाए। घर में काम है, घर मेहमानों से भरा है परन्तु श्रीमान को रोज टेनिस खेलने से ही फुर्सत नहीं। अब बताओ कोई दूसरा बैठा है घर में जो यह सब दौड़-भाग करे ? लेकिन किससे कहो ? पंचानन और चन्द्रशेखर भला क्यों करने लगे कोई काम जब उनके बड़े-दादा [धूर्जटी] का उनके सामने आदर्श मौजूद हो। और फिर घर की बात हो तो चलो, दो-चार बार कह-सुन लो लेकिन बाहर के लोगों के सामने किचायँध करने से तो रहे। एक-दो बार कह-सुन दिया गया तो उन लोगों ने भी सुन-सुना लिया। आप इधर, वो उधर। वो तो कहिए कि सूतक के दिनों में किसका लिहाज करके ये साहबजादे लोग घर में दिख-लायी दिये बस, काम-काज से तब भी कोई मतलब नहीं था। चलो, इतना ही बहुत हुआ, नहीं तो आप क्या कर लेते अगर कह देते कि बाल नहीं मुँड़वाएँगे।

बैठक में इस समय पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल अपने मामा पण्डित गोवर्धन व्यास से बातें कर रहे थे। घर मेहमानों के चले जाने के बाद एकदम खाली ही नहीं बल्कि निर्जन लग रहा था। मामाजी अब वापस जाना चाह रहे थे क्योंकि सारा करियावर समाप्त हो चुका था और उन्हें भी आये पन्द्रह दिन हो चुके थे। मन्दिर में यही कहकर क्या बल्कि पन्द्रह दिनों की सेवा का ही एवजी-प्रबन्ध करके आये थे परन्तु इसके विपरीत पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा की राय थी कि अब इस वार्धक्य में परदेस में पड़े रहने में क्या तुक है ?

— क्यों, क्या मैं गलत कहता हूँ ?...अब आपका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता और मन्दिर की अपरस की सेवा में नहाना-धोना, देर-सवेर, मौसम-बे मौसम सभी कुछ रहता है... अब इस आयु में आपको विश्राम करना चाहिए कि यह सब दौड़-भाग करनी चाहिए ? क्यों ठीक है न ?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने बात का आरम्भ और अन्त दोनों ही बारणे [दरवाजे] की ओट लेकर बैठी दुर्गा की दिशा की ओर देखते हुए कहा था। दरवाजे के आधे पल्ले से दुर्गा झलकी पड़ रही थी। हम अज्ञात में ही कैसे अपने अग्रजों का स्थान ले लिया करते हैं, बल्कि कहना चाहिये कि हम अनायास ही उनके जैसा आचरण भी करने लगते हैं। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल भी कभी इसी प्रकार बारणे की ओट लेकर अपने पति से गृहस्थी सम्बन्धी चर्चाएँ करती थीं, परामर्श देती थीं। कालान्तर में दरवाजे की ओट हटती गयी और खुलकर तो वह जीवन के अन्तिम दिनों में ही बैठक में बैठी होगी। दुर्गा भी इस समय अपनी सासूमाँ की भाँति ही अपने पति से परामर्श करती बैठी थी। बोली,

— मामाजी से कहिए कि अब परदेश में रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस उमर मे घर छोड़कर भला कौन रहता है ? और नाथद्वारा कोई यहाँ है ? खबर आने-जाने में ही दस दिन लगते हैं। नहीं, वहाँ जाकर क्या होगा ?

पण्डित गोवर्धन व्यास की जन्म-कुण्डली में यदि कोई नक्षत्र प्रबल था तो वह दुःख का नक्षत्र था। पचहत्तर पार कर गये होंगे पर याद नहीं पड़ता कि इन

नाथद्वारे के दिनों को छोड़कर कभी चैन मिला हो। जिन्दगी भर दौता-किटकिट ही रही। वैसे नाथद्वारे के दिनों को वह भले ही चैन की संज्ञा दे लें। और ठीक भी है जैसे उनकी जिन्दगी कटी उसमें इन दिनों को चैन से कटना नहीं तो और क्या कहेंगे ? सुख और दुःख सब अपेक्षाकृत ही होते हैं। सच तो यह है कि पण्डित गोवर्धन व्यास नाथद्वारे में भी सवेरे-शाम तक जीते नहीं हैं बल्कि एक तरह से चरखा ही चलाते रहते हैं। अब भला उसमें सोचने-समझने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? चूँकि मन्दिर की अपनी सुनियोजित एक प्रक्रिया है जिससे जुड़ जाने पर आप भी गतिशील हो ही जाते हैं। एक बड़े पहिए से जुड़ी हुई कील तक घूमने के लिए बाध्य होती है, लगभग यही स्थिति पण्डित गोवर्धन व्यास की थी। स्वतः उनका अपना उस गति के विषय में न कोई निर्णय था और न कोई भाव ही था। प्रायः तो वह भूले रहते हैं कि उनका कोई व्यक्तिगत नाम भी है। सदा उन्हें लगा है कि वह व्यक्ति नहीं बल्कि मन्दिर के कोई काम हैं। उस काम का तो कोई नाम हो सकता है पर उसके कर्ता का कोई स्वतन्त्र नाम नहीं है। इसीलिए रात में वह जब थककर लेटते हैं तो वह और किसी कारण से नहीं बल्कि काम के कारण ही। और ठीक भी है लगातार कामों के क्रम में वह अपने व्यक्तिगत नाम को याद भी करें, या उसके बारे में सोचें तो फिर काम कौन करेगा ? अगर वह सोचेंगे तो काम रुक जाएगा और मन्दिर की नियोजना उनके बिना तो चली रह सकती है पर काम के बिना तो नहीं। इस प्रकार की सारी नियोजनाओं का तर्क ही होता है कि व्यक्ति के लिए काम नहीं होता बल्कि काम के लिए व्यक्ति होता है। इसीलिए वह प्रायः यहाँ भूले रहते हैं कि वह पण्डित गोवर्धन व्यास हैं, सच तो यह है कि वह 'भीतरिया' जी हैं। लोगों को भी शायद नहीं मालूम होगा कि उनका कोई वैयक्तिक नाम भी है। ठीक भी है, उनकी इस वैयक्तिकता में किसी भी तरह की आत्मीयता, अलभ्यता या स्पृहणीयता नहीं है जिसे याद करना मूल्यवान लगे। तभी तो सार्वजनिक स्थानों की जो दुरवस्था होती है वही सार्वजनिक संज्ञाधारी व्यक्तियों की भी होती है। और जब निजी परिवार सदा-सदा के लिए तिरोहित हो गया, जिस तरह समाप्त हुआ तो क्या उस दिन ऐसा ही नहीं लगा था कि—चलो पिण्ड छूटा। लेकिन क्या पिण्ड इसी प्रकार, इतनी आसानी से छूटा करता है ? मनुष्य के लिए सबसे दुःखदायी तो स्मृतियाँ होती हैं, जो कि सालती हैं। वास्तविकता में जो घटता है वह तो बस एक बार ही घटित होकर शेष हो जाता है। उस समय जो भी बोझ, दर्द, यातना, कष्ट होता है वह भी कालान्तर में समाप्त हो जाता है परन्तु स्मृति में पहुँच कर वही घटना नये-नये रूपों, सन्दर्भों, अर्थों और व्याख्याओं के साथ बारम्बार घटती है, घिरती है। उसकी आवृत्तियाँ आपका जीना दूभर कर देती हैं। मनुष्य का संस्पर्शी मन गीली कण्डी की भाँति होता है जिसमें कि उस घटना की स्मृतियाँ धुँधुआती रहती हैं। यह धुँधुआना ही सबसे अधिक घुटन देता है। पत्नी गंगादेवी और पुत्र विशु की मृत्यु के बाद वह अपने को एक प्रकार से सारे सांसारिक सम्बन्धों से अलग मान चुके थे लेकिन जब एक दिन दीदी, श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल की मृत्यु की सूचना वाला कार्ड मिला तो लगा कि

अभी भी सम्बन्ध के सूत्र शेष हैं।

ऐसा नहीं कि पण्डित गोवर्धन व्यास को ही अपने भानजे को देखकर बड़ी आत्मीयता लगी हो जबकि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को भी अपने मामा को देखकर बड़ी ही पारिवारिक आत्मीयता अनुभव हुई। जिस दिन मामाजी आये थे और अकस्मात् सामने आकर खड़े हो गये थे तो कैसा लगा था न कि जैसे कोई अपरिचित व्यक्ति आ खड़ा हुआ है जिसमें मामाजी की हल्की सी झलक और लटका लगता है। जबकि मामा जी भी माँ की ही भाँति काफी गोर रहे हैं। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को अपने मामाजी की गोरता इतनी लिखी लगती थी कि उन गोरे हाथों की हरी नसें कैसी उछली-उछली दिखती थीं, और सामने खड़ा व्यक्ति साँवले से अधिक साँवला था। मामाजी के मुँह पर घनी मूँछें नीचे की ओर मुड़कर उन्हें कितना दयावान बनाती थीं जबकि सामने खड़े व्यक्ति की मूँछें कैंची से तराशी हुई सफेदी की लकीर सी बनाती हैं। ठीक है, बाल तो आयु के कारण सफेद होंगे ही पर दुश्चिन्ताएँ इस मुख पर इतने जाले बनाये हुए थीं कि यह किसी का मुख, किसी आत्मीय का मुख भी है, इसे तलाशना पड़ रहा था। गला धँस गया था पर दोनों ओर चमड़ी की दो झालरें झूल आयी थीं जिसके कारण व्यक्ति दयनीय लग रहा था। माँ की भाँति मामाजी की भी आँखें सदा धुली, पानी की चमकती बूँदें लगती थीं पर इस सामने खड़े व्यक्ति की आँखें पानी में डूबी-डूबी होने के कारण देखती नहीं बल्कि रोती लग रही थीं; शायद मोतियाबिन्द पक गया हो।

— मेरे स्वास्थ्य को क्या हुआ त्र्यम्बक ? तुम नहीं जानते कि वहाँ का जीवन बड़ा निर्ममित है।

— मामाजी ! एक आयु तक नियमित जीवन जिस प्रकार जरूरी होता है उसी प्रकार एक आयु के बाद उस नियमित जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अब आपकी वह आयु नहीं है कि जाड़ा-पाला, गर्मी-बरसात में चार बजे नहायें-धोयें और वैसे ही गीले बने रहकर ठाकुरजी की सेवा में राजभोग की सेवा में दोपहर कर दें।

पण्डित गोवर्धन व्यास बीच ही में हँस दिये, बोले,

— तुम तो लगता है त्रिकालदर्शी हो जो यहाँ से बैठे हुए सब देख लेते हो।...ठीक है त्र्यम्बक ! जो तुम कह रहे हो उसमें वास्तविकता है पर देखो, वहाँ सब व्यवस्थित चल रहा है और आयु का प्रभाव, स्वास्थ्य का ऊँच-नीच तो त्र्यम्बक ! जहाँ भी रहो, लगा ही रहेगा। सिर है तो वह वहाँ भी दुखेगा और यहाँ भी।....क्या मैं गलत कह रहा हूँ ?

पण्डित गोवर्धन व्यास ने अपनी विषम स्थिति को हलका बनाते हुए कहा। सच तो यह था कि वह स्वयं भी अपनी स्थिति की भयावहता, अपने अकेलेपन की असहायता आदि किसी भी बात का कहनेवाली भाषा के द्वारा न तो सामना ही करना चाहते थे और न ही यह कि कोई उसे जाने। क्योंकि दूसरे के जानने का अर्थ होता कि आप उसके निकट दयनीय लगें। शायद दयनीय होना मनुष्यता का सबसे बड़ा अपमान है। तब भला वह अपने हाथों ही अपना अपमान कैसे करते ? भाषाहीन होकर जी लेने में यह

तो सन्तोष होता ही है कि हमें भले ही भोगना पड़ा हो परन्तु किसी अन्य ने तो न जाना। और जब किसी अन्य को कुछ नहीं पता तब आपको क्या भोगना पड़ा, कैसा मन दुखा—यह सब नहीं सालेगा। और यदि सालता भी है तो उसे एकान्त में ही पड़ा रहना है—तब क्या चिन्ता।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने मामाजी से पूछा,

— मैं एक बात बहुत दिनों से जानना चाह रहा था कि यहाँ वाला मकान क्या आप ही बेच गये थे ?

इस प्रश्न को सुनकर पण्डित गोवर्धन व्यास जिस प्रकार अपने में लौटने लगे उसे देखकर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को पहली बार लगा कि हाथ-पाँव की तरह व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को भी कैसे सिकोड़ता है। वह निश्वास लेते हुए बोले,

— त्र्यम्बक ! मैं उस बीते हुए अनच्छित की ओर न तो देखना ही चाहता हूँ और न उसके बारे में सोचना ही चाहता हूँ। फट जाने पर दूध फिर कभी किसी चीज से दुबारा दूध नहीं बन पाता—यही मनुष्य का मन है त्र्यम्बक !

— ठीक है मामाजी ! पर भावुकता से तो संसार नहीं चला करता है। जहाँ तक मैं जानता हूँ वह यह कि इस मकान को आपने नहीं बेचा है। तब उस मकान पर नानकचंद कसेरा कैसे कब्जा किये हुए है ?

— तो फिर उस नानकचंद से ही पूछ लिया होता।

— मामाजी ! यह पूछने का मेरे पास तो कानूनी अधिकार नहीं। और मैंने पूछ भी लिया होता परन्तु मुझे लगा कि आपको बिना बताये यदि मैंने इस बारे में कुछ पूछताछ की होती तो पता नहीं आप क्या सोचते कि मैं यह सब क्यों पूछ रहा हूँ....मैं गलत तो नहीं कह रहा मामाजी !

— मान लो तुम्हारा तर्क ही ठीक है तब भी तुमने कुछ तो पता किया ही होगा।

— हाँ, पता किया है परन्तु यही मालूम हुआ कि उसने इसे खरीदा है, पर किससे खरीदा है और किसने बेचा है, यह नहीं मालूम।

— त्र्यम्बक ! पूरी बात तो सच में मैं भी नहीं जानता परन्तु मेरे चले जाने के बाद तुम्हारी मामी ने इस कसेरे के पास यह मकान गिरवी रखा था।

— ऐसी क्या आफत आ गयी थी ?

— शायद विशु के मुकदमे के सिलसिले में रुपये-पैसों की जरूरत रही होगी तो यह किया होगा। यह सब मेरा अपना ख्याल है।

— मुझे भी यही लगता है मामाजी ! परन्तु मकान गिरवी रखकर बाद में बेचने का अधिकार मामी को या किसी को भी तब तक कैसे हो सकता है जब तक कि आप मौजूद हैं ?

— लेकिन भैया ! तुम यह सब पुराने गड़े मुर्दे क्यों उखाड़ रहे हो ?

— इसलिए कि यह मकान आपका है। आप उसमें आकर रहें और यदि उस मकान में नहीं रहना चाहते तो उसे उचित दामों पर बेचा जाना चाहिए। इस नानक-

चद कसेरा को कोई कानूनी हक नही है कि गिरवी के औने-पौने रुपयों के बदले किसी का मकान ही दाब बैठे।

— कहते तो तुम ठीक ही हो त्र्यम्बक !....तुम ही नहीं कोई भी आत्मीय यही बात कहता। और होना भी यही चाहिए....परन्तु तुम एक बात भूल रहे हो कि मैं तुम्हें दिख जरूर रहा हूँ परन्तु तुम्हारी मामी और विशु ने तुम्हारे मामा को आज से बरसों पहले ही समाप्त कर दिया है... केवल त्रयोदशा ही होनी बाकी है....तुम किससे बातें कर रहे हो ?....देह से होना, कोई होना होता है त्र्यम्बक ?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल मामा की यह बात सुनकर अवाक हो उठे। मामाजी अन्दर से बहुत पहले ही टूट चुके हैं, यह तो वह जानते थे परन्तु अपने को पूर्ण समाप्त मानकर असंग वहन करना क्या होता है इसकी कल्पना भी नही थी। उनका विचार था कि मामाजी चाहे तो साथ मे रहे या चाहे तो अपने घर रहें। उन्होने इस घर के बारे में राई-रत्ती पता कर रखा था कि केवल चार हजार रुपयों की कच्ची रसीद पर यह रुपया कई किश्तो में दिया गया था और बदले में दसियों हजार का मकान हड़प लिया था। सचाई तो यह थी कि मकान न तो कभी कानूनन बेचा ही गया और न किसी ने इस सौदे पर आपत्ति ही की। ठीक तो है, आपत्ति कौन करता ? यह अधिकार मामा जी का था और वह तो उज्जैन को ही 'कृष्णार्पण' करके छोड़ चुके थे, तब भला नानकचंद कसेरा को मालिक बनने से कौन रोक सकता था ? पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने सोचा कि उधार का सारा रुपया मय ब्याज के वह मामाजी के द्वारा नानकचंद कसेरा को चुका देंगे। मकान मिलने के बाद मामाजी की कोई ऐसी व्यवस्था कर दी जाएगी कि उन्हे किसी पर निर्भर होने का भाव ही न लगे। दूर परदेस में रहने के बजाय यहाँ पास में रहेंगे तो उनकी उचित देख-माल भी होती रहेगी और स्वयं उन लोगों पर एक बड़े की छत्रछाया रहेगी। परन्तु अभी-अभी मामाजी की मनःस्थिति की भयावहता ने उन्हें न केवल हिला दिया बल्कि एक सीमा तक निरुत्तर कर दिया।

दुर्गा भी सुनकर अवाक और स्तम्भित थी। कितना विषम और विचित्र है यह संसार। जो जहाँ खड़ा है उसे पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण अपनी ओर नीचे की तरफ खींचे जा रहा है। हमारा सारा स्वत्व न खिचने के लिए ही पूरी तरह लगा रहता है। कुछ लोग कैसे अपने को शून्य में बिना किसी प्रतिक्रिया के तैरा देते हैं, जैसे उनसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जो व्यक्ति जीवन के प्रति इतना और इस प्रकार का निरासक्त हो गया हो उसके लिए किसी भी चीज का क्या अर्थ है ? परिस्थितियो ने मामाजी को जिस ऐकान्तिकता में ले जाकर खड़ा कर दिया था उसमें वह योगियोंवाली मनस्विता में भले ही न हो परन्तु साधारणता से सर्वथा पृथक हो गये थे। उनके लिए किसी का होना जिस प्रकार कोई अर्थ नहीं रखता उसी प्रकार न होना भी अर्थहीन था। यदि मामाजी को इस सारी स्थिति को परिभाषित या व्याख्यायित करना भी आ गया होता तो वह भोक्ता के साथ-साथ ज्ञानी भी हो जाते। ज्ञानी न होने पर भी वह उस सुगन्ध को जानते हैं या जानने जैसा अनुभव करते हैं या फिर परिस्थितियों ने उन्हें ठेल कर

वहाँ पहुँचा दिया है।...तब भी दुर्गा को ऐसा लगा कि क्या यह सम्भव है कि जो स्नेह, जो आत्मीयता इन्हें नहीं मिली उसके कारण असमय ही मामाजी इस भयावह मनःस्थिति में पहुँच गये हैं...तो क्या वह उपलब्ध किया नहीं जा सकता ? तो फिर आत्मीयजन-घर-परिवार, कुल-कुटुम्ब किस दिन के लिए होते हैं ? वह बोली,

— आप मामाजी से मकान की चर्चा क्यों कर रहे हैं ? मामाजी यहाँ आकर रहे, इस बात से मकान का क्या सम्बन्ध है ?

इस बार पण्डित गोवर्धन व्यास ने सीधे दुर्गा से ही बात करना उचित समझा, बोले,

— बहू ! त्र्यम्बक जो कह रहा है वह न केवल एक स्वजन की ही भाषा है बल्कि इस संसार की यही व्यवहार-भाषा है। चूँकि इस व्यवहार-भाषा में त्र्यम्बक की आत्मीय उदारता भी शामिल है इसलिए मुझे ऐसा लगता है कि जिस किसी कारण से भी आपने जिस चीज को छोड दिया है, बहू ! मैं त्यागना नहीं कह रहा हूँ क्योंकि त्याग करनेवाले का व्यक्तित्व बडा होता है और त्यागी जानेवाली वस्तु भी महत्वपूर्ण होती है—और इस सन्दर्भ में न तो मैं और न यह मकान दोनों ही महत्वपूर्ण नहीं हैं—तो जिस चीज को छोड़ दिया उसकी चर्चा क्यों करनी चाहिए ? ....दैवी प्रकोप में मान लो वह घर जल ही जाता, वर्षा में ढह ही जाता तो हम सन्तोष करते कि नहीं ? तब मानवीय-प्रकोप के समय यह हाय-हत्या क्यों करनी चाहिए ?...अरे बहू ! जब तुम्हारी मामी नहीं रहीं, तुम्हारे देवर ने जैसा पिशाच-व्यवहार किया और वह भी नही रहा, तब बताओ अगर नानकचंद कसेरा से मकान मिल भी जाए तो उस मसान जैसे घर में बैठकर क्या मैं त्राटक साधूँगा ? उस अपशकुनी घर मे रह कर साक्षात ब्रह्मराक्षस नहीं लगूँगा ?....ना बहू ! भगवान ने बड़ी कृपा की कि उस जंजाल से मुक्त कर दिया और अपनी सेवा में ले लिया है।....तुम लोग आत्मीयता से याद कर लेते हो यहाँ, और वहाँ दिन-रात भगवान की सेवा भी है और सान्निध्य भी है ...और क्या चाहिए बताओ ?.... और अब तो आज मरे, कल दूसरा दिन....ना त्र्यम्बक ! बीता हुआ समय और वह गया हुआ जल फिर कभी नहीं लौटा करते।

दुर्गा ध्यान से पण्डित गोवर्धन व्यास की बात, जो एक प्रकार का वैचारिक हाहाकार ही थी, सुन रही थी। उसे लगा कि वितृष्णा, वृत्ति से भी गहरे, भाव के स्तर पर पहुँच गयी है। वैसे मामाजी परम वैष्णव, सन्तोषी, संकोची, शीलवान, मितभाषी सदा के रहे हैं। घर-परिवार और ससार के कटु अनुभवों ने उनके मन पर से ही नहीं बल्कि संस्कार तक पर लौकिकता के आकर्षण का किंचित भी मुलम्मा नहीं रहने दिया है। मुलम्मा-हीन इस धातु को देखने पर आपके भी मन में इस सांसारिक आकर्षण के प्रति कैसी वितृष्णा और जुगुप्सा जागती है न ? वह बोली,

— जो भी हो, पर इतने जल्द तो लौटना नहीं हो सकेगा।....जब संसार मे हैं तो जैसा भी अष्टावक्र जैसा यह है उसी प्रकार तो उससे व्यवहार करना पड़ेगा ?.... इस बार पितृपक्ष में मामी और बिशु की तिथियों पर संस्कार कर देना चाहिए।

...आप मामाजी को लेकर गया में श्राद्ध भी करवा आइए...और पितृपक्ष के बाद नवरात्र में घर से कहीं जाते भी तो नहीं हैं....और फिर रोज-रोज तो इतनी दूर से आना-जाना होता नहीं इसलिए दीवाली के बाद ही जाने के बारे में सोचना करेंगे।

पण्डित गोवर्धन व्यास दुर्गा की बातें सुन कर हँस दिये, बोले,

— और जाड़ों मे बूढ़े लोगो को घर से कहीं बाहर जाना नहीं चाहिए, है न ?....वाह रे बहू ! पूरे वर्ष भर का हिसाब अँगुलियों पर गिना दिया...जैसा तुम्हारे बारे में सुनता आया हूँ, तुम तो उससे भी चार कदम आगे निकली... गनीमत हुई कि दीवाली तक का हिसाब ही लगाया....आगे होली भी पड़ती है।

दुर्गा दरवाजे के पल्ले के पीछे थी, उठते हुए किंचित हँसी के साथ बोली,

— कहना तो मैं होली तक ही चाहती थी....और मामाजी ! होली में अब कितने दिन ही रह गये हैं ?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल अपनी पत्नी के इस रम्य रूप पर मुग्ध तो थे ही पर सोच रहे थे कि यह कितनी निष्कलुष है। सबके लिए आत्मीयता है जिसे वह उन्मुक्त होकर देती है परन्तु अपेक्षा यह पति तक से नहीं करती—कितनी असाध्य है यह।

पण्डित गोवर्धन व्यास बोले,

— त्र्यम्बक ! मैं जड़भरत नहीं कि इतना मीठा या आत्मीय सुनना प्रिय न हो। और अब तुम दोनों के अलावा और कौन मेरा अपना है ? एक बेचारी नर्मदा है जिसे मैंने छोटी बहन से अधिक बेटी ही माना . और बेटा ! आदमी सब कुछ कह भी नहीं पाता...पर याद रखो त्र्यम्बक ! कि किसी की भावना का आदर तभी हो सकता है जब तक कि वह भावना बनी हुई है। तुम्हारी और बहू की यह आत्मीयता तब और महत्वपूर्ण है जब इस सुगन्ध का स्मरण किया जाए...मैं तुम लोगों के भला क्या काम आ सकता हूँ बेटा !...इस योग्य भी नहीं और प्रभु ने तुम लोगों को पूर्व पुण्यों के कारण तथा पुरुषार्थ के कारण सामर्थ्यवान बनाया हुआ है...तब भी जिस दिन भी बुलाओगे, सच मानना दौड़ा हुआ आऊँगा ....और बहू ! तुम नहीं बुलाओगी तो यह तुम्हारा वृद्ध मामा कहाँ जाएगा ?.... मेरा पूरा संसार तो तुम्हारे इस घर में आकर समा गया है।

मामा जी की बात पर दुर्गा बोली,

— मामा जी ! बुलाने का प्रश्न ही कहाँ है ? यह घर आपका है—यह कहनेवाली मैं कौन होती हूँ ? क्योंकि इस घर में आप मुझे लाये हैं, न कि मैं आपको लायी हूँ।

— बेटा ! तुमसे मैं जीत नहीं पाऊँगा इसलिए अपने बेटे-बेटियों से हारने में जो आनन्द है वही सबसे बड़ा आनन्द है। तब भी, तेरी जैसी स्त्री आज तक नहीं देखी बेटी !...तू जब हमारी दीदी जैसी असाध्य को साध ले गयी तब हम लोगों की क्या बिसात।...ठीक है, दो-चार दिन और रुक जाता हूँ; दुबारा जब

बुलाओगी आ जाऊँगा, पर इस बार तो जाना ही होगा।

इस बार पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— आपने मासी से भी जाने की चर्चा की कि नहीं ?

— वह बेचारी गाय, वह क्या कहेगी ? नर्मदा तो सदा से इतनी सीधी रही है कि, क्या बताऊँ। दीदी और नर्मदा में बहुत अन्तर रहा है। दीदी का प्यार और नर्मदा का आदर बराबर मुझे मिले हैं···सब भगवान की कृपा है···अब तुम लोग भी आराम करो····हाँ, सारा लेना-देना, हिसाब-किताब तो हो गया न ?

— सब आपके आशीर्वाद हैं मामा जी !···आप सारे काज-कारियावर से सन्तुष्ट तो हैं न ? कोई कोर-कसर तो नहीं रह गयी ?

— काहे की कोर-कसर बेटा ? दीदी बड़ी पुण्यात्मा थीं जिन्हें जीजाजी जैसा राजा पति प्राप्त हुआ, तुम्हारे जैसा सुशील पुत्र और दुर्गा जैसी अन्नपूर्णा बहू मिली। सब कुछ तो उन्हें मिला। व्यक्ति अपने सारे कर्मों का भोग यहीं तो भोगता है। यहीं तो भोगभूमि है, भगवान के यहाँ तो भावभूमि है—वहाँ व्यक्ति भोगने के लिए नहीं, भावना के लिए जाता है।

— लेकिन आपको मामा जी ! कुन्ती के विवाह के समय अवश्य आना होगा।

— कब कर रहे हो उसका विवाह ?

— विवाह तो इसी पौष में करने का विचार था, जिजी स्वयं अपने सामने यह कन्या-दान करना चाहती थीं।

— हाँ, दीदी को कभी कन्यादान का मौका ही नहीं मिला—पर भैया ! मनुष्य की इच्छाओं की सीमा है क्या ?

— पर अब तो एक वर्ष तक, जब तक छमछरी (संवत्सरी, वार्षिकी) न हो जाय तब तक कोई मांगलिक कार्य नहीं हो सकता।

— हाँ, विधान तो ऐसा ही है, परन्तु 'आपत्ति काले मर्यादा नास्ति' भी वचन है त्र्यम्बक ! यदि बहुत आवश्यक हो तो पूजन आदि का भी प्रावधान है।···तुम्हें अपने विवाह की तो याद ही है··· सारे विधान ताक में रह गये थे और विवाह हुआ था कि नहीं ? पर ये सब तो आपत्तिकाल की बातें हैं····हाँ, सगाई पक्की कर दी क्या ? आशीर्वाद हो गया ? कहाँ किया है सम्बन्ध ?

— सगाई, आशीर्वाद आदि सारी बातें तो जिजी स्वयं ही कर गयी हैं। इन्दौर वाले पण्डित गोविन्दरामजी मेहता के बड़े लड़के माधव मेहता से तय हुई है। मेहता जी जेवर भी चढ़ा गये हैं। फूफा जी ने पौष के लग्न भी निकाल दिये थे पर लगता है कि इस वर्ष प्रभु की इच्छा नहीं है।

— पौष के लगन तो शायद बहुत शुद्ध भी नहीं हैं।

— फूफा जी ने भी यही कहा था कि शुद्ध लगन तो फाल्गुन के हैं पर जिजी को लगता है कि बहुत जल्दी थी।

— ठीक है, पर ऐसी बहुत जल्दी तो नहीं है अभी ?

— और क्या । वैसे यह बात तो दो-एक वर्षों से चल रही थी । जिजी ने तो दो वर्ष पहले ही विवाह कर डालना चाहा था पर मेहता जी ही नहीं मान रहे थे क्योंकि माधव एल० एम० पी० करने के बाद एम० बी० बी० एस० का कोर्स करने लखनऊ गये थे ।
— तो, अब तो पूरे डाक्टर हो गये न ?
— हाँ, इसी जुलाई में लौट आये हैं । तुको जी राव अस्पताल में हैं । वैसे प्राइवेट प्रेक्टिस की सोच रहे हैं ।
— अरे भैया ! गोविन्दराम जी महाराज को किस चीज की कमी है ? इनके पिता पण्डित महिपतराम जी मेहता अपने समय के प्रकाण्ड ज्योतिषी और विद्वान थे । उन्होंने पैसा तो विशेष नहीं कमाया क्योंकि आकण्ठ ब्राह्मण थे परन्तु यश बहुत अर्जित किया । अपनी जाति में ऐसा व्यक्ति गुजरात तक नहीं मिलेगा । पर उनका यश गोविन्दराम जी ने लक्ष्मी में बदल दिया । अब किस बात की कमी है भैया, उनको ? पहले तो ये लोग सराफे में रहते थे । वह मकान भी काफी बड़ा था लेकिन उसके बाद गोविन्दराम जी महाराज ने तुकोगंज में अच्छी-खासी कोठी बनवा ली । जेल रोड पर भी तो किराये पर दूकानें हैं इनकी ।
— मामा जी । अब तो छावनी में भी एक अंग्रेज कर्नल की कोठी मिल गयी है इन्हें ।
— अरे हाँ, याद आया । एक अंग्रेज कर्नल था जो पण्डित महिपतराम जी को बहुत मानता था । उसके बारे में कोई भविष्यवाणी की थी जो एकदम सही निकली थी । क्या बताऊँ त्र्यम्बक ! क्या तो भगवान ने उन्हें स्वरूप दिया था और क्या उन्हें सरस्वती सिद्ध थी । जो कह दें वह मिथ्या हो नहीं सकता, गायत्री का इष्ट था ।···यह तुम्हारे सर सेठ हुकुमचन्द, आज भले ही 'दानवीर' 'सर' रावराजा बन गये हों पर इसी इन्दौर में लोटा-डोर लेकर मारवाड़ से आये थे । मेहता जी के कहने से ही सेठ ने सराफे में एक दिवालिये की बन्द दूकान लेकर व्यापार आरम्भ किया था । मेहताजी ने ही कइयों के सामने कहा था कि, सेठ ! इस दूकान से तुम्हारे भाग्य ऐसे पलटेंगे कि दुनिया देखती रह जायगी । और सच में ऐसा भाग्य पलटा कि आज देस-दिसावर में सेठ हुकुमचंद की बराबरी करने-वाला कोई सेठ नहीं है ।
— सेठ हाबल्या-काबल्या भी तो बहुत मानते थे मेहता जी को !
— सेठों की क्या बात है बेटा ! कोई राजा-रजवाड़ा है जिसकी पगड़ी उनके सामने नहीं झुकती थी ?···यह सब इसलिए कि वह परम निःस्पृह थे ।

और तभी दीवाल घड़ी ने टन-टन दस बजाये, तो वह पुनः बोले,
— लो, बातों में दस बज गये···वैसे त्र्यम्बक ! आपस में सलाह कर लो । यदि विवाह एकदम आवश्यक हो तो तीन माह के बाद वार्षिक श्राद्ध करवाया जा सकता है और उसके बाद कोई भी मांगलिक कार्य किया जा सकता है ।
— अब देखें, मेहताजी की क्या राय होती है ?

— अपनी ओर से तो बात करने का प्रश्न ही नहीं है। तब भी विधि-विधान के कारण ऐसा सुशील घर और लड़का हाथ से मत जाने देना।...कहाँ तक पहुँची है कुन्ती ?
— इस साल मेट्रिक कर रही है।
— सच ? ? लो, समय जाते क्या देर लगती है। जब कुन्ती मेट्रिक में आ गयी तो फिर वो कान्ता भी मिडिल में जरूर होगी ?
— आपका अनुमान एकदम सही है मामा जी !
— और क्या त्र्यम्बक ! चिन्ता तो लड़कियों की रहती है, लड़कों का क्या। फिर भी तुम्हारे सारे बच्चे तो गुणों में, रूप में, शिक्षा मे एक से एक बढ़कर है।.... समय बहुत बदल रहा है भैया !

तभी दुर्गा ने टोंका,
— मामा जी ! अगर आप इनकी इतनी प्रशंसा कर जाएँगे तो कल से ही इनका सोला-मुकुटा [रेशमी वस्त्र जो भोजन-पूजा आदि मे काम आता है] आसमान में सूखने लगेगा।
— तो बुरा क्या है बेटी ?

और सब हँसते हुए उठ गये।

— पता नहीं आपकी क्या आदत है !

— फिर तुमने शुरू की न पचायत ?

— कितनी ही बार कह चुकी हूँ कि आप कितनी बार अपनी जन्म-कुण्डली दिखाएँगे ? बीसियों बार फूफाजी को घर भर की दिखायी है तो उन्हें क्या पता नहीं है कि कौन कितने पानी मे है ? एक बार पूछो तो वही बात और दस बार पूछो तो वही बात। अगर शनि नीच का है तो बार-बार दिखाने पर उच्च का तो हो नहीं जाएगा। अब आपको क्या जानना बाकी है जो मासाजी के साथ जाते हुए अपनी भी कुण्डली लिये जा रहे हैं ?

— पहले तो नहीं पर अब मुझे लगता है कि जिजी का जाना मेरे लिए सचमुच ही बुरा हुआ।

— मगर जिजी का प्रसंग कहाँ से आ टपका इस समय ?

— इसलिए कि तुम मुझसे तो दबती नहीं हो और सिवाय जिजी के तुमने किसी से दबना जाना नहीं।

— जी, दबने की मुझे नहीं आपको जरूरत है, समझे ? आप तो बच्चों से भी गये बीते हैं।

— महरानी जी ! आपको मालूम होना चाहिए कि मैं किसी की जन्मकुण्डली नहीं लिये जा रहा हूँ।

— तब ये कुण्डलियों के पोथी-पत्रे क्यों फैलाये बैठे हैं ?

सच तो यह था कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल इसलिए ये पोथी-पत्रे फैलाये बैठे थे कि वह सोच रहे थे कि जब मासाजी को लेकर वह जा ही रहे हैं तो अंकपात वाले मकान के बारे में भी लगे हाथ पूछ लें कि उसे रखें या बेच दें, और यदि रखें तो बनवाएँ कि

नहीं, आदि-आदि। किस लड़के के नाम उस घर को किया जाए यह सब बच्चों के ग्रह-नक्षत्र देखकर फूफाजी बता दें तो काम आसान हो जाए। यही सब सोच रहे थे कि दुर्गा ने आकर यह पंचायत शुरू कर दी, जिससे वह खीझ उठे और एक-एक कुण्डली समेट कर टीन की नलियों में रखने लगे।

दुर्गा फिर बोली,

— आपकी यह बहुत बुरी आदत है कि किसी दूसरे के काम में अपना भी काम जोड़ लेंगे।

— ठीक है भाई! अब तो मुझमें पचासों अवगुण तुम्हे दिखेंगे।

— खिसियाने से काम नहीं चलेगा। आप मासाजी को लेकर जाएँ और सिर्फ उनके बारे में ही बातें करें। पहली बार उनको लेकर जाएँगे तो उन्हे यह तो लगे कि आप उनके ही लिए गये हैं।

— अच्छा ठीक है, कुछ नहीं पूछूंगा, बस !!

और उन्होने अपने जनऊ में बँधी ताली से आलमारी का ताला खोला। सारी जन्म-कुंडलियाँ रखीं। आलमारी बन्द कर बैठते हुए बोले,

— बैठती चौके में हो पर जासूसी बैठक तक की करती हो।

— आप क्या सोचते हैं कि मुझे नहीं मालूम है कि आप क्या पूछना चाहते हैं?

— लगता है इधर ज्योतिष-शास्त्र पढ़ा है तुमने।

— ज्योतिष तो नही पर सामुद्रिक-शास्त्र अवश्य सीख गयी हूँ। आपके मुख पर लिखा हुआ देख रही हूँ कि आप अंकपात वाले मकान के बारे में पूछना चाहते हैं।

यह सुनकर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल वास्तव में सकते में आ गये, बोले,

— मैं कहता हूँ तुम जरूर ही कोई तंत्र-मंत्र जानती हो।

और दोनों हँस दिये। दुर्गा बोली,

— मैं नहीं जानती कि आपसे कितनी बार कहा जाए कि यह जमीन-जायदाद का चक्कर किसी दिन दुःख न दे तो मेरा नाम नहीं।

— यह तुम शाप दे रही हो क्या?

— मैं अपने पति और बच्चों को शाप दूँगी?....आप वस्तुओं के पीछे तो रात-दिन दौड़-भाग, कोर्ट-कचहरी करते फिरते हैं पर कभी दो मिनिट को भी अपने निज के लिए पाठ-पूजन, ध्यान-चिन्तन करते हैं? न समय पर उठना, न समय पर खाना-पीना, जब देखो घर-मकान-दूकान की चिन्ता ही लगी रहती है। सम्पत्ति न हुई जान की हाय हो गयी। मैं कहती हूँ कि क्या होगी यह सम्पत्ति? साथ में किसी के गयी है जो हमारे ही साथ जाएगी? चौबीसों घंटे की अच्छी हाय-हाय है यह। कभी घड़ी भर को न बच्चों में बैठना, न कोई चैन।

— सच दुर्गा! इस दुनियादारी में मेरा भी मन नहीं लगता, पर बताओ क्या करूँ? कातिक-चौक वाली कोठी क्या है, सफेद हाथी है। बाबा तो दरवाजे हाथी बाँधकर चले गये। अब उसका सब करना तो मुझे पड़ रहा है न? इतनी बड़ी कोठी

— अच्छा, तू अपनी बात बता । क्या कह रही थी ?
— कुछ खास नहीं, आज बच्चों ने जिद की कि बहुत दिनों से दाल-बाटी नहीं खायी, तो....
— तुझे पता होना चाहिए कि आज तेरे मासाजी ने अरवी के पत्तों की बेसन वाली अपनी अत्यन्त प्रिय सब्जी खायी है ।
इस पर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बीच ही में बोले,
— सब समझता हूँ । तुम मुझे दुर्गा के हाथ की दाल-बाटियाँ नहीं खाने देना चाहती हो और झूठ मूठ ही अरवी के पत्तों वाली सब्जी की बात कर रही हो ।
अपने सिर से हाथ छुलाते हुए कहा,
— लो इनकी सुनो । मैं सब्जी की बात झूठ कह रही हूँ ताकि ये दाल-बाटी न खा सकें ।....पूछो, मैं क्यों नही खाने दूँगी ! भूख हो तो शौक से खाओ । दुर्गा खिलानेवाली और आप खानेवाले ।
— वह मसल नहीं सुनी कि दाता दे और भंडारी पेट कूटे ।
दोनों हाथ जोड़ते हुए श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने कहा,
— आपको तो ऊँट का पेट मिलना चाहिए था ।
— ऊँट के पेट वाले को ब्राह्मण ही तो कहते हैं ।—हाथ सूखा, ब्राह्मण भूखा ।
— ऐसे ही भोजन-भट्ट ब्राह्मण तो हैं आप । दो से तीसरी रोटी खानी पड़े तो लवण-भास्कर भी खाना पड़े तब ।
— लगता है तुमने तय कर लिया है कि मैं न खाऊँ ।
— अरे बाबा, दुर्गा भी यहीं है, आप भी यहीं हैं ।
— दोनों ही यहाँ हैं पर भोजन तो नहीं है यहाँ ?
— तो क्या यहाँ बैठक में खाएँगे क्या ?...आप खाएँ तो यह बेचारी यहाँ भी ला देगी ।
— अच्छा एक बात पक्की रही—भोजन !!....तुम दुर्गा से कहो कि वह आये और एक दिन अपने यहाँ दाल-बाटी की रसोई हो जाए ।....आज तो एक ही कार्यक्रम बहुत है । क्यों त्र्यम्बक ! पंड्याजी के यहाँ चल रहे हो न ?
— मैं तो कब से तैयार हूँ ।—मासी माँ ! आप भी चल रही हैं न ?
— मैं क्या करूँगी चलकर ?
— क्यों ? आप भी चलिए । मैं समझता हूँ कि आप भी बहुत दिनों से बुआ माँ से नहीं मिली होंगी ।
— हाँ, उनके घर गये तो बहुत समय हो गया ।
— आपको वह देखेंगी तो प्रसन्न हो जाएँगी । यहाँ क्या करेंगी अकेली ?
— तो क्या दुर्गा भी जा रही है ?
— दुर्गा के जाने की बात तो नहीं थी ।
— तो मेरे ही जाने की कौन बात थी ? यह अकेली क्या करेगी ?

झाड़ू-बुहारू से मँहगी। देवास-गेट की दूकानों के पीछे जो महाभारत हुआ, सो सब तुम्हें पता ही है कि जिजी जान खा गयी कि फीगंज में प्लाट कट रहे हैं—दस-पाँच खरीद लो। वह तो कहो चार ही खरीदे, अगर दस-पाँच ले लिये होते तो पटते-पटते कमर टेढ़ी हो जाती। अब बताओ मेरा क्या दोष है? मैंने यह फैलाव किया है सब? अंकपात वाले घर का भी तो कुछ-न-कुछ किसी दिन तो करना ही पड़ेगा। बेचने को बेच दें, पर दुनिया कहेगी कि नहीं कि ऐसी क्या मुसीबत आयी थी भला? लोग यह भी तो कह सकते हैं कि सौतेली माँ का घर था न, हम उनकी स्मृति तक तो नहीं रखना चाहते थे, इसलिए बेच दिया। तुम्हीं बताओ, है किसी करवट चैन?

पति की बात सुनकर दुर्गा बोली,

— उसे ऐसा ही रहने दो। क्या हर्ज है?

— दुर्गा! पहले ही वह मकान पुराना था। इतने वर्षों में गिरते-गिरते अब वह इतना गिर गया है कि आगे की दो कोठरियाँ ही मुश्किल से बच गयी हैं।

— अभी उसे ऐसा ही पड़ा रहने दीजिए।

— ठीक है, पर यह सोचो कि आसपास जिस तरह के लोग हैं वे खाली पड़ी जमीन पर चुपके-चुपके कब्जा कर लें तो कल यह साबित करना सिर दर्द हो जाएगा कि यह जमीन हमारी थी। आसपास के लोग जैसे हैं उनमें से कोई भी गवाही देने आगे नहीं आएगा और आपका मकान, जमीन होने पर भी आप कोर्ट से हार जाएंगे। अपने हाथ से तुम किसी को दान कर दो तो यह तो समझ मे आता है पर आप बेवकूफ बनें यह नहीं सहन होगा।

शायद दुर्गा कुछ कहती कि तभी पण्डित नागेश्वर उपाध्याय और श्रीमती नर्मदा उपाध्याय चौखण्डी की ओर बढ़ते हुए दिखायी दिये। दुर्गा ने चरण-स्पर्श किया। आते ही श्रीमती नर्मदा उपाध्याय ने दुर्गा से कहा,

— बच्चे सब स्कूल गये हैं।

— मासीमाँ! आप लोग भोजन करके आये हैं क्या?

दुर्गा की बात पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय हँसते हुए बोलीं,

— त्र्यम्बक ने भोजन का निमंत्रण तो नहीं दिया था। क्यों रे, दिया था क्या?

इस पर दुर्गा ही बोली,

— माँ को अपने बेटे से भी निमंत्रण लेना होता है क्या?

श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय ने दुर्गा के गाल पर प्यार से चुटकी लेने के भाव से कहा,

— पता नहीं दुर्गा को घड़ने के बाद अब भगवान के पास कोई कला बची कि नहीं।

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय की बात पर सब हँस दिये। दुर्गा लजा गयी। उसने जिस तरह मासीमाँ को देखा उसके लिए भाषा में कोई शब्द ही नहीं था। किसी फूल का स्पर्श करने पर फूल को जो कुछ होता होगा, वही दुर्गा को हुआ। दुर्गा को गुलाल में नहाते देख श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय बहुत लाड़ के भाव से बोलीं,

— अच्छा, तू अपनी बात बता। क्या कह रही थी ?

— कुछ खास नहीं, आज बच्चों ने जिद की कि बहुत दिनों से दाल-बाटी नहीं खायी, तो....

— तुझे पता होना चाहिए कि आज तेरे मासाजी ने अरवी के पत्तों की बेसन वाली अपनी अत्यन्त प्रिय सब्जी खायी है।

इस पर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बीच ही में बोले,

— सब समझता हूँ। तुम मुझे दुर्गा के हाथ की दाल-बाटियाँ नहीं खाने देना चाहती हो और झूठ मूठ ही अरवी के पत्तों वाली सब्जी की बात कर रही हो।

अपने सिर से हाथ छुलाते हुए कहा,

— लो इनकी सुनो। मैं सब्जी की बात झूठ कह रही हूँ ताकि ये दाल-बाटी न खा सकें। ...पूछो, मैं क्यों नहीं खाने दूँगी ! भूख हो तो शौक से खाओ। दुर्गा खिलानेवाली और आप खानेवाले।

— वह मसल नहीं सुनी कि दाता दे और भंडारी पेट कूटे।

दोनों हाथ जोड़ते हुए श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने कहा,

— आपको तो ऊँट का पेट मिलना चाहिए था।

— ऊँट के पेट वाले को ब्राह्मण ही तो कहते हैं।—हाथ सूखा, ब्राह्मण भूखा।

— ऐसे ही भोजन-भट्ट ब्राह्मण तो हैं आप। दो से तीसरी रोटी खानी पड़े तो लवण-भास्कर भी खाना पड़े तब।

— लगता है तुमने तय कर लिया है कि मैं न खाऊँ।

— अरे बाबा, दुर्गा भी यहीं है, आप भी यहीं हैं।

— दोनों ही यहाँ हैं पर भोजन तो नहीं है यहाँ ?

— तो क्या यहाँ बैठक में खाएँगे क्या ?...आप खाएँ तो यह बेचारी यहाँ भी ला देगी।

— अच्छा एक बात पक्की रही—भोजन !!....तुम दुर्गा से कहो कि वह आये और एक दिन अरने यहाँ दाल-बाटी की रसोई हो जाए।...आज तो एक ही कार्यक्रम बहुत है। क्यों त्र्यम्बक ! पंड्याजी के यहाँ चल रहे हो न ?

— मैं तो कब से तैयार हूँ।—मासी माँ ! आप भी चल रही हैं न ?

— मैं क्या करूँगी चलकर ?

— क्यों ? आप भी चलिए। मैं समझता हूँ कि आप भी बहुत दिनों से बुआ माँ से नहीं मिली होंगी।

— हाँ, उनके घर गये तो बहुत समय हो गया।

— आपको वह देखेंगी तो प्रसन्न हो जाएँगी। यहाँ क्या करेंगी अकेली ?

— तो क्या दुर्गा भी जा रही है ?

— दुर्गा के जाने की बात तो नहीं थी।

— तो मेरे ही जाने की कौन बात थी ? यह अकेली क्या करेगी ?

इस पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने दुर्गा की ओर देखते हुए कहा;
— मुझे कुछ नहीं। अपनी गृहस्थी के बारे में ये जानें।
इस पर श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय बोली,
— अरे रही इसकी गृहस्थी। अपने तो पल्ला झाड़कर अलग खड़ा हो गया और सारा बोझ दुर्गा के सिर। वह कहीं नहीं आये-जाये, है न ?—दुर्गा!
— जी।
— धोती बदल लो और चलो। त्र्यम्बक की ओर क्या देख रही हो ?
इस पर त्र्यम्बक शुक्ल बोले,
— मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ? चलना इनको है।
दुर्गा ने मासी माँ से कहा,
— मुझे तो अभी खवेरना-धवेरना है सब।
— लड़कियाँ बड़ी हो गयी हैं। कुछ उनसे भी करवाया करो। कल उन्हे भी अपनी गृहस्थी सम्हालनी होगी। चलो, उठो। यह चूल्हा-चक्की तो औरत के श्मशान तक लगा रहता है, इसका मतलब यह नहीं वह इसी भर को हो रहे और कहीं आये-जाये नहीं।
और दुर्गा के तैयार होते ही सब सती-दरवाजे के लिए निकल पड़े।

यद्यपि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने मासा जी के साथ आज दूसरे प्रहर में आने के लिए पण्डित नारायण जी पण्ड्या को कह रखा था, साथ ही प्रयोजन भी बता रखा था, तब भी वह अपने नियमानुसार भोजन आदि से निवृत्त होकर बँगवई पर दरी बिछाकर लेटे हुए थे। सीढ़ियाँ चढ़ते हुए सबने बँगवई के कहों की आवाज सुन ली थी। वे सब समझ रहे थे कि पण्ड्या जी और श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या उनकी प्रतीक्षा ही कर रहे हैं। सीढ़ियाँ चढ़ने के पूर्व त्र्यम्बक ने सूचनार्थ नीचे के दरवाजे की कुण्डी खटका दी थी। इसलिए आवाज सुनकर श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या हड़बड़ा कर उठ बैठी थीं।

चूंकि वे दो ही तो प्राणी हैं अतः खाना-पीना, चौका-बासन में समय ही कितना लगता है ? अधिकांश बर्तन तो रोटी बनाते-करते ही लगे हाथ साफ कर लिये जाते हैं। भोजन नियमतः पत्तलों में ही किया जाता है इसलिए थाली-कटोरी की झंझट नहीं होती। रहा दाल का भरत्या [बटुआ] तो उसे माँजने में समय ही कितना लगता है ? राख लगा होने के कारण जलता नहीं इसलिए साफ करने में भी समय नहीं लगता।

चावल की तपेली [पतीली] में दो कूँचे फेरे नहीं कि फिर चमाचम निकल आयी। अपने हाथ से बनाने-करने में यही तो होता है कि बनाते समय न तो बर्तन जलता है और न माँजते समय यह लगे कि जूठन रह गयी होगी। और नहीं तो क्या, बर्तन भी आपका हाथ पहचानते हैं। अब रह गये कड़छी-खोंचा तो ये कोई गिनाये जानेवाले बर्तन हैं? दोने-पत्तल तो पीछे की खिड़की से नीचे फेंके नहीं कि गायें, कुत्ते जैसे तैयार रहते हैं। पति ने अभी भोजन किया ही होगा और खुदनी से दाँत साफ कर ताम्रपात्र से जल गटका ही होगा कि श्रीमती यमुना देवी उपाध्याय सब कर-कराकर गलने से चूड़ियाँ और हाथ पोंछती हुई आ खड़ी होती हैं। पति बँगवई पर दरी बिछाकर तकिया लगा लेते हैं और तकिये पर अँगोछा या उपरणा डालना कभी नहीं भूलते। तब निश्चिन्त मन से बँगवई पर बैठकर वह अपने पान का बटुवा निकालते हैं और पान-तमाखू खाने लगते हैं। इस बीच वह एक पैर से झूला भी लेते जाते हैं। श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या भी दरवाजे के पास खजूर की छादरी [चटाई] डालकर अपनी किसी धोती को सिरहाने के लिए तहा कर रख लेती हैं। पान-तमाखू तो नहीं खातीं पर मुँह साफ करने के लिए पति द्वारा दी गयी सौंफ-सुपारी अवश्य मुँह में डाल लेती हैं। तमाखू खाकर जब पति को डकार आ जाती है तब वह अपनी इष्ट देवी का स्मरण करते हुए लेट लगा लेते हैं। इस बीच वह भी कमर सीधी करती पड़ी रहती हैं। नींद तो दोनों में से किसी को भी शायद ही कभी आती होगी परन्तु इस आयु में यह लेटना भी जरूरी होता है। पति तो भूले-चूके कभी खर्राटे भी लेने लगते हैं परन्तु श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या बन्द पलकों के भीतर भी जागती ही रहती हैं। लोगों को परिवार के होने पर दूसरे कारणों से नींद नहीं आती तो परिवार न होने पर दूसरे कारणों से नींद नहीं आती। निश्चिन्त कोई नहीं हो पाता। कारण निश्चित ही भिन्न होते हैं पर परिणाम एक ही होता है। हालाँकि श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या जानती हैं कि चिन्ता से कोई लाभ नहीं है परन्तु इस जानने के बाद भी क्या मनुष्य चिन्ता करना छोड़ देता है? श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या के ओठों तक एक बात बराबर आकर रह जाती है, पर वह सोचने लगती हैं कि कहें, या न कहें? वह यह भी जानती हैं कि कहने से भी क्या होगा? कितनी बार चाहा होगा कि वह कहें कि अपनी कोई सन्तान नहीं है, कल से दो में से जो भी पीछे रह जाएगा तो उसे कौन देखेगा-भालेगा?—वैसे यह बात इतनी बड़ी नहीं थी कि जिसे वह अपने पति से नहीं कह सकती थीं, या इस कहने में कुछ अवांछनीय था। न कह पाने के पीछे बस एक ही अटक [बाधा] थी, वह यह कि यदि 'इनकी' बहन के पास ही कोई सन्तान होतीं तो वह अब तक अवश्य कह गयी होतीं। इनके बहन-बहनोई भी अजीब सन्त हैं। अत्यन्त सम्पन्न हैं। धार राज्य में बहुत बड़े अफसर हैं परन्तु पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट और श्रीमती विद्यादेवी भट्ट के भी कोई सन्तान नहीं थी। यदि उन लोगों के दो भी होतीं तो श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या ने पति को बाध्य किया होता कि एक को गोद ले लें। चूँकि उधर कोई नहीं था और स्वयं उनके भतीजे त्र्यम्बक के पाँच लड़के और तीन लड़कियाँ थीं। बहुत आसानी से किसी

को गोद लिया जा सकता था परन्तु हर बार यह संकोच मन में आता कि पता नहीं पति कहीं यह न सोचने लगें कि पत्नी अपने भाई के परिवार का वर्चस्व उनके परिवार में भी चाहती है। और यह न कह पाने की विवशता दिनों-दिन हाहाकार बनती जा रही थी। जिस करवट भी लेटें, बस यही प्रश्न उन्हें सालता कि क्या होगा! कैसे होगा? यह अजीब सांसत थी कि वह न तो भूल पाती थीं और न ही कह पाती थीं और न इस प्रश्न का कोई अन्य निदान ही समझ में आता था। यदि किसी दिन भूले-भटके इस बारे में थोड़ी सी भी भूमिका बनाओ तो इतने आधिकारिक ढंग से आपकी बात, शंकाओं को काटेंगे जैसे दूसरे ब्रह्मा हों। कहेंगे कि 'तुम व्यर्थ में सामान्य सांसारिक स्त्रियों की भाँति इन छोटी बातों की चिन्ता करती हो। मेरी बात कान खोलकर सुन लो कि तुम सधवा ही इस संसार से जाओगी। मैं तुम्हें अग्नि की साक्षी देकर लाया हूँ तो क्या मँझधार में छोड़ देने के लिए? तुम्हारे जाने के बाद ही मैं जाऊँगा। यदि मेरी यह बात मिथ्या हो जाए तो समझना कि तुम्हारे पति की सारी साधना प्रपंच थी, सारा ज्योतिष शास्त्र झूठा था।'—अब बताओ, है कोई इस बात का जवाब? पूछो कि—क्या, ब्रह्मा का लेख भी तुम्हारे शास्त्रों में लिखा है क्या? लेकिन कौन पूछे?

इन लोगों के सीढ़ियाँ चढ़ने तक श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या अपने को व्यवस्थित करने लगीं। वह समझी थीं कि त्र्यम्बक के साथ नागेश्वर जी ही होंगे परन्तु जैसे ही श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय को दुर्गा के साथ देखा तो कुछ सकपकायीं परन्तु प्रसन्न भी हुईं। उन्होंने जैसे ही पति को झकझोर कर जगाना चाहा तब तक सब लोग ऊपर पहुँच चुके थे।

पण्डित नागेश्वर उपाध्याय चटाई पर बैठते हुए बोले,

— सोने दीजिए, तब तक हम लोग बैठते हैं।

लेकिन पण्डित नारायण जी पण्ड्या इस बीच जाग चुके थे। सचेत होते हुए बोले,

— यहाँ बँगवई पर आइए, नीचे कहाँ बैठते हैं?

इस बीच श्रीमती यमुनादेवी पण्ड्या नयी दरी निकाल लायी थीं। दरी को चटाई पर बिछा दिया। दरी के चटकीले रंग कमरे में खिल आये जैसे किसी ने कमरे में हजार फूल बिखेर दिये हों। दो तकिये दीवाल से खड़े-खड़े लगा दिये गये। पण्डित नारायण जी पण्ड्या कुल्ला करने के लिए भीतर चले गये। इस बीच दुर्गा ने बँगवई वाली दरी उठाकर बँगवई के दूसरी ओर स्त्रियों के लिए बिछा दी। पण्डित नारायण जी पण्ड्या ने आते ही नागेश्वर जी का हाथ पकड़ा और तकिये के सहारे बैठा दिया और तब अत्यन्त मुग्ध भाव से मुसकराते उनकी ओर देखने लगे। जब देख चुके तब आत्मिक प्रसन्नता के साथ बोले,

— आज कितने दिनों बाद आप दोनों के दर्शन हुए।

उपरान्त वह पत्नी से बोले,

— ज़रा चश्मा और आल्मारी पर रखा बस्ता देना तो।

अभी बुआ माँ उठें इसके पूर्व ही पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने उठकर दोनों चीजें लाकर उन्हें थमा दीं। इस बीच पण्डित नारायण जी पण्ड्या बैठ चुके थे। स्त्रियाँ बातों में व्यस्त गयी। पण्ड्या जी चश्मा धोती के खूँट से साफ करते हुए फिर पत्नी से बोले,
— सिर्फ बातें ही होंगी या कुछ आगत-स्वागत भी होगा!
और बस्ता खोलकर पुराने पंचांगों की धूल झाड़ने लगे। पण्डित नारायण जी पण्ड्या की बात पर नागेश्वर जी बोले,
— घर में कैसा आगत-स्वागत?
इस पर श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या हँसते हुए बोलीं,
— घर भी जब कोई व्यक्ति बहुत दिनों बाद आता है तो घर को भी उसका आगत-स्वागत करना ही होता है।
इस पर दुर्गा बोली,
— बात कैसे कही जाए यह कोई बुआ जी से सीखे।
सब हँसने लगे। श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या को भीतर जाते देख दुर्गा और श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय भी उठकर भीतर चल दीं।

पण्डित नागेश्वर उपाध्याय अपनी तथा पत्नी की जन्म कुंडलियाँ लाये थे। नागपुर से लौटने के बाद वह स्वतन्त्र रूप से कारोबार करना चाहते थे। नागपुर में सम्मेलन के अवसर पर उन्होंने जो प्रदर्शनी देखी तथा विभिन्न लोगों से इस व्यवसाय के बारे में जानकारी हासिल की उससे लगा कि सामान्य पूँजी लगा कर भी गाँधी-भण्डार से अलग इसका व्यवसाय आरम्भ किया जा सकता है। गाँधी-भण्डार का वेतन और कमीशन कभी उनकी आवश्यकताओं को पूरी नहीं कर पाते थे। परन्तु अपने आरम्भिक जीवन के कटु और असफल अनुभवों के कारण वह किसी नये व्यवसाय में बहुत सोच-समझकर ही अपनी गाढ़ी जमा-जथा लगाना चाहते थे ताकि फिर असफलता हाथ न लगे। वे आरम्भिक दिन थे तो असफलता झेल भी ले गये पर अब सम्भव नहीं था क्योंकि जितना कुछ कतर-ब्योंत के बाद इनके पास था उसे किसी भी दृष्टि से पूँजी नहीं कहा जा सकता था। बस इतना था कि छोटा-मोटा व्यवसाय खड़ा कर सकते थे। इस बार की नागपुर-यात्रा में वह यह भी समझ गये थे कि खादी के साथ किस प्रकार राजनीति भी जुड़ी हुई है और राजनीति में किसी भी प्रकार की सफलता के लिए आर्थिक रूप से व्यक्ति को मजबूत होना चाहिए। पूरे स्वतन्त्रता आन्दोलन में वह देख रहे थे कि नेता, सेवक नहीं थे और सेवक, नेता नहीं थे। लौटकर जब पत्नी से परामर्श किया तो यही तय पाया कि पण्डित नारायण जी पण्ड्या से पूछकर ही इसमें हाथ डाला जाए। कहीं ऐसा न हो कि जीवन के इस उत्तरकाल में पास की जमा-पूँजी तो जाए ही और जग-हँसाई ऊपर से हो।
पण्डित नागेश्वर उपाध्याय का प्रश्न सुनकर पण्डित नारायण जी पण्ड्या बोले,
— *मात्र इस प्रश्न के लिए दोनों की कुण्डली लाने की क्या आवश्यकता थी? यह तो गोचर से भी बताया जा सकता था, खैर।*

— हमने सोचा कि शायद इनकी जरूरत पड़ ही जाए ।
— चलिए, कुण्डलियाँ भी देख लीं तो बात एकदम स्पष्ट हो गयी ।··· नागेश्वर जी ! आपकी जन्मकुण्डली में तो व्यवसाय का योग नहीं है ।
इस बीच नाश्ते और चाय के साथ तीनों महिलाएँ भी आ गयी थी । पति की बात श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या सुन चुकी थीं, अतः बोलीं,
— तो फिर और कोई योग होगा ?
पत्नी की बात को अनसुना करते हुए पण्ड्या जी बोले,
— पर नर्मदा बहन की जन्मकुण्डली में व्यवसाय का पूर्ण योग है ।
— तब तो एक ही बात हुई ।
पत्नी की बात पर पण्डित नारायण जी पण्ड्या ने चश्मे में से देखते हुए कहा,
— है भी, और नहीं भी ।
— यह कैसे फूफा जी ?
— त्र्यम्बक ! नागेश्वर जी शुक्र की महादशा में प्रवेश कर रहे हैं, शनि की दृष्टि भी है अतः यह अब राजनीति में जाएँगे ।····एक बात यह भी कि राजनीति के सन्दर्भ में कारावास का भी योग है । इसलिये यदि स्वतन्त्र रूप से नर्मदा बहन बिना पति की सहायता के व्यवसाय करें तो निश्चित ही सफलता मिलेगी ।··· और कुछ ?

इस बीच सब लोगो ने नाश्ता आरम्भ किया पर पण्डित नारायण जी पण्ड्या अभी भी ध्यानस्थ भाव से आँखें मूँदे जैसे कुछ सोचते से लग रहे थे, उसी मुद्रा में वह बोले,
— शुक्र की महादशा की समाप्ति के पूर्व सम्भव है सागर-प्रवास भी हो, परन्तु इसकी क्षीण आशा है । और कुछ पूछना है क्या ?
इस पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने संकोच से पूछा,
— स्वास्थ्य वगैरा कैसा रहेगा और पुत्र····
तत्काल पण्डित नारायण जी पण्ड्या बोले,
— स्वास्थ्य तो ठीक रहेगा । शरीर का तो कुछ न कुछ चलता ही रहता है । हाँ, जहाँ तक पुत्र का सम्बन्ध है तो आपकी जन्मकुण्डली से लगता है कि वह एक बार और अपना काम बदलेगा लेकिन बहुत आश्चर्य नही कि वह आपके व्यवसाय में आकर आप लोगों की मनोकामना पूर्ण करे । अभी तो वह आगर में है न ?
— जी, वहाँ अध्यापक है ।
— स्थान परिवर्तन के साथ व्यवसाय परिवर्तन बहुत शीघ्र होगा ।
और बात समाप्त कर वह भी नाश्ता करने लगे । इस अन्तिम बात को सुनकर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय और पत्नी दोनों के किंचित खिन्न मन पूर्ण रूप से खिल उठे । इस बीच सौंफ-सुपारी की तबक से आयी थी । खाते हुए ही पण्ड्याजी ने त्र्यम्बक से पूछा,

— पण्डित गोवर्धन जी व्यास तो नाथद्वारे वापस चले गये न ?

— हम लोगों ने तो बहुत चाहा कि वह अब नाथद्वारे न जाएँ ।

— किसी के ग्रहों को क्या करोगे त्र्यम्बक ? अच्छा हुआ कि उन्होंने इस उज्जैन को अपने मन पर से भी बासी कपड़ों सा उतार दिया । उनका कल्याण भगवान की करते रहने में ही है ।

पण्डित नारायण जी पण्ड्या कुछ आतुर दिखलायी दिये तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लगा कि फूफा जी के मंगलनाथ जाने का समय हो गया है, बोले,

— आपका तो मंगलनाथ जाने का समय हो रहा है अब ?

— आपके पास भगवान् के लिए समय हो, इससे अच्छा ग्रह-योग जन्म-कुण्डली में दूसरा हो ही नहीं सकता ।

और सब विदा हुए ।

सर्वपितृ अमावस्या को श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय प्रतिवर्ष अपने यहाँ श्राद्ध का आयोजन करती हैं तो उपाध्याय-परिवार की मातृ-नवमी पण्डित नागेश्वर उपाध्याय के यहाँ सम्पन्न होती है। मातृ-नवमी का आयोजन तो बहुत-कुछ पारिवारिक स्तर का ही होता है परन्तु सर्वपितृ अमावस्या के दिन पूरी ज्ञाति के ब्राह्मणों के अलावा अनेक ब्राह्मण, वेद-पाठी विप्रगण, ब्रह्मचारी, साधु-संन्यासी आदि आमन्त्रित किये जाते हैं। उस दिन कुल मिलाकर हजार-दो हजार व्यक्तियों का भोज हो जाता है, जिसकी तैयारी आठ-दस दिन पहले से होने लगती है। दूसरे दिन से नवरात्र आरम्भ हो जाते हैं अतः उसका भी सांगोपांग विधि-विधान के साथ कार्यारम्भ हो जाता है। इन दिनों देवी की स्थापना होती है। यव बोये जाते हैं। इन यवो की रक्षा की जाती है। सप्तमी से लेकर नवमी तक का पूजन-आराधन घर-घर में सम्पन्न होता है। पितृपक्ष मे घर-घर गौरी कन्याएँ दुई पाटी के फूलों से प्रतिदिन दीवालों पर 'संझा' मांडती हैं, जिनका विसर्जन महालया के दिन लड़कियाँ खूब गाते-बजाते क्षिप्रा या पास के जलाशय में जाकर करती हैं। नवरात्र के दिनों में घर-घर प्रति रात्रि को आँगन में बड़ी सी समई [दीपाधार] रखकर स्त्रियाँ, लड़कियाँ पार्वती के विवाह के गीत गाती हैं। गरबा-नृत्य होता है। वर्ष के इस अवसर पर परिवार के सारे लोग कहीं भी हों अपने घर देवी की इस वार्षिक पूजा में अवश्य आते हैं। नवरात्रि जैसे वर्ष-चक्र की नाभि हो। सारी भारतीय चेतना इस चक्र के चारों ओर प्रदक्षिण करती है इसीलिए नवरात्रि भारतवर्ष का जातीय-पर्व है।

वैसे तो श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय के लिए कोई बाध्यता नही थी कि सर्व-पितृ अमावस्या पर प्रतिवर्ष इतना विशद अनुष्ठान करें। यों भी इस दिन का जो भी शास्त्रीय विधि-विधान है उसका भी दायित्व वस्तुतः उनके पुत्र बसन्तीलाल पर ही

था। चूँकि बसन्तीलाल रतलाम में रहते थे इसलिए यह आयोजन अपने सामान्य रूप में वहीं सम्पन्न होना भी चाहिए था। शायद ऐसा ही होता भी परन्तु, एक तो श्रीमती गायत्रीदेवी रतलाम नहीं जाना चाहतीं; दूसरे, इस वार्षिक आयोजन के द्वारा वर्ष में एक बार वह दान-दक्षिणा का विशद कार्यक्रम कर लिया करती थी इसलिए यह अनुष्ठान उज्जैन में ही होता था और फिर यहाँ नागेश्वर काका भी तो थे, जो प्रति-वर्ष 'मातृ नवमी' मनाया करते थे। अतः जब उपाध्याय-परिवार उज्जैन में ही सिमट आया है तो अब रतलाम में केवल बसन्ती और उसकी बहू के अलावा कौन है? जमीन-जायदाद, घर-मकान सम्पत्ति होते हैं, कुल-कुटुम्ब तो नहीं होते।

इस सारे अनुष्ठान का पौरोहित्य पण्डित नारायण जी पण्ड्या करते। पुत्र बसन्ती भी रतलाम से आ जाता, जो कि सारी पूजा-अर्चा, दान-दक्षिणा देता-लेता। मठो-अखाड़ो को सीधा-सामान दिया जाता। अनाथ विधवाओं, गरीब ब्राह्मणियों को भोजन-वस्त्र दिये जाते। वैसे तो एकादशी, पूर्णिमा, अमावस्या के मासिक दान-दक्षिणा के साधारण व्यवहार तो होते ही रहते थे परन्तु सार्वजनिक अनुष्ठान के रूप में एकमात्र यही आयोजन होता। यों तो मासिक अभिषेक, गायत्री के पुरश्चरण आदि करवाती रहती थी परन्तु उन सबमें धर्म-भाव ही प्रमुख होता, न कि अनुष्ठान-भाव।

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय का व्यक्तित्व जिस संकल्प-शक्ति और मार्दव माधुरी के योग से निर्मित होने पर भी उत्तरोत्तर असंग होता गया वह स्पृहणीय था। संकल्प की कठोरता उन्होंने अपने लिए रख ली थी तो मार्दव माधुरी का व्यवहार वह लोगों के साथ करती थीं। अपने लिए वह असंग कठोर थी परन्तु शेष लोगों के लिए वह आसक्त कोमल थी। आरम्भ में जब वह रतलाम से आयी थी कि यहाँ एकान्तवास करेंगी उस समय आयु की दृष्टि से वह पूर्णवयस्का भले ही रही हों परन्तु आत्म-संकल्प और जीवन-दृष्टि के बारे में बहुत स्पष्ट नहीं थी। मात्र पूजा-पाठ या तीर्थ-स्नान और व्रतादि की प्रथा का पालन अथवा कथा-भागवत बांचना-सुनना बहुत अधिक सहायक नहीं हो सकते थे। ये ग्रन्थ, पुराण, यम-नियम आदि आपकी निष्ठा, संस्कार या प्रकृति तभी बन सकते हैं जब ये आपके व्यक्तित्व की अनिवार्यता बन जाएँ। ज्ञान भी तभी दिशा-निर्देश करता है जब वह केवल जिज्ञासा या तर्क न रहकर आपके व्यक्तित्व का छन्द बन जाए। ज्ञान हो या भक्ति, उसे अनुस्यूत होना चाहिए। अनुस्यूति ही बोध है, आस्था है। आस्था ही साधना द्वारा क्रमशः स्वत्व बनती है। बिना ऐसी आधारभूत दृष्टियुक्त आस्था के ये पुराण-कथाएँ, शास्त्र-मीमांसाएँ भले ही चिरकाल तक पढ़ी जाएँ, सुनी जाएँ, पर ये कभी काष्ठ-कलेवर वाला अपना भ्रामक आवरण नहीं उतारतीं। तत्त्व के दिगम्बर स्वरूप को केवल पूर्ण संमर्पण के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। कौतूहल, जिज्ञासा से जूठन ही हाथ आती है। धर्म या धर्म-दृष्टि को सामान्यतः स्वीकृति मान लेने पर या तो अतात्विक पाखण्ड आ जाएगा या द्वेषपूर्ण संकीर्णता। सम्प्रदाय पथ हो सकता है, माध्यम हो सकता है उस परम इति का, जो कि धर्म है। धर्म, निरानन्द है। उसका कोई सम्प्रदाय नहीं है। हमारा प्रयोजन भाव

ही धर्म को सम्प्रदाय का स्वरूप देता है। अग्नि को प्रयोजन भाव से जब हम ग्रहण करते हैं तब वह हमारे रसोई मे काम आती है, हमारी स्वाहा-सामग्री को ग्रहण करती है, हमारी मांस-मज्जा वाली देह को भस्मीभूत करती है। अग्नि तब भी निरानन्द ही है—न वह रसोई से आबद्ध है, न यज्ञ से आबद्ध है और न ही स्मशान की अशौचता से बँधी है। धर्म भी सम्बन्धहीन, नामहीन एक भावस्थिति है।

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के सन्दर्भ में पति के अतिरिक्त दो व्यक्तियों का प्रभावी महत्व रहा है—एक तो उनके अग्रज पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट का और दूसरे सम्बन्ध-हीन व्यक्ति पण्डित शिवशंकर आचार्य का। जहाँ तक अग्रज का प्रश्न है, तो यही कहा जा सकता है कि उन्होने अपनी इस एकमात्र आत्मीय सहोदरा के व्यक्तित्व निर्माण की आरम्भिक मानसिक एवं सांस्कारिक आधारभूमि तैयार की, क्योंकि स्वयं उनकी भी यही दिशा थी। अग्रज की इस आधारभूमि के कारण श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय की अपने गार्हस्थिक जीवन के विलास और विपत के दिनों में बहुत कुछ रक्षा ही हुई। वह अपने को पूरी तरह टूटने से बचा ले गयी। पति की विलासिता या उद्दामता के सम्मुख वह इसलिए पूर्ण अवश नही हो पायीं या अपने व्यक्तित्व की अकलुषता को बहुत दूर तक अक्षुण्ण बनाये रख सकी क्योंकि अग्रज ने उन्हें अपने आत्मिक वैभव और ऐश्वर्य के महत्व को समझा दिया था। इसीलिए वह वैवाहिक जीवन और परिवेश की पदार्थिक चमक-दमक से स्वयं को तटस्थ रख सकी। इससे अधिक कोई भी भाई अपनी बहन के सन्दर्भ में और कुछ कर ही नही सकता है, क्योंकि नारी-व्यक्तित्व और नारी-जीवन का तात्विक संघर्ष, विषमता जिस आयु में आरम्भ और घटित होते हैं उस समय नारी पराये घर में नितान्त अपरिचितो के बीच होती है। साथ ही जिस व्यक्ति को लेकर नारी अपनी देह और अपने मन पर से उत्तरोत्तर पुरानी संज्ञाएँ उतारती चलती है और नयी-नयी धारण करती होती है उस व्यक्ति की प्रियता अथवा अप्रियता के बारे में कोई भी, कैसा भी भाई क्यों न हो, कुछ नहीं कह सकता। कल तक भले ही वह नारी आपकी पारिवारिकता का एक हिस्सा रही हो पर संकल्प और दान के बाद सर्वथा भिन्न हो जाती है—आप केवल उसका वैभव या विषमता देख सकते हैं, और कुछ नही। उस स्थिति में भाई-बहन का सम्बन्ध अपनी आत्मीयता, प्रगाढ़ता, पवित्रता के बाद भी मात्र औपचारिक रहने के लिए बाध्य होता है। पति पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय, कामदार साहब ने श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय की मानसिकता और व्यक्तित्व की निर्मल सहजता में जो वलय, प्रतिवलय उत्पन्न कर दिये थे उन्हें बहुत असामान्य भी नहीं कहा जा सकता था। पति के साथ दीर्घकाल तक गृहस्थी ढोनी पड़ती तो इस प्रकार की भावनात्मक विषमताओं के गार्हस्थिक एवं पारिवारिक निदान प्रायः निकल ही आते हैं। स्त्रियों के साथ यही तो होता है, परन्तु श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय कभी भी पतिमय नहीं हो सकीं। बल्कि एक स्थिति के बाद तो वह विमुख न भी सही, तो भी उदासीन तो होती ही गयीं। प्रायः स्त्रियाँ उदासीनता की स्थितियों में भी अपनी कथनीय-अकथनीय, परिमापित-अपरिमापित ग्रन्थियों और कुण्ठाओं के साथ भी न

केवल जीती रहती हैं परन्तु सामान्यतः उस असन्तोष की आहट भी नहीं होने देती हैं। ऊपर से किसी भी स्त्री को देखकर आपको उसके परम दुःखी होने की प्रतीति नहीं होगी उल्टे वह आप में भी माधुरी-भाव ही जगा देगी। इष्ट-मित्रों, पारिवारिक या जातीय आयोजनों-अनुष्ठानों के समय वे लाख रम्य वस्त्रों, बहुमूल्य अलंकारों, मादक सुगन्धों और मधुर चित्ताकर्षक व्यवहारों के साथ भूषित, सज्जित और आकर्षित करती लगें या दिखें परन्तु उस सारी सामाजिक खिलखिलाहट, औत्सविक प्रसन्नता के भीतर उन स्त्रियों के अन्तर में ऐसा कारुणी हाहाकार होता है कि किसी दिन वे उसे भाषा दे दें तो सम्बन्धों की, परिवार की सारी मान-मर्यादाएँ ढह जाएँ। परन्तु सामान्यतया इसकी रंच मात्र भी चिन्ता न पति, न सन्तान, न किसी सम्बन्धी को होती है, और एक दिन वही स्त्री, जिसकी देह हमारे लिए अलभ्य फल थी, जिसकी देह को फोड़कर हम इस संसार में आये थे, पूर्ण अपरिभाषित, अनव्याख्यायित इस संसार से विदा हो जाती है। यदि श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय की गृहस्थी भी सामान्य रूप से चली होती तो बाहर से देखने पर आजन्म यह भ्रम बना रह सकता था कि इन्हे जैसा पुत्र-कलत्र का सुख, वैभव-सम्पन्नता मिली वह न जाने कितने जन्मों के पुण्य-प्रताप से ही सम्भव हुआ है। परन्तु कितने जानते हैं कि पेट की ज्वाला ही व्यक्ति को नहीं जलाती बल्कि मन का ऐकान्तिक हाहाकार समस्त ज्वालाओं से भी अधिक प्रचण्ड होता है जबकि सामान्यतः तो मनुष्य, पेट को ही विचार का केन्द्र बनाकर सोचता है कि मनुष्य जीवन की आधार-भूत तथा एकमात्र समस्या पेट ही है। तभी तो पेट भर जाने पर ऐसे लोग, मनुष्य कहाँ रह जाते हैं? मनुष्य बनने के लिए पेट के ऊपर यात्रा करनी होती है जबकि पेट भर जाने के बाद मनुष्य पेट के नीचे की ओर यात्रा करने लगता है और एक स्थिति तो आती है कि वह पूरी तरह नीचे गिर जाता है।—चाहे, अनचाहे कमला वाला अप्रिय प्रसंग घटित हुआ। उपरान्त कमला भी एक दुःखद प्रसंग सी बीत गयी। पति, लोक-भाषा में 'स्वर्गवासी' हुए परन्तु इस सबमें श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को भी तो बहुत बड़ी आहुति देनी पड़ी—अपने सौभाग्य की और मानसिक शान्ति की। शायद वर्चस्व मात्र के लिए आहुति देना अनिवार्य होता है। परन्तु यह बड़ी-बड़ी भाषा, परिभाषा और व्याख्या तो आज लगती है लेकिन उस दिन? उस दिन तो श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को हठात् शून्यता, अनाथत्व अनुभव हुआ था कि जैसे किसी ने उन्हें खड़े-खड़े चीर दिया हो। वह अपने सौम्य व्यक्तित्व के कारण किसी के भी सामने विकल या विह्वल तो नहीं हुई लेकिन क्या एकान्त में व्यथित भी नहीं हुई? एकान्त मे कैसा भी दर्द हो अधिक ही कसमसाता है। जैसे भी थे, थे तो पति ही। जैसी भी विषम स्थितियाँ थीं पर उनके कारण सामाजिक स्थिति की, सुरक्षा की, सम्पन्नता की, मान-मर्यादा की आड़ थी। पुरुष के लिए तो निश्चय ही आड़ बाधा होती है परन्तु स्त्री के लिए आड़ अत्यन्त आवश्यक होती है। स्नान करने जैसी छोटी चीज के लिए भी स्त्री को आड़ चाहिए। तभी तो पति की मृत्यु के बाद, क्या !!—रतलाम में वह निश्चित हो रह सकती थीं। पुत्र बसन्ती आज्ञाकारी ही कहा जाएगा। यदि कोई माँ घर-परिवार में

स्वत्व और आचरण से अपरिग्रही, अनासक्त और जिज्ञासाहीन होकर रहती है तो भला किसी भी पुत्र या पुत्रवधू को क्या आपत्ति हो सकती है ? टकराने के शाब्दिक अर्थ में जब श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय अपने पति तक से नहीं टकरायीं तब अपने पुत्र-पुत्र-वधू से टकराने की क्या जरूरत हो सकती थी ? वह तो अपनी ओर से हर बात का तिनका तोड़ चुकी थी, तब उनकी बला से। तुम जानो और तुम्हारा संसार जाने। नहाने के बाद व्यक्ति जल को देह पर लिये थोड़े ही घूमता है, पोंछ लेता है। वह भी सम्बन्धों का जल रगड़ कर पोंछ चुकी थीं। किसी अन्य साधारण स्त्री के साथ तो परिवार में उलझन हो भी सकती थी परन्तु श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय जैसी असम्पृक्त मनस की महिला से क्या और किसे उलझन हो सकती थी ? तब भी स्वयं उन्हें ही लगा कि लाख बसन्ती आज्ञाकारी पुत्र हो और कल्याणी सुशील पुत्रवधू हो परन्तु इन दोनों की अपनी वैसी ही वैयक्तिक सत्ता, आकांक्षाएँ हैं जैसी कि कभी उनकी अपनी रही हैं। हम लाख अनासक्त हो जाएँ तब भी हमारे अवचेतन में कुछ न कुछ अपेक्षाएँ होती हैं और जब इनकी पूर्ति नहीं होती है तो पारिवारिक कलह होते हैं। जिस व्यक्ति के कारण उनकी अपनी प्रिय या अप्रिय जैसी भी सांसारिकता थी जब वही नहीं रह गयी तो पुत्र और पुत्र-वधू की परायी सांसारिकता से जुड़े रहने, दुःख पाने से लाभ ? क्यों किसी अवाछित नये क्लेश का जान-बूझकर भोक्ता बना जाए ? और यदि भोक्ता बनना ही मनुष्य की नियति है तो आटे-दाल या गहने-कपड़ों का भोक्तात्व स्वीकारने से क्या अच्छा नहीं है कि व्यक्ति अपनी नियति किसी बड़ी चीज से जोड़े ? हो गया इस देह का सांसारिक लेन-देन। वह चाहे प्रिय रहा हो अथवा अप्रिय—एक कर्तव्य था जिस पर आपका कोई वश नहीं था। जब तक अनिवार्य था तो आसक्ति-विरक्ति के साथ सम्पन्न हुआ पर अब किसलिए ? अब यदि फिर किसी नयी सांसारिकता से जुड़े तो क्लेश, कलह, परिताप और दुर्गति अनिवार्य है—ना बाबा !!

और जब अपनी देह पर से ही नहीं बल्कि अवचेतन मन तक पर से भी सम्बन्ध, परिधान और अलंकार, सब कुछ उतार कर वह उज्जैन चली आयीं तो मन को कैसा हल्का और खुलापन लगा था जैसे कई दिनों की भाद्रपद की झड़ी के बाद धुली धूप और खुला नीला आकाश दिखा हो। एक प्रकार की निष्कृति सी लगी थी। ऐसी ही निश्चिन्त मनोदशा में पण्डित शिवशंकर आचार्य से साक्षात् हुआ था। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने बहुत दिनों तक पण्डित शिवशंकर आचार्य के यदा-कदा मिलते रहने को मात्र संयोग या सौजन्य ही माना। यह यदा-कदा का मिलना कब साक्षात् जैसा लगा और कब यह साक्षात् एक सम्पर्क जैसा लगने लगा—बता सकना तो कठिन है परन्तु इतना अवश्य याद पड़ता है कि साक्षात् की प्रतीति जब हुई तो शायद दोनों ही सतर्क से हो उठे। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय अपनी बात जानती हैं कि वह सतर्क केवल इसी अर्थ में हुई थीं कि पण्डित शिवशंकर आचार्य से कोई सम्बन्ध न होने पर भी उनकी उपस्थिति मनोरम लगती। वैसे श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय की जैसी सामाजिक स्थिति रही है उसमें उनकी ओर किसी भी प्रकार की अँगुली न तो किसी को

आवश्यकता ही हुई और न ही उसमें कुछ यथार्थता होती। उन्हें किसी की कृपा य अनुकम्पा की आवश्यकता नहीं थी बल्कि वे ही कृपालु हों या अनुकम्पित हो यही सबकी कामना हो सकती थी। इस स्थिति के लोग सामान्यतः अभिमानी और अहंकारी हो जाते हैं। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय प्रकृत्या जो भी रही हों परन्तु अपने अग्रज द्वारा प्रदत्त सस्कारो के कारण सदाशयी ही थीं। साथ ही जीवन के अपने अनुभवों ने उन्हें आत्ममुखी तो बनाया ही परन्तु यह भी समझ में आया कि आवश्यकता से अधिक निकट जाने पर जैसे दृष्टि झलमला जाती है उसी तरह सम्बन्धों में भी विग्रह उत्पन्न होने लगता है। स्पष्ट देखने के लिए तथा साम्य सम्बन्धो के लिए हाथ भर की दूरी तो अनिवार्य ही है। किसी को भी निकट आने देने का तात्पर्य है अपने लिए विषमता उत्पन्न करना। शायद इसीलिए सदाशय, सद्भाव, सहानुभूति या सदावर्त—इनमें से किसी की सीमा को न तो स्वयं लांघा होगा और चेष्टा भर किसी को लांघने भी नहीं दिया होगा। स्वयं पर वह आक्षण अंकुश लगाये रहीं। उज्जैन में ही देवर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय थे, जिन्हें वह मय देवरानी के चाहती भी रही हैं परन्तु उन दोनों की सांसारिकता से यह उस सीमा तक नहीं जुड़ीं कि जहाँ से क्लेश, विग्रह उत्पन्न होते हैं। उनकी समस्याओं से अवगत हुई हैं, सोत्साह सहयोग भी दिया होगा परन्तु चौबीसों घण्टे उनका व्यक्तित्व सबके सामने सतर्क हाथ जैसा ही रहा कि सिर का पल्लू अभी खिसका भर होगा कि हाथ ने तत्काल पहुँचकर उसे टोक कर ठीक कर दिया होगा। परन्तु इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि उनकी सारी सदाशयता या सहानुभूति केवल वाचिक ही रही हो, तब भी ऐसा व्यवहार सामान्य लोगों के बीच अमानवीय माना जाता है। किसी के सामने किसी ने न भी कहा होगा पर अपने घर में तो कहते ही रहे हैं कि इन दान-दक्षिणाओं, वस्त्रो आदि की सहायता से क्या होता है। सम्पन्न व्यक्ति को साधारण परिस्थितियों वाले परिजनों-सम्बन्धियों की रोज की समस्याओं से क्या लेना-देना? किसी के मीठे बोल बोल देने से घर में आटा-दाल तो नहीं आ जाता। आपका दो बोल मीठे बोल देने से कुछ गया भी नहीं और वाह-वाही अलग से लूट ली। है न? ठीक ही तो है, इतना संयमित आचरण यदि किसी को अवमानना भी लगे तो असंगत क्या है? लेकिन जो उन्हें जानते हैं वे यह नहीं मान सकते कि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय में अवमानना है। चूंकि अवमानना एक प्रकार का अहंकार होता है और श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय मे अहंकार तो नहीं ही था। सयमित आचरण तो वह अपने पुत्र तक से करती हैं। पुत्र को वह जिस प्रकार पाई-पाई का हिसाब देती हैं उसकी कतई आवश्यकता नहीं है, परन्तु उनका प्रयोजन इसके पीछे मात्र इतना ही रहा है कि कभी पुत्र को यह न लगे कि माँ, भले ही अपना पैसा, अनावश्यक खर्च कर रही हैं। वह न किसी पर आश्रित थीं और न निर्भर ही परन्तु व्यवहार के स्तर पर वह स्वयं के साथ भी सतर्क व्यवहार करती थी। वैसे संसार में सबकी अपनी-अपनी अपेक्षाएँ होती हैं और उनकी पूर्ति को ही वे सदाशयता मान सकते हैं पर कौन आज तक सबकी सारी अपेक्षाएँ पूरी कर सका है, जो श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ही कर पातीं। हाँ,

इस अतिशय सतर्कतावादी प्रकृति, आचरण और संयम ने उन्हें कई स्तरों पर सहज स्त्री के स्थान पर मानुषी बना दिया। ऐसी मानुषी, जो लौकिक अर्थ में दाता नहीं वरन व्यक्तित्व के स्तर पर भी सबके प्रति अनासक्त, अनाविल आत्मीय, समर्पित। इसमें यही कठिनाई होती है कि जो सबका हो जाता है वह किसी एक का नहीं होता और संसार मे सब, एक-एक ही होते हैं।—व्रत, उपवास, एकासना आदि वह केवल देह के लिए ही नही करती हैं बल्कि इन्हे वह मन के भी उपचार मानती हैं। देह और मन के बीच किसी भी प्रकार की सन्धि नही रहने देना चाहती—एक सन्धिहीन व्यक्तित्व !!

पर यह कौन जानता है कि आज जो व्यक्ति अनाम सा आपके सम्मुख मात्र उपस्थित है कल वह न केवल अनाम ही रहेगा बल्कि बहुत कुछ आत्मीय हो जाएगा। पण्डित शिवशंकर आचार्य भी तो श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के लिए पूर्ण अपरिचित, अनाम और असंज्ञ व्यक्ति ही तो उस दिन थे। उनके और इस नवागन्तुक के बीच जो सम्बन्ध था, वह भी क्या ऐसा सम्बन्ध था, जिसे सचमुच का सम्बन्ध कहा जा सकता था ? श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को पुत्रवधू कल्याणी, पण्डित शिवशंकर आचार्य के ममेरे भाई स्वर्गीय रविशंकर दवे की पुत्री थी। इस नाते वह कल्याणी के काका होते थे। लेकिन ऐसे दूरागत सम्बन्ध औपचारिक तो हो सकते हैं पर आपको निकटता नहीं दिला सकते। उस दिन जिस हठात् भाव से उनके दादा पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट, 'साहब' ने इन शिवशंकर महाशय को प्रस्तुत किया तब भी यही लगा था कि अब तक के देखे गये सम्बन्धियो, परिचितों और आगन्तुकों में से यह नवागत निश्चित ही भिन्न है। पर किस अर्थ मे है, इसे वह उस दिन तो कम से कम नहीं ही बता सकती थीं। किसी भी नये फूल के वनस्पति-व्यक्तित्व को देखकर हठात् उसके नाम, रूप, गुण और गन्ध को नही बताया जा सकता।

उस दिन; किस दिन ?

अरे, वही वसन्ती की बरात लौटी थी उस दिन, और क्या !! प्रथा के अनुसार दो-एक दिन बाद ही नववधू को मायके वाले वापस ले जाते हैं, इसके लिए बहू के घर-परिवार का कोई स्वजन एक-दो दिन बाद आता है और लिवा ले जाता है। बरात आयी थी तो प्रथा के अनुसार मायके की नाइन भी बहू के साथ आयी थी, जो उचित ही था परन्तु जब उड़ते-उड़ते किसी से सुना कि बहू के कोई काका हैं जो बरात के साथ ही लिवा ले जाने के लिए आये हैं तो कुछ अजीब सा ही लगा था कि ऐसा भी कहीं होता है ? परन्तु बाद में जब दादा ने बताया कि पण्डित शिवशंकर आचार्य वस्तुतः धौंसवारे वाले स्वामी जी के दर्शनों के लिए आये हैं। दो-एक दिन में बहू को विदा भी करा ले जाएँगे। सुनकर असंगत भी नहीं लगा और जिज्ञासा भी नही हुई क्योंकि इस प्रकार प्रायः लोग आते हैं।

पर महाशय जब रात भर स्वामीजी के आश्रम पर ही रुक गये और नही लौटे तो सबको चिन्ता हुई थी, जिसकी भनक श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के कानों तक भी ऊपर पहुँची थी। दूसरे दिन भी जब तीसरे प्रहर तक भी नहीं लौटे तो दादा आश्रम

जाने की तैयारी करने लगे कि चल कर देखा जाए कि क्या बात है ? वह भोजन करके कोठी के बाहर लॉन पर टहल ही रहे थे कि तांगा आ जाए तो, चलें, कि तभी फाटक खोलकर अन्दर आते हुए पण्डित शिवशंकर आचार्य दिखे। दादा ने जब उन्हे आकर बताया कि शिवशंकर जी लौट आये हैं, सीधे आश्रम से चले आ रहे हैं और भूखे-प्यासे हैं तब भी विशेष कुछ नहीं लगा था। उनके भोजन का सब प्रबन्ध किया गया था। ऐसे व्यक्ति के प्रति बस थोड़ा सा कौतूहल अवश्य हुआ था कि—बड़े अजीब आदमी हैं, पराये घर आये तो बिना कुछ भी कहे-बताये बाहर ही रह गये। शायद इसी कौतूहलता के कारण ही चिक की ओट से भोजन करते पण्डित शिवशंकर आचार्य को आते-जाते देखा भर था। उस उड़े-उड़े से देखने पर सिवाय उनकी पंचकेशी के और तो कोई खास बात नहीं दिखी थी, हाँ यह जरूर लगा था कि माटी से जुड़े इस व्यक्तित्व मे पता नहीं क्या है जिसके कारण ऐसा लगता है कि आप किसी व्यक्ति को न देखकर आत्मलीन वृक्ष को देख रहे हैं। वृक्ष केवल अपने लिए ही होते है। किसी दूसरे की उपस्थिति का उनके लिए कोई अर्थ नहीं होता, परन्तु इस प्रकार की आत्मीयता स्वार्थी नही होती, यह उनके स्वत्व की प्रकृति होती है। वह नीची दृष्टि किये ही भोजन करते बैठे थे। जो सदा नीची दृष्टि किये रहते हैं, ऐसे व्यक्ति या तो परम धूर्त होते हैं या फिर अनासक्त आत्मलीन होते हैं। परन्तु नीची दृष्टि किये होने पर जाने क्यों ऐसा लगा कि यह चूंकि देख नहीं रहे हैं वरन लिख रहे हैं इसलिए नीचे देखना उचित ही लगा। जब वह भोजन करके उठे तो हठात् उनके नेत्र सामने पड़ी चिक की ओर उठे। जिस समय उन्होंने चिक की ओर देखा होगा उस समय तो उन्हें इसकी कोई कल्पना भी नही होगी कि कोई इस चिक के पीछे खड़ा भी है, परन्तु जैसे ही इस कोई के खड़े होने की प्रतीति उन्हें हुई तो वह वैसे ही चौंके थे जैसे कि बड़े से बड़ा वृक्ष भी छोटी से छोटी हवा के स्पर्श मात्र से चौंक पड़ता है। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने उस क्षणान्त में भी देख लिया था कि ये नेत्र जब किसी को देखते होंगे तब भी प्रकारान्तर से अपने को ही देखते होंगे। ग्राम्यता उनकी धोती, बंडी से ही नहीं व्यंजित हो रही थी बल्कि सम्पूर्ण देह-यष्टि से अभिव्यक्त थी। सच तो यह था कि उस व्यक्तित्व में अपने को प्रस्तुत करने का कोई भाव नही था क्योंकि वह गमले के कोई गुलाब नहीं थे वरन घुटने-घुटने माटी में धँसे कदम्ब थे। उनकी वाणी तो नहीं पर जब वह दादा के साथ सीढ़ियां उतर रहे थे तब जो डूबी-डूबी आवाज सुनायी दी थी उसमें पक्षियों की प्रसन्न चहचहाहट का ही भाव लगा था, बस !! यही तो लगा था कि एक कलरव था जो सीढ़ियाँ उतर नीचे चला गया।

घर-परिवार में प्रायः नाते-रिश्तेदार, सगे-सम्बन्धी आते ही हैं। सम्बन्धों और सन्दर्भों को लेकर सबके बारे मे, उपस्थिति में तथा अनुपस्थिति में चर्चाएँ होती हैं, उल्लेख होता है, टीका-टिप्पणियाँ होती हैं, सहमतियाँ-असहमतियाँ प्रकट की जाती हैं। ऐसे आनेवालों में कुछ व्यक्ति भले ही अप्रिय भी लगें परन्तु सम्बन्धों की निकटता के कारण अनिवार्य भी होते हैं तो कुछ व्यक्ति दूर के होने पर भी अपनी शालीनता, सौम्यता और

व्यवहार के कारण अनुपस्थिति में भी सुगन्ध देते हैं। चूँकि पण्डित शिवशंकर आचार्य से कोई सीधा सम्बन्ध तो नहीं था तब भला भरी-पूरी कौटुम्बिकता में दूर के सम्बन्ध की क्या स्मृति हो ही सकती थी ? हठात् पूछने पर तो याद करने में कठिनाई ही होती कि किसे पूछा जा रहा है ? कौन ?...लेकिन जब एक दिन पुनः दादा के साथ पण्डित शिवशंकर आचार्य अपनी आध्यात्मिक देशजता के साथ उपस्थित हुए तो वह चौंकी थीं कि—कौन ?

अरे, वही व्यक्ति !

और उस दिन भी सारा बोलना-देखना, कहना-सुनना दादा ने ही किया था कि अब से गोविन्द श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के साथ ही रहेगा। पण्डित शिवशंकर आचार्य तब भी केवल भाषा से ही नहीं बल्कि अभिव्यक्ति मात्र से अनुपस्थित बने रहे थे। यद्यपि गोविन्द के अभिभावकत्व को स्वीकारते समय हठात् उन्हें ऐसा क्यों लगा कि जैसे वह कुछ और भी स्वीकार रही हैं; लेकिन कुछ और क्या ?....मनुष्य का मन ही सबसे बड़ा मायावी होता है। किसी दूसरे से नहीं बल्कि वह स्वयं से ही खेल खेलता है। दिनों नहीं, महीनों नहीं बल्कि दो-एक वर्ष तक श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय का मन क्या यह स्वीकार कर सकता था कि पण्डित शिवशंकर आचार्य के आने, उनकी उपस्थिति के प्रति वह ऐसी सचेत रहती हैं जैसे वह केवल नेत्र हों, कान हों। या यह कि इस बार कितने दिनों से नहीं आये न ? यदि वह अपने से पूछती कि ऐसी चिन्ता, व्यग्रता क्या मन का अनुराग नहीं है, तो वह अपने मन पर अस्वीकार का इतना बड़ा पत्थर रख देती कि सारी संभावनाएँ कुचल उठती, परन्तु मनुष्य का मन ही है कि बारम्बार कुचले जाने पर भी उसमें से कल्ले फूट उठते हैं और हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। मनुष्य सोचता है कि वह बड़ी कुशलता से सामने वाले को छल रहा है या वास्तविक के प्रति भ्रम में डाले हुए है परन्तु वस्तुतः वह स्वयं को ही छल रहा होता है। सामने वाले को आप आद्यन्त दिख रहे हैं, यह आप भूल जाते हैं। हम स्वयं को लाख वहन करें परन्तु अपने को देख कब पाते हैं ?

बड़नगर में जब पण्डित आनन्दशंकर दवे का उत्तरकार्य होना था तब शायद यह पहला अवसर था जब इतने दिनों के लिए तथा इतनी विभिन्न स्थितियों में दोनों एक-दूसरे के सम्पर्क में आये। ऐसे में कई मौकों पर यह लगता कि जैसे व्यक्तित्व की अँगुलियाँ हर बार एक-दूसरे को छू रही हैं और आद्यन्त सिहरन दौड़ जाती है। वैसे ठीक से याद नहीं पड़ता कि पति की मृत्यु के समय पण्डित शिवशंकर आचार्य को देखा था कि नहीं, पर सुना अवश्य था कि वह आये थे। और उस समय जैसी मानसिकता थी उसमें किसी को भी देखने-सुनने का कोई अर्थ भी नहीं था लेकिन बड़नगर में तो ऐसा लगने लगा कि दोनों एक दूसरे की जैसे परिक्रमा कर रहे हैं। उत्तरकार्य से सम्बन्धित हर बात, व्यवस्था के लिए न केवल परामर्श जरूरी लगता बल्कि जैसे प्रतिनिर्भर हैं। दो-एक बार तो काम की आपाधापी में लगभग टकरा ही गये, बल्कि कहना चाहिए कि सिर तक खुल आया। उस समय दोनों ही अचकचाए होंगे। दोनों को अपनी ही

जल्दबाजी, असावधानता ;लगी होगी और दोनों को ही अपने-अपने एकान्त में यही लगता रहा होगा कि—पता नहीं क्या सोचा हो ? कितनी ही देर तक वह स्पर्श देह से निकल कर मन को झनझनाता रहा। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के निकट उस स्पर्श की रोमांचकता का यही पक्ष था कि पति के स्पर्श के बाद यह भिन्न स्पर्श था। पर केवल पुरुष का लगा, जबकि लगना चाहिए था पर-पुरुष का। क्यों यह पर-पुरुष का भाव नहीं जागा इसे वह किसी दिन नहीं समझ पायीं। हाँ, संकोच तो ऐसा हुआ होगा कि उस स्पर्श के बारे में सोचने भर से मन तक नग्न हो गया लगा होगा। सम्भव होता तो वह अपने मन की भाँति अपने देह को भी सिकोड़ लेतीं कि फिर किसी दिन ऐसी विषमता न उत्पन्न हो। सच तो यह था कि जब भी वह स्पर्श स्मरण आता तभी कहीं अन्तरतम में यह धिक्कार भी आती कि वह विधवा होकर एक पुरुष, भले ही पर-पुरुष का भाव न देता हो, के स्पर्श के प्रति क्यों इतनी व्यग्र हैं ? उन्हे इस सबका क्या अधिकार है। पति के साथ ही पत्नीवाली सारी इच्छाएँ, लालसाएँ, कामनाएँ, वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं। यही तो लोक में विधवा से अपेक्षित है, सच भले ही न हो। व्यक्ति लोकाचार के सम्मुख विवश होता है तभी तो प्रति बार श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने निर्णय लिया होगा कि अब वह हर स्थिति में और अधिक सचेत रहेंगी। यद्यपि वह यह जानती थीं कि इस प्रकार की विषम अनायासता में पण्डित शिवशंकर आचार्य जैसे व्यक्ति की ओर से सायासता सम्भव ही नहीं है, क्योंकि इस स्पर्श से जुड़े या अवान्तर के किसी क्रम को देखा ही नहीं।

जबकि पण्डित शिवशंकर आचार्य को इस प्रकार की विषम परिस्थिति में अपने पर ही ग्लानि हुई होगी कि पता नहीं गायत्रीजी जैसी सम्भ्रान्त, आकण्ठ शालीन ने, इसका क्या अर्थ लिया होगा। चूंकि वह सौम्य हैं इसलिए बुरा भर मानकर रह गयी हों या असावधानी माना हो, पर कितनी बुरी बात है। गायत्रीजी ही क्या कोई सम्भ्रान्त महिला ऐसी अशिष्टता के प्रति मौन ही तो रह सकती है। वैसे सामान्य पारिवारिक जीवन में पुरुष के लिए नारी-देह का स्पर्श कोई विशेष बात तो नहीं है। घर-परिवार में अनेक आत्मीय सम्बन्धों से स्त्रियों का स्पर्श होता ही है। तब उन्हे हठात् यह स्पर्श ही क्यों भिन्न लगा ? शायद ऐसी अनुभूति पहले कभी नहीं हुई थी। कैसी ?...शायद यह कि जैसे जल की चिकनी मसृणता, सुगन्ध हो और आपने उसका स्पर्श कर लिया हो, तो वह सुगन्ध आपमें एक स्वाद सी गहरे उतरती ही चली जाए। आप भाषा से उसे अभिव्यक्त करें इसके पूर्व ही वह आपके स्वाद में ऐसी अनुस्यूत हो जाए कि जिसे व्यक्त करने के लिए सारी इन्द्रियों की एक ही भाषा हो तभी उसे कहा जा सकता है अन्यथा कहने पर वह अनुभव बिखर उठेगा।—तब भी पण्डित शिवशंकर आचार्य को हर बार लगता कि वह इसके बारे में न केवल व्यर्थ ही सोचते हैं बल्कि ऐसा सोचकर 'गायत्रीजी' का वह अपमान ही कर रहे हैं।

परन्तु दोनो ने संकोच अवश्य अनुभव किया तभी तो कभी इस स्थिति को कोई भाषा—न नेत्रों के द्वारा, न ओठों के द्वारा, देने की कोशिश भी नहीं की। बल्कि काम की

व्यग्रता के बीच कभी एकान्त में पुनः भेंट हुई भी होगी तो उस समय याद भी दोनों को नहीं रहा होगा कि किसी दिन के एक स्पर्श को लेकर वे अपने-अपने निर्जीपन में सोचकर मौन हैं, संकोच अनुभव करते हैं। व्यक्ति जब अपनी भावनाओं पर सतर्क होकर अतिरिक्त अंकुश लगाने की चेष्टा करता है तब वह अपने लिए ही विषमताएँ उत्पन्न करता है। अंकुश, निषेध ही तो है और किसी भी प्रकार के निषेध के विरुद्ध विद्रोह करना भी तो मानवीय स्वभाव है। दोनों ही जब काम के अलावा और कुछ नहीं सोचने का सकल्प करते तो अनायास मन—हाथों को, पैरों को रोज के काम का दायित्व सौंपकर ऐसे निश्चिन्त मन से सोचने लगता कि स्वयं को ही उसकी आहट नहीं लगती। अपने में डूबे हुए ऐसा सोचना क्या ऐसा ही नहीं है जैसे जाड़ों की धूप में लेटे हुए प्रशस्त भाव से तन्मय होना? आपके अनजाने ही मनोलोक में कैसी-कैसी रागात्मक छवियाँ, सादा सा सान्निध्य भी छोड़ गया होता है।

··· 'गायत्रीजी' के गीले पैरों की पदछाप कैसी फर्श पर उभरी हुई अपनी सुघड़ता में फर्श से चलकर मन पर अंकित होती ही जाती है। 'गायत्रीजी' के लौट जाने के बाद भी उस छाप का गीलापन कैसे अपने आकार में सिमटते हुए क्रमशः एक बिन्दु पर आकर ठहरता है और फिर पूरी तरह उड़ जाने के लिए उड़ जाता है। इस उड़ जाने की वस्तुतः छाप कहीं नहीं होती है पर लगता है न कि जैसे उन कोमल पैरों का वह साँचे में ढला आकार अभी भी फर्श पर है, है नहीं बल्कि थरथरा रहा है, बल्कि आपकी ओर कैसी आत्मीयता से देख रहा है। . गीले, धोये बाल सिर के पल्लू में भरे हुए कन्धों के आसपास से निकले पड़ते हैं। बार-बार एक सतर्क हाथ उन्हें समेटने में लगभग झल्लाया सा लगता है कि जैसे बालों को यह भी नहीं पता कि ये देह भले ही न हों पर किसी नारी-देह से सम्बन्धित तो हैं। उन बालों की चिकुर मेघ-माया के बीच नहाया हुआ गायत्री-मुख यदि प्रातःकालीन ओस से भीगा कमल लग रहा है तो इसमें अवांछित या अनपेक्षित क्या है?...लेकिन अनपेक्षित क्यों नहीं है? आज के पूर्व तो पण्डित शिवशंकर आचार्य नारी को लेकर कभी इस प्रकार एक क्षण को भी व्यस्त नहीं रहे...और फिर नारी भी कौन?....'गायत्रीजी' को लेकर इस प्रकार सोचना अनैतिक तो है ही, साथ ही अशोभनीय भी है।....माना कि उनके गोर, पतले पैर फर्श पर चलते हुए एक राग-माया का बोध देते हैं। उनके ऐसे मृदु चलने से लगता है कि जैसे कोई वाद्य स्वतः के लिए ही बज रहा है जो सुनायी तो नहीं पड़ रहा है पर बजते हुए दिखलायी अवश्य दे रहा है। निश्चित ही नहायी हुई पलकें जब चिपकी हुई होती हैं तो कैसे माधवी भाव सघन कृष्णा हो जाती हैं। प्रायः तो 'गायत्री जी'—'हाँ', 'ना' में ही उत्तर देती हैं पर उस समय भी थरथराती दीठ में कैसे पूरा वाक्य लिखा होता है। लेकिन जब कभी कुछ चर्चा करनी पड़ ही जाती है तो लगता है कि व्यक्तित्व की आन्तरिक प्रक्रिया से होती हुई जब कोई भाषा निकलती है तो उसमें कैसी मन्त्रमुग्धता सी आ जाती है, जैसे फूल की सुगन्ध ने हठात् आपकी ओर देखा और पाखी सी आपके देखते-देखते हाथों के बीच से उड़ गयी हो। पत्तियों जैसे तराशे

ओठों से निकले शब्द, साधारण से शब्द अपने बोले जाने के समय कैसे बोध देते हैं कि आज वृक्ष कुछ संकोच, कुछ छद्म आकुलता के साथ अपने फूलों को बहुत लाज के साथ प्रस्फुटित कर रहा है ।...प्रायः वह समय-असमय अपने गाँव में दूर-दूर तक घूमने जाते रहे हैं । हवा और आरण्यक निर्जनता अपने फेफड़ों तथा व्यक्तित्व में अनुभव करते हुए वह केवल डूबे ही नहीं होंगे बल्कि ध्यानस्थ हो गये होंगे । ऐसे ही अनात्म के क्षणों में किसी झाड़ी के पीछे सुस्ताती कोई मृगी चौंकी होगी । चौंकने की वह अलभ्यता क्या किसी भी दिन भूल सके होंगे ? जब कभी 'गायत्रीजी' अपने नारी-एकान्त में बैठी हुई होतीं और अनायास वह वहाँ पहुँच गये होंगे तो 'अरे' की भाषा वाले भाव के साथ, पैरों को हठात् रोकते हुए ही वहाँ पहुँचे होंगे । ऐसे में पूर्ण ममता के साथ हाथ से सिर ढँकते हुए 'तो, क्या हुआ' की अभिव्यक्ति-मुद्रा मे 'गायत्रीजी' उत्सुक नेत्रों से सुनना और बोलना करते हुए दिखी हैं ।—यद्यपि इन साधारण सी स्थितियों में कुछ भी अतिरिक्त खोजना शायद व्यक्ति की अपनी अनैतिकता ही हो परन्तु फूल को देखना, देखने के बाद उसके बारे में ऐसा सोचना कि उसकी सुगन्ध आप में निबद्ध होती जा रही है—क्या अनैतिक है ? जब कि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को लगता कि *महाशय, जब इस नितान्त, निभृत एकान्त में आ ही गये तो इस आधी से ज्यादा खाली* पड़ी शीतलपाटी पर बैठते क्यों नहीं ? माना कि काम से आये हैं, बहुत जल्दी है, परामर्श करके लौटकर किसी को काम के लिए आदेश देना है, किसी को कुछ सहेजना भी होगा—लेकिन तब भी क्या हुआ ? और फिर आप तो तापस हैं ? क्या तापस को कोई राग नहीं व्यापता ? अपने को कैसे चौबीसों घण्टे सहेजे, समेटे और साधे रहते हैं कि आवश्यक देखने से अधिक एक बार भी अधिक देखना पड़ जाए, तो पलकें कैसी थिरा जाएँगी—कैसे बच्चे लगते हैं न ? हँस पड़ने को मन करता है । हाथ पकड़ कर झिटक कर बैठाल लेने को मन करता है—पर ना बाबा !! ऐसा कुछ हो जाए तो पता नहीं क्या समझ लिया जाए । ठहरे हुए, थिर जल को छूने भर से जब उसका दर्पणत्व टूट जाता है, तब ऐसे में हँस दिया जाए तो वह तो उस जल में धँसकर पैठना जैसा ही होगा । ना बाबा !! यह तो भारी संकट है । सो नहीं होने का किसी दिन ।

बड़नगर वाला यह सम्पर्क-प्रकरण केवल इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण था कि श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने व्यक्ति पण्डित शिवशंकर आचार्य के असंग-व्यक्तित्व को कई प्रसंगों, स्थितियों तथा मुद्राओं में देखा । बातें तो कुछ खास नहीं हुई पर कुछ अर्थों में अस्मिताओं में समानता अनुभव हुई । जब पण्डित आनंदशंकर दवे का उत्तर-

कार्य समाप्त हो गया और जिस दूसरे दिन सवेरे वापस लौटना था उसके पूर्व की रात्रि में छत पर जो बातें हुई, उन्हें ही बातें कहा जा सकता था।

मन को यदि जरा भी ढीला छोड़ दो तो तत्काल वह पैरों की राह उस धरती में समाहित हो जाना चाहता है जहाँ कि आप खड़े हुए होते हैं। हमें धारण करती हुई धरती कैसे हमें बाँधे रखना चाहती है कि यहाँ से जाने की क्या आवश्यकता है! यहाँ क्या नहीं है—धूप, चाँदनी, हवा, पेड़, नदी, नक्षत्र, लोग सभी कुछ तो हैं। तब कहाँ और क्यों? और फिर धरती कैसी ही ग्राम्या क्यों न हो, प्रिया की भाँति आपकी ओर देखने लगती है। धरती के ऐसे देखने को आप लाँघ नहीं पाते। फाल्गुन की उस रात्रि में पण्डित आनन्दशंकर दवे के घर की वह छत तथा चाँदनी में नहाता हुआ वह ग्रामीण कस्बा कैसे मोहक लग रहे थे। कैसी निश्चिन्तता थी कि जैसे अब सदा को कहीं नहीं जाना है। उस समय उस कस्बे के अनगढ़ रास्ते, नाली का छोटा सा जल, कच्चे-पक्के घर, हवा में हिलते नीम की वह झिरझिराती आवाज, जैसे कोई अपने बालों में कंघी कर रहा है—सब कैसे आत्मीय लग रहे थे। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय अपने से निकलकर सामने के पेड़ों की फुनगियों पर डैने तौलती अपने ही को पक्षी सी उन्मुक्त लग रही थीं कि तभी दुछत्ती के मोड़ की ओर से पहले तो गुनगुनाहट सुनायी दी, तब लगा कि नहीं, यह 'महिम्न पाठ' है और तब पाठकर्ता भी चाँदनी में दिखलायी दिया। चौंकना उन्हें चाहिए था परन्तु चौंके थे पण्डित शिवशंकर आचार्य। थोड़ी ही देर हुई होगी कि उनके अन्तर की नारी को लगा कि इस प्रकार का एकान्त लोकाचार के विरुद्ध है। कोई देखे तो क्या कहे, और वह उठीं। उन्हें जाने को उद्यत देख पण्डित शिवशंकर आचार्य ने पूछा भी था कि, 'कहीं वह उनके कारण तो नहीं जा रही हैं?'—प्रश्न सुना और एक क्षण को उनकी ओर देखा अवश्य और पण्डित शिवशंकर आचार्य के लिए अनायास अन्तर में एक ऐसी संज्ञा आयी कि जिसे वह जीवन भर कभी किसी से नहीं कह सकती हैं—मिठबोला!!—कैसी सम्पूर्णता है स्वत्व मे इनके। यह जो कुछ करते हैं, संकल्प लगता है, तभी तो पूजा करते लगते हैं। उस दिन जो भी बातें हुई उससे लगा कि दोनों को ही लोक-धर्म और मर्यादा का बहुत अधिक ध्यान है। व्यक्ति किस प्रकार समाज के लिए अपनी वैयक्तिकता होम कर देता है।

दूसरे दिन बस-स्टेण्ड जाते हुए पण्डित शिवशंकर आचार्य शायद कुछ कहना चाहते थे परन्तु बात दबाते हुए कुछ ऐसा ही तो कहा था कि—क्या प्रत्येक सोचना कहा जा सकता है?—तब कितना मन हुआ था कि पूछा जाए कि, क्या ऐसा सोचना हो सकता है जिस पूछे जाने पर नही कहा जा सकता? परन्तु कुछ कह नही पायीं। परन्तु शायद पण्डित शिवशंकर आचार्य ने भले ही-स्पष्ट न कहा हो परन्तु कुछ-कुछ तो कहा ही था।—ठीक है वह 'मिठबोला' तो कभी नहीं कह पायी हैं और न कभी कहेंगी ही, पर जब भी, जितना भी उन्हें याद करती हैं, सामान्यतः तापस ही लगते हैं। उस दिन वह 'गायत्रीजी' वाला प्रसंग, कुछ भी तो नहीं था परन्तु पण्डित शिवशंकर

आचार्य के लिए 'गायत्रीजी' से मात्र 'गायत्री' कहना कितना दुष्कर लग रहा था। अपने को अनाम, साधारण माटी की भाँति प्रस्तुत करना और सामने वाले के व्यक्तित्व की ऐसी मृण्मूर्ति बनाकर प्रस्तुत करना कि उसकी तब केवल पूजा-अर्चा ही की जा सकती है—यही तो पण्डित शिवशंकर आचार्य की मूलभूत स्थापना रही है। केवल अपनी ही सीमा नहीं मानना बल्कि सामने वाले की विवशता समझते हुए उसकी अभ्यर्थना कैसे करना—सीखना हो तो पण्डित शिवशंकर आचार्य से कोई सीखे। सम्बन्ध उनके लिए ऐसा दूध है जिसकी मलाई फूंक कर ही पीते हैं। अपने को श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने हारकर अन्त-अन्त में स्त्री, नारी सभी रूपों में प्रस्तुत होने दिया ताकि कभी तो यह 'मिठबोला' महाशय 'गायत्रीजी' से 'गायत्री' और 'आप' से तुम कहें....पर....।

दिन तो नहीं याद है पर उस दिन अनेक दिनों बाद पण्डित शिवशंकर आचार्य आये थे। वह दीवान पर लेटी थीं। उस दिन सवेरे से ही कुछ हल्की अस्वस्थता लग रही थी। बातें होती रहीं। उसी में वह किसी बात का उत्तर चाहने लगे तो उन्होंने कहा था कि, आप क्या सुनना चाहते हैं? स्त्री के लिए किसी बात से अन्तर नहीं पड़ता तो पण्डित शिवशंकर आचार्य ने कहा था कि बात, बात होती है, इस बारे में स्त्री-पुरुष क्या होता है? तो वह तत्काल बोल उठी थीं कि—क्या आप सच ही कुछ नहीं जानते?—अचानक उनके मुँह से तुर्की-बतुर्की में ही यह बात निकल पड़ी थी और उन्होंने तभी अपनी जीभ भी काट ली थी क्योंकि ऐसे कहकर तो वह जैसे स्वयं को सौंप रही थी। पता नहीं सुनकर पण्डित शिवशंकर आचार्य ने क्या सोचा होगा क्योंकि इसके बाद वह बड़ी देर केवल चुप ही नहीं लग रहे थे वरन् सोचते भी लग रहे थे। उनकी आँखों से हल्का सा आभास मिल रहा था कि कुछ उनमें मँथ रहा है। वह कौन सी चीज मँथी पड़ रही होगी इसकी कल्पना करना किसी स्त्री के लिए कठिन नहीं तब भला श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय चाहतीं तो पूरा वाक्य तक बता सकती थीं। तब भी उसे उन्हीं के मुँह से सुनने का लालच तो अवश्य हुआ पर कितना दुर्निवार भी लगा। पण्डित शिवशंकर आचार्य उस मुद्रा में न कहने के संकल्प में सन्नद्ध थे तो श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय निमीलित नेत्रों से स्वल्प सा देखते हुए सुनने की ललक लिये थीं। शायद उसी दिन तो रतलाम जाने की बात हुई थी।

प्रत्येक ऐसी स्थिति जिसमें निकट से निकटतर होने की सम्भावना बनती तो श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को लगता कि इस बार पण्डित शिवशंकर आचार्य निश्चित ही कुछ कहेंगे। लेकिन फिर कहीं कुछ नहीं। वही आपाढ़ी बादलों की प्रकृति—दिखना, घिरना, सभावना बनना परंतु बरसना नहीं। पण्डित शिवशंकर आचार्य को साथ ले जाने में भी उनका मात्र प्रयोजन इतना ही था कि सम्भव है कि कुछ कहने-सुनने की स्थिति उत्पन्न हो। जब ट्रेन फतेहाबाद के छोटे से स्टेशन पर उन लोगों को अकेला छोड़कर चली गयी तो उस प्लेटफार्म के खुलेपन तथा तेज ठण्डी हवा में कितने निजी रूप से निपट हो आये थे। हाँ, और क्या; ये ही पितृपक्ष के तो दिन थे। ठण्ड के

आरम्भिक दिन थे परन्तु उस जंगल में आधी रात के समय कैसी तेज सपाटे मारती हवा थी। नौकरानी अवन्ती सामान के साथ दूर बैठी हुई थी। दोनों, बेंच पर बैठे ट्रेन के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे परन्तु ट्रेन के आने में अभी काफी देरी थी। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को लगा था कि सर्वथा सन्दर्भहीन निर्जन में पहुँच कर कुछ बोलना हो पाएगा परन्तु कहीं नहीं हो पा रहा था। जब कि उन्होंने तो अपनी ओर से स्थिति उत्पन्न कर दी थी, अब इसे आत्मीय भाषा देने का काम पण्डित शिवशंकर आचार्य को करना चाहिए...जबकि वह ऊबकर प्लेटफार्म पर टहलने लगे थे।

ऐसा नहीं कि पण्डित शिवशंकर आचार्य को यह सब संयोग मात्र ही लगता रहा हो। आरम्भ में वह भले ही बड़ी दूर तक संयोग, योगायोग, हठात् आदि मानते रहे हों परन्तु एक सीमा के बाद उन्हें यह अत्यन्त सौम्य राग-प्रकरण सा लगने लगा और फलतः वह अधिक संयत आचरण करने लगे थे। उस दिन ट्रेन के कम्पार्टमेन्ट में भले ही 'गायत्रीजी' से 'गायत्री' कह दिया हो परन्तु उसके साथ ही उन्होंने उस सारी आत्मीयता को जिस विशद, विराट पीठिका पर खड़ा कर दिया था उसमें संकेत यही था कि उन दोनों की जो सामाजिक, पारिवारिक स्थितियाँ हैं उनमें वैयक्तिक रागात्मकता से विमुख होने में ही कल्याण है। यद्यपि उन्हें यह भी लगा कि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय की सहज नारीगत आकुलता की. स्वत्वीय ऊष्मा की अपेक्षाएँ भिन्न हैं। कितने विविध रूप में, भिन्न प्रकार मे श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय सुनने को व्यग्र लगी, आकुल दिखीं; परन्तु क्या सुनने को ?....क्या गायत्री की इस जिज्ञासा से स्पष्ट नहीं था कि, माँ और दुर्गा के अतिरिक्त भी कोई आपके निकट है ?...उन्होंने स्थिति के नाजुकपन को तो बचा लिया था परन्तु वह जान रहे थे कि यदि ऐसा ही कोई प्रश्न पुनः किया गया तो वह घिर जायेंगे।... वह जानते हैं कि जिस समय वह एक बार हठात् कह गये थे कि—मैं जानता हूँ गायत्री ! कि तुम मुझसे क्या चाहती हो ?—कहने को तो वह कह गये थे और शायद अपनी भूल पर पछता भी रहे थे कि उनकी कमजोरी आखिरकार व्यक्त हो ही गयी। परन्तु कहीं पर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय से एक भूल हो गयी। उन्होंने तत्काल एक सतर्क नारी बन कर पूछा था कि, क्या चाहती हूँ ?—लेकिन यदि यह सतर्कता न बरत कर मात्र एक सहज नारी के रूप में अपने को प्रस्तुत कर दिया होता तो पण्डित शिवशंकर आचार्य के सामने जीवन का सबसे बड़ा संकट उत्पन्न हो गया होता। परन्तु प्रश्न पूछ कर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने पण्डित शिवशंकर आचार्य को सतर्क होने का मौका दे दिया। इसके तत्काल बाद ही तो श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को अपनी भूल अनुभव हुई तो वह अपनी सीट पर से उठ कर पण्डित शिवशंकर आचार्य के बिस्तर पर आ गयीं। लेकिन बीता हुआ क्षण, भले ही वह तत्काल ही क्यों न बीता हो, पुनः घटने के लिए नहीं लौटता। यहाँ भी घटित हो सकनेवाला अभी तत्काल ही बीता था, शायद रेल की खिड़की से मुश्किल से बाहर गया होगा। तभी पण्डित शिवशंकर आचार्य को लगा कि गायत्री की इस विह्वलता को यदि थोड़ी सी भी प्रति-आत्मीयता से नहीं ग्रहण किया

तो गायत्री तो टूट ही जाएगी साथ ही यह स्वयं के साथ भी झूठ होगा और सहज ही उन्होंने गायत्री को कन्धों से लगा लिया और उसकी लपलपाती पलकों के माध्यम से गायत्री के अपने में डूबने को देखते रहे। गायत्री, गायत्री की वह थरथराती देह और इस सबका स्पर्श—उन्हें भी लगा कि वह मात्र स्पर्श नहीं कर रहे हैं बल्कि बहुत कुछ संप्रेषण भी कर रहे हैं। ग्रहण करती स्त्री के व्यक्तित्व के जल में उसकी सारी इन्द्रियाँ क्रम से बारी-बारी से देखी जा सकती हैं। स्त्री कभी अधूरा नहीं भोगती। पण्डित शिवशंकर आचार्य जो संप्रेषित कर रहे थे उसमें किसी भाषा की अपेक्षा कम से कम स्त्री को तो नहीं ही होती है। कुछ भी पूछने-कहने पर वह अपनी तर्जनी आपके ओठों पर रख देगी जिसका अर्थ होगा कि यह डूबने का क्षण है, न कि पूछने का।—तब भी पण्डित शिवशंकर आचार्य केवल इतना ही पूछ सके थे—गायत्री ! यह क्या ?

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ही क्यों, कोई भी नारी आत्मीय-समर्पण के इस चरम विन्दु पर भाषा, भाव कुछ नहीं चाहती, वह तो देह और मन दोनों से पूरी तरह घटित हो जाना चाहती है। जबकि पुरुष को प्रत्येक स्थिति में अनुभव-अर्जन का भाव रहता है इसलिए घटित होने की, विलीन हो जाने की बल्कि विनष्ट हो जाने की स्त्री में जो प्राकृतिकता है उसे पुरुष कभी नहीं समझ सकता। पुरुष शमन से आगे के विन्दु आनन्द की ओर जाने में प्रायः असफल होता है जबकि स्त्री उस उत्तेजक क्षण के बाद ा तो टूट जाएगी या फिर आनन्द की स्थिति में पहुँच जाएगी। पुरुष के शमन वाला .व स्त्री में नहीं होता। उस चरमता पर पहुँचकर भी जब पुरुष को वह जिज्ञासामय पाती है तो वह अवाक् हो जाती है। तभी तो पण्डित शिवशंकर आचार्य के पूछने पर कि गायत्री ! यह क्या ? तो वह मात्र इतना ही डूब-डूबे स्वर में कह सकीं कि—'कुछ नहीं !!' और भावना की जिस गहराई में अपने उफनाते स्वत्व के ज्वार की सारी लहरों को जब समेटना पड़ा तो कुछ उर्मियाँ आँखों से छलक उठीं, जिनका निश्चय ही कोई अर्थ नहीं था। लहरों के झाग का जैसे एक सतखण्डी महल था जो जरा सा भी स्पर्श नहीं सहन कर सका। तभी यात्रा भी तो समाप्त हो गयी थी।

पर यदि पण्डित शिवशंकर आचार्य उनकी देह की पुकार भर होते तो वह इस अवमानना के बाद समाप्त हो जाती परन्तु क्रमशः वह उनके स्वत्व की, अस्मिता की आवश्यकता बन गये थे। भागवत के श्रीकृष्ण के स्वरूप, लीलाभाव, रास-क्रीड़ा के प्रति हम कैसे आकुल हो जाते हैं कि जैसे अभी भी वृन्दावन में, यमुना तट के करील-कुंजों में, कदम्ब के नीचे बैठे बाँसी में रह-रह कर आपका ही नाम वह बजा रहे हैं। यह नाम बजाना भी तो पुकारना ही है। और हम वहीं बैठे-बैठे अपने समस्त स्वत्व से, रोम-रोम से इस पुकार के प्रति कैसे आमूल विह्वल हो जाते हैं, जबकि न कहीं कृष्ण हैं, न वृन्दावन है और न ही कोई बाँसी संकेत-स्थल पर बैठी हुई आपका नाम टेर रही है। बस, यही आकुलता, ऐसी ही विह्वलता पण्डित शिवशंकर आचार्य को लेकर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के स्वत्व में, अस्मिता में होती है। तब भला वह इसे अवमानना क्यों मानेंगी ? वह तो भोग हैं, प्रसाद बनने के लिए। मूर्ति के सामने रखे भोग की

अपनी कोई निजी अपेक्षा नहीं होती, बस वह तो केवल प्रस्तुत है। इसके बाद उसकी सत्ता 'प्रसाद' बनकर वितरित होकर विलीन हो जाने में ही है।

और जिस दिन पण्डित शिवशंकर आचार्य तीर्थयात्रा पर जा रहे थे तो वह कुछ क्षण को देह के स्तर पर अवश्य विचलित हुई थीं परन्तु तत्क्षण अपनी भूल ठीक भी कर ली थी। तभी तो जब पण्डित शिवशंकर आचार्य अपने को पृथक् कर रहे थे और पूछा था कि कहाँ जा रही हो? तो वह 'कहीं नहीं' के अतिरिक्त और कुछ उत्तर नहीं दे सकी थीं। कितना अजीब प्रश्न था। जो जा रहा था वह न जानेवाले से पूछ रहा था कि कहाँ जा रही हो? उस क्षण वह उठकर इसलिए चल दी थीं कि उनके छोटे से न जाने के कारण किसी का बड़ा जाना कहीं न रुक जाए। हालाँकि वह यह अच्छी तरह समझ चुकी थीं कि पण्डित शिवशंकर आचार्य सब कुछ के बाद भी निर्मम रूप से आत्मनिष्ठ हैं और कर्तव्यनिष्ठ भी हैं। यह मानवीय चरित्र की कैसी विषमता है कि जितना जानना होता है उतना ही पानी गहराता जाता है। किसी दिन भी श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय यह नहीं जान पाएँगी कि लाख निस्पृह हों पण्डित शिवशंकर आचार्य, तब भी उन्हें कुछ तो हुआ होगा। विदा के पूर्व के उस अन्तिम बिन्दु के विभिन्न छोरों की ओर दोनों ने चलना आरम्भ किया था। दोनों ने ही चलने के लिए पहले एक ही कदम चला होगा परन्तु एक के आगे धरती खुलती ही गयी होगी जबकि दूसरे के सामने भी कुछ खुला जरूर पर वह धरती न होकर केवल स्मृतियाँ थीं। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय का चलना स्मृतियों की प्रदक्षिणा करना जैसा था जबकि पण्डित शिवशंकर आचार्य का चलना स्मृतियों को लाँघने जैसा ही था।

सच, 'मिठबोला' सज्ञा क्या गलत थी पण्डित शिवशंकर आचार्य के लिए? रागात्मकता समझ में आती है, वैराग्य समझ में आता है पर यह रागात्मक-वैराग्य!! कोई क्या समझे? जाने के दिन श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने स्टेशन के लिए पालकी भी तैयार करवा ली थी। बाल, जो कि वर्षों से अमोड़ या [कामचलाऊ जूड़ा] बाँधते-बाँधते 'चूल' हो गये थे परन्तु उस दिन उन्हें शीशे के सामने खड़े होकर जूड़े के केश बनाया था। शीशे में उस दिन ध्यान से देखा तो लगा कि वर्षों से बिना काजल के नयन, कैसे खुले-खुले सूने से उदास लग रहे थे। तभी जैसे किसी ने बड़ी जोरों से बरजा कि इस पुष्प-भाव से वह कहाँ, क्यों और किसके लिए जा रही हैं? एक वह व्यक्तित्व है कि जो अपने मन पर से भी सब कुछ उतार कर जा रहा है और एक तुम हो कि सब कुछ उतार कर न जाने किस मृगमाया के पीछे आकुल हो। और मन छिः छिः कर उठा। वह एकदम निढाल भाव से आकर दीवान पर बैठ गयीं। सारी देह कस कर निचोयी गयी धोती सी ऐंठ रही थी। वह वैसे ही बैठे हुए अनुपस्थित हो गयीं और जब अवन्ती ने बताया कि पालकी कब की तैयार है तो वह मात्र इतना ही कह सकी—'अवन्ती, कहारों को छुट्टी दे दो। कहीं नहीं जाना है।' नौकरानी ही क्या बल्कि वह स्वयं ही अपना आचरण नहीं समझ पा रही थीं कि वह जाकर, नहीं जा पा रही हैं या न जाकर, जा पा रही हैं। हाँ, स्टेशन से लौटकर दुर्गा ने बताया कि 'दादा

चले गये।' मुँह से तो दुर्गा ने मात्र इतना ही कहा पर उसके नेत्र अवश्य कुछ और भी कह रहे थे, लेकिन क्या ??

उसके बाद ?

उसके बाद, सामान्य सी सूचना आयी, जो सभी को आयी कि हरिद्वार पहुँच गये है। हाँ, एक पत्र में ऋषिकेश, मुनी की रेती, लक्ष्मण-झूला तथा आरम्भ होते हुए हिमालय का थोड़ा वर्णन था....पर और कुछ नहीं। यह भी लिखा था कि दो-चार दिनों में ही उत्तराखण्ड की यात्रा पर चले जाएँगे। यात्रा जमनोत्री की ओर से प्रारम्भ करेंगे। तब पता नहीं कब और कहाँ रहें। पत्र दे पाएँ कि नहीं, नहीं जानते।

उसके बाद ?

उसके बाद कोई सुगबुग नहीं। एक....दो....तीन....चार...पता नहीं एक दिन कितने वर्ष हो जाएँ। धरती लाँघनेवाले का तो यात्रान्त होता है परन्तु जो काल लाँघना चाहता है, जो स्वयं समय पर ही चल रहा हो, जो स्वयं सत्ता हो गया हो वह यात्रा और उसके अन्त को भी लाँघ जाता है। हमारे और उसके बीच अपेक्षाओं की कोई समानता नहीं रह जाती है। वह केवल भविष्यत् को देखता है। विगत तो पैरों की थकान बन कर पीछे छूटता जाता है।

आज सर्वपितृ अमावस्या के दिन श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय न जाने क्यों, बल्कि अकारण ही उद्विग्न हो उठीं। नीचे के तल्ले में और वर्षों की भाँति ही पूजा-पाठ पूरी शास्त्रीयता के साथ पण्डित नारायणजी पण्ड्या करवा रहे थे। औपचारिकतावश वह बड़ी मुश्किल से दो-एक बार नीचे थोड़ी देर को गयीं अवश्य थीं पर उन्हें मानसिक उलझन हो रही थी। कारण तो स्पष्ट नहीं था परन्तु न जाने क्यों अपने को निपट अकेला बनाकर दीवान पर लेटे रहने को मन कर रहा था। वह जितना ही अपने को सहेजने की चेष्टा कर रही थीं उतनी ही वह बिखरती लग रही थीं। वह जान रही थीं कि ऐसे वह कभी न तो उद्विग्न होती हैं और न ही कभी लेटती हैं पर उन्हें भीतर से

थरथराहट लग रही थी। नीचे से लौटकर वह थोड़ी देर को खिड़कियों से आश्विन आकाश देखने लगती। कैसी स्फाटिक बिल्लौरी धूप फैली हुई थी जिसमें मक्खी भी उड़ते हुए स्पष्ट दिखलायी दे रही थी। कभी सुदूर में सारस-मिथुनों को लम्बी यात्राओं पर जाते देखतीं तो लगता कि यदि वह खिड़की कस कर न पकड़े रहेंगी तो अभी तत्काल उनके भी डैने उग आएँगे और 'उसे' खोजने निकल पड़ेंगी।...किसे?...पता नहीं अब कहाँ होंगे।

दुर्गा ने जब कई बार देखा कि मासीमाँ थोड़ी देर को आती हैं और चली जाती हैं और जिस प्रकार उड़ी-उड़ी सी लग रही हैं तो निश्चित ही तबीयत खराब होगी, नहीं तो वह कभी ऐसा नहीं करती हैं। अतः जब दो-तीन बार ऐसा हुआ तो वह भी उनके पीछे-पीछे चल दी। जब वह ऊपर पहुँची तो देखा कि मासीमाँ मसनद से टिकी लेटी हैं। इस तरह स्वतः बने उसने उन्हें कभी लेटे नहीं देखा था। आज उसे पहली बार मासीमाँ एक व्यक्ति लग रही थीं। हॉल की प्रशस्तता तथा ऊँचाई वाले फैलाव में मासीमाँ अकेले भाव से लेटी थीं। दुर्गा को लगा कि अपने को सर्वथा पृथक् करके तो बच्चे ही लेटते हैं। मासीमाँ के इस शिशुत्व के प्रति दुर्गा को बहुत राग हो आया। वह शायद आँखें मूँदे थीं और दुर्गा बहुत हौले से चलकर आयी थी अतः मासीमाँ को उसका आना नहीं मालूम हो सका था। वह अभी पास जाकर बैठी ही थी और वह उन्हें पीठ ओर से सिर से पैर तक देखने जा ही रही थी कि मासीमाँ ने तद्वत् लेटे हुए ही कहा,

— कौन? दुर्गा?

— आपकी तो पीठ थी तब भी कैसे जाना?

— दुर्गा! स्त्री की तो पूरी देह ही आँख होती है परन्तु विधवा का तो पूरा स्वत्व ही आँख होता है। स्त्री कभी भी निश्चिन्त नहीं हो सकती!

दुर्गा को लगा कि मासीमाँ किसी कारणवश विक्षुब्ध हैं। पूछने पर वह कभी भी इस विक्षुब्ध होने का कारण नहीं बतलाएँगी। लेकिन वह कौन हो सकता है? ऐसे तो वह कभी क्षुब्ध नहीं होतीं, तब आज ही क्या हो गया ऐसा?

— सिर दुख रहा है क्या?

— यह तुमसे किसने कहा?

वह इस बीच मसनद से पीठ टिका प्रकृतिस्थ होने की चेष्टा में लग गयीं। लेकिन क्या मनुष्य का मन उसकी भूषा होता है जो इधर-उधर से कस-कसाकर ठीक कर लिया? दुर्गा ने पूछा,

— तो फिर आप पूजा में बैठ क्यों नहीं पा रही हैं? ऐसा तो आपको कभी नहीं देखा।

वह बहुत ही फीका हँसते हुए बोलीं,

— पिछले वर्ष से इस वर्ष मैं अधिक बूढ़ी नहीं हुई क्या?

— दादा आपके बारे में सच कहा करते थे मासीमाँ!

पण्डित शिवशंकर आचार्य का सन्दर्भ आते ही वह एकदम ठण्डी हो गयीं। उन्हे सच में लगा कि वह अवचेतन में इसी नाम को लेकर तो अव्यक्त उदासी अनुभव कर रही थीं। दुर्गा ने यह नाम क्या ले लिया जैसे अँधेरे कमरे में भक्क से किसी ने प्रकाश कर दिया हो। वह अभी तक इस नाम को लेकर स्वतः बनी हुई थीं। चूँकि लोगों की उपस्थिति इस निजी स्मरण में बाधक लग रही थी इसलिए वह ऊपर चली आती रही हैं। हालाँकि वह इस नाम को, इस नाम के साथ जुड़ी स्मृतियों को केवल अवचेतन में रखे हुई थीं, चेतन स्तर पर तो वह केवल उदास थीं परन्तु फिर भी वह अपने ही साथ छल करती रहीं कि वह किसी दूसरे कारण से दुःखी हैं। यह नहीं कि ऊपर के इस एकान्त में वह कुछ अधिक सुविधा अनुभव कर रही थीं बल्कि सच तो यह है कि यहाँ एकान्त में पहुँचकर वह एक ऐसी चुम्बकहीनता में अपने को हताश तिरा पातीं कि जैसे वह अपने मन, देह और इन्द्रियों को उतार कर केवल—हैं। क्या हैं, यह नहीं जानती। एक ऐसी सत्ताहीनता की प्रतीति उन्हें लगती रही कि जिसमें केवल न होनापन ही शेष है। वह देश को याद करती हैं तो समय उपस्थित हो जाता है और समय को पकड़ती हैं तो देश खिलखिलाने लगता है।

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने दुर्गा की बात पर न कोई जिज्ञासा दिखायी और न उत्सुकता ही, तो दुर्गा ही बोली,

— आपने पूछा नहीं मासी माँ! कि दादा आपके बारे में क्या कहा करते थे?

— दुर्गा! सुना नागेश्वर भैया पण्ड्याजी से किसी व्यवसाय के बारे में पूछने गये थे।

— आपको नर्मदा-मासी ने बताया?

— बताया तो दोनों ने ही।

— तब क्यों पूछ रही थीं?

— तुम भी तो गयी थीं साथ में?

— हाँ, गयी तो थी। यह सब आप क्यों पूछ रही हैं?

— कुछ नहीं, ऐसे ही पूछ रही थी।

दुर्गा समझ गयी कि यह प्रसंग तो पूर्व-प्रसंग से बचने के लिए चलाया था, लेकिन क्यों? मासी माँ कभी दादा के बारे में कोई बात नहीं करतीं जबकि दादा जब थे तो दादा ही नहीं, मासी माँ भी खूब बातें करती थीं। दादा के जाने के बाद से मासी माँ उनसे भी पहले से कुछ अधिक अन्तर्मुखी हो गयी हैं। क्या इन दोनों स्थितियों में कोई सम्बन्ध है? लेकिन क्या? क्या यह सम्भव है? क्या? किस सम्भावना के बारे में वह सोच रही है?....यही कि क्या दादा, मासीमाँ....छिः छिः, वह कितनी पापिष्ठा है जो ऐसे पितृतुल्य भाई और मातृतुल्य मासी माँ के बारे में ऐसी बात....वह सिर से पैर तक अन्दर ही अन्दर कांप उठी।

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने कहा,

— सुनती हूँ पण्ड्याजी को कोई सिद्धि प्राप्त है।

— आप भी अपनी जन्म कुण्डली दिखाना चाहती हैं क्या ?

— भविष्य जीवितों का होता है दुर्गा !....

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को लगा कि यदि यह वाक्य पूरा करती हैं तो यह तो अपने को दुर्गा को सौंपने जैसा हो जाएगा, और भला यह उन्हें कैसे स्वीकार हो सकता था ? साथ ही वह वाक्य को अधूरा भी नहीं छोड़ना चाहती थी ताकि दुर्गा उसे अपने ढंग से कहीं पूरा न कर दे। परन्तु उन्हें यह भी लगा कि वाक्य अधूरा छोड़ना अधिक श्रेयस्कर है बनिस्बत पूरा करने के, क्योंकि यह बोलकर अपनी वास्तविकता जितनी अधिक ढाँकेंगी वह उतनी ही अधिक उजागर होगी। दुर्गा को समझते देर न लगी कि मासी माँ का यह पूछना-करना मात्र सौजन्यतावश हो है, अन्यथा यह जिस मनःस्थिति और उदासी में हैं उसमें कुछ भी करना सुहा नहीं सकता। मासी माँ के बारे में हर बार सोचते हुए वह जिस बिन्दु और व्यक्ति पर पहुँचती है तो उसे पाप-बोध घेर लेता है, परन्तु उसे यह भी लगता है कि जिस उदास मानसिकता पर यह रागात्मकता होगी वह व्यक्तित्व की लोकोत्तर भूमि ही होगी। प्रगाढ़ सान्निध्य का आनन्द सम्भोग को नगण्य बनाता है। जब हम अपनी सारी इन्द्रियों से निकलकर किसी वस्तु, भाव या व्यक्ति को देखते, सुनते या अनुभव करते हैं और तब जो आनन्द होता है वही लोकोत्तर है। इन्द्रियों द्वारा संप्रेषण या ग्रहण इन्द्रियों पर जाकर समाप्त भी हो जाता है इसलिए इन्द्रियों की पुकार हमें विनष्टि की ओर ही ले जाती है, परन्तु सान्निध्य हमें सम्पन्न बनाता है क्योंकि उसमें जुड़ने का, वृद्धि का भाव उत्पन्न होता है।

दुर्गा बोली,

— क्या आपको भी लगता है मासी माँ ! कि इस सृष्टि के क्रम में जो व्यवस्था है, सुनिश्चितता है उसमें भी कभी-कभी भूल चूक हो जाती है ?

दुर्गा के इस प्रश्न पर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय थोड़ा चौंकीं क्योंकि उन्हें इस प्रश्न-कथन में कुछ ध्वनियाँ, साथ ही कुछ इतर प्रतिगूँजों का भी, भले ही क्षीण सा हो, आभास मिला। साथ ही उन्हें यह भी लगा कि इस प्रश्न-कथन में दुर्गा का अवश्य ही कुछ प्रयोजन है। लेकिन क्या ? कौन सा प्रयोजन हो सकता है ? वह स्पष्ट नहीं समझ पा रही थीं। तब भी बोलीं,

— तुम्हारे इस कथन का अर्थ क्या है ?

— अव्यवस्था के बिना व्यवस्था शायद सम्भव ही नहीं।

— अपने बड़दा की भाँति तुम भी तात्त्विक बातें कर लेती हो।

और वह स्वल्प हँस दीं। इस छोटे से हँसने से भी वह अपने भीतर के तनाव में कमी अनुभव करने लगीं। दुर्गा ने लेकिन उन्हें सुना नहीं शायद, वह बोली,

— आपने जवाब नहीं दिया परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि प्रकृति, सृष्टि भी अपने स्वरूप, व्यवहार और आचरण में हम मनुष्यों की भाँति ही भूलें करती हैं। सुधार करती है कि नहीं, पता नहीं।

— लगता है तुम्हारे अन्तर में कुछ मथ रहा है।

— सम्बन्ध तो सामाजिक विधान के कारण बनते हैं परन्तु ये नैसर्गिक भी हों यह कोई आवश्यक नहीं। इस विराट फैलाव में यह भी तो सम्भव है कि जिसे यहाँ होना चाहिए वह कहीं और जगह पर है और बाध्यतावश वह वहीं बना रहता है। फलतः वह वहाँ बना रहने पर भी न होने जैसा ही रहता है।... पर मान लीजिए किसी तरह ये स्थान बदल जाएँ, तो क्या हो?...यही न कि प्रकृति तो अपना नैसर्गिक सन्तुलन पा जाएगी परन्तु सामाजिक विधि-विधान चौंक उठेगा कि नहीं, यह अनैतिक है।

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय दुर्गा के इस कथन को लगभग पूरी तरह समझ ले गयी थीं कि इस वाक्य का मूल और वास्तविक अर्थ क्या है, शायद इसीलिए उन्हें बहुत असुविधा भी होने लगी। कहीं यह दुर्गा उनके और अपने बड़दा के बारे में तो नहीं कह रही है?....क्या दुर्गा यह जान ले गयी है कि वह उसके बड़दा के प्रति आकर्षित हैं? उन्हें लगा कि यदि ऐसा है तब तो वह दुर्गा के सामने निरावरण जैसी हैं....नहीं, नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। स्त्री निरावरण तो अपने पति के सामने भी नहीं होती।...कहीं उन्हें भ्रम तो नहीं हो रहा है? लेकिन यह भ्रम नहीं हो सकता। स्त्री भले ही कोई पुस्तक, शास्त्र या शिलालेख न पढ़ पाये पर किसी की आँखों की लिखावट को पढ़ना, वह भी सटीक रूप में, उसके लिए उतना ही निसर्गदत्त है जैसा कि जानवरों का जन्मना तैरना।

— तुम्हें कभी इतना उद्वेलित नहीं देखा, क्या बात है?

— मासी माँ! मैं नहीं जानती कि जो मैं कहना चाहती हूँ वह कभी कह भी पाऊँगी कि नहीं क्योंकि कई बार प्रकृति के सन्तुलन और सामाजिक दृष्टि या विकास में विरोध तक होता है फलतः जो प्रकृति की दृष्टि से नैतिक लगता है वह सामाजिक मानदण्डों पर अनैतिक भी लगता है। कितना अजीब है न कि मनुष्य मन से तो प्रकृति की भाँति आचरण करना चाहता है परन्तु देह से सामाजिक प्रतिमानों से आचरण करना पड़ता है। मासी माँ! प्रकृति बड़ी है या समाज? प्रकृति की पुकार वास्तविक है, या सामाजिक बन्धन?

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को स्पष्ट लग गया कि दुर्गा अब कहने के उस बिन्दु पर आ गयी है जिसे सुनना उन्हें लाख प्रिय लगे, परन्तु सुन पाने की कल्पना मात्र से वह सिहर उठीं। यदि दुर्गा ने थोड़ा सा भी और स्पष्ट कर दिया तो श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय उस क्षण के बाद किसी दूसरे का क्या बल्कि स्वयं का ही साक्षात् नहीं कर पाएँगी। उन्हें लगा कि दुर्गा उन्हें वस्त्रों के भीतर तक देख रही है। वह आपाद मस्तक पसीने से लथपथ हो उठीं।

दुर्गा बोलते समय अपने ही में डूबी हुई थी। समय को भेदते हुए देखनेवाला व्यक्ति किसी अन्य को नहीं देख पाता परन्तु जैसे ही विचारों से बाहर निकली और मासी माँ को देखा तो कुछ क्षण तो वह निर्वाक देखती रही और जब तक सचमुच में मासी माँ उसे दिखलायी दीं तो वह यथार्थ पर वैसे ही लौटी जैसे कि व्यक्ति जल को

ऊपर आता है। देखा कि मासीमाँ सफेद पड़ गयी हैं। उन्हें इतना हताश तथा आहत पहले कभी नहीं देखा था। यह भाषा ही नहीं बल्कि अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी पूरी तरह निचुड़ी लग रही थीं। अन्यथा सामान्यतः तो उनकी ओर देखना ऐसा ही लगता है जैसे कि आप शारदीय धूप में झील का पारदर्शी नीला जल देख रहे हैं। उन्हें देखना, उनसे बातें करना माधव-भाव जगाता है। उनसे बातें करना तो बहुत ही कोमल स्पर्श की प्रतीति कराता है। सामने बैठी, मासीमाँ को देखकर हमेशा ताजे फलों की उपस्थिति ही नहीं बल्कि उनके आस्वाद का भी आनन्द मिलता है.. परन्तु इस समय तो वा अपनी डोरी में भूल आये चित्र सी लटकी दिख रही थीं। दुर्गा को लगा कि उससे भारी भूल हो गयी। किसी के मन को बूझना एक बात है परन्तु उसे भाषा दे देना सर्वथा अप्रिय है। यह भी एक प्रकार की अनैतिकता है। शायद मासी माँ इतनी हतप्र इसीलिए हैं कि उसने उनके मन को भाषा दे दी। कोई भी नारी यह नहीं पसन्द करती कि उसकी सहज नारीगत दुर्बलता को प्रिय व्यक्ति के अतिरिक्त कोई तीसरा जाने ऐसा तीसरा व्यक्ति कोई भी हो, अवांछित ही होगा। दुर्गा को लगा कि उसने जीव में पहली बार पाप ही नहीं किया बल्कि किसी की पवित्र ऐकान्तिकता में न केवल ताकझांक ही की बल्कि उसे भाषा भी दे डाली। भ्रूणहत्या और क्या होती है! उ किसी के पवित्र सम्बन्धों को लेकर इस प्रकार विचार-विमर्श करने का क्या अधिका था? क्या? क्या यह मासीमाँ के विश्वास का अतिक्रमण नहीं है? क्या इसी दिन वे लिए वह मासीमाँ के इतने निकट हुई?....लेकिन सच में दुर्गा ने कुछ कहा क्या?... क्यों नहीं, अभिधा ही कथन नहीं होता। अभिधा तो कह दिये जाने पर समाप्त हो जाती है। गूँज, प्रतिगूँज उत्पन्न करना तो व्यंजना को आता है। अभिधा तो सहला दि जाने पर सहन हो जाती है परन्तु व्यंजना तो टूट गया काँटा होती है जो भीतर ही भीतर सालती ही जाती है।

दुर्गा हठात् उठी। उसके हठात् उठ पड़ने में वस्तु के हठात् गिर पड़ने का भाव ही ज्यादा था। वह बोली,

— मासीमाँ! आप....आप दुर्गा को कभी क्षमा न करना।

दुर्गा के हठात् उठने और यह कहने के पूर्व श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय अपने अन्त के जलों को ऊपर तक थरथराने से रोकने में लगी थीं। उन्हें यह आसन्न आशंका ही खाये जा रही थी कि यदि दुर्गा ने उनके और पण्डित शिवशंकर आचार्य की रागात्मकता को और अधिक स्पष्ट कर दिया तो क्या वह इस स्थान से कभी उठ भी पाएँगी? वह कस कर जबड़े बन्द किये बैठी थीं। कानों में झनझनाहट इतनी थी कि वह निर्जीव हो रही थीं। यदि कोई उन्हें छू देता तो वह कटे हुए पेड़ सी चूँ-चूँ करती ढह पड़ती। परन्तु जब दुर्गा हठात् उठी और थरथराते हुए उसने मासीमाँ से क्षमा माँगते हुए कहा तो उन्हें लगा कि वह जल में नीचे अवश्य पहुँच गयी थीं परन्तु सर्वथा डूब नहीं पायीं। पास में खड़ी दुर्गा के झूल आये हाथ को अपने हाथों से थामकर सहलाते हुए वह बोलीं,

— दुर्गा! मैंने तुम्हें सच में अपनी बेटी ही माना है।

— तभी तो....तभी तो मासीमाँ ! मैं क्षम्य नहीं हूँ ।

और दुर्गा विह्वल हो आयी । श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने खड़े होकर उस विह्वला दुर्गा को अपने से सटा लिया । दुर्गा मासीमाँ के सीने पर सिर धर कर वैसे ही फूटी पड़ रही थी जैसी कि विह्वला बेटियाँ अपनी माँ के सामने होती हैं । वर्षों बाद दुर्गा, बेटी बनी हुई थी । अपने सीने पर सिर रगड़ती, स्वयं से झगड़ती दुर्गा के सिर को वह अपने दोनों हाथों में थामे स्वयं भी तो विह्वल हो रही थी । बहुत ही रुँधे कण्ठ से वह कनवतिया के ढँग पर कहती जा रही थीं,

— मैं जानती हूँ दुर्गा ! तुम क्या कहना चाहती रहीं....पर....दुर्गा अच्छा हुआ कि तुमने उसे कोई भाषा नहीं दी . दुर्गा ! तुम्हारे बड़दा....!!

दुर्गा ने उसी प्रकार सटे हुए ही अपने बालों में अनुभव किया कि मासीमाँ की आँखों से आँसू टपक पड़े हैं । मासीमाँ ने अपने आँसुओं से अपनी इस बेटी का अभिषेक किया—भाषा वाले आँसुओं से....वह नहा उठी । कमरे में ऐसी निस्तब्धता थी, उन दो का ऐसा अभिन्न एकान्त था कि प्रकाश भी शब्द करता लग रहा था । दुर्गा ने मासीमाँ को एक क्षण को देखा । आँसू से लबालब भरे नेत्र कितने अप्रतिम होते हैं यह उसे पहली बार लगा : वह उन आँखों मे ही नहीं बल्कि मासीमाँ में झाँकते हुए बोली,

— मासीमाँ !

बुदबुदाता हुआ यह सम्बोधन, पता नहीं क्यो उन तक पहुँचने में थोड़ा समय लगा। उन्होंने इस बीच अपने को पूर्ण रूप से सहेज लिया था यह उनके सिर पर पल्लू लेने के ढंग से स्पष्ट था परन्तु वह अभी भी पूरी तरह जल से बाहर नहीं हुई थीं । नहाने के बाद, जल से बाहर निकलते समय भी जल आप पर से झर रहा होता है, बस वैसे ही जल श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के मन और स्वत्व पर से झर रहा था, बोलीं,

— नहीं दुर्गा ! नहीं, कितना ही रम्य एकान्त हो . अपने ही को उसे देखने में लाज लगती है....इसीलिए दुर्गा ! बोलो नहीं... लो, मैं भी कैसी हूँ । पता नहीं नीजे सबके भोजन आदि का प्रबन्ध गोविन्द ने किया कि नहीं....

और अपने को चुराते हुए वह चलने को उद्यत हुईं तो दुर्गा ने थोड़ा हँसते हुए कहा,

— मासीमाँ ! कोई आपको प्रेम न करे यह सम्भव नहीं....

वह भी हँस दीं, कहना तो गलत होगा पर कुछ-कुछ ऐसा ही हुआ, बोलीं,

— यह नहीं कहा कि बड़दा...

और ऐसे ही समयों पर अधूरे वाक्य पूरे लगते हैं ।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा, फूफा पण्डित नारायणजी पण्ड्या और बुआमाँ श्रीमती यमुनादेवी पण्ड्या के यहाँ सती-दरवाजे चले जा रहे थे। शुक्ल-परिवार से ही तो निकट का सम्बन्ध था तब भी दोनों परिवारों में नित्यप्रति का क्या बल्कि कहना चाहिए कि गाहे-बगाहे का आना-जाना भी मुश्किल से ही था। इसका अर्थ यह नहीं था कि आपस में किसी प्रकार की कोई पारिवारिक कटुता या कोई मनोमालिन्य था। बस, पण्डित नारायणजी पण्ड्या अपनी ससुराल नहीं जाते थे। वैसे यह सर्वथा अकारण ही था, सो भी नहीं। परिवारों में, कुटुम्बीजनों में लेन-देन, गहनों-कपड़ों, आगत-स्वागत को लेकर प्रायः कहा-सुनी, मनमुटाव होते ही रहते हैं तब भी आने-जाने, लेन-देन का लोकाचार तो बना ही रहता है। श्रीमती यमुनादेवी पण्ड्या के गहनों को लेकर जो घटना घटी उसे देखते हुए यही कहा जा सकता है कि कोई दूसरा होता तो कहा-सुनी, लड़ाई-झगड़े के बाद सुलह-सफाई हो गयी होती और फिर सब वही सामान्य आना-जाना चलने लगता। परन्तु पण्डित नारायणजी पण्ड्या इस घटना से दुःखी नहीं आहत हुए थे अतः भानजे त्र्यम्बक के विवाह को छोड़कर फिर कभी अपनी ससुराल नहीं गये और न किसी प्रकार की इस बारे में उस परिवार के किसी सदस्य से चर्चा की। श्रीमती यमुनादेवी पण्ड्या अवश्य अपने भाई पण्डित महादेव शुक्ल के लिए यदा-कदा अपने मायके जाती-आती थीं लेकिन जबसे उनकी भी मृत्यु हुई तो यह भी छूट गया। भाभी, श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल से विशेष कोई आत्मीयता रही ही नहीं और उस दुर्घटना के बाद से तो श्रीमती यमुनादेवी पण्ड्या ने सिवाय बोलचाल के और कोई सम्बन्ध रखा भी नहीं।

ऐसी मानसिकता में जब बुलाया गया तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा का चौंकना स्वाभाविक ही था क्योंकि ऐसा कभी पहले नहीं हुआ, तब ? बहुत सोचने पर

भी वे दोनों किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके तो सब कुछ जाकर मालूम हो जाएगा, पर छोड़ दिया। चूंकि यह भी कहलाया गया था कि निश्चिन्त होकर आराम से ही आएँ इसलिए सारा खाना-पीना, उठाना-धरना करते-कराते रात के आठ, साढ़े आठ तो बज ही गये। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल की मृत्यु के बाद से घर को अकेले, बच्चों के भरोसे छोड़कर कहीं नहीं गयी होंगी अतः चलते-चलाते कान्ता-कुन्ती को दरवाजा बन्द रखने के लिए खूब सहेज आयी थीं।

सड़कों पर तो बिजली आ गयी थी परन्तु गलियों में, सेरियों में अभी भी वे ही मिट्टी के तैल के लैम्प, कुप्पियां, ढिबरियां काम में आ रही थीं। शाम को म्यूनीसीपाल्टी का आदमी [प्रायः यह काम नाई ही करते थे] आधेवाले कटे कनस्टर में तैल लटकाये, कन्धे पर सीढ़ियां लिये आता। लैम्प-पोस्ट से सीढी टिका कर चढ़ता और तब लैम्प की सफाई वगैरा के बाद नाप कर तैल भर देता और जला कर रख देता। समीं-सांझ से जलनेवाले ये लैम्प-ढिबरियां बमुश्किल आधी रात तक जलते, बाकी की रात आप जानें, आपका काम जाने। इन लैम्पों-ढिबरियों के जलने से गलियों में प्रकाश तो कम ही होता, हां प्रकाश की गलतफहमी अवश्य बनी रहती। सूनी सेरियों, गलियों में जलती लैम्प ऐसी लगती जैसे कोई पीली आंख आपको देख रही है। हां, इतना जरूर था कि आप किसी आते-जाते से टकराने से अवश्य बच जाते, बस।

दशहरा-दिवाली पास आ गये थे। घरों की रँगाई-पुताई, दरवाजों-खिड़कियों-बारजों का तैल-पानी या तो हो चुका था या हो रहा था इसलिए पूरी गली में ताजे पुते चूने की और तैल की गन्ध आ रही थी। पुते हुए घर उस अँधेरे में भी खिलखिलाते लग रहे थे। कंठाल की ओर निकलने वाली गोविन्दजी की यह गली सराफे और आढ़तियों के सेठों की थी इसलिए यहां बड़ी बड़ी हवेलियां थीं, जिनमें नीचे इन सेठों की गद्दियां होती हैं। काली लकड़ी की मेहराबों वाले दालानों की ये गद्दियां इस समय भी खूब सफेद चादरोंवाले गादी-तकियों में इसलिए लकदका रही थीं क्योंकि बीच-बीच में चौकियों पर रखी पीतल की बड़ी-बड़ी परातों में कई बत्तियोंवाली बड़ी-बड़ी समइयां [दीपाधार] जल रही थीं जिन पर मलमल के खूब बड़े-बड़े से बारीक कनटोप ढँकने के लिए रखे हुए थे। मलमली कनटोपों से छन कर आता प्रकाश कैसा मुलायम मक्खन जैसा हो जाता है। चूंकि इन दिनों वर्षा के बाद खूब कीड़े-पतंगे हो जाते हैं और वे रात भर जलने वाली इन समइयों पर टूटे पड़ते हैं अतः उन कीड़ों से बचाने के लिए मलमल के ये कनटोप ढांके जाते हैं। गोविन्दजी वाले वैष्णव मन्दिर में अभी 'शयनारती' नहीं हुई थी इसलिए गले का मलमली दुपट्टा एक हाथ से थामे, तेज-तेज जाते वैष्णव-जन, सेठ मन्दिर की ओर दिख रहे थे। आपस में 'जय श्री कृष्ण' कहना भी सुनायी दे रहा था। किसी दुमंजिले की खिड़की से हारमोनियम पर 'देवा लंबोदर गिरिजानंदना' गाना-बजाना दोनों सुनायी दे रहा था। एक हवेली के बाहरी फाटक पर एक बड़े से पिंजरे में टँगा काकातुआ बड़े ही अनमने भाव से शान्त बैठा लग रहा था पर कभी-कभी उसके पंख फड़फड़ाने से वह पिंजरा हिल उठता। गोविन्दजी की इस गली में जहां

नमक-मण्डी की ओर मुड़ते हैं वहाँ नीम और पीपल के दो विशाल पेड़ हैं, जिनके कारण ऐन गर्मियों की दोपहर में भी लू के सारे समय ठंडक रहती है। दिन के समय इन हवेलियों के लम्बे-चौड़े ओटलों [चबूतरों] पर सवेरे-सवेरे लोटे-गड़वे लिये लोगों की छाछ के लिए भीड़ लगती है। सेठानियाँ या हवेली के नौकर भर-भर लोटे छाछ बाँटते हैं। इन चबूतरों पर सवेरे से मालिनें हार-गजरे, पूजा के फूल-बिल्वपत्र लेकर बैठ जाते हैं और मन्दिर और पूजा के लिए लोग खरीदते हैं। वैसे इन मालिनों के लड़के घर-घर पूजा के फूलों की पुड़ियाएँ पहुँचाने का भी काम करते हैं। दिन-दोपहर में इन लम्बे-चौड़े ओटलों की पुश्त से लकड़ी बेचनेवालियाँ अपनी भूली [लकड़ी का गट्ठर] और घास बेचनेवालियाँ पूले टिका कर सुस्ता लेती हैं। मुहल्ले के लड़के लाख मना करने, भगाये जाने पर भी गोलियाँ या 'पकड़ापाटी' या संगड़ी खेलते रहते हैं। दिन भरी कभी कोई 'चूड़ी-बिल्लौर' चिल्लाता मनिहारा या 'मलाई का बरफ' बेचने वाला निकलता होता। कभी जामुन, खिरनी, की आवाज लगाता कोई देहाती गुजर जाता। यह गली जहाँ कंठाल वाली सड़क से मिलती है वहाँ दाहिने हाथ एक पक्का शिवाला है। सेठों-आढ़तियों ने इस शिवाले को टाइल्स आदि लगवाकर अपनी हैसियत का, मन्दिर बना दिया है। ताँबे के अभिषेकपात्र से दिनभर शिवलिंग का अभिषेक होता रहता है। मन्दिर की सम्पन्नता पुजारी की वेशभूषा से भी झलकती है। भस्मी का त्रिपुण्ड्र, भाँग के लाल डोरे, बड़े मनकों की रुद्राक्ष-माला तथा खाये-पीये गौरवर्ण वाला पुजारी शंकर गुरु अपने को किसी सेठ-साहूकार से कम नहीं समझता था, और क्यों न समझता?

यह चौराहा, जहाँ गोविन्द जी की गली आकर मिलती है और सामने की ओर बढ़कर रामजी की गली कहलाती है, धीरे-धीरे उज्जैन के रोज के जीवन का तथा आस-पास के लोगों का केन्द्र बनता जा रहा था। कण्ठाल वाली यह सड़क सती-दरवाज़े की ओर से आकर इस गली को काटते हुए गोपाल-मन्दिर चौक की ओर चली जाती है। राम-मन्दिर वाली गली का इस सड़क की ओर जो मुहाना है उसमें बाँयें हाथ दो हल-वाइयों की खूब बड़ी सी दूकानें हैं, जो आधी रात के बाद तक भी खुली रहती हैं। रबड़ी-बासूंदी, सेव-कचौरी आदि मिठाई-नमकीन के लिए प्रसिद्ध ये दूकानें रात के आठ-नौ बजे के बाद सेठों-साहूकारों, दलालों-आढ़तियो, वकीलो-मुकदमेबाजों से प्राय: छिकी रहती हैं। दिन भर सट्टा, दलालो का धन्धा करने के बाद बहुत ही फ़ुर्सत में, घुटनों के ऊपर तक धोती चढ़ाये ये लोग चौराहे के आसपास की बन्द दूकानो के पटरों पर पलथी लगाकर दो-दो, चार-चार के झुण्ड में बैठ जाते हैं। भाँग-बूटी छनती है, पान-पत्ता खाया जाता है, सिर में चम्पी भी लगे हाथों करवायी जाती है और तब बड़ी ही फुर्सत के साथ कान का मैल निकलवाते हुए रबड़ी-बासूंदी खायी जाती है। कोई-कोई शौकीन घर के लिए भी रबड़ी के दोने ले जाते हैं, तो उस समय यार लोग वो-वो फब्तियाँ, बोलियाँ कसते-मारते हैं कि हँसते-हँसते गले की सोने की चैन तक कुरतो के बाहर आ जाती है। गर्मियो में आमपाक की बहार होती तो जाड़ों में बादाम-पिश्ते की बरफियों

की नजाकत देखते ही बनती है। सुगन्धित शर्बत के साथ धन्धों की बातचीत बहक कर मुहल्ले-टोले में घटने वाली दिलफेंक घटनाओं पर आ जाती तो लोगों की वो-वो तबीयत मचलती कि भाषा की ऐसी की तैसी हो जाती है। इन्दौर-बम्बई के हालचाल पूछे जाते और इसी में कोई रूस-जापान की भी हांकने लगता। व्यक्तियों में गांधी, आजाद, भगतसिंह के नाम सुनायी पड़ने लगे थे। इधर कुछ दिनों से जर्मनी का नाम भी जोरो पर चलने लगा था। रोज की इन आवारा गोष्ठियों में, बाग-बगीचों में दाल-बाफल्ये की गोठों के बारे में तय होता। रोज के आनेवालों के अलावा कभी कोई 'गुरू' फँस जाता या 'नेताजी' हाथ आ जाते तो सड़क के दोनो ओर बैठे लफ्फाजों में बातों के माध्यम से जैसे वे 'गुरू' और 'नेताजी' इस ओर से उस ओर लिये-दिये जाते।

जिस समय पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा ने चौराहा पार किया उस समय यहाँ की रोज वाली रौनक, गहमागहमी यथावत थी। ठहाके और बोली-ठोलियाँ चल रही थीं। गोविन्दजी की गली में, एक तो अंधेरे के कारण तथा दूसरे निर्जनता के कारण दुर्गा बिना घूंघट के ही चली आ रही थी, पर जैसे ही चौराहा आने को हुआ कि उसने एक तो घूंघट निकाल लिया, दूसरे थोड़े पीछे होकर चलने लगी। निश्चय ही पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को कुछ लोगो ने पहचाना परन्तु साथ में महिला देखकर चुप लगा ली। जब तक ये लोग थोड़ी दूर नहीं निकल गये तब तक आपस की तू-तू, मैं-मैं या वाही-तबाही बन्द ही रही। जो उतरी वह रबड़ी के दोनों पर ही उतरी।

बुआमाँ का सीढ़ियों वाला दरवाजा बन्द था। विशाल पीपल के कारण जब दिन में भी इस स्थान पर छतनारी छाया का अँधेरा जैसा रहता है तब भला इत्ती रात में अँधेरे का क्या कहना। कुण्डी की आवाज सुनकर ऊपर की खिड़की से झाँकती हुआ बुआमाँ ने पूछा,

— कौन ? त्र्यम्बक ! रुको।

और ये दोनों उनके आने की प्रतीक्षा करते रहे। उन्होने दरवाजा खोला। एक हाथ में चिमनी थी। जब ये दोनों भीतर आ गये तब दूसरे हाथ से सीढ़ियों वाला दरवाजा बन्द करने लगीं तो दुर्गा ने बढ़कर स्वयं ही दरवाजा बन्द कर दिया। दुर्गा को ऐसा करते देख बुआमाँ जिस प्रकार तुष्टि से मुसकरायीं उसमें उनका मुख ढिबरी के प्रकाश में भी खूब ही सुन्दर लगा। बुआमाँ आगे-आगे प्रकाश दिखाती सीढ़ियाँ चढ़ने और चढ़वाने लगीं। वैसे तो ये सीढ़ियाँ इन दोनों की भी जानी-चूमी थीं तब भी इतनी या ऐसी परिचित नहीं ही थीं कि आपका ध्यान कहीं भी हो और आप अनायास चढ़ते चले जाएँ।

ऊपर पहुँचे तो देखा कि फूफा जी पण्डित नारायण जी पण्ड्या चटाई बिछाये जिस प्रकार बैठे हैं उसमें वह राजा रविवर्मा के चित्रों वाले नन्द जी महाराज लग रहे थे, केवल मुद्रा में। आस-पास लाल बस्तों वाले पोथी-पत्रे फैले थे। सामने रखी लालटेन का पीला प्रकाश दीवालों पर न होकर चटाई पर पसरा, बैठा लग रहा था कि जैसे फूफा जी की बातों को अभी तक वही अकेला सुन रहा था। एकमात्र बँगवई की ही छाया सामने की दीवाल पर कटे हुए ढंग में ऊँची चढ़ी लग रही थी। बुआमां इन दोनों के साथ न आकर रान्नीघर में चिमनी रखने के लिए पीछे रह गयी थीं। आयीं तो पानी का लोटा और तुक्कस लेती आयीं।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने पानी देखा तो बोले,

— पानी की जरूरत होती तो ये ही ले आतीं। आप भी कमाल करती हैं बुआमां!

'ये ही' से निश्चय ही उनका तात्पर्य दुर्गा से था। नाम इसलिए नहीं लिया कि उन दिनों बड़ों के सामने कोई अपनी पत्नी का नाम नहीं लिया करता था। पानी का गिलास फूफा जी की ओर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने बढ़ाया तो वह बोले,

— तुम पियो। मैं तो अपने ताम्र-पात्र का ही जल पीता हूँ....और क्यों भाई, क्या खाली पानी ही पिलाओगी?

इस पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— फूफा जी! अभी तो खाने की डकार तक नहीं आयी है।

इस बीच श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या ने सौंफ-सुपारी की तबक आले से नीचे उतार कर सामने रख दी। एक तरफ चुपचाप आकर बैठ गयी दुर्गा को अपनी आड़ में लेते हुए श्रीमती यमुनादेवी पण्ड्या बोलीं,

— लगता है बच्चों को भी खिला पिलाकर आयी हो।

वैसे तो दुर्गा अब बुआमां की आड़ में बैठी ही थी पर धीरे से जवाब देने में भी यही भाव था कि उसे अपनी आवाज के लिए भी तो आड़ चाहिए, बोली,

— बच्चों ने तो कभी का खा-पी लिया था। 'इनको' ही तैयार होने में हमेशा समय लगता है।

पति की शिकायत करते हुए वह क्षीण सा आँखों में मुसकरायी और पति की ओर इतना सा देखा कि बुआमां भी न देख सकें। दुर्गा की बात का जवाब पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल देने ही जा रहे थे कि पण्डित नारायण जी पण्ड्या ने हाथ का पत्रा नीचे रखा और चश्मा उतारते हुए बोले,

— तुम लोगों को लगा होगा न कि तुम्हें क्यों बुलवाया?

तभी बीच ही में श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या बोलीं,

— मुझे तो अभी भोजन करते हुए बताया कि तुम दोनों को बुलवाया है। पूछा कि क्यों बुलाया है उन्हें तो, तुम लोग तो अपने फूफा जी की आदत को जानते ही हो....इनकी इच्छा के विरुद्ध इनसे कोई नहीं बात निकलवा सकता।

इस पर पण्डित नारायण जी पण्ड्या हँस दिये, बोले,

— सुनो इनकी बात । अरे भाई हम जैसे सट्टक सीतारामों के पास क्या धरा है, जिसे छुपाया जाए ?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— हाँ, थोड़ा सा आश्चर्य जरूर हुआ कि क्या बात आ गयी ऐसी ? सामान्य बात तो हो नहीं सकती, जरूर कुछ असामान्य होगी ।

पण्डित नारायण जी पण्ड्या पद्मासन में बैठे हुए व्यक्ति से अधिक प्रतिमा लग रहे थे, बोले,

— तुम ठीक कह रहे हो त्र्यम्बक ! कुछ संकेत अवश्य कर देना चाहिए था वर्ना तुम क्या, कोई भी अन्यथा सोच सकता है ।''''कितना कठिन है यह व्यवहार-जगत, है न ?

अन्तिम वाला सूत्र-वाक्य कोई नहीं समझ सका कि वह किसे कहा गया था । सम्भव है स्वगत ही रहा हो ।

— ऐसी तो कोई बात नहीं फूफा जी ! तब भी ऐसी बात सुनकर आप लोगों को लेकर चिन्ता तो स्वाभाविक ही है ।

— क्यों नहीं, चिन्ता तुम लोग नहीं करोगे तो और कौन करेगा ?''''पर त्र्यम्बक ! सिवाय बुलाने के उस समय और क्या कहा जा सकता था ?''''और ऐसी-वैसी बात होती तो क्यों बुलाता ? जीवन भर न ससुर को बुलाया न साले को बुलाया पर आज तुम लोगों को बुलाने की आवश्यकता आ ही गयी''''है न सब भगवती की माया ?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को फूफा जी के इस वाक्य ने न जाने कितना कुछ अभिव्यक्त कर दिया कि 'न कभी ससुर को बुलाया न साले को बुलाया'—। पता नहीं किस बात को लेकर कभी इन फूफा जी को ससुराल वालों से इतनी विरक्ति हुई कि अपनी ओर से कभी कोई व्यवहार ही नहीं रखा । बुआमाँ के लिए तो विवशता थी, क्योंकि स्त्री कभी भी अपने मायके से अलग नहीं हो पाती है ।''' और आज जब फूफा जी को अपने साले के लड़के-बहू को बुलाना पड़ा तो क्या दुःखी भाव से ही नहीं बुलाया होगा ?''''लेकिन लगता तो ऐसा नहीं है ।

पण्डित नारायण जी पण्ड्या इस बीच प्रकृतिस्थ हो चुके थे, बोले

— तुम लोगों को बुलाते समय भी किसी भी प्रकार के अलगाव का भाव नहीं था त्र्यम्बक ! तुम और यह बहू ही उस परिवार में ऐसे रहे हैं जिनके प्रति अनायास सम्बन्ध अनुभव होता रहा है । जिन परिस्थितियों में यह तुम्हारी बहू, बहू बनकर आयी उस भीषण हाहाकार को क्या कभी भी भुलाया जा सकता है त्र्यम्बक ? ''''तभी तो यह मुझे कभी बहू नहीं लगी बल्कि बेटी लगी''' कैसा भीषण समय था वह'''कितना इस बेटी ने दुःख पाया होगा''''कोई उस दुःख को क्या समझेगा ?

पण्डित नारायण जी पण्ड्या बात करते-करते सदा ही कहीं चले जाने का बोध देते

हैं। उनकी बात सुनकर श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या को अपने से सटी दुर्गा प्रकम्पित लगी। उन्हें लगा कि दुर्गा विह्वल हो गयी है। उसकी पीठ पर हाथ फेरते तथा मीठी झिड़क के साथ अपने पति से बोलीं

— लो, तुम्हारी बेटी तो रोने लगी।

पण्डित नारायण जी पण्ड्या बड़े ही अनुपस्थित भाव से बोले,

— पता नहीं इसके लिए आज कैसे बेटी सम्बोधन निकल गया मुँह से।···बाँध लिया न अपनी आत्मीयता के बन्धन में ?···ठीक ही तो है, आद्या-शक्ति, भगवती—दुर्गा रूप में; माँ, बेटी बनकर अवतरित हुई है।···मुझे इसी ने व्यक्ति से पिता बनाया है···क्या भगवती की माया है यह।

शायद उनकी आँखें छलछला आयी थीं। कन्धे पर डले लाल गमछे से, संकोच अनुभव करते वह आँखें ऐसे पोंछ रहे थे जैसे कि आँख में कुछ गिर गया है और उसे निकाल रहे हैं। इतने-इतने वर्ष हो गये होंगे पर श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या ने कभी पति को इतना अनुरागी नहीं पाया होगा। पति केवल वीतरागी ही नहीं हैं बल्कि उनमें भी राग है, बाल-बच्चों के लिए आसक्ति है, ललक है—यह जानकर उन्हें इतना अच्छा लगा कि जैसे उनके आँचल भर उठे। उन्हें भी दुर्गा, बहू नहीं, बेटी लग रही थी, और सन्तान आँखों के सामने हो तो किस माँ का आँचल नहीं भर उठेगा ?

श्रीमती यमुनादेवी उपाध्याय स्वयं भी रो उठी थीं। आँचल से आँखें पोंछते हुए बोलीं,

— कैसे हो, सबको रुला दिया। क्या इसीलिए इन लोगों को बुलाया था ?

— तुम ठीक कहती हो भगवती !...जब क्षण भर का मोह रुला सकता है तो जो लोग अहोरात्र, पूरी जिन्दगी इसी में पड़े रहते हैं उनकी कितनी दुर्दशा होती होगी ?

इस पर श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या बोलीं,

— पर आपसे तो कहने नहीं आते वे लोग।

— जब सबके कन्धों पर जुआ रखा हो तब कौन किसका बोझ कम करे ?....ठीक ही हुआ, वर्षों से यह विकार कहीं रहा होगा, आज निकल गया।....जो कहो, बेटे-बहू या बेटी-दामाद....इनके सामने ही यह विकार निकल गया तो अच्छा हुआ न ? ....असल में त्र्यम्बक ! तुम दोनों को इसलिए बुलाया कि तुम जानते ही हो कि अब हम लोग पके आम हैं।

— यह आप क्या कह रहे हैं फूफाजी ?

— मनुष्य को यथार्थ से, और वह भी अपने यथार्थ से कभी मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। तुम्हारी बुआमाँ ने कभी इस बात को लेकर सन्ताप नहीं खड़ा किया कि कोई सन्तान नहीं है और न ही इस बात को लेकर कोई बहस, परिताप किया कि हमारे बाद क्या होगा....लेकिन त्र्यम्बक ! तुम्हारी बुआमाँ ने इस बारे में कभी सोचा भी नहीं होगा, यह कहना झूठ होगा इसलिए कि हम सब मनुष्य हैं। ऐसा न सोचना तो अमानवीय हो सकता है परन्तु सोचना सर्वथा मानवीय है। इस

परिस्थिति में इनके स्थान पर कोई अन्य सामान्य स्त्री होती तो सुझा सकती थी कि किसी को गोद ले लिया जाए।....और मान लो ऐसी विवशता उत्पन्न हो जाती तो उस स्थिति में भी तुम्हारे ही बच्चों में से ही किसी को लेना पड़ता।...उस दशा में किसे लिया जाता, क्या होता, इस बारे में सोचना व्यर्थ है क्योंकि किसी बच्चे को गोद लेना मुझे बड़ा अमानवीय लगता है। यदि वह बच्चा अनाम है, अनाथ है तब तो कोई बात नहीं परन्तु यदि कुल-कुटुम्ब का ही है तो स्थिति विषय होती है। आपके पास आने के बाद वह बच्चा अपने ही भाई-बहनों से कट जाता है और एकाकीपन अनुभव करता है। भावना से तो वह कहीं होता है और परिस्थिति-वश कहीं दूसरी जगह। ऐसे में निश्चित ही ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, इसलिए यदि इन्होंने तुम्हारे किसी बच्चे को गोद लेने के लिए कहा होता तो मैं कभी तैयार नहीं होता।....और त्र्यम्बक! व्यक्ति क्यों किसी दूसरे की सन्तान को गोद लेना चाहता है?—सुरक्षा के लिए?....यदि तुम्हारी बुआमाँ सोचती हों कि मेरे बाद वह पीछे रह गयीं तो क्या होगा?...सन्तान सहारा होती है, भले ही वह गोद ली हुई ही क्यों न हो। सामान्य आदमी इसी तरह सोचता है—परन्तु त्र्यम्बक! यह मैं तुम्हारो बुआमाँ से बीसियों बार कह चुका हूँ कि ऐसा नहीं होगा, इनके जाने के बाद ही मैं जाऊँगा। दाम्पत्य-जीवन का यह अन्तिम दाय भी निबाहूँगा, इन्हें अनाथ या विधवा नहीं होने दूँगा।

इस पर श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या बोलीं,

— सुन रहे हो त्र्यम्बक! इनके सामने तो किसी की चल ही नहीं सकती। भगवान करे ऐसा ही हो, पर पूछो कि किसके भाग्य में क्या लिखा है, यह कौन जानता है?

— शास्त्र जानते हैं, मनुष्य की शुद्ध-प्रबुद्ध आत्मा जानती है।

कहते हुए पण्डित नारायणजी पण्ड्या का वीतरागी, तेजस व्यक्तित्व पुनः जाग्रत हो गया। थोड़ी देर पूर्व वह जिस प्रकार साधारण हम-तुम लग रहे थे, वह साधारणत्व अब कहीं नहीं था। एक लपट का बोध हो रहा था। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— फूफाजी! आप भी यह क्या प्रसंग ले बैठे?

— जब मनुष्य अपनी हर बात के बारे में सोचता-विचारता है तो वह अपनी मृत्यु के बारे में सोचने से क्यों डरता है? इसलिए कि मृत्यु भयावह लगती है, लेकिन क्यों? क्या मृत्यु से भय किया जाना चाहिए? त्र्यम्बक! मृत्यु तो सबसे बड़ा उत्सव है। शायद मीरा ने ही तो इसे महामहोत्सव की संज्ञा दी है न? व्यक्ति का विराट होना मृत्यु है। मृत्यु तो एक ऐसा अनुष्ठान है जिसमें प्राणिमात्र अपने स्वरूप, गुण और कर्मों के साथ उस महामिलन, उस महारास में सम्मिलित होते हैं। शब्द, जिस प्रकार विराट होने की प्रक्रिया में नाद बनता है; जल-बिन्दु, अथाह बनने के लिए जिस प्रकार महासमुद्र बनता है; दीप, प्रलयंकारी महाशम्पा का कल्पनातीत आलोक बनने के लिए जिस प्रकार सूर्य बनता है उसी प्रकार त्र्यम्बक!

मृत्यु हमें अथाह, अगम, अगोचर एवं विराटत्व प्रदान करती है। सीमा में रहते-रहते असीम से भय लगने लगता है न ? केवल अज्ञानी ही इस सर्वशुभ मुहूर्त को अशुभ, अमंगल और अनिष्टकारी मानता है। मृत्यु से अधिक कल्याणी शक्ति और कौन है त्र्यम्बक ? जो हमारे सारे रोग-शोक, सुख-दुःख, जरा-सन्ताप स्वयं लेकर हमें पूर्णत्व प्रदान कर देती है। हम चाहे तो पुनः जन्मा हो सकते हैं। यह तो अभीप्सिता शक्ति है, महाराध्या माँ है। इस मातृशक्ति को जिस दिन अपने स्वत्व पर यज्ञोपवीत सा धारण कर लेते हैं तो हम गोविन्द रूप हो जाते हैं और जब भस्म की भाँति आलेपित कर लेते हैं तो हम सदाशिव अभ्यंकर हो जाते हैं।

बुआमाँ की आड़ लेकर बैठी दुर्गा ने पकी हुई श्वेत, धवल पंचकेशी वाले, ताम्रवर्णी व्यक्तित्व के फूफा-ससुर, नहीं, 'बेटी' कहनेवाले 'पिता' को देखा तो लगा कि सूर्य को देखना क्या होता है। मृत्यु जैसी भयावहता के बारे में जिस अनुराग, तन्मयता, एकाग्रता एवं निरानन्द भाव से चर्चा कर रहे हैं तो लग रहा है कि कोई ब्राह्ममुहूर्त में पूर्व दिशा की पखावज पर थाप देते हुए शंकरा गा रहा है। मृत्यु कितनी मोहक, अपूर्व, काम्य और आत्मीय लगने लगी न ? क्या एक ऐसी मनःस्थिति आ जाती है जब श्मशान का अघोरत्व और मन्दिर का भागवतत्व समान रूप से पवित्र, मंगलकारी और अभीप्सित हो जाते हैं ? व्यक्ति की वैयक्तिकता यदि जीवन है तो विराटत्व मृत्यु है। मृत्यु के प्रति ऐसी आत्मीय भाषा तो उसे तुलसी की कण्ठी बनाये दे रही है। शिव ने इसे अप्रतिम अलंकार बनाकर कैसे अपने पर धारण कर रखा है। क्या इसीलिए शिव होना मृत्युञ्जय होना है ?

दुर्गा सोच अपने में रही थी पर देख 'पिता' को रही थी। वह देखना, बाँचने से कम नहीं था। पण्डित नारायणजी पण्ड्या ने पद्मासन वाले पैरों को बदला और फिर बोलने लगे,

— त्र्यम्बक ! सारे धर्मों का प्रयोजन है कि व्यक्ति निर्भय बने। सारी तांत्रिक साधना का एकमात्र उद्देश्य है कि व्यक्ति पूर्ण रूप से सब प्रकार के भयों से मुक्त हो। और यह भय वस्तुतः बाहर नहीं बल्कि हममें होता है। मंत्रों का जाप, तंत्र-साधना सब उसी दिशा में ले जाते हैं। सत्य का साक्षात करना सीखो। इस प्रक्रिया में सत्य भी भयावह लगता है परन्तु इससे हताश मत होओ। सत्य के पीछे तब तक लगे रहो जब तक कि यह अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं उद्घाटित करता। जिस दिन सत्य के मूल रूप या आदि स्रोत को देख लोगे उसके बाद फिर कुछ देखने, जानने और प्राप्त करने को शेष नहीं रह जाता। सारी तलाशें, सारी जिज्ञासाएँ समाप्त हो जाती हैं। त्र्यम्बक ! यदि मृत्यु न होती तो देश-काल की क्षरण-प्रक्रिया में जकड़ा किसी का भी सौन्दर्य, व्यक्तित्व न केवल विद्रूप ही होता बल्कि ऐसी दुर्गन्ध आती कि उससे उपरति ही नहीं बल्कि जुगुप्सा होने लगती। वृद्धापकाल के बाद यदि मृत्यु की अनिवार्यता न होती तो क्या कल्पना कर सकते हो कि कैसे-कैसे आत्मीयजनों के कंकाल ही कंकाल, दुर्गन्ध देते पिशाचवत् हमारे

पूर्वज हमारे चारों ओर विचरते होते । सृष्टि में कुछ भी अन-अनिवार्य नहीं है । हमारे पूर्वज हमारे लिए आज भी आत्मीय, सुन्दर, सुखद तथा सुगन्धमय इसलिए हैं कि वे मर चुके हैं । केवल पुरुषार्थी व्यक्ति ही मृत्यु के द्वारा शाश्वतत्व को प्राप्त होता है, जीवन जीकर नहीं । जीवन, मृत्यु की विराट-यात्रा के लिए तैयारी करने के लिए हमें मिला है । वह भूमिका है मूल ग्रन्थ नहीं । वह हमें मृत्यु से परिचित कराने के लिए मिला है । इसीलिए त्र्यम्बक ! एक आयु के बाद मनुष्य को मृत्यु का स्वागत उसी उत्साह से करने के लिए तैयार रहना चाहिए जैसे कि हम किसी आत्मीय के आगमन को करते हैं । मृत्यु के लिए एक ललक, एक उत्साह अनुभव करना चाहिए न कि हताश होना चाहिए । क्योंकि वह महाशक्ति कृपण नहीं है । वह एक हाथ से हमारी जीर्णता ले रही होती है, हमें रोग मुक्त कर रही होती है, हममें आयी जड़ता से हमें मुक्त कर रही होती है तो दूसरे हाथ से हमें नव-देह, नव-रूप, नव-सौन्दर्य, नव-सृष्टि की अनन्त कृपा और सम्भावनाओं से अलंकृत भी करती है ।

पण्डित नारायणजी पण्ड्या सच में अतिमानव लग रहे थे । सामान्यतः तो उनकी तेजस्विता में एक प्रकार की मान्त्रिकता ही थी । उनके आत्मलीन विशाल नेत्र देखने पर आपको सदा यह लगता कि वे नेत्र न होकर उस व्यक्ति के अनुभव हैं, जिनको आप देख रहे हैं । वे किसी को नहीं देखते । यह भी लगता कि वे नेत्र, जाप करते हुए ओठ हैं । परन्तु इस समय वह निरानन्द भाव से तल्लीन थे, उनमें ऐसा अबोध क्रीड़ा-भाव आ गया था जैसे कि कोई बच्चा प्रसन्न होकर, तन्मय होकर अपने ही ऊपर जल छींटता हुआ कौतुक भाव से हँस रहा है । यह अबोधता ही परमहंसत्व है । जब विभेद भाव नष्ट हो जाता है तब तत्त्व प्रगट हो जाता है । स्त्री को जब कोई वृद्ध बालक दिखलायी देता है, तब वह स्त्री, सम्बन्ध से कुछ भी हो परन्तु रागात्मकता की दृष्टि से उस क्षण वह 'माँ' ही होती है । जिस स्त्री में यह भाव स्थायी हो जाता है वह जगज्जननी हो जाती है श्रीमती यमुनादेवी पण्ड्या को ही नहीं बल्कि दुर्गा को भी लग रहा था कि वह अपने इस वृद्ध 'पिता' की 'माँ' है । उदात्त का स्पर्श पाकर पण्डित नारायणजी पण्ड्या की भाषा कभी तड़ित् सी चमकती, कभी मेघ सी गरजती और कभी गुलाल उड़ाती उत्सव-भाव जगाती होती । सिद्ध व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करती भाषा स्वयं ही तत्त्ववत् हो जाती है ।

इस बार पण्डित नारायणजी पण्ड्या जिस प्रकार बोलने को हुए उससे लगा कि वह नीचे के आकाशों में उतर आये हैं तभी तो उनके नेत्र, नेत्र लगने लगे और भाषा, भाषा;

— त्र्यम्बक ! मेरी इन बातों का प्रयोजन तुम लोगों को बुलाये जाने से जुड़ा है । वह सीमा आ चुकी है जब तुम्हारी बुआमाँ और मुझे तैयारी शुरू कर देनी चाहिए । इसमें प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ कुछ नहीं है । हम सब एक प्रयोजन लेकर ही यहाँ आते हैं । प्रयोजन समाप्ति के थोड़े पूर्व से ही हमें अपने अनिवार्य अन्त के सं मिलने लगते हैं, जो कि सबकी नियति है । छोटे से छोटा पौधा क्यों न हो

उसे भी यह पूर्वाभास देना नहीं भूलती। सितम्बर के दिनों में गुलमेंहदी के विभिन्न वर्णों में पतली-पतली पत्तियों जैसे दलों में खिल आती है जैसे कि अब सदा-सर्वदा बनी रहेगी परन्तु एक माह के भीतर ही वह अपनी सारी रंगमयता समेट कर लौट जाती है। पर लौटते समय उसे परिताप करते किसी ने नहीं देखा होगा। प्रयोजन पूरा हो जाने पर आपका अर्थ ही क्या रह जाता है? कोई को भी तो आना है, केवल आप ही तो नहीं हैं। लेकिन कैसा विचित्र है कि सृष्टि में जो सबसे अधिक विवेकी माना जानेवाला मनुष्य है वही अपने प्रयोजन के समाप्ति के बाद भी बना रहना चाहता है। न जाने के लिए कसरता है तभी तो मृत्यु सबसे अधिक भयावह, अमंगलकारी, कष्टदायी भी मनुष्य को ही लगती है। ....तो त्र्यम्बक! समझ लो कि अब तुम्हारी भूमिका का और मेरा प्रयोजन पूरा होने को है।

— क्या? क्या कह रहे हैं आप?

शायद यही वाक्य पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा ने एक साथ कहा होगा परन्तु अन्तर केवल इतना ही था कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल का वाक्य तो सुना जा सका लेकिन दुर्गा का वाक्य ओठों से पहले उसकी आँखों में आया और वह आँसुओं में भीग उठा।

पण्डित नारायण जी पण्ड्या बोल रहे थे,

— मन और आत्मा पर वर्षों इस मिट्टी को सभी प्रकार से ढोया, तो थकान लगने लगी है त्र्यम्बक! घास का पूला उठाने वाले, लकड़ी का भार उठाने वाले भी, जब उन्हें बोझ लगने लगता है, थकान लगने लगती है तो उस बोझ को सिर से उतार देते हैं—बस, हम लोग भी तो यही करते हैं। इस बोझ को उतार देने से कमर सीधी हो जाती है। यही तो करना चाहते हैं हम लोग अब। . तुम लोग बुरा मत मानना बेटा!....मनुष्य कोई हो, अपने को कभी न कभी कहना चाहता है....आज तुम लोगो से कहना-सुनना हो गया तो मन पर से बोझ उतर गया.... अच्छा हुआ न?...रात काफी हो रही है ...जिस खास बात के लिए तुम लोगों को बुलाया त्र्यम्बक! वह यह कि हमारे बाद हमारी जो भी, जितनी भी और जैसी भी सम्पत्ति है उसके उत्तराधिकारी तुम होगे। इसकी सारी कानूनी कार्यवाही मनाना वकील साहब से करवा दी है। इस मकान के अलावा जो थोड़ा सा नकदी था उसकी स्थिति यह है त्र्यम्बक! कि वर्षों से यह इच्छा थी कि जिस भगवती माँ की अनन्त कृपा से अपनी इच्छा के अनुरूप जीवन बिताया, सामर्थ्य भर पूजन-आराधन किया, उनके चरणों में कुछ समर्पित किया जाए इसलिए....

और बात बीच ही छोड़कर वह उठ गये। सामने की दीवाल में एक भंडारया था। उन्होंने अपने यज्ञोपवीत में बँधी चाभी से उसे खोला तथा लाल कपड़े की एक पोटली निकाली। सबके सामने पहुँच कर पोटली को खोलने लगे। उसमें चाँदी के अलंकार थे—मुकुट, नथ, पाजेब, कंगन, करधनी सभी कुछ तो थे। ये छोटे-छोटे अलंकार कैसे चमेली के फूल लग रहे थे।

उन्हें दिखाते हुए यह बोले,

— त्र्यम्बक ! लो देखो । बेटी ! तुम भी देखो....ये सारे आभूषण तुम लोगों की बुआ-माँ के आदेश पर ही बने हैं । सुन्दर हैं न ?

फूफा जी ने प्रश्न अवश्य किया था परन्तु किसी उत्तर की आशा से नहीं, यह उनकी मुद्रा से लग रहा था । पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल तो स्वयं ही उन अलंकारों को देख रहे थे परन्तु दुर्गा को श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या एक-एक करके बहुत प्रसन्न भाव से दिखा रही थीं । दुर्गा को उन अलंकारों का स्पर्श देवी पर चढ़ाये गये गुड़हल या जवाकुसुम के फूलों सा ही पवित्र स्पर्श लग रहा था । यह उस पवित्रता को जैसे आँखों से पी रही थी और हाथ सहायता कर रहे थे ।

— त्र्यम्बक ! जीवन की जो कुछ जमा-जथा भी वह सब भगवती को समर्पित कर देने के बाद कमर सीधी करने जैसा लग रहा है, पर अभी पूरी तरह नहीं । फिर भी इतनी शान्ति, इतना आनन्द अनुभव हो रहा है कि यहां से बेटा ! अब जाने की आकुलता बढ़ती ही जा रही है । एक तिनके का भी बोझ, एक सीमा के बाद असहनीय होता है ।

— फूफा जी ! आपकी बातें सुनकर मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि क्या कहूँ....आपको आज तक केवल देखा था, पर सुना तो केवल आज ही । ऐसे सुनने के बाद कौन सा सुनना रह ही जाता है ?

— बेटा ! किसी भी अपरिग्रही के पास जाओ, वहाँ वस्तुओं की नहीं, व्यक्तित्व की सुगन्ध मिलेगी क्योंकि वह भी अहोरात्र अगरबत्ती की भाँति प्रज्ज्वलित रहता है । सामान्यतः तो हम सब धुंआ देते हैं क्योंकि जल नहीं रहे होते हैं । जलनेवाला ही आलोक प्रदान करता है, सुगन्ध देता है ।...हाँ, एक प्रबन्ध यह भी कर दिया है कि हमारे उत्तरकार्य के लिए सेठ विनोदीराम बालचंद के यहाँ हमारी यजमानी और दक्षिणा का सारा रुपया एकत्र है, वह तुम्हें इस कार्य के लिए मिल जाएगा ।

तभी दुर्गा ने दबे स्वर में अपने पति से कहने के बहाने सबको सुनाते हुए कहा,

— आप फूफाजी से एक तो यह पूछिए कि क्या इसी सबको कहने के लिए बुलाया था ?...दूसरे क्या अपने उत्तरकार्य के लिए भी धन दे जाना चाहते हैं अपने बेटे को ? यह 'बेटा' और 'बेटी' क्या केवल शब्द थे ?...नहीं..वह धन, यह घर सब कुछ भगवती माँ को अपने हाथों अर्पित कर दें । आपके चरणों के प्रताप से तथा आशीर्वाद से आपके इन पुत्र को किस बात की कमी है ? माना कि मृत्यु भी एक उत्सव है परन्तु सबकी मानसिकता तो आपकी तरह विराट्, उच्च नहीं हो सकती कि जिन्हें जन्म और मृत्यु समान रूप से मांगलिक और उत्सव लगें । हम साधारण लोगों के इस व्यवहार-जगत् में तो जन्म आनन्दकारक है तो मृत्यु अमंगलरूपा है । अपने प्रियजन की मृत्यु को उत्सव मानना हम जैसे साधारणजनों के लिए सम्भव नहीं । आप क्यों यह कठिन परीक्षा हमारी लेना चाहते हैं ? और जब यह अनिवार्य है तो उसकी चर्चा से लाभ ?....आप कहिए कि फूफाजी ! हमें

कुछ नहीं चाहिए। चेतन के अभाव में जड़ का क्या अर्थ है? शुक्ल-परिवार के ससुर, शुक्ल-परिवार के साले से आप जिस किसी कारण से विरत रहे हों पर जिसे आप पुत्र और बेटी मानते हैं उन्हें तो इस व्यावहारिक आचरण के द्वारा अपने से अलग मत कीजिए।

दुर्गा ने बातें तो अपने पति को ओट में रखकर ही कही थीं परन्तु कुछ बातें सीधी-सीधी पण्डित नारायणजी पण्ड्या से ही कही गयी थीं। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल कुछ कहने को उद्यत हुए परन्तु तभी फूफाजी बोल उठे,

— बेटी! शास्त्र-भाषा से तो मैं बहुत अवगत रहा हूँ परन्तु आत्मीय-भाषा तो आज ही सुनने को मिली। सच रे, तुम्हारी इन मीठी बातों के जल से हम दोनों का रोम-रोम सिंच उठा। तुम्हारे व्यक्तित्व, तुम्हारे संस्कार, तुम्हारी मानसिक संरचना से थोड़ा-बहुत परिचित रहा हूँ। और तो और जब स्त्री मिलना ही दुर्लभ होता है तब उसमें नारी और फिर नारियों में भी दुर्गा !! जिन दिनों असम-बंगाल में था तो वहाँ देखा कि ससुर भी अपनी बहू को 'बोऊमां' कहते हैं। तब कुछ अजीब सा लगा था परन्तु उस महत् सम्बोधन का अर्थ तुम्हें देखकर आज ही समझ सका बेटी! जिस दिन तुम्हे भी 'बोऊमां' कह सकूंगा, उस दिन भाषा ही नहीं, गिरा तक पवित्र हो जाएगी। ...और बेटी! यह अलग करना नहीं है...पिता जब अपनी सन्तान को अपनी सम्पत्ति दे जाता है तो क्या वह इस बात का हिसाब किताब नहीं है कि वह पुत्र को यह अपने उत्तरकार्य के लिए मूल्य स्वरूप ही दिये जा रहा है?....तुम कहोगी कि यह कोई कहता नहीं है। ठीक बात है, ऐसा कोई कहता नहीं है। मेरी भूल है कि मैंने इसे कह दिया। अब देखो न, जीवन भर सांसारिक तो अवश्य रहा पर पारिवारिक के रूप में व्यवहार करना नहीं आया.... बेटी! वैसे तो यह सृष्टि, इसके नियम सब एक प्रकार से सौदा ही हैं, परन्तु उनमें सौदे की गन्ध तब आती है जब उनमें भावना न होकर मात्र व्यवहार होता है। सौदा तो प्रकृतिक है पर सौदे की भाषा नहीं।...भगवान् कहो, या प्रकृति कहो, एक ही बात है। हम सबको अलग-अलग देह, देह-धर्म आदि मिलते ही इसलिए हैं कि बेटे का चलना बेटा करे और मां का चलना मां करे। कोई किसी दूसरे का न तो कर्ता बन सकता है और न भोक्ता। हाँ, पारस्परिक सद्भाव का निश्चय ही अर्थ है।....तुम दोनों मेरी इस बात का, व्यवहार का कोई अन्य अर्थ न लगाओ। यह मानना भी कोई बहुत गलत न होगा कि इसे इसी रूप में सम्पन्न होना था—बस !!...आज कितना अच्छा लगा कि तुम दोनों इतनी देर तक आत्मीयरूप में बैठे, बातें हुईं। आत्मीय बातें भी तो एक-दूसरे का स्पर्श करती हैं न?...अच्छा अब चलो, बहुत देर हो गयी, बच्चे परेशान न हो रहे हों कहीं।

और जिस समय पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा नीचे आये और सती-दरवाजे तक पहुँचे तो देखा कि सड़क एकदम निर्जन है। आश्विन आकाश अनन्त तारों में खिल आया था।

— लगता है तुम उदास हो गयीं ?

पति की बात सुनकर दुर्गा तत्काल तो नहीं बोली क्योंकि वह अपने में डूबी हुई थी, तब भी अपने को ऊपर ठेलते हुए भाव से बोली,

— हाँऽऽ, एक-एक करके कुछ जा चुके, कुछ जाने के बिन्दु पर खड़े हैं....कल ये भी नहीं दिखेंगे।....एक सीमा के बाद धरती का गुरुत्वाकर्षण कैसा हमारे पैरों के नीचे से शेष हो जाता है।

दोनों को दोनों की गहरी साँसें सुनायी दीं। आश्विन रात्रि के कृष्णाकाश में आकाशगंगा मन्दार फूलों की एक माला सी दिख रही थी। क्या किसी दिन इसकी मन्दार-गन्ध भी धरती तक, हम तक आ सकेगी ?

वस्तुत: गोपाल-मन्दिर चौक दो हिस्सों में है। मन्दिर के ठीक सामने के चौक में दाहिने हाथ वाली सड़क पटनी-बाजार कहलाती है तथा वही सड़क मन्दिर के सामने से होती हुई बोहरा-बाखल की तरफ चली जाती है। गोपाल-मन्दिर का मध्यकालीन स्थापत्य पेशवाई-युग का है। पहले यह मन्दिर किस रूप में था इस बारे में सार्वजनिक रूप से कोई नहीं जानता पर मरहठों का जब साम्राज्य छिन्न-भिन्न हुआ और स्थान-स्थान के सूबेदारों तथा भगोड़े सरदारों ने जब अपने आधीन इलाकों पर कब्जा कर लिया तो वे वहां के श्रीमन्त, महाराजा सभी कुछ बन बैठे। मालवा के इन मरहठे सरदारों में सींधिया, होलकर और पँवार ही प्रमुख रहे। सींधियाशाही में इस गोपाल-मन्दिर को आज का व्यापक स्वरूप मिला। पर इतना निश्चित है कि यह मन्दिर अत्यन्त प्राचीन है, तथा प्रशस्त भी है। मन्दिर में सड़क की ओर पूजा-पाठ की, धार्मिक पुस्तकों की कई दूकानें हैं। नीची छत की ये दूकानें मध्यकाल के बाजारों की याद दिलाती हैं। इन दूकानों में एक-दो नारियल तथा मेवेवालों की भी हैं। पूजा में काम आनेवाले रंगीन नाड़ों, चन्दन की मुठिया, विभिन्न प्रकार की शैवों-वैष्णवों की भस्मियों से लेकर ताँबे के पूजा-पात्र तथा पीतल की मूर्तियाँ, सिंहासन आदि सभी कुछ मिलते हैं। भारत के विभिन्न तीर्थों, अवतारों तथा नरक आदि के सस्ते रंगीन चित्र भी यहाँ मिल जाएँगे। आप चाहेंगे तो वह अँगूठी भी यहाँ मिल जाएगी जिसके नग में एक आँख बन्द करके देखने पर जगन्नाथ जी की मूर्तियाँ दिखती हैं या शिवजी अपने परिवार के साथ फोटो खिंचाने की मुद्रा में बैठे हुए मिलते हैं। मन्दिर के इस मैदान के दाहिनी ओर [आज जहाँ सीनेमाघर और म्युनीसीपल आफिस है] म्यूनीसीपाल्टी का बैरकनुमा आफिस है। सवेरे के समय इन बैरकों के सामने मेहतर, जमादार तथा इन्सपेक्टरों की अच्छी खासी भीड़ लग जाती है। गर्मियों में सड़क पर पानी छींटनेवाली गाड़ियाँ

वर्ष भर कोने में खड़ी रहती है। इन बेरको से ही लगी चौक की ओर आगे निकली बोहरों की बड़ी सी मस्जिद है। जिस प्रकार यह मस्जिद आगे की ओर निकली हुई है उसी तरह इसके ठीक सामने उज्जैन के सबसे बड़े बोहरे व्यापारी की खूब बड़ी सी बम्बई के ढंग की बड़ी सी दूकान है। इन दोनों के आगे निकले होने के कारण ही गोपाल-मन्दिर का यह चौक दो भागों मे बँटता है। मस्जिद के नीचे के तल्ले में इत्र-तैल वाले की एक दूकान है। एक दूकान है जिसमे सारी मुस्लिम टोपियाँ मिलती हैं जिनमें लटकनेवाले काले झब्बेदार फुन्दे की लाल फलालेन की तुर्की टोपी से लेकर सूरत की कलावत्तू के कामवाली झँझरी, कामदार गोल टोपियाँ मिल जाएँगी। सूरत वाली टोपियाँ खासकर बोहरे लगाते है। दूकानो मे एक बूढ़े मुसलमान दर्जी की दूकान भी है जिसकी बगल मे नाटे कद वाले बदनवाले की दूकान है। दोनों की विशेषता समान थी कि पक्के नमाजी तो थे पर आपस में हर बात पर झगड़ते भी खूब थे। इन दूकानो मे जो आखिरी दूकान, जो कि चौक के दूसरे हिस्से की तरफ थी, उसमें एक घड़ीसाज था जिसके ठीक समाने एक अडे वाले की उठाऊ दूकान थी। उलटी टोकरियों मे बन्द मुर्गियाँ दिन भर कुड़कुडाती रहतीं। कभी-कभी तो इतना शोर होता कि घड़ीसाज की दाहिनी आँख में कल-पुर्जे देखने वाला ढब्बू-चश्मा गिर-गिर पड़ता। बैलेन्स-ह्वील चुटकी से छूट-छूट पड़ता। इस बात को लेकर घड़ीसाज सिर्फ भुनभुनाता रहता। सिवाय बड-बडाने के उस अडे वाले पहलवान से कुछ कह सकने की हिम्मत उस सींकिया घड़ीसाज में नहीं थी। और घड़ीसाज कह भी क्या सकता था जबकि वह पहलवान यहाँ बैठने के लिए उसे एक अंडा रोज जो देता है। अगर वह न भी देता तो घड़ीसाज कर ही क्या सकता था ? सड़क कोई घड़ीसाज के बाप की थी ?

मन्दिर के इस चौक में बांये हाथ दूकानों का सिलसिला बोहरे की प्रसिद्ध दूकान तक चला गया है। कुछ दूकानें छातों की हैं, तो दो-चार दूकानें टोपी-पगडीवालों की भी हैं। जहाँ छोटी पुश्त की किश्तीनुमा गुजराती टोपियों से लेकर ऊँची पुश्त की बाल-दार मराठा टोपियाँ भी मिलती है। बच्चों के लिए सलमे-सितारे, कच्चे-पक्के गोटों की तहदार, गोल सभी टोपियाँ सभी रंगों की रखी मिल जाएँगी। हाँ, खोजने पर किसी दूकान पर डिब्बे में रखी गोल इटालियन टोपी भी मिल जाएगी। परन्तु एक तो ये टोपियाँ थोड़ी मँहगी होती हैं, दूसरे अधिकतर अफसर लोग इसे एडवर्ड कोट-पतलून के साथ हैट के स्थान पर पहनते हैं। तो, ऐसे अफसर हैं ही कितने ? फिर भी इनके भी ग्राहक यदा-कदा आ ही जाते हैं। इसी प्रकार पगड़ीवालों के यहाँ भी कपड़े को बँटकर, रस्सी जैसा बनाकर तिरछी बरफी की शैली में बनायी गयी तैयार जयपुरी पगडियों से लेकर इन्दौरी पगड़ी, पण्डितों की चक्करदार पगड़ी, एक ओर झूलते सुनहरी तिल्ले की पगडी, जैसी कि गोपाल कृष्ण गोखले पहना करते थे, से लेकर पंवार-सीधिया-शाही दोनों ओर नुकीली पगड़ियाँ तक मिल जाएँगी। बजाजे तथा सराफे की दूकानें प्रमुख रूप से पटनी-बाजार मे थीं, जहाँ कसेरों की बर्तनों की दूकानें भी हैं पर इस चौक में भी सराफे-बजाजे का धन्धा करने वाले कुछ तो हैं ही। इनके यहाँ भी ढाके की

मलमल, बनारस—सूरत की तिलकन साड़ियाँ, ब्राह्मणों के सोने-मुकुटे, जरी के बढ़िया सारंगपुरी दुपट्टे आदि मिल जाएँगे पर इसके लिए पटनी-बाजार ही बड़ी जगह है जहाँ छाँटने-देखने की सुविधा यहाँ से कहीं अधिक है।

मन्दिर के बाँये हाथ वाला रास्ता जो कि बोहरी-बाखल की ओर जाता है उधर गंधियों की इत्र-फुलेल, पान के सुगन्धित मसाले आदि की दूकानें हैं परन्तु मुख्य रूप से यहाँ बोहरों की दूकानें ही ज्यादा हैं। लालटेन, स्टोव से लेकर फोटो की फ्रेम बनानेवालों, चीनी-कांच के प्याले, तश्तरी, मर्तबान बेचनेवालों की प्रमुख दूकानें हैं। इस रास्ते को थोड़े ही आगे एक और रास्ता काटता है जो कि सीधा क्षिप्रा की ओर निकल जाता है। क्षिप्रा पार कर अगल्या वह रास्ता बड़नगर-बदनावर कस्बों की ओर चला जाता है।

छाते-टोपी-पगड़ी वालों की दूकानें ज्यादातर तो इकतल्ला ही हैं पर कुछ दुतल्ला भी हैं जिनमें से कुछ में लोगों के निजी आवास हैं पर कुछ में अब दूकानें भी हो गयी हैं। प्रसिद्ध फोटोग्राफर काले का स्टूडियो यहीं पर था। शहर के सारे सरकारी कार्यालयों के, मिल-मालिकों के, सेठ-साहूकारों के यहाँ के ग्रूप फोटो यही काले महाशय ही खींचा करते हैं। इनके स्टूडियो से लगी हुई दूकान शहर के सबसे नामी दर्जी, टेलर-मास्टर फकीरचंद की दूकान थी। रोलर-कालर का डबल-ब्रेस्ट का पहला कोट फकीरचन्द ने ही सिया होगा। न हो तो दाहिने हाथ कोट की भीतर वाली जेब पर कपड़े की चमकदार छोटी सी पट्टी देख रहे हैं न, क्या लिखा है उस पर ?—पढ़िये, पढ़िये—'फकीरचन्द टेलर्स,' क्या झूठ कहा था कि फकीरचन्द जैसा टेलर-मास्टर इन्दौर-महू में ही कोई हो तो हो। फकीरचन्द की दूकान के पास वाले दुमंजिले में अभी नयी-नयी 'हिज-मास्टर्स वायस' के चूड़ी के बाजे की दूकान खुली है। यहाँ आपको दिन भर कालू कव्वाल, अख्तरी-मुश्तरी के दादरे-ठुमरियाँ, फैयाज खान साहब की गर्जन करती आवाज, अमीरबाई कर्नाटकी की रागदारी सभी के रेकार्ड सुनने को मिल जाएँगे। कहने को तो लोग यह भी कहते हैं कि इस दूकान पर कभी मास्टर मदन भी आ चुके है, इस दूकान की दीवालों पर गायकों के चित्रों के अलावा मिस कज्जन, मिस रोज, मिस सुलोचना, बिब्बो, सहगल, के० सी० डे, ई० बिल्मोरिया सभा के रंगीन-सादे चित्र मँढ़े हुए या कैलेन्डरों में टँगे हुए हैं। मस्जिद के सामने बोहरे की जो बड़ी सी दूकान थी उसमें साधारण तो क्या अच्छों-अच्छों के जाने की हिम्मत नहीं होती थी। दूकान की बड़ी सी खिड़कियों में कांच के आदमकद पल्ले लगे हुए थे। इन खिड़कियों पर बहुत ही सजावट और करीने के साथ चीजें बड़े-बड़े तश्तों और चिलमचियों में रखी रहती थी। चाहे वह बादाम-पिश्ता हों या अंजीर-मुनक्का हों, बासमती चावल हों या तरह-तरह की मिश्रियाँ हों, सब इतने धुले-पुँछे, सजे-सँवरे लगते कि जैसे चित्रकारी के लिए सजाये गये हैं। जहाँ बोहराजी, मालिक बैठते थे उसके सामने एक बड़ा सा शो-पैनल पतली सम्बान में दूकान के सिरे तक चला गया था जिसमें टार्चे, गुड़ियाएँ, सेंट, इत्र, साबुन, रंगीन चश्में, घड़ी और चाभियों

की सौकियानी चैनें और पट्टे रखे रहते। एकाध दूरबीन भी हुआ करती थी। दूकान में एक बड़ा-सा खींचा जानेवाला पंखा छत में टँगा था। गर्मियों में जब इसे खींचा जाता था तो इसकी गीली खस से पूरी दूकान गमका करती थी।

पटनी-बाजार को बजाजखाना या सराफा या कसेरावाड़ी कुछ भी कहा जा सकता था, परन्तु यह नाम शायद इसीलिए पड़ा होगा कि जिन दिनों दूसरे सारे बाजार, रास्ते कच्चे रहे होंगे तब भी इस बाजार की सड़क ईंट-पत्थरों से पटी हुई होगी, क्योंकि आज भी जबकि दूसरे रास्ते मेटल-रोड के हैं तो भी यहाँ की सड़क खूब चिकनी तो है ही, साथ ही चौड़ी भी है। लेकिन इस नाम का एक अर्थ यह भी सम्भव है कि प्राचीन काल में जब अवन्ती पश्चिमी समुद्र के मार्ग में पड़ती थी और व्यवसाय की भी बड़ी मण्डी थी, तब भड़ौंच के बन्दरगाह द्वारा आया माल पूरे देश में ले जाये जाने के पूर्व यहाँ एकत्र किया जाता होगा और इस प्रकार यह स्थल 'पत्तन' का काम करता रहा होगा। यह 'पत्तन' ही कालान्तर में पत्तनी और पटनी हो गया। जो हो, आज भी यह बाजार उज्जैन के व्यवसाय का केन्द्र है। बजाजे, कसेरे और सराफे की दूकानों के अलावा भी कुछ दूकानें थीं। चतुरविहारी लाल बुकसेलर की किताबों की प्रसिद्ध दूकान यहीं पर थी जहाँ धार्मिक पुस्तकों से लेकर राष्ट्रीय गानों-गजलों की पुस्तिकाएँ तक मिलती थीं। संस्कृत की किताबें तो थी हीं परन्तु फारसी-उर्दू की सारी पुस्तकें भी यहाँ मिला करती थीं। इसी तरह आयुर्वेदिक तथा अंग्रेजी दवाइयों की भी दो-एक दूकानें थीं। यहीं पर खादी-भण्डार भी था। बजाजों के यहाँ बनारसी, बँगलोरी, ढाकई रेशमी, मलमल के वस्त्रों से लेकर राजस्थानी-गुजराती फूलकारी वाली चुनरियों और छापे के काम की साड़ियाँ, धोतियाँ सभी तरह के कपड़ों में मिल सकती थीं। वायलों की इतनी किस्मों के गट्ठर आपके सामने खोल दिये जाएँ कि आप हक्के-बक्के रह जाएँ। सूरत की सिल्क के साथ दो घोड़े की बोस्की और मैंचेस्टर-लंकाशायर के ऐसे-ऐसे कपड़ों का चलन था कि आप उज्जैन में पहुँच कर चकित हो उठें। लट्ठों में छह आने वाली डी-वन के अलावा चार आने गज का राममूर्ति लट्ठा भी ऐसा था कि दो आदमी पकड़ कर अपनी-अपनी ओर खींचें तब भी फट जाए तो दाम ही वापस नहीं बल्कि एक पूरा थान इनाम में। बाबू साहब! यह लट्ठा है, समझ क्या रखा है आपने! एक तार भी खसक जाए तो टाँग के नीचे से निकल जाएँ, समझे? लेकिन दस पैसे वाला जापानी लट्ठा और लंकलाट (लांग क्लाथ) का जितना चलन था उतना तो कोई कपड़ा नहीं चलता था। और सिल्क तथा रेशम का नाम न लें। अगर लेना हो तो बोलिए—गाँज के रख दें। जिस दाम और जिस रंग की जैसी साड़ी कहिए। जो बनारस में मिले अगर वही उज्जैन में न आपको दिला दें तो महाराज! इस दूकान पर कल से ताला आपको लगा दिखेगा—पर सौ बात की एक बात, कि लेना हो तो जितने गट्ठर, जितनी गाँठें कहें खोल कर दिखा दें पर यह न हो कि····और आप कपड़ों में लगे माँड़ की गन्ध से घिरे बैठे हैं। कसेरों की दूकानों के पास से निकलने का तो धरम ही नहीं। आपके कान ही

फट जाएँ। वर्तन खरादने की चीं-चीं आ रही है या बर्तनों में ठोंक-ठोंक कर गोल-गोल विन्दियाँ उभारी जा रही हैं। भीतर से जब ढेर सारी थालियाँ बेरहमी से बाहर फेंक कर दी जाती हैं तो एक ऐसी झन्नाहट उनके आपस में रगड़ने से होती है कि आपको लगता है कि दाँतों मे कोई कंकड़ आ गया। थालियाँ, परातें, लोटे, गंगाल, बाल्टियाँ आदि खरीदते लोग आपको दिख जाएँगे। इनमें खासकर देहात से आये लोग होते हैं जो उत्तरकार्य के समय दी जानेवाली 'लायण' के लिए ढेरों थाली-लोटे खरीदते है। बागड्ये लोटे को वजन करवाने के पहले हाथ में झुलाकर स्वयं उसका अन्दाज कर लेना चाहिए कि कितना होगा। यह ठीक है, पर आपको कौन-सा लोटा चाहिए ?—मुरादाबादी ? खरबूजी ? पेट की जगह से एकदम चिपका ? मराठी ? उड़िया ? कुछ अता-पता तो बताएँ ? लोटा कह देने भर से तो मिल नहीं जाएगा। शिप्राजी का जल ले जाना हो तो गंगाजली लोटा होगा, पेंचदार ढक्कन का पगड़ी-वाला लोटा मिल जाएगा। अब पता नहीं आपको किस काम के लिए लोटा चाहिए। कहिए तो जर्मन-सिल्वर की घण्टी (एक प्रकार का फैशनेबल लोटा जो शौकीन लोग भोज के समय साथ ले जाया करते थे) दे दी जाए ? बर्तनों के अलावा गाय-बैलों के लिए पीतल की जंजीर, गलघंटी, जो कहिए मिल जाएगी। अरे साहब, पनडब्बे की कुछ न कहिए। रामजी के जमाने से लेकर मुगल बादशाहों तक के जैसे पानदान कहिए, हाजिर कर दें। नफीस जाली के कामवाले हैदराबादी पानदान मिलेंगे। लखनऊ के पानदान तो जितने कहिए उतने। समइयाँ लीजिएगा ?····कहाँ की समई चाहिए ? दक्षिण भारत की, उड़ीसा की जैसी समई कहिए वैसी मिलेगी। दूकान के लिए चाहिए तो देखिए वो रखी हैं और भगवान् के लिए कहिए तो दक्षिण भारत की ऐसी-ऐसी सुन्दर दिखलाएँ कि आप एक लेनेवाले हों तो चार नहीं तो दो तो जरूर ही लें। लायण के बर्तनों से लेकर पंचायती के लिए खरीदी जानेवाली बड़ी-बड़ी परातें, हण्डे, कोठियाँ, झारे, छन्ने जो कहिए, सब मिलेगा। पर इसका मतलब यह नहीं बाबू साहब ! कि मराठी-गुजराती ढंग के सोफियाना आधुनिक बर्तन नहीं मिलेंगे। एक से एक डिजाइन की पतीलियाँ, कटोरियाँ, चम्मचें, गिलास—कहिए पीतल में दिखलाएँ या कहिए जर्मन-सिल्वर में····और आपके चारों ओर बर्तनो की खनखन हो रही है। सराफे की दूकानो में कुछ तो सराफे की ही दूकानें थीं जो चाँदी-सोने के जेवर-गहने बेचते थे पर कुछ सुनार भी थे जो बनाते भी थे। उन दिनों तैयार माल, वह भी सोने का, खरीदने का प्रचलन नहीं था। ग्रामीण या आदिवासी लोग अवश्य चाँदी की तैयार चीजें ही खरीदते थे। सामान्यतः लोग अपना सोना देकर बनवाते थे। सम्पन्न लोग सुनार घर बुलवाकर गहने बनवाते वर्ना सुनार को लोग सोना दे आते थे। पटनी-बाजार के अधिकाश सेठ-साहूकार वैष्णव थे इसलिए सबके यहाँ श्रीनाथ जी का चित्र अवश्य होता। पटनी-बाजार में दोनों ओर ढेर सारे माली बैठे होते जो हार-गजरे तैयार करते रहते। विवाह के लिए या धार्मिक त्योहारो के लिए फूलों-कलियों के मुकुट, शृङ्गार भी तैयार करते थे। ठाकुर जी, महाकाल या हनुमान आदि के लिए

प्रसाधन और सेवा का सामान हमेशा तैयार मिलता। अलस सवेरे से देर रात तक इनके पूरे के पूरे परिवार इसी में व्यस्त रहते। हां, रात में बचे हुए फूलों को झाबों में भर कर घर ले जाते परन्तु बाकी की खाली छाबड़ियां सेठों की दूकानों के नीचे बने भण्डारों में रख देते और अपने मालीबाड़े लौट जाते। पटनी-बाजार की यह सड़क ही घूम कर महाकालेश्वर की ओर निकल जाती है। इस बाजार में मिलनेवाली गलियों में मगरमुंहे की भी एक गली है जो पटनी-बाजार को लांघ कर निकल जाती है और आगे जाकर भागसीपुरे से आती गली को पार कर जब दाहिने हाथ मुड़ती है तो नमक-मण्डी की ओर निकल जाती है तथा बांयें घूमने पर गोविन्द जी की गली हो जाती है। भागसीपुरे वाली गली इसे काट कर सीधे चौक के दूसरे भाग में युवराज जनरल लाइब्रेरी पर निकलती है।

चौक वाले बोहरे की प्रसिद्ध दूकान के पार से गोपाल-मन्दिर चौक का दूसरा हिस्सा या बाहरी भाग शुरू होता है। बोहरे की इस बड़ी-सी दूकान के बाद वैसे तो और कई दूकानें थीं परन्तु अभी-अभी जूते की एक दूकान खुली थी जिसकी ओर सबका ध्यान आकर्षित हुआ था, वह थी 'बाटा' की दूकान। इस दूकान के खुलने के पहले तक जूतों की जिस दूकान का सब पर रौब था वह थी 'फ्लेक्स' की दूकान। 'फ्लेक्स' की दूकान में उस कम्पनी के जूते, पम्प ही नही लांग-बूट तक मिलते थे परन्तु उसकी अपनी चप्पलें नही थी जबकि 'बाटा' की दूकान मे जूतों, चप्पलों के अलावा क्रेपसोल के कपड़े के जूते भी मिलते थे। हालांकि गर्मियों में क्रेपसोल के जूतों को पहनने से मना किया जाता था कि पैर गरम हो जाने से आंखें खराब हो जाती हैं। जो हो, पर जूते क्या होते थे जैसे कबूतर का जोड़ा बैठा हो। वैसे 'फ्लेक्स' के तीन, साढ़े-तीन रुपयों के जूते पहनने की हैसियत ही कितनों की थी इसलिए 'बाटा' के जूते भी यदि उतने ही में मिलते तो किसी का ध्यान ही नही जाता पर उसके जूते अपेक्षाकृत सस्ते थे लेकिन उसकी चप्पलों के दाम भी आठ आने से कम नही थे। कोई पूछे इन बाटा वालों से कि भलेमानुसो! तुम्हारे सामने के मैदान में बैठे चमारों के पास जब चार आने में सादी और बढ़िया जूतियां मिल रही हो और सलमे-सितारे के कामवाली आवाज करती ऐसी जूतियां छह से आठ आने में मिलें कि लगे कि जयपुरी मोजड़ियां हैं, तब भला रबर के तले वाली चप्पलें आठ-दस आने में कौन खरीदेगा? पूरा पैर खुला भी रहे और दाम इतना! अब इस क्रेपसोल के कपड़े के जूते को कोई क्या कहे? कितने का?—दस आने का। छह आने में रबड़-टायर के जितने जूते कहो उतने मिल जाएं। हां, हां, पम्प कहो तो उसी फैशन का मिलेगा, जीमवाला कहो तो वह मिलेगा और तो और तुमसे अच्छा सफेद झक मिलेगा—अरे कुछ नहीं यार! ये बड़ी-बड़ी दूकानें बड़े आदमियों के चोंचले हैं चोंचले। फिटन से उतरे, पैर आगे किया और पैसा फेंक कर जूता पहन कर चल दिये। कौन अपना पैसा है? और फिर उन लोगों को क्या चलना भी पड़ता है? चलना पड़े तो दो दिनों में 'फ्लेक्स' और 'बाटा' मुंह बा दें। ज्यादा से ज्यादा टेनिस-कोर्ट पर दौड़-धूप कर ली, और बस। हमारी-आपकी तरह पूरी उज्जैन पैदल नापनी पड़े या

भैरोगढ से महाकाल आना-जाना पड़े तो सारी सीवन चूते और उसे पहननेवाले दोनों की उधड़ जाय ।—अरे गुरू ! यह अपना चार आने का चमरौधा किसी फ्लेक्स वाले से कम है ? तुम तो कहोगे कि भैंसे के चमड़े का है और काटेगा । बाबू साहब ! दो बार तैल पिलाया और पाँव मे डाला तो साला मक्खन भी मात है''' पैर खुद न भागने लगे तो जो चाहे शर्त बद लो—और दूसरी ओर वो हैं तुम्हारे''' क्या नाम है ?—हाँ, बाटा के जूते, कबूतर के जोड़े !!''''कबूतर का नाम न लेना वर्ना ईरानी होटल वाला उनका कबाब ही बना डालेगा ।

'बाटा' की इस दूकान के बाद कबाड़ियों की दूकानें हैं । एक दूकान पैट्रोमेक्स वाले की है जो स्टोव भी ठीक करता है । शादी-ब्याह के समय यहाँ खूब भीड़ रहती है । बरात में, भोज में, जनवासे में, सभाओं में, पार्टियों मे सभी जगह तो अब पैट्रोमेक्स पहुँचने लगे हैं । मशालें तो लगता है लोगों ने जैसे बेच खायी हैं । देहात के लोग तो कई दिनों पहले से आकर ले जाते हैं । देहात की शादियों में रामजनी (वेश्या) और पैट्रोमेक्स तो बहुत ही जरूरी है । आगे इसी पट्टी में बैंडवाले की भी दूकान है । दूकान क्या है, एक कोठरी है । वहाँ सवेरे से शाम तक कोई न कोई एक न एक बाजा बजाता ही रहता है और धुन निकाला करता है । आसपास वाले इस चौबीसों घण्टे की 'ढाँई चिक' से परेशान रहते हैं पर कह कुछ नहीं सकते । इसके बाद जब नयी पट्टी आरम्भ होती है तो वहाँ साइकिल-मोटर के टायर-ट्यूब वाले की एक दूकान है । साइकिलों में हवा भरना तो बायें हाथ का काम है परन्तु मोटर के पहियों मे लड़कों की क्या, बड़ों-बड़ों की धोती ढीली हो जाती है । कमीज सामने से पाजामें में खोसकर झटके के साथ पम्प से मोटर के पहियों में हवा भरना नाम पूछ लेता है । इस दूकान पर मोटर के थोड़े-बहुत स्पेयर पार्टस् भी मिल जाते हैं । चूँकि अभी शहर के भीतर कोई पैट्रोल-पम्प नहीं था इसलिए यहाँ लाल कनस्टरों में पैट्रोल भी मिलता था । आगे इस पट्टी में ज्यादातर छापे के कपड़ों के आढ़तियों की गद्दियाँ घूम कर कंठाल वाली सड़क तक हैं । जहाँ ये गद्दियाँ समाप्त होती हैं उसके ठीक सामने सड़क पार उज्जैन का एकमात्र पुस्तकालय एव वाचनालय—'युवराज जनरल लाइब्रेरी' दूसरी मंजिल पर है । नीचे की मंजिल में इसी तरह की गद्दियाँ चली गयी हैं । उनमें कुछ मिलों की एजन्सियों की दूकानें भी हैं ।

'युवराज जनरल लाइब्रेरी' से लेकर घूमते हुए बोहरों की मस्जिद तक छोटी-मोटी किराने वालों, गोटे-किनारों वालो, लैस वालो, तैल-कघी वालो की भी दूकानें हैं पर इधर उज्जैन की सबसे बड़ी सब्जी मण्डी है । यों तो इसे सब 'सब्जी-मार्केट' कहते हैं पर इसमें मण्डी के ही गुण ज्यादा हैं, मार्केट के नहीं । जितनी गन्दगी, दुर्गन्ध सम्भव है, सब यहाँ है । इस मार्केट के बाहर फलवालों की भी दूकानें हैं । सवेरे-शाम झोला लटकाये, लाल गमछा लिये या धोती के खूँट में [illegible] सब्जी टाँगे लोग दिख जाते हैं । रात में अभी यहाँ बिजली का कोई प्रबन्ध नहीं [illegible] लिए ढिबरियाँ जलाये सब्जीवाले औने-पौने, सड़ा-गला [illegible] । इसी 'मार्केट' के

सिरे पर यहाँ का डाकघर और तारघर दोनों एक ही बैरकनुमा बँगले में हैं। फलों के नाम पर केला तो सदाबहार फल है परन्तु सेब या अंगूर तो यदा-कदा ही दिखते हैं। और सच भी है सेब या अंगूर खाने की ताव किसमें है भैया ? सेठ-साहूकार भले ही भाँग-बूटी में अंगूर छानते हों, नहीं तो जब बीमार के लिए डाक्टर जोशी सेब या मौसम्बी या अंगूर के लिए लिख देते हैं तो पैरों तले की जमीन खसक जाती है। इन डाक्टरों का क्या, पर सब धन्नासेठ हैं क्या ? हाँ, आम के दिनों में देसी, चुसवाँ आम तो आता ही है पर कलमी आम के नाम पर बम्बइया तोतापरी मिलेगा या फिर दिल्ली का कभी-कभार नीलमपरी भी आ जाता है। बनारस का लँगड़ा और लखनऊ का दशहरी भूगोल के मास्टर साहब ने गंगा-यमुना के मैदान के उपजाऊपन को पढ़ाते हुए बताया होगा। देखा तो शायद ही किसी ने हो।

हाँ, चौक का यह दूसरा हिस्सा पहलेवाले की तरह साफ-सुथरा नहीं था। इसका कारण यह था कि यहाँ पूरे चौगान में छोटे-छोटे काम-धन्धे-वालों की उठाऊ दूकानें रोज सवेरे लग जाती थीं और देर रात में कुछ उठ भी जाती थीं। दिन में ये दूकानदार डण्डे से छतरियाँ बाँधकर उन्हें खोल लेते और उनके नीचे बैठे हुए अपना धन्धा करते रहते थे। रात में शायद ही किसी के पास ढिबरी होती तब भी ये बड़े मजे से सौदा देते-लेते रहते। किसी सरकारी आयोजन के सिलसिले में ही बरस में दो-चार बार यह मैदान खाली करवाया जाता था, उन दिनों जरूर ये लोग आसपास की गलियों में काँख-कूँख कर वे दिन काट लेते। पर रोज तो ये लोग सारे मौसमों में बने रहते हैं और न आँधी-पानी, न तेज ठण्डी हवाओं और न लू से ही इन्हें कोई कठिनाई होती। भीगने-सूखने से ये डरनेवाले लोग नहीं थे। इनमें जूतों की मरम्मत करने-वाले, जूतियाँ बेचनेवाले, नेपाली जड़ी-बूटी तथा शिलाजीत-शहद वाले, दतौन वाले, छाते की मरम्मत वाले, जनेऊ-दंतखुदनी वाले सभी होते थे। इन उठाऊ-दूकानों और टायर-ट्यूब वाले की दूकान के बीच जो जगह थी वह यहाँ का ताँगा-स्टैन्ड था। गोपाल-मन्दिर चौक से कोठी (जहाँ कोर्ट-कचहरी थे) का ताँगेवाले एक आना लेते थे। चार मील का एक आना भी लोगों को भारी पड़ता था।

टायर-ट्यूब वाले की दूकान जिस पट्टी में थी उसके पीछे जो सड़क थी उस पर रुई धुननेवाले, गद्दे-लिहाफ भर कर तागे डालनेवाले पिंजारों की दूकानें थीं। इसीलिए इसे पिंजारवाड़ी भी कहते थे। इधर मुसलमानों की ही बस्ती अधिक थी। इस बस्ती से लगी हुई ही मुसलमान बोहरों की बोरा-बाखल पड़ती थी। यहाँ इन दिनों शहर की सबसे ऊँची पानी की टंकी बन रही थी जिसके लोहे का अस्थिपंजर आकाश में दैत्या-कार खड़ा था। इधर मुसलमानों के सस्ते होटल, नानवाई की रोटी की दूकानें भी थीं। छोटे-मोटे दूकानदार, दर्जी, ताँगेवाले इन होटलों, दूकानों में—चाय-नाश्ते के लिए, रोटी-सालन के लिए बैठे रहते। एक ईरानी होटल था, जो अपेक्षाकृत साफ-सुथरा था, जिसकी दीवालों पर आधे तक टाइल्स और शीशे जड़े हुए थे तथा आधे में मक्का-मदीना-काबा आदि तीर्थों के रंगीन चित्र सजे हुए थे। इधर सारे दिन माँस और खमीरी गन्ध

की खट्टी गन्ध आती रहती थी। लोग सामने टेबलों पर तामचीनी की प्लेटों में रोटियाँ और मांस रखे तथा पानी के लिए छोटी-छोटी मटकियाँ लिये खाना खा रहे होते। यही वह सड़क है जो क्षिप्रा चली जाती है।

युवराज जनरल लाइब्रेरी मेन-रोड पर है। कण्ठाल वाली इस मेन-रोड से सती-दरवाजे की ओर जाने पर रामजी की गली और गोविन्दजी की गली वाला वही चौराहा पड़ता है जहाँ कि रोज रात में सेठों, आढ़तियों और निठल्लों की देर रात तक बैठकी जमती है। उस चौराहे और लाइब्रेरी के बीच में ऐन सड़क के बीचोंबीच अच्छा खासा फैला हुआ, पर कद से नाटा एक वटवृक्ष है। इस वटवृक्ष के मोटे से तने से सटी आदमकद हनुमान जी की मूर्ति है। कभी यह वृक्ष और मूर्ति साधारण रूप से खड़े थे—पर अब धीरे-धीरे मूर्ति को घेर कर मन्दिर की शक्ल दी जा रही थी और विचार तो यह भी था कि इस वटवृक्ष को घेर कर फेंसिंग लगा दी जाए। जिधर लाइब्रेरी है उसी पट्टी में ठीक हनुमान जी की मूर्ति के सामने 'फ्लेक्स' जूते-वाले की दूकान है। यहाँ चमड़े की बनी अधिकांश चीजें मिलती थीं। बग्घी के घोड़ों के लिए चमड़े के सामान से लेकर चमड़े के फैन्सी बक्से, होल्डाल तक मिलते थे। सोलो हैट से लेकर एकाध सफेद रोमन-हैट तक उपलब्ध हो सकता था। प्रायः इस दूकान के सामने आसपास के जागीरदारों, ठाकुरों, जमीदारों की मोटरें, फिटनें, घोड़े खड़े रहते। घुड़सवारी के लिए पिंडलियों पर बाँधे जानेवाले चमड़े के चौड़े बेल्टों से लेकर जीन तक तो मिलती ही थी पर पूछने पर जूते में पीछे की ओर लगनेवाली लोहे की चमकदार ऐड़ तक मिल सकती थी। इस दूकान पर आसपास के सारे राजों-महाराजों के सर्टीफिकेट टँगे हुए थे। इस दूकान के बाद उस चौराहे तक गुजराती सेठों-आढ़तियों की तम्बाकू, कपड़ों की एजन्सियाँ, गद्दियाँ थीं। इन गद्दियों के सामने लोहे की पत्तियों से बँधी, टाट में लिपटी गाँठें, तम्बाकू के पत्तों के बोरे के बोरे ठेलों पर लदकर स्टेशन भेजे जाते। इसी प्रकार दिन भर माल आता-जाता रहता और ये गुजराती-मारवाड़ी सेठ-आढ़तिये टाँग पर टाँग चढ़ाये गाव तकिये से टिके सौदों में बझे रहते।

सामने की पट्टी में छीपों [हिन्दू रँगरेज] की कुछ दूकानें थीं जहाँ ताँबे के बड़े-बड़े देगचों में कपड़े भट्टियों पर चढ़े गमति रहते। एक खास किस्म की भापीली गन्ध आती थी। लकड़ी के घूनों [कुन्दों] से छीपे या उनकी स्त्रियाँ गरम-गरम कपड़ों को ऊँचा-नीचा किया करती। लुगड़े, साड़ियाँ, साफे, पगड़ियाँ, दुपट्टे सबको माँड़ लगा कर तरह-तरह से सुखाया जाता। लुगड़े और साड़ियाँ तो ऊँची जगह बँधे तारों पर बाँस के सहारे ऊपर फैला दिये जाते पर दुपट्टे यहाँ-वहाँ फैला दिये जाते थे। हाँ, साफों, पगड़ियों को दीवाल में लगे एक डण्डे के भीतर से लेकर या उसमें झुलाकर लम्बान में पकड़ कर टहल-टहल कर या उछाल-उछाल कर सुखाया जाता। खासकर बच्चों को इस तरह सुखाने में बहुत मजा आता क्योंकि जब ये साफे-पगड़ियाँ ऊपर से नीचे आतीं तो उनमें भरी हवा को दबाने में सुख मिलता या जब टहल कर सुखाना होता तो हाथ दुखने लगते परन्तु हवा भरी पगड़ियों, साफों पर जोर लगाना भी काफी

उत्तेजक लगता था। जब ये साफे-पगड़ियाँ अभी अधगीले ही होते कि छीपों की स्त्रियाँ नीचे से चिकने लोटों में कोयले भरे सँड़सी से थामे, एक सिरे से दूसरे सिरे तक घुमाते हुए, माँड़-कलफ लगे उन साफों-पगड़ियों पर इस्तरी करने लगतीं। छीपों के इन कामों को, चाहे वह पगड़ियों को सुखाना हो या लुगड़ों-साफों को तहाना हो, अधिकतर स्त्रियाँ ही करती थीं। उसमें एक ऐसी लय होती थी कि कपड़ों के विभिन्न रंग और वर्ण उन कपड़ों के न लगकर उन स्त्रियों के लगते। छीपों की इन दूकानों की बगल में एक मारवाड़ी ढाबा था और उसके आगे मिठाइयों की दो-एक दूकानें थीं। इन सारी दूकानों पर तो उतनी नहीं पर खासकर ढाबे पर मंदिरवाले वटवृक्ष की ऐसी छतनारी छाया रहती कि गर्मियों में भी बहुत सुखद लगता था। इन दूकानों के बाद उस चौराहे तक जो दूकानें थीं वे देस-दिसावर की ऊनी-सूती मिलों की एजन्सियाँ की थीं जिन्हें शादी-ब्याह, काज-करियावरों के लिए ढेरों साड़ियाँ, धोतियों की जरूरत होती थी वे दूकानदारों से न लेकर लेने-देने वाली साड़ियाँ-धोतियाँ थोक के भाव यहीं से खरीद ले जाते। इस पट्टी के पीछे की ओर जो गली थी वही रामजी की गली थी। यह गली केवल इस बात के लिए प्रसिद्ध थी कि यहाँ उज्जैन के जितने अच्छे मारवाड़ी ढाबे, गुजराती 'जमवानी सगवड़' और मराठी 'खाणावल' थे उनमें से अधिकांश यहीं थे। व्यापारियों और तीर्थ-यात्रियों के लिए यह स्थान सभी दृष्टियों से सुविधापूर्ण था, क्योंकि केन्द्रीय था। पाँच से सात रुपये महीने पर विद्यार्थी, परदेसी व्यापारी खाना खा सकते थे। रोज के छुट्टे खानेवालों को चार आने लगते थे।

'युवराज जनरल लाइब्रेरी' ऊपर की मंजिल पर थी। बाहरी जिस सीढ़ी से होकर लाइब्रेरी का रास्ता था वहाँ पंचांग-जन्त्री वाले की तथा एक पान वाले की दूकान थी। इनसे सटी एक प्याऊ भी थी जो कि गर्मियों के दिनों मे सेठों-साहूकारों के चन्दे से धर्मार्थ चलती थी। वर्ष के बाकी दिनों मे वह प्याऊ वाला ब्राह्मण 'हस्तरेखा विशारद' बना यात्रियों और देहातियों के हाथ देखकर भविष्य बताया करता था और इस तरह चार-आठ आने तो कमा ही लेता था। लाइब्रेरी चूँकि बहुत बड़ी थी इसलिए कण्ठाल वाली सड़क की ओर भी थी और दूसरे चौक के भीतरवाली सड़क पर भी पड़ती थी। चौक की ओर देखने पर इस लाइब्रेरी से गोपाल मन्दिर का स्वर्ण-कलश और उसकी लहराती पताका तथा दूर तक चला गया आकाश का गहरापन दिखलायी देता था। यहीं से खड़े होकर बोहरों की मस्जिद वाली मीनारें भी दिखती थीं। सब्जी-मार्केट की दूकानों से लेकर गोपाल-मन्दिर के बाँयें हाथ वाली दूकानें, इस चौक की उठाऊ दूकानें, बोहरे की दूकान सभी कुछ दिखलायी देता था। बोहरों की मस्जिद के कारण म्यूनीसीपाल्टी की बैरकें जरूर नहीं दिखती थीं। कार्तिक आकाश या किसी दिन भी खुले आकाश में जब पतले-सफेद बादल सारस-से उड़ते होते तो यह सारा दृश्य भी उड़ता-सा लगता। चूँकि इधर ही पश्चिम था इसलिए सूर्यास्त का सायं-प्रकाश लाइब्रेरी के दालान की झँझरियों से होता हुआ, टेबलों को फलाँगता भीतर लाइब्रेरियन आइनापुरे के पास तक पहुँच जाता था। चूँकि यह उज्जैन का सबसे अधिक

गुंजान स्थल था और लाइब्रेरी लवे सडक थी इसलिए प्रायः नीचे से आती लोगों की तेज बातचीत, तांगों के घोडो की टापें और घुंघरू-घण्टी तक यहाँ सुनायी पड़ती थी।

लाइब्रेरी की सीढियाँ समाप्त होते ही तथा दालान के शुरू होते ही वे टेबलें शुरू हो जाती थी जिनके सामने लोग खडे-खड़े अखबार पढ़ते होते। इन खड़ी टेवलों में पत्तियो के बीच अखबार कस दिये जाते थे और पत्तियो में ताले लगा दिये जाते थे। तब गिनती के सौ-पचास घरो में संभव है बम्बई-दिल्ली से अखबार आते रहे हों वर्ना बाकी के लोग तो शाम को लाइब्रेरी में आकर पढ़ लिया करते थे। यहाँ हिन्दी, अंग्रेजी के अखबारो के अलावा मराठी और गुजराती के भी दैनिक-साप्ताहिक-मासिक आते थे। इसलिए गुजराती सेठों-साहूकारो से लेकर अवकाश प्राप्त महाराष्ट्रीय वृद्ध सज्जन आँखों पर चश्मा चढ़ाये देखे जा सकते थे। हिन्दी के 'वेंकटेश्वर-समाचार', 'विश्वमित्र', 'वीर अर्जुन', 'अखण्ड-भारत' के अलावा अंग्रेजी का 'टाइम्स आफ इण्डिया', 'बाम्बे क्रानिकल', 'ट्रिब्यून', 'नागपुर टाइम्स' भी आते थे। मराठी का 'केसरी' और 'सकाल' आते थे तो गुजराती का 'जन्मभूमि' भी आता था। अखबार पढते इन विभिन्न भाषी महानुभावों को किसी से कोई मतलब नहीं होता था। बिजली तो अभी पिछले वर्ष ही यहाँ आयी है। जिन दिनों बिजली नहीं थी उन दिनों ये अखबार या तो लोग पैट्रोमेक्स या बडे हण्डों वाले लैम्पों के पास बैठ कर पढ़ते थे या सूर्यास्त के पूर्व दालान में बैठ कर जाते हुए प्रकाश में आँखें गड़ा कर पढ़ते होते। अब इन टेबलों के ऊपर झूलते बल्ब लगा दिये गये थे इसलिए अब अखबार स्थायी रूप से इन खडी टेबलों पर ही रखे रहते हैं। सभी भाषाओं के साप्ताहिक, मासिक दालान में पड़ी टेबलों पर फैले रहते। साप्ताहिकों में हिन्दी का 'देशदूत' और अंग्रेजी का 'इलस्ट्रेटेड वीकली' खूब पढ़े जाते थे। मासिकों में 'चाँद', 'माधुरी' 'सरस्वती' नवोदित लेखकों और साहित्यप्रेमियों में लोकप्रिय थे। हाँ, 'हरिजन' सभी भाषाओं में मँगाया जाता था। कई सज्जन तो केवल 'हरिजन' और 'कल्याण' पढ़ने ही आया करते थे।

गत वर्ष तक 'युवराज जनरल लाइब्रेरी' के लाइब्रेरियन एक महाराष्ट्रीय सज्जन थे, जिनका नाम था वामन गणेश आइनापुरे। आइनापुरे को देखकर कोई भी कह सकता था कि यह सज्जन अपनी योग्यता के कारण नहीं बल्कि मानवीय करुणा-वश ही लाइब्रेरियन बनाये गये होंगे। जिन्होंने भी आइनापुरे को देखा है, वे निःसन्देह कह सकते हैं कि यह व्यक्ति और चाहे जो हो सकता है परन्तु लाइब्रेरियन होने की कोई योग्यता इनमें नहीं है। जो लोग आइनापुरे का कुल-शील जानते हैं वे लोगों की इस राय से सहमत हैं। लाइब्रेरियन बनने के पूर्व आइनापुरे इन्दौर-उज्जैन के बीच पालिया स्टेशन पर स्टेशन-मास्टर थे। बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे के छोटे-से स्टेशन पालिया के यह स्टेशन मास्टर निकाल दिये गये थे, परन्तु किसी गबन या काम के किसी चारित्रिक दोष के कारण नहीं बल्कि एक साधारण-सी असावधानी के कारण बेचारों की नौकरी गयी। हुआ यह कि वामन गणेश आइनापुरे, पालिया स्टेशन-मास्टर की जेब-घड़ी एक दिन खराब हो गयी। उस दिन वर्षा भी खूब हो रही थी।

कई दिनों से बादल छँटने का नाम ही नही ले रहे थे अतः उस दिन घनघोर बादलों और वर्षा के कारण, घडी के अभाव मे समय का पता ही नही चला। रोज की ही भाँति अपने नैमित्तिक पाठ-पूजन मे लग गये। पाठ-पूजन तो वह रोज वाला ही कर रहे थे पर उस दिन समय ने उनका साथ नही दिया। स्टेशन पर उनके अतिरिक्त एक कैबिन-मैन और एक लाइन-मैन ही हुआ करता था। रतलाम की ओर से आने-वाली सबेरे की गाड़ी पिछला स्टेशन छोड़ चुकी थी और छह मील की दूरी तय करने में समय ही कितना लगता है ? लाइन-मैन घण्टी बजाकर हर क्षण सोचता रहा कि 'साहेब' बस आते ही होंगे। वह इस बरसते पानी में दालान में झण्डियाँ लिये प्रतीक्षा करता खड़ा रहा। जब उसने पश्चिम से आती ट्रेन को धब्बे के रूप में देखा तो वह हड़बड़ाकर 'साहेब' को बुलाने के लिए उनके क्वार्टर की ओर लपका। उसे आशका भी हुई कि कभी ऐसा नही हुआ, तब आज क्या बात हो गयी ? वह समझ रहा था कि रेल किसी भी क्षण पहुँच सकती है और जब देखा कि 'साहेब' ध्यानस्थ भाव से पूजा मे बैठे हैं तो वह उल्टे पैरों लौटा क्योंकि उसे ट्रेन के पहुँचने की घण्टी भी बजानी थी। ट्रेन के पहुँचने की घण्टी सुनकर आइनापुरे महाशय चौंके और हड़बड़ा कर उठे। तैयार होने का टाइम ही नही था। ट्रेन मुश्किल से दो मिनिट ही रुकती थी। वह उसी धोती-बनियाइन मे भीगते हुए प्लेटफार्म पर पहुँचे ही थे कि गाड़ी सीटी देकर चलने लगी थी। गाड़ी के अन्तिम डिब्बे से जब गार्ड ने स्टेशन-मास्टर को इस अनौपचारिक भूषा मे बदहवास-सा खड़े पाया तो उसने घूर कर उन्हें देखा। गाड़ी के इन्दौर पहुँचने पर गार्ड ने पालिया के स्टेशन-मास्टर को गैर-जिम्मेदारी की शिकायत लिखकर दे दी तो एक सप्ताह बीतते-न-बीतते पालिया स्टेशन के स्टेशन-मास्टर वामन गणेश आइनापुरे 'विट्ठल'-'विट्ठल 'देवा'-'देवा' करते हुए अपने शहर उज्जैन वापस आ गये। आइनापुरे के पिता गणेश दत्तात्रेय आइनापुरे किसी जमाने में महाराजवाड़ा मेडिल स्कूल मे ड्राइंग मास्टर थे और वहीं उन्होंने मोघे वकील को भी पढ़ाया था। श्री बलवन्त यशवन्त मोघे वकील युवराज जनरल लाइब्रेरी की परामर्शदात्री समिति के सदस्य थे। अतः गुरु, गणेश दत्तात्रेय आइनापुरे अपने पुत्र के लिए कोई काम के [illegible]बन्ध के सिलसिले मे उनसे मिले और अपनी स्थिति की विषमता, दयनीयता की चर्चा [illegible]ी तो मोघे साहब ने वामन गणेश आइनापुरे को लाइब्रेरियन बनवाकर गुरु-ऋण से [illegible]ने को मुक्त किया।

श्री वामन गणेश आइनापुरे आठ-दस वर्ष तक लाइब्रेरियन रहे परन्तु लाख [illegible]शिशों के बाद भी वह एक क्षण को भी लाइब्रेरियन नहीं बन पाये। उनको देखकर अजनबी से अजनबी व्यक्ति भी कह सकता था कि यह व्यक्ति मनुष्य होने के अलावा केवल स्टेशन-मास्टर ही हो सकता है। आइनापुरे महाशय के पास रेल्वे के जमाने [illegible]ी कई चीजें थी उनमे सबसे प्रमुख उनका काला कोट था, जो गले और कुहनि[illegible]स से घिस गया था तथा कलाइयों की जगह उधड़ गया था, जिसके कारण पास उस कोट के रेशो का गोल घेरा झूलता रहता था। पर उस काले

देखने लगते थे उससे लगता कि जैसे इन आँखों में पहली बार मानवीय समझ आती है। उस समय उनके नेत्रों से ऐसी फुलझड़ियाँ छूट रही होती थीं कि उनका शब्द-शब्द जैसे सुनायी दे रहा है। नाटे कद के तथा किंचित् खुले रंग के कोंकणस्थ वामन गणेश आइनापुरे का न कोई मित्र था और न कोई शत्रु जबकि वह अत्यन्त विश्वस्त रूप से अपने ही शत्रु थे।

लाइब्रेरी का सदस्य जब किताब नहीं लौटायी गयी की सूचना मय ड्यूटी की नोटिस के साथ पाता तो वह झल्लाया हुआ आइनापुरे के सामने वह नोटिस फेंकते हुए बताता कि फलाँ-फलाँ तारीख को वह किताब वापस कर गया है। आईनापुरे हैं कि उस महीने की उस तारीख को रजिस्टर में उलट-पुलट रहे हैं परेशान हो रहे हैं कि उस दिन क्या, उस महीने में भी कहीं उस सदस्य का नाम नहीं है। आपसे ही क्या, आये दिन लोगों से इस तरह की बातों को लेकर झाऊँ-झाऊँ होती और जब कोई कहता कि वह चितले वकील साहब को लिखकर इसकी शिकायत करेगा तो वह भी एकदम क्रोध में आ जाते। क्रोध में वह अपने पंजों पर शायद इसीलिए खड़े हो जाते थे ताकि शिकायत करनेवाले के बराबर उनका भी कद हो जाए। वह भी 'जाओ, कर देना शिकायत' की मुद्रा से जब उस व्यक्ति की आँखों में आँखें डालकर देखने लगते उस समय उनके हाथ का लैम्प भी उस व्यक्ति को उसी भाव से देखता लगता। लेकिन तत्काल वह लैम्प रख कर अत्यन्त हताश भाव से फिर अपनी कुर्सी में धँस जाते। जिस समय वह लैम्प हाथ में लिये उस व्यक्ति को देख रहे होते उस समय उनके भीतर का स्टेशन मास्टर जैसे जाग्रत हो गया लगता। वह कभी मालगाड़ी के डिब्बों के पल्लों, सील और सील पर लगी स्लिप को ठीक देख लेते थे तो जिस आत्मविश्वास से आगे बढ़ जाते थे लगभग वही भाव उस व्यक्ति की आँखों को देखते हुए होता। शिकायत करने की धमकी देनेवाले को देखते तो वह क्रोध के आरम्भ से ही थे परन्तु उस देखने का अन्त हमेशा अन्यमनस्कता में होता। उस समय वह जिस पीड़ित भाव से कुर्सी पर बैठे हुए होते उस समय किसी को भी लग सकता था कि आइनापुरे अपने लाइब्रेरियन व्यक्तित्व को कुर्सी के नीचे दाबकर उस पर एक व्यक्ति के रूप में बैठे हैं—और आपको ही क्या इस व्यक्ति को भी वामन गणेश आइनापुरे से शिकायत है!

सबसे मजे की बात तो यह थी कि लाइब्रेरी में सबसे अधिक शोर करनेवाले वामन गणेश आइनापुरे को लोगों का आपस में बोलना, बहस करना या पढ़ना केवल पसन्द ही नहीं था बल्कि वे तत्काल उस व्यक्ति और स्थान पर पहुँच कर दीवारों पर जगह-जगह विभिन्न भाषाओं की आदेशात्मक पट्टियों को दिखाते हुए, खासकर अंग्रेजी में कहेंगे,—दिस इज लाइब्रेरी सर! एण्ड साइलेंस इज [illegible] वेरी नेसेसरी।

[illegible] वह अपनी धोती को कम [illegible]

और जिस तेजी से वह आये होते उसी तेजी से [illegible] और ल[illegible] : लोग उनकी ओर

के पास दोनों ओर से तान[illegible] पुरे [illegible] दृश्य से उन[illegible]

करके उसी प्रकार वहाग [illegible] तो

के आस-पास मँडराने म[illegible]

कारण शायद है लोग उनकी चेतावनी पर ध्यान दें और चुप हो जाएँ। इस बीच उन शोर करनेवालों में से ही कोई बोल पड़ता,

— तुमाला काय पाहिजे आइनापुरे ? [तुम्हें क्या चाहिए आइनापुरे ?]

ाइनापुरे ठिठक जाते पर हड़बड़ाते बोलते,

– काही नाहीं साहेब !

र लौटकर आइनापुरे इस भाव से अपनी कुर्सी पर बैठ जाते कि, देखा नहीं, मेरे ो से सबकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी ? और परम सन्तुष्ट भाव से टेबल की दराज ोटा बटुआ निकालते, बटुए में से अड़कित्ते [सरौता] से सुपारी काट कर अपनी अंगुलियों से झुलाकर मुँह में टेल देते। इसी प्रकार वह क्रम से कत्थे का एक टुकड़ा खाते। आधी लौंग काट कर जब खा लेते तब सरौते की एक डण्डी से चूना डिब्बे से से निकालकर तमाखू में मिला कर खा जाते।

भूतपूर्व स्टेशन-मास्टर आइनापुरे को लाइब्रेरी साइन्स का ज्ञान भला हो ही कैसे सकता था। किताबों के आवक-जावक, रख-रखाव, देन-लेन में व्यवस्था की अपेक्षा शायद किसी को नहीं थी। आलमारियों से अधिक किताबें तो आइनापुरे की टेबल के चारों ओर विभिन्न पर्वत-शृङ्खलाओं-सी फैली रहती थीं। किसी किताब का मिलना उस सदस्य के भाग्य और योगायोग पर ज्यादा निर्भर करता था क्योंकि उस महान् अव्यवस्था में अध्यवसाय का कोई अर्थ हो ही नहीं सकता था। प्रायः तो लोग हार कर, खीझ कर दूसरी-दूसरी किताबें ले जाया करते थे और पुस्तक मिलने भर का ही सन्तोष कर लिया करते थे। हिन्दी की किताब हिन्दी-विभाग में ही होगी यह तक कोई नहीं बता सकता था तब भला विषयवार या लेखकवार पुस्तक होगी या मिलेगी, यह आशा कम से कम कोई बुद्धिमान व्यक्ति तो कर ही नहीं सकता था। उन दिनों बिजली भी नहीं थी। किताब माँगी जाने पर आइनापुरे आपको अँधेरे में ही छोड़कर लैम्प हाथ में उठाये या लालटेन झुलाते हुए किताबों की पर्वतमालाएँ फलाँगते आदिम अगस्त्य मुनि के समकालीन लगते थे। गिरते-पड़ते, हिलती लालटेन के साथ वह उस स्टेशन-मास्टर की तरह लगते थे जो फास्ट-ट्रेन या मेल-ट्रेन को बत्ती हिलाकर लाइन-क्लीयर की सूचना दे रहा हो। लोगों को लाइब्रेरी की इस आइनापुरी-व्यवस्था से असुविधा होती, चिढ़ होती। वे झल्ला भी पड़ते कि जो किताब चाह रहे हैं वह यह नहीं है परन्तु वामन गणेश आइनापुरे के चेहरे पर उस समय जो आध्यात्मिक अबोधता होती उसे देखकर झख मार कर दूसरी किताब लेकर वे चलते बनते। प्रायः तो यह होता कि माँगी गयी किताब 'इश्यू' करने के पूर्व ही दर्ज कर ली जाती और प्राप्तकर्ता को दूसरी ही थमायी जाती जिसे नोट नहीं किया जाता। और तब जो स्थिति उत्पन्न होती उसकी कल्पना ही की जा सकती थी। जाहिर था कि इस परम विशिष्ट, नितान्त मौलिक, परावैज्ञानिक व्यवस्था में सैकड़ों पुस्तकों का खो जाना स्वाभाविक था। और आये दिन चितले साहब के बँगले पर तथा लाइब्रेरी से संबंधित कमेटी की मीटिंग में आइनापुरे महोदय की पेशी होती, उन्हें 'वार्निंग' दी

जातीं। वेतन में से हर्जाना वसूल करने की धमकी दी जाती परन्तु मुश्किल से दस रुपये के वेतन से हर्जाना पूरा होना ही क्या था! तब भी वामन गणेश आइनापुरे सबके प्रिय एवं कृपापात्र थे। पर एक बार नाटे कद के परम भद्र, उत्कट शालीन, नितान्त एकादशी व्यक्तित्व के आइनापुरे महोदय हिलती लालटेन के साथ किसी आल्मारी के सबसे ऊपर के खाने तक पहुँचने के लिए किताबों के एक ढेर पर चढ़े तो किताबों के उस पर्वत-शिखर ने उन्हें आखिरकार धोखा दे ही दिया। हाथ की लालटेन छिटकी। उसका सारा तैल छिटक कर किताबों पर फैल गया। लालटेन की हण्डी टूट चुकी थी फलतः चमकती लालटेन की बत्ती से किताबों में आग लग गयी। अभी कोई-कुछ समझे, आइनापुरे अपने को सम्हालें-उठायें तब तक किताबों पर छिड़क उठे तैल ने आग के लिए घी का काम किया। लाइब्रेरी में भगदड़ मच गयी। तत्काल लोगों ने दौड़-दौड़ कर पानी डालना शुरू किया। पास ही म्यूनीसीपाल्टी में किसी ने दौड़कर खबर कर दी और देखते-देखते 'आग'-'आग' का शोर मच उठा। गनीमत यह हुई कि आग पर तत्काल काबू पा लिया गया। आइनापुरे को चोट लगी या क्या हाल हुआ इसकी चिन्ता किसी को भी नहीं थी परन्तु सब सोच रहे थे कि यह जो हजारों का सरकारी नुकसान हुआ है उसका क्या होगा? खबर सारे शहर मे फैल चुकी थी और देखते देखते सारे सम्बन्धित व्यक्ति आ गये। इस घटना के जो भी नतीजे, अच्छे या बुरे निकलते वे सब धरे के धरे रह गये जब दूसरे दिन शहर में हल्ला हो गया कि इन्दौर लाइन पर आउटर-सिगनल के पास एक आदमी रेल से कटा पाया गया। और जब काले कोट और कोल्हापुरी चप्पलों से लोगो ने पहचाना कि यह व्यक्ति निश्चय ही वामन गणेश आइनापुरे लाइब्रेरियन थे तो एक प्रकार से पूरे शहर मे उदासी छा गयी कि कुछ भी सही, आइनापुरे व्यक्ति था बहुत सज्जन और गलती किससे नहीं होती और क्या वह आग उन्होने जानबूझकर लगायी थी? जब वही व्यक्ति 'पीर-बबर्ची-भिश्ती-खर' हो तो, यह तो होगा ही। लाइब्रेरी के चपरासी सदस्यो के घरों पर ही काम करते हैं। बेचारे आइनापुरे को ही झाड़ने-पोंछने, तैल-पानी से लेकर क्या-क्या नहीं करना पड़ता था। यह काण्ड हुआ ही सारी बदइन्तजामी के कारण था। और जब यह सारी चर्चा ग्वालियर पहुँची तो नये सिरे से युवराज जनरल लाइब्रेरी के उपयुक्त व्यक्ति खोजा जाने लगा। बिजली भी आ गयी पर वामन गणेश आइनापुरे को अपनी आहुति देनी पड़ी।

बिजली का प्रबन्ध तो आनन-फानन हो गया पर लाइब्रेरी-साइंस के जानकार आदमी की खोज जारी रही। पण्डित नागेश्वर उपाध्याय ने जब सुना कि लाइब्रेरियन की खोज हो रही है तो तत्काल उन्होंने अपने पुत्र वासुदेव को, चितले साहब से बात करके छह महीने प्रशिक्षण के लिए डिप्लोमा करने के लिए बड़ौदा भेज दिया और तब देखते-देखते पण्डित वासुदेव उपाध्याय, आगर के प्राइमरी टीचर के बजाय उज्जैन की युवराज जनरल लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन बन कर चालीस रुपये पर नियुक्त होकर आ गये और आते ही लाइब्रेरी में आइनापुरे-कालीन परावैज्ञानिक व्यवस्था धीरे-धीरे वैज्ञानिक व्यवस्था में बदल गयी।

॥ जागरण-प्रकरण ॥

उज्जैन की सारी सामाजिक एवं साहित्यिक गतिविधियो के अलावा राजनीतिक हलचलों का केन्द्र यदि गोपाल-मन्दिर का चौक हो चला था तो प्रकारान्तर से 'युवराज जनरल लाइब्रेरी' भी महत्त्वपूर्ण हो गयी थी। अवकाशप्राप्त अफसर, तारबाबू, पोस्ट-मास्टर, अध्यापक, सामाजिक संगठनों से सम्बन्धित लोग और कालेज के विद्यार्थी विशेष कर शाम के समय वहाँ अपने-अपने चश्मों और जेब-घड़ियों के साथ, धोती पर कमीज तथा हाफकोट पहने अखबारों वाली टेबलों पर आँखें गड़ाये प्रतिदिन ही अपनी-अपनी छड़ियो-छातो के साथ देखे जा सकते थे। मासिक पत्रिकाओं वाली दालान में रखी टेबलो के चारों ओर कुर्सियों और बैंचों पर बैठे हुए सामाजिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक लेखों पर बहसें करते रहते। समाज धीरे-धीरे आध्यात्मिक भाषा और सम्बोधनों से बाहर निकल कर राजनीतिक भाषा तथा इतिहास की समझ से परिचित हो रहा था। जानकारी के दायरे बढ़ रहे थे। भौगोलिक भूकम्प के धक्के से कई देशों की भूमि जिस प्रकार प्रभावित होती है उसी प्रकार इतिहास की घटनाएँ और राजनीतिक उथल-पुथल भी एक देश तक ही प्रभाव नहीं डालती है—इनमे रूस-जापान का युद्ध, प्रथम विश्व-युद्ध, रूस की क्रान्ति या अफगान में होनेवाली आये दिन बच्चा सवका की गतिविधियाँ प्रमुख थी। कमाल-पाशा अतातुर्क की उग्र राष्ट्रीयता से अंग्रेज यदि शिक्षा ले रहे थे तो भारतीय भी उससे कुछ सीख रहे थे। राजनीति मे अब नये-नये नाम सुनायी देने लगे थे। कल तक स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द और रामतीर्थ ने भारतीयों के पारम्परिक स्वत्व को टूटने से बचाकर रीढ़ प्रदान की थी तो लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के तेजस्वी व्यक्तित्व के बाद कर्मवीर गांधी से ब्रिटिश भारत के लोग तो पहले ही अधिक परिचित हो चुके थे। अब सन् '२१ के असहयोग आन्दोलन तथा सन् '३० के नमक-सत्याग्रह के कारण देसी रियासतों में भी यह नाम

पहुँचने लगा था। गांधी जिस प्रकार राजनीति की प्रकृति को आमूल बदल रहे थे वह विवाद का विषय थी। तकली, चरखा, सत्याग्रह, स्वदेशी, असहयोग, जेल-यात्रा की बातों और घटनाओं से सूचनात्मक स्तर पर दैनिक-पत्र भरे रहते थे तो 'माडर्न-रिव्यू', 'विशाल-भारत' जैसी मासिक पत्रिकाएँ इन बातों को लेकर तात्त्विक विचार करती थीं। राजनीति और समाज की मानसिकता मध्य-युग से निकल कर आधुनिक-युग में प्रविष्ट हो रही थी इसलिए राजनीति भी किलों-दुर्गों से निकल कर सड़कों गलियों में; श्रीमन्तों और सामन्तों के हाथों से निकल कर सामान्य लोगों तक आ गयी थी, इसलिए उसके प्रकार और प्रकृति में अन्तर आना भी आवश्यक था। इस तथ्य को गांधी ने जितनी तीव्रता से समझा था उतना किसी अन्य नेता ने नहीं। इसके पीछे उनका अपना दक्षिण अफरीका का अनुभव तो था ही परन्तु जिस अंग्रेजी हुकूमत से लड़ा जा रहा था वह अपने स्वरूप और प्रकृति में मध्ययुगीन हो थी। भले ही अंग्रेजी हुकूमत की मध्ययुगीनता एशियाई स्वरूप और ढंग की न रही हो। शायद प्रत्येक प्रकार के शासन और प्रशासन की यही नियति होती है कि अपने आचरण और व्यवहार में वे समाज की मुख्य धारा से कट जाते हैं फलतः उन्हें प्रपंचों और षड्यन्त्रों की सहायता लेनी पड़ती है। बीसवीं शती के आते-आते भारतीय राजनीति भी क्रमशः दो भागों में विभाजित होने लगी। मध्ययुग या सन् १८५७ की तीर-तलवार वाली राजाओं-नवाबों की विफल राज्यक्रान्ति अब बम-पिस्तौल की क्रान्तिकारिता में बदलने लगी थी। स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द व्यक्ति और समाज को जिस तात्त्विक अस्मिता को, मूल्य का, नैतिकता का और संस्कृति का धरातल दे रहे थे; उसे तिलक और गांधी राजनीति में उतार कर लाना चाह रहे थे। व्यक्ति को विचारों से उद्वेलित किया जा रहा था तो समाज को चरखा, असहयोग, नमक सत्याग्रह जैसे कार्यक्रमों के द्वारा आन्दोलित किया जा रहा था। बम्बई-कलकत्ते जैसे शहरों में स्वराजियों के निहत्थे जत्थों पर अंग्रेजी सत्ता की पुलिस लाठी-डण्डा बरसाती थी और मालवा में लोग ये सब समाचार पढ़ते हुए युवराज जनरल लाइब्रेरी में उत्तेजित होते थे, बहस करने लगते थे। आवेश और आवेग उन्हें सशस्त्र क्रान्ति की ओर झुकाता था तो तर्क और विवेक उन्हें समाज के जागने की अनिवार्यता की ओर ले जाता था। गांधी ने प्रत्येक सामाजिक कार्यक्रम को अपने व्यक्तित्व की निष्ठा और अस्मिता के साथ छुआ जिसके कारण बहुत-सी चीजों के देखने की दृष्टि में आमूल परिवर्तन आ गया। कभी जेल जाने से व्यक्ति असामाजिक हो जाया करता था परन्तु जब से गांधी यरवदा-जेल हो आये थे तब से जेल जाना सबसे बड़ी सामाजिकता हो चली थी। जन-मानस में जेलें मन्दिरों की भाँति पवित्र बन गयी थीं। पूरे भारत में 'वन्दे मातरम्' का उच्चारण और निनाद सुनायी पड़ने लगा। इस निरीह से लगनेवाले शब्द में सत्ता को सबसे बड़ी विस्फोटकता लगती थी। खादी, आकण्ठ भारतीय होने का न केवल प्रतीक बल्कि संकल्प तक बनने लगी थी। सन् '३० तक अपनी खादी की बण्डियों पर ठोढ़ी पर हाथ धरे, घुटने मोड़े 'कर्मवीर गांधी' के बैज लगाना अंग्रेजी

सत्ता को चुनौती देना बन गया था । सन् '३० के बाद सरदार भगतसिंह और आजाद के वैज भी युवकों में लोकप्रिय हुए । राजनीति को पूरे जीवन और व्यवहार के स्तर पर गांधी ले आये इसीलिए स्वदेशी भूषा, स्वदेशी शिक्षा, स्वदेशी भाषा आदि पर ही आग्रह नहीं रुका बल्कि गांधी राष्ट्र और राज्य के अन्तर को ही मिटा देना चाहते थे । इसलिए गांधी ने धर्म में जहाँ भी राजनीति अनुभव की उसे निःसंकोच लिया तो राजनीति को धर्म की गरिमा से च्युत भी नहीं होने दिया । अहिंसा इतनी देशव्यापी और कालव्यापी आस्त्रिक परिकल्पना हो सकती है इसकी प्रतीति बुद्ध तक को नहीं ही होगी । व्रत और उपवास कितने आक्रामक-प्रभावी हो सकते हैं इसकी कोई कल्पना बड़े से बड़े महाव्रतधारी जैनी साधु तक को नहीं होगी । इसीलिए गांधी के इस विशाल फलक वाली लेकिन ऊपर से घालमेल लगनेवाली राजनीति को लेकर अवकाश-प्राप्त अफसरों, तारबाबुओं, अध्यापकों और नवयुवकों में बहसें, झड़पें सभी कुछ होती थी । आश्चर्य की बात तो यह कि गांधी और उनकी राजनीति तब भी अविश्वसनीय लगती थी और आज भी गांधी और उनकी राजनीति विवादास्पद है । जबकि भारतीय इतिहास में कृष्ण के बाद गांधी ही घटित भी हुए । चरखा कातने, खादी पहनने, प्रभातफेरियाँ निकालने और डण्डे खाकर जेलें भरने से देश स्वतन्त्र होगा इसे देश का श्रीमन्त-सामन्त वर्ग, अफसर, सेठ-साहूकार कोई भी तो नहीं समझ पा रहा था । नवयुवकों मे उत्साह था इसलिए वे ही ज्यादातर इन आन्दोलनों में आगे आते थे । इस प्रकार की लोगों की बहसो में कड़वाहट या जातीयता या प्रान्तीयता भी उभर आती परन्तु परिवर्तन तो हो हो रहा था । गांधी वैयक्तिक रूप से अडिग आग्रही व्यक्ति लगते थे । अपने कार्यक्रमों में अंग्रेजों पर करारी चोट करते थे पर अंग्रेजो से संलाप या वार्तालाप के समय समझौतावादी होने का भ्रम देते थे । और गांधी के इस द्वैत व्यक्तित्व की तीव्र आलोचना सभी के द्वारा, सभी स्तरों पर होती भी रहती थी ।

इस आरम्भिक राजनीतिक गरमाहट के बीच मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' से लेकर छायावाद की कविताएँ, राष्ट्रीय जागरण की कविताएँ लोग झूम-झूम कर गाते-पढ़ते थे । प्रेमचंद के उपन्यास और उनकी कहानियाँ भी प्रिय थी परन्तु शरत बाबू और बंकिमबाबू के उपन्यासों के द्वारा नयी पीढ़ी के स्वप्न और मनस् का निर्माण अधिक सम्यक् रूप में हो रहा था । प्रेमचंद का कोई नायक नहीं बल्कि शरत बाबू के 'पथेर दावी' (पथ के दावेदार) का नायक सव्यसाची नवयुवकों मे एक अजीब उत्सर्गिक क्रान्तिकारिता को जन्म देता था । रवीन्द्रनाथ, प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी की कविताएँ भारतीय अस्मिता वाली विवेकानन्द की काव्यात्मकता को आगे बढ़ा रही थी । देश में राष्ट्रीय स्वत्व और अस्मिता, वर्चस्व और आत्मप्रतीति का निर्माण जीवन के सभी क्षेत्रो में परिलक्षित था । विवेकानन्द, रामतीर्थ के बाद अरविन्द इस पराप्रज्ञा का निर्माण पांडिचेरी से शब्द और योग दोनो के माध्यम से कर रहे थे । संगीत, नृत्य और कला के क्षेत्रों में फैयाजखान, ओंकारनाथ ठाकुर, अलाउद्दीन खान, अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, नन्दलाल बोस, सुधीर खास्तगीर, कनु देसाई, रविशंकर महाराज,

उदयशंकर के नाम सुनायी पड़ रहे थे। अब मन्दिर भी 'भारतमाता का मन्दिर' होने लगे थे। जागरण और परिवर्तन का यह महाज्वार हर गली, हर दरवाजे, हर खिड़की पर दस्तकें देता हुआ राजमार्गों, ग्रामीण पगडण्डियों तक पर हिलोरें ले रहा था। कल तक मालवा में उज्जैन-देवास या उज्जैन-इन्दौर के बीच की दूरी भी काले कोसों की लगती थी परन्तु आज बम्बई-कलकत्ता भी कैसे नजदीक आ गये थे कि अगर मालवी खिड़की से हाथ निकाला तो अरब-सागर छू जाएगा। मालवा चूँकि पठार था इसलिए इसकी इस विशिष्ट भौगोलिकता के कारण तथा देसी रियासतों की प्रधानता के कारण भी परिवर्तन की ये हवाएँ थोड़े प्रयत्न के बाद ही यहाँ पहुँचती थीं। कभी जिस 'युवराज जनरल लाइब्रेरी' में 'श्रीमन्त' और उनकी 'मातुश्री' या उनके दरबार, जन्मदिनों की चर्चा होती थी, जहाँ के स्कूलों में प्रतिदिन बच्चे 'शिंदेकुल की विमल पताका दिशि-दिशि में फहरायें' गाया करते थे, वहाँ अब तिलक और गांधी, विदेशी कपड़ों का बहिष्कार तथा नमक-सत्याग्रह के साथ-साथ 'वन्दे-मातरम्' और 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झण्डा ऊँचा रहे हमारा' भी सुनायी पड़ने लगा था।

दादाभाई नौरोजी, सर फीरोजशाह मेहता, ऐनी बेसेंट का युग बीत चुका था। मालवा को इन नामों की केवल सूचना, और वह भी काफी देर से हुई। इसी प्रकार आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज और प्रार्थना-समाज की भी यहाँ कोई विशेष संगति नहीं हुई। कभी-कभार आर्य-समाज के जलसों और शास्त्रार्थों को जो थोड़ा-बहुत मालवा ने देखा-सुना तो उसे भी कौतूहल ही माना होगा। मालवा पर वैष्णव और जैन प्रभावों के कारण जातीयता होने पर भी उसकी मध्ययुगीन अमानुषिकता उतनी नहीं थी जितनी कि देश के अन्य भागों में थी। यहाँ मुसलमान भी अधिक संख्या में नहीं थे इसलिए हिन्दू-मुसलिम विद्वेष या धर्म-परिवर्तन की वह समस्या भी कभी नहीं थी जिसके कारण आर्य-समाज पनपता। तभी तो जहाँ अनेक प्रकार के मन्दिर थे वहाँ अगर गुजराती-समाज वाली टेकरी पर बगल के टीले पर आर्य-समाज मन्दिर भी बन गया तो क्या? मालवा ने तो 'गुरुद्वारा' तक को 'सिख-मन्दिर' की संज्ञा दे रखी थी।

'युवराज जनरल लाइब्रेरी' से बायें हाथ जो रास्ता भागसीपुरे की ओर जाता है उस पर दाहिने हाथ एक बड़ा-सा पीपल है जहाँ कि एक हवेली है। हवेली के बड़े से फाटक के दोनों ओर दर्जियों, नाइयों, गोटा-किनारीवालों, किरानियों की छोटी-बड़ी दूकानें हैं। इन सारी दूकानों के ऊपर जो बारजा, छज्जा है तथा ऊपर का सारा हिस्सा है उसमें दो-एक वर्ष पूर्व ही ग्वालियर राज्य की कांग्रेस 'सार्वजनिक-सभा' का कार्यालय खुला था। इसके साथ ही यहाँ 'हरिजन सेवक-संघ' और 'चरखा सेवा-संघ' के भी दफ्तर थे, इसलिए पीपल के पास से जो जीना ऊपर जाता है उस पर खादी पहने नेता जैसे लोग चढ़ते-उतरते देखे जा सकते हैं। यहाँ सामान्यतः प्रतिदिन रावल जी, अयाचित वकील, पुस्तके साहब, विजयवर्गीयजी जैसे स्थानीय कांग्रेसी नेता आते रहते हैं। बैठकें होती हैं। सार्वजनिक कार्यक्रमों और संगठन सम्बन्धी गतिविधियों

की रूपरेखाएँ बनती हैं। पूरे देश के साथ देसी रियासतों के जागरण की पूल को एक कैसे किया जाए इस पर भी बहसें होतीं। देसी राज्यों में लगी राजनीतिक पाबन्दियों के कारण इन संस्थाओं को अपनी स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप सम्मेलन आदि करने पड़ते थे, और चूंकि मालवा में अनेक रियासतें थी अतः ग्वालियर-राज्य और होलकर-राज्य को छोड़कर शेष रियासतों में तो बिल्कुल ही कोई राजनीतिक चेतना या जागरण था ही नहीं क्योंकि ऐसी कोई संस्था वहाँ नहीं थी इसलिए पूरे मालवा की मानसिकता और जागरण का स्तर भी एक समान नहीं था।

इस 'सार्वजनिक-सभा' के मन्त्री एक उत्साही नवयुवक गिरिधर ठक्कर थे और रावल जी अध्यक्ष थे। 'हरिजन सेवक-संघ' के अध्यक्ष तो नटवरलाल परीख थे परन्तु वो एक नवयुवक महाराष्ट्रीय थे जिनका नाम दत्तात्रेय विष्णु जोशी था, जिन्हें सब 'दत्तू भैया' कहते थे। हाँ, चरखा सेवक-संघ का काम पण्डित नागेश्वर उपाध्याय के जिम्मे था। स्त्रियो में अभी बहुत कम जागरण आया था। नेताओ के घरों की स्त्रियों को छोड़कर शायद ही कोई दूसरी महिला प्रभात-फेरियों में दिखती थी। यदि मराठी-जाती लड़कियाँ न पहुँचें तो 'वन्दे मातरम्' और झण्डा-गान गाने की समस्या हो जाती। स्त्रियो में जागृति का काम जहाँ अन्य नेताओं की स्त्रियाँ किया करती थी वहाँ श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय भी करती थीं।

इस हवेली के ठीक सामने जो गली है उसमें 'सार्वजनिक-सभा' के कई नेता और वकील रहते हैं। अब इस हवेली पर एक बड़ा-सा तिरंगा भी फहराने लगा है। थोड़े दिनो पहले तक इस झण्डे का महत्त्व किसी को नही मालूम था परन्तु गत वर्षों की प्रभातफेरियो, झण्डावन्दन, गांधी-जयन्ती, सभाओं के कारण तथा 'भारत-माता की जय !!' 'कर्मवीर गांधी की जय !!' 'वन्दे ऽऽ मातरम् !!' को देखते-सुनते लोगों को कुछ समझ मे आया, कुछ नही आया। एक नये शब्द से परिचिति हुई—'स्वराज्य !!' और धीरे-धीरे कुछ तो कौतूहलवश और कुछ लिहाड़ी लेने के ख्याल से हर खादी पहननेवाले को 'नेताजी' या 'सुराजी' कहा जाने लगा। यह तो लोगों की समझ में आ रहा था कि ये लोग विशिष्ट हैं पर किस अर्थ में और किस प्रयोजनवश, इसका बोध नही था। जब सवेरे चार-पाँच बजे, मुँहधेरे में, एक तिरंगा लिये श्वेत खादी की साड़ियों में 'छीन सकती है नहीं सरकार वन्दे मातरम्' गाती महिलाएँ और उनके पीछे-पीछे पंक्तिवद्ध चलते नेता, वकील भी प्रभातफेरी गाते निकलते तो लोग आँखें मसलते हुये, चाय के कप थामे, चबूतरे पर दतौन कुचलते हुए या दूध का लोटा हाथ में पकड़े आश्चर्य से देखने लगते कि यह क्या हो रहा है। सवेरे-सवेरे भगवान का नाम न लेकर 'चरखा चला-चला के लेंगे स्वराज्य प्यारा !!' गा रहे हैं। स्वराज्य क्या ? और किससे लेंगे ? बीच-बीच में ये लोग राम और कृष्ण की जय बोलने के स्थान पर गांधी की जय बोलते हैं। पर गांधी कौन ?···इस ब्राह्म-वेला में सनातन से प्रातःकालिक भजन और पद गाते आये हैं, प्रभातफेरी करते वैरागी भैरव और जोगिया में संतों, भक्तों की वाणियाँ सुनाते आये हैं, क्षिप्रा-स्नान के लिए जाती स्त्रियाँ अपने

ढंग से गाती आयी हैं, पर भजन ही तो गाती हैं, मगर ये कैसे वैतालिक हैं ? न भजन, न बानी—बस, 'चरखा चला-चला के लेंगे स्वराज्य प्यारा !!' और सवेरे की निर्जनता में फैल आयी खाली सड़कों पर आये दिन ये वैतालिक प्रभातफेरियां और गाने-जयकार गुंजाने लगे।

पूरे मालवा से उन दिनों न हिन्दी, न मराठी, न गुजराती किसी भी भाषा में न तो कोई दैनिक अखबार प्रकाशित होता था और न साप्ताहिक ही। दो-चार प्रतिष्ठित वकीलों, नेताओं के यहां प्रायः अंग्रेजी के दैनिक आया करते थे तो सेठों की गद्दियों पर हिन्दी-गुजराती के अखबार आते थे। सेठों-साहूकारों का प्रयोजन निश्चय ही रुई, चांदी, गल्ले और सट्टे के बाजार भाव को जानना होता था जबकि नेताओं-वकीलों का मतलब होता था कि कांग्रेस की गतिविधियों, अधिवेशनों, प्रस्तावों को जानना। गांधीजी के साथ वाइसराय के होनेवाले पत्राचार के बारे में सही-सही खबर रखना। साहित्यिक मासिक पत्रिका के नाम पर मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति का मुखपत्र 'वीणा' अवश्य प्रकाशित होने लगा था। एक साहित्यिक पत्र खरगोन (नीमाड़) से खोड़े नामक वकील 'वाणी' नाम से निकालने लगे थे। वैसे कहने को तो उज्जैन से उन दिनों पण्डित दुर्गाशंकर नागर के 'कल्पवृक्ष-कार्यालय' से हिन्दी में 'कल्पवृक्ष' और अंग्रेजी में 'कल्पतरु' नाम से मासिक निकलते थे पर वे प्राकृतिक चिकित्सा से सम्बन्धित पत्र थे। किसी गली-कूचे में नाम मात्र को दो-एक प्रेस थे जहां पंचांग या जन्त्रियां छपा करते थे। मालवा के दक्षिण में विन्ध्या के एकदम उतार पर नर्मदा के दोनों ओर सतपुड़ा तक का जो भू-भाग है वह नीमाड़ कहलाता है। नीमाड़ का पश्चिमी सिरा अंग्रेजी भारत के सेन्ट्रल-प्राविन्सेज का हिस्सा था। खण्डवा, इस हिस्से का सबसे प्रमुख नगर था। अंग्रेजी भारत में होने के कारण रजवाड़ी, सामन्ती वातावरण से खण्डवा की मानसिकता ही नहीं बल्कि राजनीतिक चेतना भी सर्वथा भिन्न थी। यहां से पण्डित सिद्धनाथ माधव आगरकर एक हिन्दी दैनिक निकालते थे तो पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी 'कर्मवीर' नाम से एक राजनीतिक, साहित्यिक साप्ताहिक सम्पादित करते थे। उस काल के मालवा की राजनीतिक, साहित्यिक सभी आकांक्षाओं का 'कर्मवीर' प्रवक्ता था। मालवा के अधिकांश लेखक और राजनेता या तो उसमें छपते थे या उससे जुड़े हुए थे। मालवा की जिन राजनीतिक गतिविधियों और हलचलों पर वहां के राजा लोग रोक और पाबन्दियां लगा देते थे वे समाचारों के रूप में आगरकर जी के दैनिक में छपती थीं और 'कर्मवीर' में उन पर वैचारिक तेज-तर्रार टिप्पणियां जाती थीं। प्रायः मालवा से फरार या निष्कासित राजनीतिक कार्यकर्ता, बुद्धिजीवी खण्डवा में प्रश्रय लेते थे और आगरकर जी का अखबार तथा माखनलाल जी का साप्ताहिक उनके लिए मंच प्रस्तुत करते थे।

साहित्यिक पत्रिकाओं में 'सरस्वती', 'चांद', 'माधुरी' जैसी पत्रिकाएं लाइब्रेरियों में तथा कुछ लोगों के पास व्यक्तिगत रूप से आती थीं। कलकत्ते के रामानन्द चटर्जी महाशय के 'माडर्न-रिव्यू' और 'विशाल-भारत' अपने लम्बे-लम्बे सम्पादकीयों तथा

टिप्पणियों के कारण सादर पढ़े जाते थे। इन पत्रिकाओं के द्वारा 'प्रवासी भारतीय' जैसी संज्ञाएँ उस काल के मालवा के नवयुवकों को रोमांचित कर जाती थी, इसलिए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की 'अमरीका-भ्रमण' 'जर्मन-जागरण का बिगुल' जैसी पुस्तकें खूब पढ़ी जाती थीं। समाज और व्यक्ति दोनों के सर्वांगीण विकास का युग था इसलिए जहाँ 'हरिजन' एक प्रकार की चेतना देता था वहाँ 'कल्याण' का भी बहुत बड़ा हाथ था। शायद समस्त उत्तर भारत मे 'कल्याण' से अधिक बिक्री वाला मासिक आज तक कोई नहीं रहा। एकमात्र यही मासिक ऐसा था जो घर-घर में आता था और हर व्यक्ति के द्वारा बाँचा जाकर जिल्दों में सुरक्षित भी रखा रहता था। वस्तुतः रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ प्रभृति संतों-विचारकों ने आध्यात्मिक उन्नयन का जो कार्य आरम्भ किया था वह आन्दोलन वैचारिकता के स्तर पर, सृजनात्मकता के स्तर पर उस काल की सारी साहित्यिक, धार्मिक पत्रिकाएँ करने में जुटी थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जो नोबल-पुरस्कार मिला उससे प्रत्येक भारतीय गौरवान्वित ही हुआ था इसलिए उस काल के काव्य पर रवीन्द्र का भाव सहज था। इस सन्दर्भ में जो दूसरा नाम गद्य-काव्य मे सामने आया, वह था खलील जिब्रान। सारी भाषाओं मे रवीन्द्र की 'गीतांजली' और खलील जिब्रान की शैली में गद्य-गीत और कविता लिखना उस काल का चलन था। राजनीति यदि समाज की अस्मिता का निर्माण कर रही थी तो साहित्य व्यक्ति की अस्मिता को महिमा-मण्डित कर रहा था।

परिवर्तन निश्चित ही आ रहा था, तब भी मालवा, केटलाग और वी० पी०, गोल इटालियन या गुजराती टोपी, विभिन्न पगड़ियाँ, जेबघड़ी, छड़ी और बहुत हुआ तो शाम की हवाखोरी के युग से बहुत आगे नहीं आ पाया था। 'वेस्ट एण्ड वाच कम्पनी' हो या 'फेवरलुबा' कम्पनी हो, 'कोडाक' का कैमरा हो या 'डासन' के जूते सबके लिए केटलाग थे। और तो और, गरम कपड़ों के लिए भी लोग 'लालइमली' के केटलाग देखकर वी० पी० से कम्बल, स्वेटर आदि मँगवाया करते थे। कैमरों की फिल्में या प्लेटें तक बम्बई की 'नाडकर्णी एण्ड कम्पनी' से मँगवायी जाती थीं। तब भला बनारस, लखनऊ, इलाहाबाद से पुस्तकें और मासिक साप्ताहिक पत्र वी० पी० से आते थे, तो कौन गुनाह था? शौकीनों की कुछ न पूछिये, दूर-दराज के गाँवों, कस्बों के ठिकानेदार-सामन्त लोग तो रोज का अखबार तक वी० पी० से मँगाया करते थे। भले ही हर साप्ताहिक हाट पर दौड़कर डाक ले जाता हरकारा इस सप्ताह का अखबार उस सप्ताह पहुँचाता रहा हो। व्यक्ति की मानसिकता पर, सत्ता पर छोटे से छोटे परिवर्तन का भी प्रभाव पड़ता था। नीम की दतौन करनेवाले युग से निकल कर व्यक्ति कितनी कठिनाई से 'डेन्टल-पाउडर' के युग तक पहुँचा इस गुणात्मक परिवर्तन की गाथा अत्यन्त रोचक है।

सन् १९२० से '३० का दशक, जिसमें तिलक का निधन हुआ और गाँधी का भारतीय राजनीति में क्रान्तिकारी प्रवेश हुआ, वस्तुतः मालवा के लिए केवल श्रुति का ही महत्त्व रखता है। कभी किसी की कोई व्यक्तिगत हिस्सेदारी भले ही रही हो परन्तु उस परिवर्तन, चेतना के प्रति मालवा जागरूक या सहभोक्ता तो सन् '३० के बाद ही क्रमशः बना।

सन् १९१५ में गाँधी दक्षिण अफरीका के अपने प्रवास से एक नेता, एक विजेता के रूप मे भारत लौटे। गाँधी वस्तुतः प्रथम विश्व-युद्ध की आसन्नता ही नहीं बल्कि उसके बीच में ही भारत आये थे। इस विश्व-युद्ध से भी कहीं अधिक प्रभावकारी एक और घटना सन् '१० से '२० के दशक में जो घटी थी, वह थी वोल्शेविक क्रान्ति। लोग प्रायः यह भूल जाते हैं कि समान ध्येय या समान इच्छा के होते हुए भी भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक प्रकृति होने के कारण पृथक्-पृथक् प्रतिक्रियाएँ होती हैं। व्यक्ति जिस प्रकार अपनी परिस्थितियों की निष्पत्ति होता है उसी प्रकार जातियाँ और देश भी अपनी ऐतिहासिकताओं के ही प्रतिफल होते हैं। लेनिन और उसका रूस जिस ऐतिहासिक प्रक्रिया में से गुजरे थे उससे गाँधी और उनका भारत नहीं गुजर सकते थे। भारतीयों मे स्वतन्त्रता की आकांक्षाएँ और अपेक्षाएँ तो १८५७ से ही सुलग रही थीं परन्तु १९वी शती की उन आकांक्षाओं और अपेक्षाओं की प्रकृति, स्वरूप और योजना समग्र रूप में राष्ट्रीय नहीं थी। विभिन्न सामन्तों, पराजित एवं हताश मुगलों-नवाबों के व्यक्तिगत हानि-लाभ का वह विक्षोभ था। उन आकांक्षाओं और अपेक्षाओं में जनता की कोई हिस्सेदारी नहीं थी। अंग्रेज चूँकि सबके हिस्से दाब कर बैठा था इसलिए उनके विरोधी सब एक थे, पर अगर बेगम हजरत महल को अवध किसी तरह मिल जाता तो उन्हें दिल्ली या झाँसी से कोई सरोकार नहीं हो सकता था। रानी लक्ष्मी बाई के लिए भी देश की स्वतन्त्रता का मतलब झाँसी की स्वतन्त्रता से ही था। स्थिति का यह सरलीकरण होगा कि चूँकि ये क्षेत्रीयताएँ, राष्ट्र की सीमा में ही थी अतः इनका विद्रोह, प्रथम स्वाधीनता संग्राम था। इस तरह के भ्रामक इतिहास-लेखन से प्रशासकों को भले ही लाभ हो पर असत्य, असत्य ही रहता है। वस्तुतः स्वतन्त्रता सामान्य जन के लिए भी कोई अर्थ रखती है, मूल्यवान चीज होती है इसकी पहली और आरम्भिक चेतना, राजा-महाराजाओं-नवाबों से हटकर, स्वामी दयानन्द ने दी। स्वामी विवेकानन्द ने पराजित भारतीय अस्मिता को रीढ़ प्रदान की। स्वामी विवेकानन्द की आध्यात्मिक ऊर्जस्विता और भारतीय दर्शनों की श्रेष्ठता के बोध ने इस देश के बुद्धिजीवियों और सृजनात्मक मनस को यह आत्मचेतना दी कि शताब्दियों की राजनीतिक दासता से भी मुक्त हुआ जा सकता है। विवेकानन्द, तुलसी के बाद के युग मे पारम्परिक भारतीयता के आधुनिक प्रवक्ता थे। शुद्ध विद्रोह की दृष्टि से दयानन्द, कबीर के ज्यादा निकट हैं।

सन १९०५ के रूस-जापान युद्ध मे जापान की विजय अभूतपूर्व थी। इस युद्ध के बहुत दूरगामी प्रभाव हुए। इसे 'हाथी और चूहे' का युद्ध कहा गया था जिसमें

'चूहा' विजयी हुआ था। दूसरे, जापान की यह विजय, यूरोप की गोरी चमड़ी के देशों पर भूरी चमड़ी के एशिया की विजय मानी गयी। तीसरे, रूस के अन्दर पनप रहे जन-असन्तोष के नेताओं के सामने जार की सैनिक शक्ति का दीवालियापन उजागर हुआ और वहाँ असन्तोष अधिक तेजी से भड़क उठा। चौथे, इस युद्ध ने गोरी चमड़ी के इस 'मिथ' को तोड़ दिया कि यूरोप एशिया ही नहीं बल्कि संसार पर शासन करने के लिए बना है इसलिए वह शेष सबको 'नेटिव' और उनकी भाषाओं को 'वर्नाक्यूलर' कह कर अपमानित कर सकता था। इस आरम्भिक धक्के के बाद दूसरा धक्का प्रथम विश्व-युद्ध के समय यह लगा कि इस युद्ध में यह 'मिथ' भी टूटा कि संसार के सारे ईसाई राष्ट्र एक हैं। धर्म एक होने पर भी सब भिन्न राष्ट्र हैं और उनका नियंत्रण इतिहास करता है, धर्म नही। अपनी औद्योगिक क्रान्ति के बाद से यूरोप के कई राष्ट्र साम्राज्य-वादी, उपनिवेशवादी थे। रूस की बोल्शेविक क्रान्ति ने यूरोप के सबसे बड़े सम्राट को पराजित किया था इससे सम्राट की 'इमेज' भी खण्डित हुई। सम्राट की यह इमेज इंगलैण्ड में सबसे अधिक प्रभावशाली ढंग पर थी। अंग्रेज अपनी हर चीज का श्रेय सम्राट को देता रहा है। और जिस दिन इंगलिश सम्राट के लगभग समकक्ष रूसी सम्राट जार का पतन मजदूरों की क्रान्ति से हुआ उसी दिन से ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ें भी हिलनी शुरू हो गयी, जिसमें सूर्यास्त कभी होता ही नही था। बीसवीं शती को यह श्रेय जाता है कि राज्य की वास्तविक शक्ति जनता होती है—यह सत्य बारम्बार उजागर हुआ। यदि लेनिन की बोल्शेविक क्रान्ति का सर्वाधिक महत्त्व इस सन्दर्भ में है तो दक्षिण अफरीका मे गांधी द्वारा किये गये लगातार जन-आन्दोलन का भी उतना ही महत्त्व है। यूरोप की इन सारी घटनाओं को देखकर लोगों को लगा कि फ्रान्स की जो क्रान्ति अधूरी रह गयी थी उसकी पूर्णाहुति रूस मे हुई। चूंकि यह क्रान्ति मूलत: मजदूरों की थी इसलिए यूरोप की औद्योगिकता को चौंकना ही था। चूंकि यूरोपीय प्रकृति की क्रान्ति भारत में सम्भव ही नही थी इसलिए गांधी ने क्रान्ति की यूरोपीय अवधारणा को ही अस्वीकार दिया।

भारत मे उच्चवर्ग के जो नवयुवक लन्दन रहकर बैरिस्टरी पास करके वापस आये उन्हें वहाँ की संसदीय प्रणाली, चुनाव पद्धति प्रिय लगी। उन्हे लगा कि भारत में भी एक राजनीतिक दल बनाकर सरकार को प्रस्तावों, ज्ञापनों और मांगों के द्वारा यदि बदला नही जा सकता तो उसमें किसी तरह की हिस्सेदारी तो प्राप्त की ही जा सकती है। कांग्रेस का जन्म इसी मनोवृत्ति का फल था। इस बीच सरकार ने बंग-भंग कर दिया। इस बंग-भंग के पीछे अंग्रेजो की प्रतिशोध वाली कूटनीति थी। सन् १८५७ के गदर तक उन्हे मुसलमानो से भय था कि वह विद्रोह करेंगे क्योंकि इस देश की सत्ता उन्होंने, मुख्य रूप से मुसलमानों से छीनी थी। पर जब राजनीति की प्रकृति बदली तथा उसमें विस्तार आया और इस शती के आते-आते उन्होने देखा कि अंग्रेजों को हिन्दुओं से ही ज्यादा खतरा है तो उन्होंने मुसलमानों का पक्ष लेना शुरू कर दिया। बंगाल में चूंकि उनके साम्राज्य की राजधानी थी और उस समय बंगाल प्रान्त का जो स्वरूप

था उसमें हिन्दू बहुमत था अतः बंग-भंग किया। नतीजा यह हुआ कि बंगाल मुस्लिम बहुल प्रदेश बन गया। एक और कारण यह भी था कि हिन्दुओं में भी बंगाली ही सबसे अधिक विलायत जाकर पश्चिम से परिचित हो रहे थे अतः अंग्रेजों ने स्पष्टतः खतरा अनुभव किया और बंग-भंग कर दिया। जब बंगाल में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और प्रस्तावबादी कांग्रेस ने बंगालियों के इस विद्रोह के साथ कोई सहानुभूति नहीं दिखलायी तो बंगाल में उग्रवादी राजनीति उग्रतर होती गयी। इस उग्र राजनीति को अँग्रेजों ने दबा दिया फलस्वरूप इस उग्र राजनीति के प्रवक्ता और पुरोधा भाग कर जापान, अमरीका या लन्दन चले गये। इन उग्र क्रान्तिकारियों के सामने फ्रांस की, रूस की राज्यक्रान्तियाँ भी थीं और प्रिन्स क्रोपाटकिन, गेरीबाल्डी जैसे अनेक आतंककारियों और संगठनों के उदाहरण थे। इनका यह भी सरल विश्वास था कि क्रान्ति के लिए यदि शस्त्रों की आवश्यकता हुई तो अंग्रेजों का परमशत्रु जर्मनी अर्थ और शस्त्र सभी से सहायता करेगा। लन्दन में श्याम जी कृष्ण वर्मा और जापान में रासविहारी घोष इसी आतंकवादी चेतना और गतिविधियों के प्रमुख थे। भारत में इस आतंकवादी राजनीति के केन्द्र मुख्यतः सागरतटीय प्रदेश बंगाल और महाराष्ट्र थे। एक और महत्वपूर्ण बात इस सन्दर्भ में याद रखने की है कि इस आतंकवादी राजनीति में बंगाल, केवल प्रादेशिक कारणों से था परन्तु महाराष्ट्र के कारण ज्यादा ऐतिहासिक और राष्ट्रव्यापी थे। कितना अजीब है कि बंगाल इस संकीर्ण मानसिकता से कभी नहीं उबर पाया। कांग्रेस को वह कभी क्षमा नहीं कर पाया कि कांग्रेस ने उसके बंग-भंग आन्दोलन में कोई सहयोग नहीं दिया था इसलिए बदले में कांग्रेस कभी भी बंगाल में निर्णायक राष्ट्रीय शक्ति और संगठन के रूप में नहीं उभर पायी।

स्वयं कांग्रेस में दो दल थे—गरम-दल और नरम-दल। गरम-दल के नेता लाला लाजपतराय, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और विपिन चन्द्र पाल थे। गरम-दल का यह त्रिकोण उत्तर में पंजाब, पश्चिम में महाराष्ट्र और पूर्व में बंगाल को आधार बनाये था। भारत के मध्य-देश के स्पष्ट तीन भौगोलिक स्वरूप थे। इस मध्य-देश का दक्षिणी भाग विन्ध्य की श्रृङ्खला और मालवी पठार का है। पश्चिम में या तो रेगिस्तान हैं या फिर अरावली की चट्टानी भूमि है। ये दोनों भू-भाग देसी रियासतों के आधीन थे। अंग्रेजों ने बड़ी चालाकी से इन दोनों भू-भागों को इसी प्रकार रहने दिया। यह एक प्रकार का राजनीतिक विन्ध्या का काम करता था। उत्तर-भारत और दक्षिण-भारत को जिस प्रकार विन्ध्य की पर्वत श्रृङ्खला पृथक करती है उसी प्रकार गंगा-यमुना का विशाल मैदान शेष अंग्रेजी भारत से कटा रहे इसके लिए देसी-रियासतों की यह मध्ययुगीन शासन-व्यवस्था एक राजनीतिक दीवाल का काम करती थी, जो कि अंग्रेजों के हित में थी। गंगा-यमुना के मैदान में नरम-दल की प्रमुखता थी और इसके शीर्षस्थ नेता मोतीलाल नेहरू थे। मोतीलाल नेहरू के अलावा सर तेज बहादुर सप्रू, गोपाल कृष्ण गोखले, जयकर आदि कुछ अन्य नरम-दल के नेता और भी थे। ऐसा संयोगवशात नहीं हुआ था कि गंगा-जमुना के

मैदान में समझौतावादी कांग्रेस की भी परम समझौतावादी राजनीति ही पनपी। इस विषमता के ऐतिहासिक कारण भी थे । मैदानी भौगोलिकता, उपजाऊ भूमि के कारण यहाँ के निवासियों का ठण्डा स्वभाव तथा वर्ष मे आठ महीने गरमी और उसमें भी कुछ महीनो की भयकर गर्मी, लोगों के कारण का आलसी होना तो कारण था ही लेकिन दिल्ली से लेकर बंगाल तक मुस्लिम नवाबो, सुलतानों और जन संख्या की बहुलता के कारण मुस्लिम संकीर्ण राजनीति यहाँ सबसे अधिक पनपी। इस मनोवृत्ति मे स्वयं मुसलमानों का अपना मध्ययुगीन दकियानूसीपन तो था ही परन्तु अंग्रेजों की चालाकी भी कम सहायक नहीं थी । सन् १८५७ तथा उसके बाद तक अंग्रेजो को मुसलमान अपने विरोधी लगते थे । ठीक भी था, मुसलमान भूतपूर्व शासक थे तो अंग्रेज वर्तमान शासक थे । लेकिन इस बीच जब राजनीतिक चेतना, शिक्षा और जागरण का युग आया और अंग्रेजो ने देखा कि भारतीय हिन्दुओ मे अपने प्राचीन गौरव, ऐतिहासिक अस्मिता के साथ वर्तमान शिक्षा-दीक्षा भी जोरो से फैल रही है और वे ज्ञान-विज्ञान मे उनके समकक्ष हो सकते हैं तो उन्होने फिर 'बांटो और शासन करो' की आजमूदा नीति से काम लिया । मुसलमान ने भी सोचा कि अगर राजनीतिक समझौता करना ही है तो अंग्रेजों से करना लाभदायक है । कल यदि राजनीति हिन्दुओं के हाथों मे जाती है तो उन्हें क्या मिलता है ? जिन हिन्दुओं पर उन्होंने एक हजार वर्ष तक शासन किया क्या अब उन्हीं की दासता करनी पड़ेगी ? नहीं, और तब भूतपूर्व शासक मुसलमानो और वर्तमान शासक अंग्रेजो के बीच सर सैयद अहमद आदि के सद्-प्रयत्नों से संलाप की स्थिति उत्पन्न की गयी । दोनों ही सेमेटिक रेस के हैं । दोनों में ही आस्थागत एकता भी है । पूजा के पवित्र-स्थल भी दोनो के पास ही पास है । कुरान मे ईसा को भी पैगम्बरी हैसियत दी गयी है, और सबसे बड़ी बात यह कि 'हम कल के शासक हैं और आप आज के ।' इस एकता की भावना का तत्काल इनाम मुसलमानो को बंग-भंग के रूप में मिला और देश की उग्र क्रान्तिकारिता से लेकर गांधी की जनसाधारण वाली, आन्दोलन-प्रधान राजनीति को सम्मिलित स्वर से हिन्दू राजनीति कह दिया गया । अंग्रेजों ने इस जन-आन्दोलनकारी राजनीति के सैलाब तथा अपने साम्राज्य के बीच मुसलमानों की संकीर्ण राजनीति का एक और विन्ध्य खड़ा कर लिया और सुरक्षित अनुभव करने लगे । चूंकि समानान्तर वाली प्रति-राजनीति का यह विन्ध्याचल गंगा-यमुना के मैदान में दिल्ली से लेकर बंगाल तक खड़ा किया गया था इसलिए यहाँ हमेशा के लिए नरम-दल की कांग्रेसी राजनीति ही पनपी । इसका नतीजा यह हुआ कि इस सारे भू-भाग की राजनीतिक, सांस्कृतिक दृष्टि हमेशा के लिए मुसलमानों को स्पष्टीकरण देते रहने की ही बन गयी ।

सन् १९२० मे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का निधन, एक व्यक्ति, एक नेता का निधन न होकर भारत की सारी उग्र राष्ट्रीयतावादी, सशस्त्र क्रान्ति की पक्षधर वाली राजनीति का निधन था । इस राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिवेश में दक्षिण अफरीका से एक अल्प ख्यात वकील मोहनदास कर्मचंद, गांधी के

भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। गांधी ने बोअर-युद्ध और प्रथम विश्व-युद्ध दोनों ही समय राजनीतिक लड़ाई लड़ते हुए भी अपनी मानवीयता, सहयोग देकर सिद्ध की थी परन्तु बदले में उन्हें अंग्रेजो से अवमानना ही मिली थी। उनके अपने स्वभाव के कारण तथा अपने राजनीतिक-गुरु गोपाल कृष्ण गोखले के कारण उन्हें कांग्रेस की नरम-दल वाली राजनीति अधिक निकट लगी। अपना मन और संकल्प बनाने के पूर्व वह चम्पारन जिले में नील की खेती तथा विदेशों के लिए भारतीय कुलियों की भरती के विरुद्ध आन्दोलन चलाकर इस नतीजे पर पहुँचे कि गंगा-यमुना का विशाल भू-भाग इतिहास, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, भाषा और राजनीति सभी दृष्टियों से भारत का प्रतिनिधित्व करता है। सन् १६१६ में अंग्रेज रौलट-बिल को 'एक्ट' बनाना चाहते थे। गांधी ने इसका जनव्यापी विरोध करने का निश्चय किया। इस जन-आन्दोलन का नतीजा जब जलियांवाला-बाग के रूप में सामने आया तो वह स्तब्ध रह गये और उन्होंने अनुभव किया कि इस राजनीतिक चेतना को जब तक दूसरी बड़ी बातों से नहीं जोड़ा जाएगा तब तक प्रशासन की हिंसा का प्रतिकार सम्भव नहीं। और उन्हें लगा कि यदि देश, अंग्रेजों से सहयोग न करे तो यह सरकारी तन्त्र दो दिन भी नहीं टिक सकता और अपने इस कार्यक्रम के लिए उन्होंने पहली अगस्त सन् '२० को चुना पर दैवात उसी दिन तिलक का निधन हो गया।

गांधी, तिलक के महत्त्व को समझ गये थे। गोखले सदाशयी थे परन्तु तिलक महाराज तो महाराष्ट्र को जन-आकांक्षाओं के जीवन्त प्रतीक थे। सही अर्थों में उस काल के नेताओं मे जननेता केवल वही थे। गांधी, गोखलेवादी सदाशयता और तिलकवादी जन-सामरस्यता दोनों को मूर्त करना चाहते थे। वह अपनी मनीषा से देख रहे थे कि किसी भी दिन गरम-दल की उग्र राजनीति आत्मघाती हो सकती थी तो नरम-दल की निष्क्रिय राजनीति भी किसी दिन बिक सकती थी। गांधी इन दोनों खतरों से अवगत थे। उन्हें एक मध्यम मार्ग की तलाश थी। केवल राजनीति के लिए राजनीति में उनका विश्वास नहीं था और ऐसे ही समय तिलक का निधन हो गया। देश की जो तत्कालीन स्थिति थी उसमें असहयोग-आन्दोलन के अलावा कोई मार्ग नहीं था, और यह उनका पहला राष्ट्रीय आन्दोलन था जिसमें सत्याग्रह, असहयोग, सरकारी संस्थाओं का बहिष्कार, स्वदेशी और चरखे के उपयोग—के कार्यक्रम देश के सामने रखे गये। जिन्ना और ऐनी बेसेन्ट जैसे लिबरल भी कलकत्ता कांग्रेस के समय, जिसमें गांधी के असहयोग कार्यक्रम को स्वीकृति मिली थी, कांग्रेस से अलग हट गये थे। गांधी के इन कार्यक्रमों का राजनीति से क्या सम्बन्ध है यह मोतीलाल नेहरू, जयकर जैसे नेताओं को भी समझ से परे था। और असहयोग-आन्दोलन के समय ही जब प्रिन्स आफ वेल्स भारत आये और बम्बई आदि सभी जगह विदेशी कपड़ों की होली जलायी गयी तो पुलिस की ज्यादतियों के विरोध में कहीं-कहीं आन्दोलन हिंसात्मक हो उठा। इसकी पराकाष्ठा चौरी-चौरा का थाना जला देने पर हुई। गांधी ने इतना बड़ा आन्दोलन जब वापस ले लेने की घोषणा की तो देश के सभी नेताओं ने न केवल निन्दा

ही की बल्कि उनका मजाक तक बनाया, पर गांधी अडिग रहे। लोग यह भूल गये कि भले ही इस दो हड्डी के व्यक्ति का यहाँ यह पहला जन-आन्दोलन हो परन्तु यह व्यक्ति जनरल स्मट्स को भी अपने जन-आन्दोलन के इसी प्रकार के कार्यक्रमों के द्वारा दक्षिण अफरीका में झुका कर आया था। सच तो यह है कि जनता की नब्ज पर हाथ रखना जितना सटीक धर्म के क्षेत्र मे बुद्ध को आया, काव्य के क्षेत्र मे तुलसी को आया वैसा ही राजनीति में गांधी को आया। असहयोग-आन्दोलन के माध्यम से भारतीय राजनीति में गांधी का प्रवेश एक व्यक्ति का प्रवेश न रह कर, एक ऐसी व्यावहारिक लेकिन कठिन नैतिकता का प्रवेश था जिसने देश की सर्वांगीण मनीषा ही बदल दी। यदि गांधी, असहयोग-आन्दोलन के माध्यम से राजनीति का जनव्यापी आधार न खड़ा करते तो महाराष्ट्र और बंगाल की उग्र राजनीति, आतंकवादी संगठन तथा गंगा-यमुना के मैदान वाली मुस्लिम प्रति-राजनीति उन्हें कभी भी भारतीय राजनीति मे या तो प्रविष्ट ही न होने देती या वह भी अमहत्त्वपूर्ण नरम-दल के एक प्रादेशिक नेता मात्र बनकर रह गये होते क्योंकि गांधी मे सिवाय संकल्प-शक्ति के और किसी भी प्रकार की विशिष्टता नहीं थी।

तिलक के पास सम्भव है किसी जन-आन्दोलन की परिकल्पना या स्वरूप रहा हो, जिसके प्रमाण में उनके द्वारा 'गणेशोत्सव' का चलाया जाना आ सकता है, परन्तु उनके अलावा तत्कालीन किसी अन्य नेता में यह साहस ही नहीं था कि राजनीति को इतना बड़ा परिवेश दे सके कि वह जीवन की समग्रता का ही पर्याय बन जाए। भारतीय राजनीति और समाज पर जो विश्वव्यापी दबाव पड रहे थे उसमें कांग्रेस की प्रस्तावबादी, सम्मेलनप्रधान राजनीति डगमगा रही थी। उग्र राजनीति उग्रतर होती जा रही थी। तिलक प्लेग की महामारी में जनता की सेवा के द्वारा तथा 'गणेशोत्सव' को महाराष्ट्रीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति बना कर स्वयं महाराष्ट्र बन गये थे। इस स्थिति में दिशा के अभाव में नरम-दल या तो छिन्न-भिन्न हो जाता या उरकार के साथ समझौता कर लेता। अंग्रेज और मुस्लिम प्रति-राजनीति दोनों ही नरम-दल का इस कठिनाई से लाभ उठाना चाहते थे। यदि इस मौके पर गांधी का अभ्युदय न हुआ होता तो भारतीय राजनीति से व्यवहार करने मे अंग्रेजों और मुसलमानों के लिए बहुत आसानी होती।

असहयोग आन्दोलन ने हठात् पूरे देश को जिस प्रकार पूरी तरह झकझोर कर खड़ा कर दिया था वह भारतीय इतिहास में न केवल अभूतपूर्व था बरन् इससे अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह थी कि दो-चार सिपाहियों की हिंसा हो जाने जैसी मामूली बात पर इतना बड़ा आन्दोलन वापस ले लेने का साहस किसमे था? और गांधी को यह लगा कि जब तक प्रशिक्षित कार्यकर्ता नहीं होंगे तब तक कैसा ही जन-आन्दोलन भीड़वाद मे ही परिणत होगा। केवल नेताओं और शौकिया राजनीतिज्ञों के स्थान पर कांग्रेस में ऐसे संकल्पवान कार्यकर्ता होने चाहिए जिनके लिए देश-सेवा किसी व्रत के समान हो। देश-सेवा समग्र जीवन-दर्शन हो और यह तभी सम्भव है जब किसी

केन्द्र से राष्ट्र और देश-सेवकों के सामने कुछ रचनात्मक कार्यक्रम रखे जाएँ। और गाँधी ने अपने साबरमती-आश्रम को इसके अनुकूल स्वरूप दिया। गाँधी ने साबरमती को अपना तथा भारतीय राजनीति का केन्द्र जो बनाया उसके द्वारा वह यही कहना चाहते थे कि जनता की राजनीति जनता के बीच से ही होनी चाहिए न कि धरती से कटे हुए बम्बई-कलकत्ता-दिल्ली जैसे शहरों से।

गाँधी ने अपने व्यक्तित्व को वस्तुतः मिश्रित व्यक्तित्व बनाया था। उनमें गोखले की सात्विकता, तिलक की निर्भयता और मोतीलाल नेहरू की सतर्कता तीनों समाहित थे। भारतीय राजनीति में किसी अन्य व्यक्ति का व्यक्तित्व गाँधी के समकक्ष दिखलायी देता है तो वह किन्हीं अर्थों में लोकमान्य तिलक का था। इन दोनों व्यक्तियों में जितनी समानताएँ थीं उससे अधिक आधारभूत अन्तर भी कम नहीं थे। यह नहीं भूलना चाहिए कि कितना ही बड़ा या लोकोत्तर व्यक्ति ही क्यों न हो, वह अपने समय, अनुभव और इतिहास की निष्पत्तियों से ही निर्मित होता है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के तेजस्वी, प्रखर बुद्धिवादी पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व के पीछे उनका ब्राह्मण होना तथा घर-परिवार का कर्म-काण्ड प्रधान वातावरण भी था परन्तु ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जो कारण थे उन्हें जाने बिना तिलक की उग्र राष्ट्रीयता वाली मानसिकता को कभी नहीं समझा जा सकता है, या गलत समझा जाएगा। साथ ही तिलक और गाँधी का पार्थक्य भी समझ में नहीं आएगा। गाँधी ने अपनी प्रकृति, संस्कार, परिवेश और इतिहास के इस पार्थक्य को अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन में उतारा। उसके दूरगामी राष्ट्रीय प्रभाव, गाँधी के बाद के भारत को किस प्रकार उठाने और भोगने पड़ रहे हैं, उसे भी तब तक नहीं समझा जा सकता है।

मुसलमानों की बादशाहत तथा राजनीतिक वर्चस्व इस देश में कमोवेश रूप में १९वीं शती तक बने रहे। लगभग आठ सौ-नौ सौ वर्षों तक राज्य-सुख भोगने और फिर उस सबके खो जाने का जैसा और जितना तीव्र अहसास और कसक पूरी मुस्लिम जाति को आज तक है उसे हिन्दू कभी नहीं समझ सकते। हिन्दुओं में या तो राजस्थान-मालवा के क्षत्रियों ने छोटे-छोटे भू-भागों पर राज्य किया या फिर मरहठों ने न केवल छोटे-छोटे भू-भागों पर शासन किया बल्कि मुस्लिम बादशाहत के समानान्तर हिन्दू साम्राज्य के न केवल स्वप्न देखे बल्कि उन्हें रूपायित भी किया। राजस्थान-मालवा के क्षत्रियों में देशव्यापी परिकल्पना का सदा से अभाव रहा। मरहठे उत्तर में यदि मुगलों से टकराये तो दक्षिण में बहमनी-गोलकुण्डा से भी लोहा लिया और वर्चस्व

स्थापित किया। यही नही, समुद्री-लड़ाई के मोर्चे पर भी उन्होने अंग्रेजों-पुर्तगालियों के सामने सिद्ध कर दिया कि भारतीय यूरोप के सामने नौ-सेना के कौशल मे हेठे नही हैं। इसीलिए हिन्दुओं मे मुख्य रूप से महाराष्ट्र को ही मुसलमानों की ही तरह राज्य खोने का तीव्र और तीखा अहसास एवं कसक है। शेष भारत के हिन्दुओ मे 'कोऊ नृप होउ' की मनोवृत्ति ही बनी रही क्योकि गत एक हजार वर्षों मे उनकी राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक अस्मिता का हरण हुआ था और वे उससे उबर ही नही पा रहे थे। तभी तो महाराष्ट्र की उद्दाम राष्ट्रीयता, प्रखर तेवर वाली राजनीति अन्य प्रदेशो में नही मिलती। गुलाम हो जाने का जैसा तीखा दर्द और जैसी तीक्ष्ण प्रतिक्रिया महाराष्ट्र में दिखी वैसी तो दूर, वल्कि कई प्रदेशो में तो किसी भी प्रकार की कोई प्रतीति ही नही दिखी। बंगाल की विद्रोही अस्मिता की चूँकि कोई ऐतिहासिकता नही थी वल्कि उसका केवल एक ही तात्कालिक कारण था—वंग-भंग। अंग्रेजों ने जब देखा कि बंगाल के हिन्दुओ में इसकी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया है तो वे शंकित हो उठे। इसका प्रमुख कारण था कि उनके साम्राज्य की राजधानी कलकत्ता में थी अतः उन्होंने फिर दोहरी नीति अपनायी। वंग-भग के द्वारा जहाँ उन्होने हिन्दुओं को दण्डित और मुसलमानों को पुरस्कृत किया था वहाँ वे यह समझ गये थे कि भूतपूर्व शासक मुसलमान कभी भी दिल से उनके साथ नही होगे अतः सरकारी नौकरी के माध्यम से अपने राज्य-सुख का सहभोक्ता उन्होने हिन्दुओ को ही बनाया और तर्क दिया कि ये लोग आधुनिक शिक्षा प्राप्त हैं, 'बाबू' है। अंग्रेजों ने बंगालियों को अंग्रेजी बोलनेवाला 'बाबू' बनाकर उन्हें ऐसा 'काला साब' हमेशा के लिए बना दिया कि आज भी वह अपने को शेष भारत से भिन्न, आगे और पृथक समझता है। हिन्दी-प्रदेशो की बड़ी दयनीय स्थिति थी। वे, क्षत्रियों के निर्वीर्य प्रशासन, मुस्लिम प्रशासकों की जी-हुजूरी, मुसलमानो की मध्ययुगीन बर्बर दासता और अंग्रेजो की गिरगिटी आधुनिकता के बीच एक हजार वर्ष तक रहने के कारण ऐसे अस्मिताहीन हो गये कि आज के युग में भी भारतीयता या राष्ट्रीयता जैसी संज्ञाओं तक के लिए उन्हे एक ओर मुसलमानों की स्वीकृति की आवश्यकता बनी हुई है तो दूसरी ओर पश्चिमी विचार या दर्शन का अनुमोदन चाहिए। कितनी अजीब बात है कि भारत के अधिकांश प्रदेश इतिहास की प्रक्रिया में से गुजर कर कम से कम मध्ययुगीन जातिवाद से तो बाहर निकले और अपेक्षाकृत क्षेत्रीयता के अधिक खुले वातावरण में पहुँचे परन्तु हिन्दी-प्रदेशों के पास कभी भी, किसी भी प्रकार की क्षेत्रीयता नही थी तो बजाय पूर्णरूपेण राष्ट्रीयता पर आते, इन प्रदेशों में मध्ययुगीन जातीयतावाद आज न केवल समाज का ही आधार रह गया है वरन् यहाँ की राजनीति का भी प्रमुख आधार बन गया है। इसलिए भारतीय राजनीति में हिन्दी-प्रदेशों की इस विषमता ने फिर राष्ट्रीय असन्तुलन उत्पन्न कर रखा है। यहाँ का हिन्दू और कुछ सब है पर दकियानूस हिन्दू होते हुए भी उदार हिन्दू नहीं कहलाना चाहता जबकि इन प्रदेशों का मुसलमान और कुछ नहीं प्रथम और अन्तिम रूप से केवल मुसलमान है। इतिहास की परिवर्तनकारी ऐतिहासिक प्रक्रिया क्यों

हिन्दी-प्रदेशो में सक्रिय नहीं रही, इसे जाने बिना कोई भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन कभी सफल नही हो सकता क्योकि संख्या की दृष्टि से ये प्रदेश बहुल हैं तथा इतिहास की दृष्टि से केन्द्रीय भी हैं।

इस परिपार्श्व मे देखने पर तिलक का उग्र, आक्रामक, दो टूक राष्ट्रीय व्यक्तित्व एक भिन्न आभा देता है। तिलक, एक आहत सिंह की गर्जना लगते हैं। भला ऐसा शास्त्रज्ञ, निष्णात पण्डित, जेल की प्रदीर्घ यातनाओं को भोगकर 'गीता-रहस्य' प्राप्त कर निकला तेजस्वी व्यक्तित्व मोतीलाल नेहरू, जयकर, सप्रू जैसे सुविधा-भोगी, 'हींग लगे न फिटकरी' वाली 'दामन बचाओ' की नरम-दलीय राजनीति से कैसे सहमत हो सकता था? प्रस्ताव पास करना, सम्मेलन कर लेना और संभव हो तो समझौता भी कर लेना—जिस नरम-दल की कुल मिलाकर यही राजनीतिक दृष्टि रही हो, स्वाधीनता की यही परिकल्पना रही हो उससे तिलक जैसे उद्दाम राष्ट्रवादी को कैसे बन सकती थी! यदि तिलक और जीवित रहते तो वह निश्चित ही देश की राजनीति को अपने ढंग से जन-आन्दोलन का स्वरूप देते, जो कि निश्चित ही गांधी के जन-आन्दोलन से भिन्न होती। दोनों में तात्त्विक और क्रान्तिकारी कितना अन्तर होता, कहना कठिन है परन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि उन दोनों आन्दोलनों के स्वरूपो पर तिलक के तेजस्वी और गांधी के प्रशान्त व्यक्तित्व की छाप होती। चूंकि गांधी के जन-आन्दोलनों से हम परिचित रहे हैं इसलिए तिलक के जन-आन्दोलनों की थोड़ी-बहुत कल्पना तो की ही जा सकती है।

उस युग के सारे राजनेताओं की जो मानसिक संरचना थी उसमें केवल तिलक महाराज का ही व्यक्तित्व सर्वोपरि था। उनके सामने मोतीलाल नेहरू, लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल सभी प्रादेशिक स्तर के नेता थे। तिलक के हठात् चले जाने से पूरे देश में सलाप की स्थिति उत्पन्न कर सकने वाले सेतु-व्यक्तित्व का अभाव एकदम उभरा। सयोग ही था कि तिलक की मृत्यु और गांधी का भारतीय राजनीति में अभ्युदय लगभग एक ही समय हुआ। कोई नही कह सकता कि यदि ये दोनो सर्वथा भिन्न व्यक्तित्व के नेता एक दशक तक भी साथ-साथ सक्रिय रहते तो भारतीय राजनीति का स्वरूप और प्रकृति क्या होते। यह बहुत असम्भव भी नहीं था कि समान रूप से सदाशयी, संकल्पवान, राष्ट्रीयता से ओतप्रोत होने के बाद भी ये आपस में एक-दूसरे से सहमत नहीं होते। दोनों में तात्त्विक अन्तर था। इतिहास में चूंकि ये आगे-पीछे आये इसलिए दोनो एक-दूसरे के पूरक लगते हैं परन्तु यदि समकालीन रहे होते तो टकराहट अवश्यम्भावी थी, क्योकि तिलक में ऋषियों वाली आर्य-ऋजुता थी तो गांधी में परम आदर्शवादिता के बाद भी वैष्णवी विदुरता थी। दोनों ही बैरिस्टर थे पर दोनों की व्याख्याएँ भिन्न थीं। दोनों ही आकण्ठ हिन्दू थे पर तिलक शैव थे और गांधी वैष्णव। तिलक धार्मिक थे पर गांधी आध्यात्मिक। तिलक कर्मकाण्डी थे तो गांधी सहज प्रार्थनाशील। दोनों का ही प्रिय ग्रन्थ 'गीता' था परन्तु तिलक के लिए कर्म, अस्त्र था जबकि गांधी के लिए कर्म, चरखा था। तिलक शास्त्रीय थे, पर गांधी आस्थावान

भक्त थे । तिलक के लिए स्वाधीनता, साध्य थी जबकि गांधी के लिए केवल साधन थी । तिलक के लिए राजनीति, राजनीति थी पर गांधी के लिए तो मूल्य थी, जीवनदृष्टि थी । तिलक प्रखर राजनीतिज्ञ थे लेकिन गांधी विनम्र नीतिज्ञ थे । तिलक के निकट भारत-राष्ट्र की परिकल्पना बृहन्महाराष्ट्र की रही होगी जबकि गांधी की परिकल्पना में मनुष्य मात्र का समावेश था । तिलक 'केसरी' के माध्यम से गर्जन करते थे परन्तु गांधी 'हरिजन' के माध्यम से निवेदन करते थे । तिलक नारियल की भाँति ऊपर से ही कठोर थे परन्तु अन्तस में रसमय थे जबकि गांधी खजूर की भाँति ऊपर से लाख मीठे लगते थे परन्तु अन्तस में न झुकने वाले थे । तिलक के लिए स्वाधीनता, एक राजनीतिक अवधारणा थी परन्तु गांधी के लिए वह जीवन की समग्रता का पर्याय थी । तिलक राजनीति में धर्म के आग्रह को कोई विशेष महत्त्व नहीं देते थे परन्तु गांधी के लिए तो जीवन ही धर्ममय था । तिलक तात्त्विक थे तो गांधी, सात्त्विक । भारतीय राजनीति को तिलक ने स्वाधीनता का मूल-मन्त्र दिया तो गांधी ने इस बीज-मन्त्र को वटवृक्ष की महनीयता प्रदान की । तिलक ओजस्वी वक्ता थे परन्तु गांधी तो निरभिमान प्रवक्ता थे । तिलक में तेज था तो गांधी में तेजोमयता थी । तिलक के लिए देश, एक राज्य था परन्तु गांधी के लिए देश, पूजाघर-सा पवित्र था । दोनो ही अपार निष्ठावान थे परन्तु तिलक में ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता थी लेकिन गांधी ने जाति-वर्ण आदि के सभी लौकिक चिह्न उतार कर अगत्या ऐसी सहज ग्रामीणता धारण कर ली थी कि गांधी स्वयं ही देश हो गये थे । तिलक ने आन्दोलित कर देनेवाले विचार दिये तो गांधी ने रचनात्मक कार्य-क्रम दिये । तिलक को तत्त्वबोध था परन्तु गांधी को तो सत्य की प्रतीति थी । तिलक को गीता और उसका रहस्य हस्तामलकवत था परन्तु गांधी में तो गीता न केवल अनुस्यूत ही हुई बल्कि अवतरित भी हुई । तिलक गीता के कर्म पर ठहर गये परन्तु गांधी, गीता के योग तक पहुँचे । इसके बाद भी गांधी, तिलक महाराज की महानता, देशाभिमान और महात्म्य से न केवल पूरी तरह अवगत ही थे बल्कि उसके प्रति आदर भाव रखते थे ।

तिलक के निधन के बाद अंग्रेजों को लगा कि उन्हें किसी भी प्रखर व्यक्तित्व के राष्ट्रीय नेता का सामना नहीं करना है । बंगाल का अंग-भंग करके वहाँ की विद्रोही आत्मा को वह पहले ही कुचल चुके थे । रासबिहारी घोष जैसे आतंककारी जापान जा ही चुके थे । लन्दन में बैठे हुए श्याम जी कृष्ण वर्मा नवयुवकों को सशस्त्र क्रान्ति के लिए भूमिगत रूप से संगठित करना चाहते थे लेकिन उस पर वह आँख लगाये हुए सचेत थे । राजा महेन्द्रप्रताप जैसे लोग भले ही काबुल पहुँच कर अफगानों या तुर्की आदि से सहायता प्राप्त करने की चेष्टा करते रहे हों परन्तु अंग्रेजों ने अपने भारतीय साम्राज्य की नाकेबन्दी विभिन्न सन्धियों और सैनिक छावनियों से कर रखी थी । रूस से तत्काल उन्हें कोई खतरा नहीं था ।

तिलक के निधन के बाद गांधी का प्रभाव ज्यों-ज्यों बढ़ता गया उससे प्रमुख रूप से हानि क्रान्तिकारी संगठनों, गतिविधियों को होने लगी । तिलक यदि रहते

तो निश्चित ही भारत में सशस्त्र क्रान्ति या विद्रोह या आन्दोलन अवश्य होता परन्तु गांधी के आगमन से ये सारे क्रान्तिकारी संगठन धीरे-धीरे आतंकवादी बनते गये और उनकी इतिहास पर से पकड़ छूटती गयी। इसीलिए कालान्तर में जब शेष आतंकवादी पूरी तरह अप्रासंगिक हो गये तो या तो वे विलीन हो गये या राजनीति में रहे भी तो अधिकांशतः वामपंथी राजनीति में गये ताकि उनके उत्तेजित अहं की रक्षा होती रहे। एक अर्थ में यह स्थिति अंग्रेजों को अपने पक्ष में ही लगी। गांधी ने राजनीति का जो विशाल परिप्रेक्ष्य तैयार और प्रस्तुत किया उसके कारण क्रान्तिकारी संगठनों की आधारभूत कमजोरी सामने आयी कि उन्हें अपने आतंकवादी कार्यक्रमों के लिए कभी व्यापक जन-समर्थन नहीं मिला। जब जनता गांधी के तकली-चरखा, स्वदेशी, सत्याग्रह की ओर आकृष्ट होने लगी तो अंग्रेजों को इन क्रान्तिकारी संगठनों से निबटने का अवसर मिला और सन '३०-३२ तक यह आन्दोलन उस रूप में निस्तेज हो गया। लेकिन गांधी को अपने इन रचनात्मक कार्यक्रमों, जिनमें नाम मात्र की भी उत्तेजना न होती, जन-समर्थन आसानी से नहीं मिला। जब भी कोई आतंककारी घटना या विस्फोट होता तो लोगों का ध्यान ही नहीं बल्कि सहानुभूति भी जागती। नवयुवकों की यह आत्माहुति, उत्कट देश-प्रेम गांधी की तथाकथित निष्क्रिय सी लगनेवाली राजनीति पर प्रश्नचिन्ह लगा जाती। सभी प्रकार के नेता आरम्भ में गांधी का उपहास करते रहे। जब उससे भी कुछ न हुआ तो उपेक्षा की। उपेक्षा के बाद गांधी का विरोध होने लगा। गांधी की स्थिति यह थी कि राजनीतिक दलों में वह जितने ही अलोकप्रिय हुए, जनता में उत्तरोत्तर गांधी घुलते-मिलते गये। अंग्रेजों को कभी लगा होगा कि गांधी के माध्यम से आतंककारी नष्ट हो रहे हैं तो विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा गांधी समाप्त हो रहे हैं और यह दुष्चक्र उन्हें अपने अनुकूल ही लगा। लेकिन गांधी सारे विरोधों, लाछनों के बाद भी कापुरुष या नपुंसक नहीं थे जैसा कि उनके समकालीन सोच रहे थे परन्तु वह इस भयानक सत्य और तथ्य से अवगत थे कि एक तो सारी क्रान्तियाँ अपने केवल राजनीतिक चरित्र के कारण सत्ता में पहुँच कर भ्रष्ट हो जाती हैं और जन-विरोधी हो जाती हैं, जन नेता ही सत्ता पाकर जन-शत्रु हो जाते हैं। दूसरे वह यह भी जानते थे कि कैसा ही क्रान्तिकारी संगठन क्यों न हो वह अंग्रेजों के जैसे विशाल साम्राज्यवादी से कभी अधिक शक्तिशाली नहीं हो सकता। किसी भी राज्य-शक्ति को संगठनात्मक प्रति-शक्ति बन कर शक्ति के प्रचलित अस्त्रों से पराजित नहीं किया जा सकता। और जब भी, जहाँ भी इस तरह के प्रयासों के लिए विदेशी सहायता ली गयी है वहाँ वह क्रान्ति ही निष्फल चली गयी है। इसलिए गांधी राजनीति की लड़ाई को केवल राजनीति के स्तर तक ही न लड़कर इतने व्यापक धरातल पर लड़ना चाहते थे कि जहाँ तक परदेसी अंग्रेजों की पहुँच ही नहीं हो सकती थी इसीलिए गांधी ने चरखा, खादी, स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार आदि उन हरबों-हथियारों को अस्त्र बनाना चाहा जो हर घर-परिवार में सहज ही उपलब्ध थे। तीसरे यह कि जब तक इस राष्ट्रीय प्रयास में सम्पूर्ण जनता का पूर्ण समर्थन और सहयोग

नहीं होगा तो स्वाधीनता के लिए किया गया आन्दोलन, युद्ध या प्रयास व्यर्थ तो जाएगा ही परन्तु नेता तो सत्ता पा जाएँगे लेकिन जागरण के अभाव में सोयी हुई जनता की लोकशक्ति का ये ही नेता शोषण करेंगे। जनता गुलाम की गुलाम ही रह जाएगी। इसीलिए सन् '४२ के पूर्व तक के सारे उनके आन्दोलन आजादी प्राप्ति के लिए नहीं बल्कि जन-जागरण के लिए थे। भला गांधी की यह इतिहास-दृष्टि राजनीतिज्ञों के पास कहाँ थी? गांधी की दृष्टि समग्रता पर थी, सत्ता पर नहीं।

गांधी की यह विचित्र अहिंसावादी राजनीति, संसार की आज तक की सभी राजनीतियों से सर्वथा भिन्न थी, जिसमें शत्रु के प्रति भी मित्र-भाव था, किसी का अकल्याण सोचना भी हिंसा था। भला इस 'कायरता' पर किसकी आस्था हो सकती थी? प्रायः तो राजनीतिक संगठनों, और राजनीतिज्ञों की पीठ जनता की ओर होती है और मुँह सत्ता की ओर होता है परन्तु गांधी तो सत्ता की ओर पीठ किये जनता से निरन्तर वार्तालाप करते रहे, उन्हें समझाते रहे। गांधी को सन् '३१ में नमक-सत्याग्रह के अवसर पर अवश्य व्यापक जन-समर्थन मिला परन्तु उसके तत्काल बाद जिस समय सरदार भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को लाहौर जेल में फाँसी दी गयी, तो वह समय गांधी की अग्निपरीक्षा का था। गांधी राजनीतिज्ञों में नितान्त अकेले पड़ गये थे। अंग्रेजों को नमक-सत्याग्रह के पूर्व तक गांधी कोई विशेष महत्त्व के नहीं लगे थे परन्तु नमक-सत्याग्रह से उनके कान खड़े हुए। और जब '३२-३३ के काल में गांधी नितान्त अकेले रह गये और देखा कि उनका विरोध उनके सहयोगी तक कर रहे हैं तो उन्होंने गांधी की इस राजनीतिक हत्या का मौन स्वागत ही किया। इसलिए जब इन नवयुवक क्रान्तिकारियों के प्राणदान के लिए गांधी से कहा गया कि वह वाइसराय से मिलें तो गांधी ने हिंसा के पक्ष में खड़े होने से इन्कार कर दिया। पूरे देश में गांधी की बड़ी थू:-थू: हुई। उस समय गांधी लगभग 'आबलिवियन' में चले गये। उनकी अहिंसा प्रधान, जनतावादी राजनीति से जो कांग्रेसी नेता खुश नहीं थे उन्हें भी गांधी पर प्रहार करने का अवसर मिला। परन्तु गांधी अपनी आचार-प्रधान, नैतिक एवं अहिंसावादी राजनीति के प्रति यथावत अडिग एवं साग्रह बने रहे। खिलाफत-आन्दोलन में सहयोग देकर वह कई खेमों से मुस्लिमपरस्ती का लांछन वर्षों से ढो ही रहे थे तो अब छद्म समझौतावादी, फिरंगी-परस्ती का भी लांछन उठाने लगे। शायद जो भी सेतु-व्यक्तित्व, शलाका-पुरुष बनता है, यह उसकी नियति है। चट्टान को फोड़कर बस निकाल लेना सभी वनस्पतियों के लिए सम्भव नहीं, यह तो वासुदेव व्यक्तित्व के पीपल का ही स्वत्व कर सकता है।

गांधी का विरोध हिन्दू-मुस्लिम राजनीतिक खेमों से अभी उतना उल्लेखनीय नहीं था परन्तु एक अन्य खेमा उभर रहा था जहाँ से वैचारिक स्तर पर गांधी का विरोध, मजाक तथा खिल्ली उड़ायी जा रही थी और ये वो लोग थे जो रूस की बोल्शेविक क्रान्ति को सर्वहारा की क्रान्ति मानते थे और मार्क्सवादी-दर्शन को सबसे बड़ा क्रान्तिकारी, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आर्थिक ही नहीं, राजनीतिक दर्शन भी

मानते थे। भौतिक द्वन्द्ववाद का यह दर्शन आर्थिक दृष्टि से मानवीय इतिहास को, समाज को देखे जाने का सिद्धान्त है। मार्क्स ने अपने अध्ययन का आधार प्रमुख रूप से यूरोपीय इतिहास, धर्म, दर्शन और समाज को बनाया था। कई अर्थों में मार्क्स की निष्पत्तियाँ समग्र मानवीय समाज और इतिहास पर लागू होती भी हैं और नहीं भी होती हैं। मार्क्सवादी भले ही न जानें परन्तु मार्क्स अवश्य जानते थे कि मनुष्य सबसे कठिन संरचना है। उसके बारे में न तो कोई सार्वकालिक और न सार्वदेशिक सैद्धान्तिक निष्पत्ति ही प्रस्तुत की जा सकती है और न ही उसे मुक्त करने या शासित करने के लिए कोई तन्त्र खड़ा किया जा सकता है; क्योंकि मनुष्य के पास जो चेतना है वह प्रकृति और समाज में अनेक रूप से तात्विक सत्ता का काम करती है। तभी तो धर्म, दर्शन, राजनीति आदि जब भी उस पर लादे गये हैं वह उन्हें फोड़कर निकलता आया है।... बोल्शेविकों ने कालान्तर में कम्यूनिस्ट संज्ञा ग्रहण की। इन्हें इतिहास की प्रक्रिया में शासकों द्वारा गाली के रूप में 'वामपंथी' कहा गया। बाद में इन वामपंथियों ने अपनी संज्ञा को स्थापित करके 'दक्षिणपंथी' संज्ञा को गाली बना डाला—इसे 'सुर-असुर' या 'देवासुर' जैसा झगड़ा ही मानना चाहिए। इस वामपंथी खेमे में एम० एन० राय की प्रसिद्धि उस युग में वैसी ही थी जैसी कि गाँधी की सन् '२० के आसपास थी। गाँधी ने सुदूर दक्षिण अफरीका में जाकर एक जन-आन्दोलन का नेतृत्व किया था तो एम०एन० राय ने मेक्सिको में जाकर कम्यूनिस्ट पार्टी और आन्दोलन खड़ा किया था। गाँधी ने अफरीका में 'टाल्सटाय-फार्म' की स्थापना कर मनीषी टाल्सटाय की मानवतावादी जीवन-दृष्टि से अपने को जोड़ा था तो राय ने उसी रूस के कर्णधार लेनिन से अपने सम्बन्ध स्थापित किये थे। उसके बाद गाँधी ने भारत आकर भारतीय राजनीति की बागडोर अपने हाथों में ली तो राय ने लेनिन के आदेश पर इन्टरनेशनल कोमिन-फार्म के एक सदस्य के रूप में मंगोलिया और चीन की वामपंथी कम्यूनिस्ट राजनीति अपने हाथों में ली। गाँधी की राजनीति का मूलाधार था मानवीय सहिष्णुता परन्तु कम्युनिष्ट राजनीति का मूल स्वर वर्ग-विद्वेष का था। प्रत्येक क्रान्ति का पराभव उसके चरम अभ्युदय के क्षण से ही आरम्भ होने लगता है। फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति उसी के नेताओं द्वारा भ्रष्ट हुई। रूसी क्रान्ति लेनिन के सामने ही अमानवीय होने लगी थी। सन '३० के आते-आते तक हत्या की यह राजनीति हमेशा के लिए एक लौह-कारागार में परिणत हो गयी—राज्य और पार्टी पर सर्वहारा के नाम पर स्तालीन का एकाधिकार हो गया। इसका नतीजा त्रातस्की की हत्या और राय के कम्यूनिस्ट आन्दोलन से हटने के रूप में सामने आया। त्रातस्की एक लम्बे निष्कासन के बाद अमरीकी महाद्वीप में मारे गये और राय सर्वथा भुला दिये गये। राय धीरे-धीरे कम्यूनिस्ट आन्दोलन से न केवल हटे ही परन्तु वह उसके पूर्णतः विरोधी हो गये और कालान्तर में मात्र एक बुद्धिजीवी का आत्मनिष्कासन भोगते हुए 'रेडीकल ह्यूमेनिस्ट' बनकर देहरादून तक सीमित रह गये। इस प्रकार मानव-मुक्ति की एक और राज्य-क्रान्ति अपने ही मानव-विरोधी सैद्धान्तिक कुचक्र मे फँसकर रह गयी। सर्वहारा,

की यह विश्व-क्रान्ति भी मानव-संहार के वैसे ही, बल्कि अधिक घातक, संहारक अस्त्र-शस्त्र बना रही है जैसी कि पूँजीवादी शक्तियाँ कर रही हैं। अपने समाज से, ध्येय से दूर हट जाने पर सत्ताएँ षड्यन्त्र-प्रधान हो जाती हैं और रूसी क्रान्ति भी इसका अपवाद नहीं है।

इस शती का आरम्भ ही रूस की जर्जर राजशाही व्यवस्था के विरुद्ध विभिन्न आतंककारी प्रवृत्तियों से हुआ था। आरम्भ में जार-साम्राज्य की शक्ति का खोखलापन जापान ने सिद्ध कर ही दिया था। रूस की जनता परम दुःखी थी। उस काल के लेखक, बुद्धिजीवी तथा प्रिन्स क्रोपाटकिन, तालसताय जैसे कुछ मानवतावादी सामन्त थे जो जार की साम्राज्यवादी निरंकुशता, लूट-खसोट और सामन्ती शोषण के विरुद्ध थे। इसी पृष्ठभूमि में प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान ही रूस में क्रान्ति हो गयी। सन् १९१५ से '३५ के दो दशकों में संसार के अधिकांश बुद्धिजीवी, राजनेता, विचारक मजदूरों की, सर्वहारा की इस रूसी क्रान्ति के प्रति आकर्षित हुए, प्रभावित हुए। भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना ताशकंद में १९२० में हुई। स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर और जवाहरलाल नेहरू भी इस क्रान्ति से प्रभावित हुए थे परन्तु एकमात्र जो जननेता, इस रूसी क्रान्ति से न केवल अप्रभावित ही नहीं रहा बल्कि इस प्रकार की सभी क्रान्तियों की मानवता विरोधी मूलभूत प्रकृति और संशय के दोमुँहे चरित्र को उनके चरमोत्कर्ष के दिनों में भी पहचान रहा था, वह व्यक्ति गांधी था। यह मात्र संयोग ही नहीं था कि सर्वहारा [illegible] प्रवक्ता, रूस का सर्वशक्तिमान डिक्टेटर स्तालीन और साम्राज्यवाद का ध्वजवाही [illegible]भी चर्चिल समान रूप से गांधी के परम विरोधी थे। वस्तुतः गांधी राजनीति का सपना लेकर नहीं आये थे, बल्कि वह जीवन का सपना देख रहे थे तभी तो यूरोपीय औद्योगिक प्रगति और विकास की चकाचौंध और त्वरागति के समानान्तर भारतीय ग्राम्य-प्रधान आर्थिक व्यवस्था पर आधारित कला-कौशल को यूरोपीय ढंग के औद्योगिक उत्पादन के रूप में नहीं बदलना चाहते थे। भारतीय समाज-व्यवस्था में मनुष्य की हैसियत केवल उत्पादक की ही न होकर एक कलाकार की सी रही है। और यूरोपीय ढंग अपनाने पर तो इन कोटि-कोटि मानवीय कलाकारों को मजदूर बनाना होता। जबकि गांधी इस प्राचीन व्यवस्था को जीवन्त के साथ-साथ मानवीय रचना, कृति एवं उपलब्धि बनाना चाहते थे। मजदूर उत्पादक हो सकता है पर सर्जक नहीं। भारतीय ग्रामीण कुम्हार सर्जक था, कभी किसी का मजदूर नहीं रहा। गांधी ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को पूरी समग्रता से पकड़ा था, जो कि—सभी प्रकार के राजनीतिज्ञों को असुविधा देता था। तभी तो गांधी न तो सर्वहारा का राज्य चाहते थे और न ही बहुमत का राज्य, क्योंकि वह मनुष्य और मनुष्य के बीच किसी भी प्रकार के राज्य और राजकीय व्यवहार को नहीं स्वीकारते थे। अपने को वह 'अनार्किस्ट' [illegible] कहते थे। इसलिए गांधी ने कभी नहीं चाहा होगा कि मनुष्य केवल राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करके रह जाए। उनका उद्देश्य था कि वह किसी भी प्रकार की निर्भरता या दासता न रख इसलिए जहाँ उन्होंने धर्म और मजहब का हस्तक्षेप नहीं [illegible] वहीं राज्य

को सीमित बनाने की बात तब तक के लिए कही जब तक कि मनुष्य स्वयं पूर्ण समाज ही न बन जाए। उन्होंने 'अनार्किस्ट' होने की जो बात कही उसका यही सन्दर्भ है। चूंकि औद्योगिक उत्पादन का आधार प्रतिस्पर्धा भी है फलतः उसमें रचनात्मकता या कलात्मकता का स्पर्श नहीं होता इसलिए गांधी पारम्परिक उत्पादन पद्धति में थोड़ा परिवर्तन चाहते थे परन्तु वह किसी भी प्रकार की प्रतिस्पर्धा के लिए न होकर व्यक्ति की, समाज की या राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होना है, अन्यथा मनुष्य एक दिन इस विपुल औद्योगिक उत्पादन का भी दास हो जाएगा। व्यक्ति में स्वेच्छया सामाजिक चेतना इतनी उदात्तता के साथ होनी चाहिए कि मानवीय व्यवहार में कानून की आवश्यकता ही नहीं रहे। जब इतनी नैतिकता मनुष्य में आ जाएगी तो ये राज्य, कानून, व्यवस्था सब अप्रासंगिक हो जाएँगे। व्यक्ति को कानून से नहीं नैतिकता से डरना चाहिए। समाज को व्यक्ति-प्रधान होना चाहिए और व्यक्ति को सामाजिकता से ओतप्रोत होना चाहिए। अर्जन, एक व्यक्ति की भाँति किया जाना चाहिए परन्तु उसके उपभोग में सबका हाथ होना चाहिए। गांधी ने भारतीय धर्म-दृष्टि के पीछे जो सामाजिकता का भाव था उसे पहचाना और अनुभव किया कि मार्क्सवाद की कमियों का उत्तर भारतीय धर्म-दृष्टि में है।

गांधीवाद और मार्क्सवाद में साध्यगत, पद्धतिगत और निष्कर्षगत साम्यताएँ हैं तो तात्त्विक अन्तर भी हैं। मानव-मुक्ति का प्रश्न, शोषणहीन समाज की रचना, निजी सम्पत्ति की विषमताएँ, मजदूर-मालिकों के सम्बन्ध आदि पर मार्क्स के स्पष्ट विचार हैं तो गांधी ने भी मनन किया है। दोनों अपने-अपने रास्ते सुझाते हैं। गांधी किसी भी प्रश्न और समस्या को मनुष्य की मूलभूत संरचना से अलग करके नहीं देखते अतः उनका मार्ग और निदान दोनों ही मानवीय होते हैं, परन्तु मार्क्स ने वर्षों के वैचारिक मन्थन के बाद समाज की जिन मूलभूत विषमताओं और बुराइयों को उनके कारणों के साथ प्रस्तुत किया उन्हें दूर करने के लिए कम्यूनिष्टों का तौर-तरीका नितान्त अमानवीय है क्योंकि वे उसे केवल आर्थिक या राजनीतिक ही मानते हैं। मनुष्य की वैयक्तिक सत्ता को वह केवल उत्पादन के छोर पर एक इकाई के रूप में ही मानते हैं परन्तु उस उत्पादन के फल, लाभ या भोग के समय उसके अवदान की विशिष्टता का कोई महत्त्व नहीं मानना चाहते। प्रगति या विकास का मूलाधार वे संघर्ष को मानते हैं जबकि भारतीय दृष्टि या गांधी सहयोग, सौहार्द्र या समरसता को मानते हैं। क्योंकि व्यक्ति तो मूर्त संज्ञा है, न कि समाज। व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना असंभव है पर व्यक्ति किन्हीं स्थितियों में समाज के बिना भी पहचाना तो जा ही सकता है। इसलिए व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है लेकिन इस महत्त्व का तात्पर्य यह नहीं कि वह निरंकुश है। गांधी जिस भूमि पर खड़े होकर यह प्रश्न उठाते हैं, उस भूमि पर सामाजिकता से ओतप्रोत एक व्यक्ति की मानवीय चिन्ता लगती है जबकि कम्यूनिष्ट जहाँ से खड़े होकर यह प्रश्न उठाते हैं, उस भूमि पर व्यक्तिगत आकांक्षाओं से लिप्त उन लोगों की चिन्ता लगती है जो अपने को एक वर्ग के नुमाइन्दे बनाकर इतिहास और

समाज के साथ अमानवीय व्यवहार करना चाहते हैं। गांधी की चिन्ता, एक भोक्ता की चिन्ता लगती है जबकि कम्यूनिष्टों की चिन्ता में भोक्तापन न होकर आक्षेप का भाव ही रहता है जैसे इन सामाजिक दोषों में वे कहीं नहीं हैं। वे तो केवल राजनीतिक पैगम्बर हैं। इसलिए क्रान्ति के दरम्यान और उसके बाद की पाबंदियाँ भी दूसरों के लिए हैं, उनके लिए नहीं। दोनों का यह अन्तर इस बात से और स्पष्ट हो जाता है कि गांधी ने सदा कानून, जो अमानवीय है, की अवज्ञा करने की बात कही है पर अपने पर जो नैतिक बन्धन लगा सकता है वही यह कर सकता है। उनका सविनय अवज्ञा-आन्दोलन करने वाला सत्याग्रही—नैतिकता से ओतप्रोत कानून तोड़ने वाला व्यक्ति होता था। समाज में कानून न हो तो गांधी को इसकी चिन्ता नहीं है अगर व्यक्ति में नैतिकता है। कम्यूनिष्ट, चूंकि समाज और व्यक्ति सबको केवल आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से ही देखते हैं अतः कानून पर ही रुक जाते हैं। कानून व्यक्ति के आचरण पर तो अंकुश लगा सकता है पर मन पर नहीं। जबकि सारे अच्छे-बुरे का कर्ता, मन होता है और मन पर अंकुश कानून से नहीं नैतिकता के द्वारा ही लगाया जा सकता है। इसीलिए क्रान्तियाँ, सदुद्देशीय होने के बाद भी निरर्थक हुई हैं। इसीलिए गांधी, व्यक्ति, समाज आदि सबको राजनीति से आगे ले जाकर देखना चाहते हैं, जबकि कम्युनिष्टों के लिए नैतिकता की कोई महत्ता ही नहीं है। गांधी इस खतरे से पूर्ण अवगत थे कि यदि समाज और क्रान्ति को सिर्फ कानून के हवाले कर दिया गया तो वह व्यवस्था कारागार का ही दूसरा स्वरूप होगी। गांधी ने उत्पादन के अमानवीय औद्योगीकरण का इसी अर्थ में विरोध किया था कि समाज में तब स्रष्टा भाव वाले व्यक्ति कहीं नहीं रह जाएँगे, उस समय तब केवल भयाक्रान्त, दृष्टिहीन राज्य और व्यवस्था के गुलाम मजदूर ही रह जाएँगे। गांधी, किसी भी प्रकार की सत्ता को उसके केन्द्र से हटाकर परिधि की ओर ले जाने के पक्ष में थे जबकि मार्क्सवादी सभी प्रकार की सत्ता का केन्द्रीकरण चाहते हैं। केन्द्रीकरण से नियन्त्रण में सुविधा होती है। गांधी इसके विरोधी थे। वह राज्यानुशासन के बजाय आत्मानुशासन के पक्षधर थे। एक ही प्रश्न को दो सर्वथा भिन्न ध्रुवों से देखने के कारण यह कहना बहुत गलत नहीं होगा कि नैतिक मार्क्सवाद, गांधीवाद है और कानूनी गांधीवाद मार्क्सवाद है। इसलिए कम्यूनिस्टों को सबसे अधिक खतरा गांधी से लगना स्वाभाविक ही था। इसलिए कम्यूनिस्ट स्वाधीनता-आन्दोलन के सारे समय किनारे खड़े अवसर की ताक में रहे। प्रस्तावों, अखबारों में स्टेटमैण्ट आदि देकर गांधी का विरोध करते रहे परन्तु इतने बड़े और लम्बे समय तक चलने वाले स्वाधीनता-आन्दोलन में कम्यूनिस्ट-पार्टी के सहयोग की कोई भूमिका नहीं रही, हाँ मौका पड़ने पर वह उसके विरोध में अवश्य गयी। क्योंकि उसकी समझ में उसमें सहयोग देने का अर्थ गांधी को सहयोग देना होता।—वैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भी गांधी के रचनात्मक कार्यक्रमों में रुचि ही नहीं बल्कि सहमति भी नहीं थी क्योंकि वह भी जवाहरलाल नेहरू की तरह रूसी क्रान्ति की चमक से प्रभावित थे परन्तु मार्क्सवाद के अमानवीय पक्ष को नहीं पहचान पाये थे। जवाहरलाल

नेहरू, न अपनी शिक्षा, न अपने संस्कारों, न अपनी रुचियों किसी से भी गांधीवाद से सहमत हो ही नहीं सकते थे परन्तु यह उस व्यक्ति की विवशता थी कि राजनीतिक आकांक्षा ने छद्म व्यवहार करने के लिए बाध्य किया। वह मानसिकता में चर्चिल के निकट थे पर छवि से वह लेनिन दिखना चाहते थे जबकि उन्हें व्यवहार गांधी से करना पड़ा, इसीलिए गांधी के देहावसान के बाद गांधीवाद को पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ पुरातत्वी वस्तु बना देने में जवाहरलाल नेहरू को एक क्षण के लिए भी संकोच नहीं हुआ।

तीस का दशक आरम्भ होने के दो-तीन वर्षों के बाद ही यूरोप में दो प्रकार की तानाशाहियाँ उभरीं—एक तो हिटलर-मुसोलिनी वाली तो दूसरी सर्वहारा क्रान्ति के तानाशाह स्तालीन की। इन तानाशाहियों के शक्ति बन जाने पर गांधी के अलावा राजनीतिक पार्टियों और राजनेताओं के चरित्र उजागर हो उठे। गांधी का अनपेक्षा-वाला अनासक्त व्यक्तित्व ही एकमात्र त्राता लग रहा था। अंग्रेजों को भी खासी परेशानी होने लगी थी क्योंकि गांधी इस देश के राजनीतिक नेता ही नहीं थे बल्कि वह तो देश के नैतिक-पुरुष हो गये थे। कोई व्यक्ति अपनी धारणाओं, मान्यताओं के लिए कितनी विकट परीक्षा देकर एकाकी बनकर खड़ा रह सकता है, इसका प्रमाण गांधी थे। असाधारण रूप से विकट साधारणता कितनी अजेय होती है यह उस युग में गांधी प्रमाणित कर रहे थे, सन् २० से ३० के दशक में अनाम मोहनदास करमचंद गांधी, गांधी से 'कर्मवीर गांधी' के रूप में ख्यात हुए, और इस प्रक्रिया में उन्होंने अपना नाम, भूषा, प्रादेशिकता भी क्रमशः उतार फेंकी। साथ ही हर उस विचार, धारणा, परम्परा और मान्यता का भी विरोध एवं परित्याग किया जिसे पूरे भारतीय सन्दर्भ मे नहीं स्थापित या व्यवहृत किया जा सकता था। प्रायः गांधी का नाम बुद्ध के साथ लिया जाता है परन्तु दोनों में तुलना करना उचित नहीं। बुद्ध, धर्म पर जाकर ठहर गये थे और अपने को अभिव्यक्त एवं प्रस्थापित करने के लिए बुद्ध ने राज्य और व्यवस्था का सहारा लिया था जबकि गांधी की दृष्टि समग्र जीवन पर थी और इसके लिए वह अपने हर आन्दोलन मे राज्य, व्यवस्था और अपने सम्भ्रान्त समकालीनों के भी विरुद्ध जाकर जनता के बीच गये हैं। इसलिए गांधी और बुद्ध भी भिन्न धरातल पर हैं। एक ही दशक में गांधी, व्यक्ति से किवदन्ती बन गये। जेल में गांधी से मिलने जब वाइसराय गये तो जन-मानस में इस घटना ने जो ख्याति प्राप्त की वह यह थी कि जेल की उस कोठरी में वाइसराय को अपने चारों ओर गांधी

ही गाँधी दिखलायी दिये। उन दिनों घर-घर में यह किंवदन्ती, चित्रों के रूप में टँगी रहती थी। इसी दशक में गांधी, व्यक्ति से समाज बन गये थे। लोगों की दृष्टि में वह नेता नहीं देवता बन गये थे, कि जिसके चरणों की धूल से अंधों को नेत्रों की ज्योति मिल जाती है, जिसे लगाने से चर्मरोग नहीं होते। भारतीय जन-मानस बड़े से बड़े सम्राट के प्रति भी उदासीन रहता है, पर जब भी किसी पर आस्था करता है तब उसकी सुगन्ध की, पवित्रता की एक टहनी अपने घर में भी ले आता है। घर-घर में गांधी के चित्र, गंगाजली में सहेजे गंगाजल की ही भाँति पवित्र हो चले थे, और जिस दिन राजा-महाराजाओं और अंग्रेजी सम्राट के प्रतिनिधि गौरांग महाप्रभु वाइसराय की उपस्थिति में काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के स्थापना-दिवस पर अपने व्यक्ति होने की पहचान कराने वाली काठियावाड़ी वेश-भूषा उतार कर फेंक दी और अनाम साधारणता का वरण किया, उस दिन से भारतीय जन-मानस ने अपनी कजरियों में, फागों में, रसियों में, पुआड़ों में, अभंगों में, गीतों में गाँधी को भारतीय मात्र की नियति मान लिया।

दक्षिण अफरीका से भारत आने पर आरम्भ में उन्हें अपने कार्यक्षेत्र की तलाश थी। बिहार के चम्पारन में वह नील की खेती और कुलियों की भर्ती के सवाल पर आरम्भिक आन्दोलन करके देख चुके थे परन्तु अभी भी उन्हें कार्यक्षेत्र की तलाश करनी थी। साबरमती-आश्रम की स्थापना उन्होंने अपने को समग्र और पूर्ण साधारण बनाने के लिए तो की ही थी परन्तु भारतीय राजनीति जो अभी बड़े शहरों की ही चीज थी उसे वह वहाँ से निकालकर देहातों-कस्बों तक पहुँचाना चाहते थे अतः इसके लिए अपने को भी देहातों के बीच ले जाना आवश्यक था। चुनाव का यह केवल प्रथम चरण था। साबरमती से वह सम्पूर्ण भारत को सम्बोधित नहीं कर सकते थे।

दक्षिण भारत चुनने में अनेक कठिनाइयाँ थीं। इतिहास में दक्षिण भारत को न तो कभी केन्द्रियता प्राप्त हुई और न ही समूचे भारत के इतिहास पर उसका कोई प्रभाव रहा। इसके अलावा भौगोलिक और मध्ययुगीन अविकसित परिस्थितियों के कारण भाषा तथा कई बातों में उत्तर और दक्षिण में भिन्नता रही। कोई भी जनव्यापी आन्दोलन और राजनीति जनभाषा के द्वारा ही सम्भव है। पूरे दक्षिण में ऐसी कोई एक भाषा नहीं है जिसके द्वारा कम से कम दक्षिण भारत को ही सम्बोधित किया जा सकता था परन्तु उत्तर भारत में यह हिन्दी के द्वारा किया जा सकता था। इस तथ्य ने भी गाँधी को दक्षिण के बजाय उत्तर की ओर मोड़ा। उत्तर भारत में

महाराष्ट्र और बंगाल सबसे अधिक जागरूक प्रदेश थे। बंगाल के पास भारत की राजधानी ही थी और महाराष्ट्र के पास समुद्र का प्रवेश-द्वार था। यदि कलकत्ता पूर्वीय देशों के लिए गवाक्ष था तो बम्बई पश्चिमी देशों के लिए खिड़की था। परन्तु तब भी इनकी मानसिकता को सन्तुलित नहीं कहा जा सकता था। शिवाजी और पेशवाई कालीन राज्याकांक्षा ने महाराष्ट्रियों को उग्र राष्ट्रवादी बना रखा था। अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा के बावजूद वे इतिहास को अपनी मध्यकालीन समझ से बाहर नहीं निकल पा रहे थे। बंगाल की उग्रता किसी ऐतिहासिक प्रक्रिया और समझ से नहीं उत्पन्न हुई थी। स्थानीय और तात्कालिक बंग-भंग ही एकमात्र कारण था और काफी सीमा तक अंग्रेजों ने उस पर काबू भी पा लिया था। इसके लिए अंग्रेजों ने तीन काम किये—एक तो यह कि कलकत्ता से अपनी राजधानी ही हटा ली। दूसरे बंगालियों को 'बाबू' बनाकर प्रशासन में हिस्सेदारी दी और तीसरे रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबल-पुरस्कार दिलवाया। वस्तुतः यह पुरस्कार रवीन्द्रनाथ को नहीं था, बंगाल प्रदेश को था जिसने अंग्रेजों की नींद हराम कर रखी थी। इसका नतीजा भी वांछित ही निकला कि बंगाल अपने को शिक्षा, ज्ञान और कला-साहित्य में शेष भारत से पचास वर्ष आगे समझने लगा क्योंकि कलकत्ता विश्वविद्यालय ही उस समय एकमात्र विश्वविद्यालय था। बंगाल की अजीब स्थिति हो गयी कि वह अंग्रेजों का पिट्ठू भी बना रहना चाहता था और राजनीति में क्रान्तिकारी भी। पर एक बात हमेशा के लिए बंगालियों के मन में बैठा दी गयी कि वे पहले बंगाली हैं, भारतीय बाद में। और आज तक बंगाल इसी रोगी मानसिकता से आक्रान्त है।—जहाँ तक पंजाब और सीमाप्रान्त का प्रश्न था तो ये प्रदेश भारत की भौगोलिकता एवं इतिहास की दृष्टि से परिधि के सिरे पर थे, वे केन्द्र न कभी थे और न हो ही सकते थे। अतः एकमात्र हिन्दी प्रदेश का ही विशाल, हर दृष्टि से असन्तुलित ऐसा भू-भाग बचा रहता था जिसे गाँधी अपना कार्यक्षेत्र बना सकते थे।

हिन्दी प्रदेशों की भौगोलिक स्थिति, ऐतिहासिक घटनाओं और धार्मिक केन्द्रों तथा तीर्थों ने एक तो उन्हें अनादिकाल से प्राधान्य दे रखा था, जिसके कारण वे स्वयं कभी प्रादेशिक नहीं हो पाये। प्रादेशिकता न उभर पायी की हानि यह हुई कि क्षेत्रीयता के स्थान पर मध्ययुगीन जाति-भावना की जकड़ यहाँ सबसे विकृत रूप में उभरी। हिन्दी प्रदेशों में राजस्थान, मालवा, विन्ध्य, नीमाड़ और छत्तीसगढ़ के क्षेत्र राजों-महाराजों, ठाकुरों-सामन्तों की मध्यकालीन दृष्टि और व्यवस्था के शिकार रहे; हाँ, केवल गंगा-यमुना का सुदीर्घ मैदान ही बचता था जिसे कार्य-क्षेत्र बनाया जा सकता था। और अन्तिम चुनाव करने के पूर्व बिहार का उनका जन-आन्दोलन पृष्ठभूमि में था ही।

गाँधी ने जब गंगा-यमुना का मैदान अपने कार्य-क्षेत्र के लिए चुना तो उन्हें इस क्षेत्र की उन सारी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और ऐतिहासिक विषमताओं, जड़ताओं और विरोधाभासों को भी उठाना पड़ा जो सदियों से यहाँ के जन-जीवन में

आस्थाओं, मान्यताओं, परम्पराओं और कुण्ठाओं के रूप में व्याप्त थीं। मानसिकता के स्तर पर यह मैदानी प्रदेश क्रियाहीन तो था ही, प्रतिक्रिया भी कहीं नहीं थी। इस विशाल मैदानी प्रदेश में बड़े राजा तो नहीं थे परन्तु बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ, ताल्लुकदारियाँ, नवाबियाँ थीं जिसके कारण यहाँ की समतलता में गाँठें जैसी लगती थीं। यहाँ या तो लोग ताल्लुकेदार थे या बँधुवा मजदूर, या तो पण्डित थे या निरे मूढ़, या तो चालाक और अवसरवादी थे या निरे भोले, अन्धविश्वासी। अपने गाँव से कोस भर की दूरी पर ही उन्हें 'परदेस' ही लगता था तब भला पूरे राष्ट्र की परिकल्पना इन्हें क्या हो सकती थी?...पता नहीं यदि गांधी ने किसी कारणवश उत्तर के बजाय दक्षिण-भारत को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया होता तो भारतीय राजनीति उस राजनीति से निश्चित ही भिन्न होती, जो गंगा-यमुना के मैदान के कारण बनी।

आज जिसे हम इतिहास कहते हैं, कल वही राजनीति था। इसलिए इतिहास के बीतने की प्रक्रिया में ऐतिहासिक व्यक्ति, वह युग भले ही मंच पर से तिरोहित हो जाते हों परन्तु उस काल की वे वृत्तियाँ, प्रवृत्तियाँ, राग-द्वेष और कारण—बहुत बाद तक भी, तब तक बने रहते हैं, जब तक कि उनमें से नई वृत्तियाँ, प्रवृत्तियाँ और कारण जन्म नहीं ले लेते। इस प्रक्रिया में जितना इतिहास नहीं बीत पाता है, वह उतना ही राजनीति बनकर जीवित रहता है और जितनी राजनीति क्रियान्वित होकर सफल हो जाती है, वह इतिहास बन जाती है। समाज न कभी पूर्ण था और न हो ही सकता है। जो ऐसा नहीं मानते हैं वे या तो भोले हैं या चालाक हैं। समाज की अपूर्णता से जाग्रत व्यक्ति की टकराहट यदि तात्विक होती है तो वह धर्म होती है, परन्तु यदि वह लौकिक मूल्यगत है तो वह इतिहास होती है। वैसे मूल्यवत्ता के कई स्तर होते हैं, लेकिन इतिहास की प्रकृति और अन्तिम निष्पत्तियों से तय हो जाता है कि व्यक्ति की टकराहट तात्विक यदि नहीं थी, तो लौकिक मूल्यगत ही थी। बल्कि यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह मूल्यवत्ता सामाजिकता से उद्भूत थी अथवा वैयक्तिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए थी। उदात्त व्यक्ति की सामाजिक या ऐतिहासिक जड़ता से टकराहट ही उसे बुद्ध, ईसा या गांधी बनाती है और आत्मनिष्ठ व्यक्ति की सामाजिक या ऐतिहासिक जड़ता से टकराहट उसे चंगेज, तैमूर, गजनवी, हिटलर या स्तालीन बनाती है। इतिहास और राजनीति की प्रकृति और गति के स्वरूप निर्धारण में टकरानेवाले व्यक्ति की संकल्प-शक्ति निर्धारक तत्व होती है। यदि वह संकल्प-शक्ति परमार्थी है तो इतिहास और समाज दोनों का कल्याण होता है लेकिन यदि वह केवल अपने को ही केन्द्र मानकर आत्मनिष्ठ

समाज, इतिहास के मूल्यों और सत्ता तक को भ्रष्ट कर देती है। साथ ही विनाशकारी ऐसी वर्णसंकरता, व्यवस्थागत ऐसी अराजकता उत्पन्न होती है कि सदियों तक के लिए इतिहास की गति अवरुद्ध हो जाती है और पूरी जाति अस्मिताहीन हो जाती है। कई सभ्यताएँ, जातियाँ टकराहट की इस प्रक्रिया में भ्रष्ट हो गयीं, विलीन हो गयीं और विस्मृत कर दी गयीं। इतिहास की गति, न तो आक्रामक को, न आक्रान्ता को किसी को क्षमा नहीं करती।

व्यक्ति की ऊर्जा जहाँ इतिहास को नियन्त्रित करती है वहाँ भौगोलिक परिस्थितियाँ भी बहुत बड़ा रोल अदा करती हैं। रोटी और पानी की तलाश रेगिस्तान के इस्लाम को जहाँ एक ओर स्पेन तक ले गयी वहाँ दूसरी ओर उसे इण्डोनेशिया तक भी ले गयी। बुभुक्षित मनुष्य कितना पाशविक, मूल्यहीन, मानवता से शून्य और दुर्दान्त हो सकता है इसका प्रमाण विश्व-इतिहास में भरा पड़ा है। भारत की, उसमें भी विशेषकर गंगा-यमुना के विशाल मैदान की गर्म जलवायु का प्रभाव इस्लाम पर भी पड़ा। बाहर से आनेवाले सारे आक्रमणकारी—मंगोल, हूण, अरब, तुर्क, अफगान जब राज्य और वैभव के लालच में यहीं बस गये तब उन पर भी दो प्रकार के प्रभाव पड़े। गर्म जलवायु ने उनके रहन-सहन, खान-पान पर प्रभाव डाला तो भारतीय समाज की वैचारिक जलवायु ने उनकी मानसिकता पर भी प्रभाव डाला। समरसता-स्थापना की इस प्रक्रिया में पहले कई जातियाँ भारतीय समाज में एकाकार हो गयीं और भारतीय समाज तथा चिन्तन को समृद्ध भी किया परन्तु मध्य-एशिया से आये इस्लाम के साथ यह समरसता स्थापित नहीं हो पायी। इसमें मुस्लिम-सभ्यता का अपना कट्टरपन तो था ही पर सबसे अधिक समस्या यहीं के जो लोग धर्म-परिवर्तन के बाद जो बलात् मुसलमान बना दिये गये थे, उनके कारण ज्यादा हुई। जिस लालच और भय के कारण वे इस्लाम में पहुँचे थे उसकी पूर्ति नहीं हो पायी। आर्थिक विपन्नता यथावत रही फलतः उनमें हीनग्रन्थि तीव्रतर होती गयी। चूँकि उनमें अधिकांश निम्न जाति के वे हिन्दू थे, जो मध्ययुगीन जातीय व्यवस्था से पीड़ित हुए थे इसलिए जब वे उस युग के शासकों के धर्म में चले गये तो एक सन्तोष तो उन्हें यह हुआ कि उन्होंने हिन्दू शोषकों से बदला ले ही लिया। चूँकि शासक भले ही मुसलमान थे पर समाज की व्यवस्था में, व्यापार में हिन्दुओं का ही वर्चस्व था अतः वे अपनी आर्थिक विपन्नता का दोष भी हिन्दुओं पर ही मढ़ने लगे। उनका सदियों पूर्व का जातिगत और आर्थिक आक्रोश सम्पूर्ण विद्वेष में बदल गया, और फलतः धर्म, दर्शन, समाज, साहित्य, कला, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में उनका दृष्टिकोण गैर समझौतावादी हो गया। 'सुलह-कुल' जैसी आकांक्षाएँ किसी एक की उदार आकांक्षाएँ बनकर ही रह गयीं। कल तक के अपने हिन्दू-कुल, मूल, आस्था सभी के प्रति ये अरबों, तुर्कों, अफगानों से कहीं ज्यादा कटु, कट्टर और निर्मम विरोधी हो गये। वस्तुतः यह एक प्रकार की विस्थापित-मानसिकता थी, जिसे समय-समय पर सभी प्रकार की राज्य-सत्ताएँ अपने लिए उपयोग में लाती हैं। धर्मान्तरण कर लेने से उन्हें अर्थलाभ नहीं हुआ, उल्टे वे अपने मूल से ही उखड़ गये और आस्था तक के लिए

परोपजीवी होना पड़ा। मुसलमानों के संदर्भ में ही पहली बार भारतीय दार्शनिक चिन्तन की उदारता और व्यवहार में जातीयता की अमानवीय संकीर्णता का द्वैत सबसे मुखर रूप में दिखलायी दिया। वैचारिक उदारता के बावजूद आचरण की संकीर्णता का दण्ड हिन्दुओं को इतिहास ने भी दिया और आज की राजनीति भी देती चली जा रही है। भारतीय सहिष्णुता, समरस-दर्शन और जीवन-दृष्टि के विरुद्ध तो इस्लाम के पास कोई वैचारिकता नहीं थी परन्तु हिन्दू समाज की आचरणगत, व्यवस्थागत संकीर्णता के विरुद्ध ही उन्होंने इस्लामी समाज को रखा। यदि एक पूरक समाज-व्यवस्था या जीवन-दृष्टि के रूप में इस्लाम को रखा होता तो हिन्दू-मुसलमान दोनों का ही भला हुआ होता। ऐसा न कर उन्होंने केवल आक्रामक अस्वीकृति तथा गैर समझौतावादी असहमति को निरन्तर बनाये रखा। इस्लाम में भी सहिष्णुता है, अहिंसा न सही तो एक प्रकार की समझ भी है। धर्म की ये उदात्तताएँ भुलाकर इस्लाम को यहाँ की विकृत सामाजिक परिस्थितियों में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया कि इस धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्या का निदान न गांधी की हत्या से निकल पाया और न देश के विभाजन से। शायद अस्वीकृति से ही अपनी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक सत्ता एवं स्थिति बनाये रखने का कुतर्क दोनों जातियों को किस गर्त में ले जायेगा, कौन कह सकता है ?

भारतीय भौगोलिक परिस्थिति में अस्वीकृति की इस मानसिकता के दो परिणाम सामने आये। दिल्ली महाभारत-काल से ही विभिन्न नाम और संज्ञा ग्रहण करते हुए निरन्तर शक्ति-पीठ रही है। विन्ध्या और सतपुड़ा के मध्य में आ जाने से उत्तर और दक्षिण का भारतीय विभाजन सभी क्षेत्रों में स्पष्ट है। जिसे भारतीय इतिहास कहा जाता है वस्तुतः वह उत्तर भारत का है, दक्षिण तो प्रसंगवशात ही है। इस दिल्ली का सभी प्रकार का दबाव स्पष्ट रूप में दक्षिण में महाराष्ट्र, पश्चिम में गुजरात-राजस्थान और पूर्व में बंगाल-बिहार तक सीधा पड़ता है। दिल्ली के उत्तर से चूंकि आक्रमणकारी सदा पंजाब-कश्मीर लांघते हुए आये इसलिए इन दोनों प्रदेशों ने अपनी अस्मिता बहुत पहले ही खो दी। दिल्ली में जब संसार की सबसे बड़ी मुस्लिम बादशाहत स्थापित हो गयी और मुस्लिम धार्मिकता का दबदबा जब क्रमशः बढ़ने लगा तो पूरे भारत में, विशेषकर उत्तर भारत में वैचारिक प्रतिरोध की स्थिति उत्पन्न हुई। यह मात्र संयोग नहीं था कि शंकराचार्य से लेकर वैष्णव भक्ति के चारों आचार्य दक्षिण ने दिये। उत्तर भारत ने तो इस भारतीय वैचारिकता को अपनी आस्था और वाणी दी। सारा भक्तिकाल इस्लाम की कट्टरता के विरुद्ध भारतीय अस्मिता के वैचारिक प्रतिरोध का प्रतिफल था। भक्ति की इस उदात्त संचेतना का इस्लाम पर भी प्रभाव पड़ा। सूफियों और फकीरों के माध्यम से इस्लाम की कट्टरता ने भी इसे किसी हद तक सुना। जायसी, रहीम, रसखान जैसे सैकड़ों मुसलमान कवियों ने इस मानवीय उदात्त उत्सव में सृजनात्मक रूप से हिस्सा लिया, परन्तु कट्टरता तब भी बनी रही। इसका लाभ यह हुआ कि दिल्ली के सीधे दबाव वाले उत्तर भारत में धर्म-परिवर्तन तो कम ही हुआ

परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से, सामाजिक आचार-विचार की दृष्टि से तथा भाषा की दृष्टि से मध्यकालीन जड़ताओं से ग्रसित और सामाजिक, जातिगत व्यवस्थाओं से त्रस्त हिन्दू समृद्ध होने से अधिक वह अस्मिताहीन हो गया। उसकी स्थिति यह हो गयी कि संकीर्ण वह बना नहीं रह सकता था और उदारता की तमीज ही नहीं थी। यहाँ के हिन्दुओं और मुसलमानों में केवल संज्ञाओं का ही भेद रह गया। पर इससे लाभ किसी को नहीं मिला क्योंकि यह तात्विक अभेदता नहीं थी। इससे मूल्यगत विघटन भी आया। इस प्रक्रिया में हिन्दू ने केवल खोया ही और मुसलमान समाज सूफियों-फकीरों की उदारता के बावजूद उत्तरोत्तर कट्टर होता गया क्योंकि वह हिन्दू समाज की आधारभूत कमजोरी पर निरन्तर आघात करना चाहता था ताकि उनकी वैचारिक उदारता को नजर अन्दाज किया जा सके। सूफियों-फकीरों की उदारता, जो प्रकारान्तर से हिन्दू-प्रभाव माना जाता था, का मुस्लिम समाज पर कोई प्रभाव न पड़े इसके लिए मुल्लाओं ने धर्म के क्षेत्र में और नवाबों-ताल्लुकेदारों ने राजनीति के क्षेत्र में इतनी जकड़बन्द कर दी कि साधारण मुसलमान विचार कर सकने की स्थिति से ही वंचित हो गया—वह व्यक्ति भी नहीं, केवल मुसलमान है—की असहनीय स्थिति उत्पन्न कर दी गयी। इस भू-भाग का हिन्दू, धर्म की दृष्टि से नाम मात्र को फूहड़ तरीके से हिन्दू रह गया और भाषा से वह भी मुसलमान हो गया। इस विषमता का नतीजा यह हुआ कि यहाँ के हिन्दू शेष भारत के हिन्दुओं से अनेक मामलों में अलग पड़ गये। सबसे दिलचस्प स्थिति तो यह रही कि दिल्ली के प्रभाव से जो प्रदेश जितने ही दूर थे, जैसे असम, बंगाल, केरल आदि, वहाँ शायद उत्तर भारत से कहीं अधिक धर्म-परिवर्तन हुआ परन्तु भाषा की दृष्टि से वे मुसलमान, हिन्दू ही बने रहे। निष्कर्ष यह कि भारत भर में इस्लाम का प्रभाव या तो धर्म के स्तर पर हुआ या भाषा के स्तर पर। यदि असम, बंगाल, केरल धर्म की दृष्टि से मुस्लिम बहुल प्रदेश हुए तो भाषा की दृष्टि से हिन्दी प्रदेश मुस्लिम बहुल प्रदेश बने। किसी भी धर्म, संस्कृति या सभ्यता के वैचारिक वाहक या प्रवक्ता उसके मिथक चरित्र होते हैं। चूँकि इस्लाम के पास कभी मिथक चरित्र नहीं रहे इसलिए इण्डोनेसिया पहुँचकर तो यह स्थिति हो गयी कि धर्म से मुसलमान होने पर भी उसके मिथक चरित्र और पुरुष गैर-इस्लामी रहे। अब वहाँ इसके विरुद्ध जेहाद आरम्भ हो गया है।—जिस प्रकार हिन्दी प्रदेश नाम मात्र को हिन्दू रह गये थे उसी प्रकार नाम मात्र को इण्डोनेसिया मुसलमान बना था।

गंगा-यमुना के मैदानी हिन्दी प्रदेश की मनोवृत्ति, मानसिकता शेष भारत से भिन्न होने के कारण गांधी ने जब इस क्षेत्र को अपना क्षेत्र, आधार बनाया तो गांधी की मानसिकता और राजनीति दोनों में परिवर्तन आया। कांग्रेस के नरम-दल का प्रमुत्व इसी क्षेत्र में था और इसकी राजनीति मुसलमानों को तुष्ट रखनेवाली राजनीति थी—इसे एक राष्ट्रीय संकट के रूप में शायद गांधी उसी समय नही समझ सके। तुष्ट करने ालो राजनीति का हमेशा के लिए यह दुष्परिणाम निकला कि खुले रहने के नाम पर हिन्दू समाज; यदि कोई रहा हो तो, क्योंकि हिन्दुओ में तो व्यक्ति होते है समाज नहीं, बिखरता चला गया और मुसलमान समाज उत्तरोत्तर एक बन्द समाज होता चला गया। बन्द समाज होने का लाभ यह था कि राजनीतिक सौदेबाजी मे आसानी होती है। —गांधी की इस समझ का दुष्परिणाम स्वयं उन्हे भी भोगना पड़ा कि एक व्यक्ति के रूप में तो वह भारतीयता के ही नही बल्कि समस्त मानवता के प्रतीक-पुरुष लगते हैं पर एक राजनीतिज्ञ के रूप मे हिन्दी प्रदेशो की तुष्टिवाली राजनीति के केवल प्रवक्ता बनकर रह जाते है। मुसलमान, अंग्रेज और इस तुष्टिवाली राजनीति के चक्रव्यूह से वह बाहर नहीं ही निकल पाये।

तो क्या गांधी इस तुष्टिवाली राजनीतिक विषमता को नही समझ सके थे? गांधी जैसा चैतन्य व्यक्ति, आस्थागत और आचरणगत इस द्वैत को नहीं समझ सका, कहना गांधी की प्रतिमा को न जानना होगा। किसी निर्णय पर पहुँचने के पहले उस व्यक्ति की आधारभूत कठिनाइयों को भी जान लेना चाहिये। तिलक की मृत्यु के बाद उस काल की प्रादेशिक मनोवृत्ति और राजनीति के बीच राष्ट्रीय स्तर के एक सेतु-व्यक्तित्व को आवश्यकता उन्होने भी अनुभव की। उस काल के सारे प्रादेशिक नेताओं की सीमाओ को भी वह तिलक के निधन के बाद समझ गये थे। यदि उस स्थिति में वह केवल गुजरात को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाकर चलते तो वह भी एक प्रादेशिक नेता बनकर रह जाते अतः बाहर निकलने पर जब पूरे देश की मनोरचना पर दृष्टिपात किया तो उन प्रदेशों की सीमाएँ भी उजागर हुई अतः उन्हें गंगा-यमुना का प्रदेश ही केन्द्रीय लगा। और इस क्षेत्र के सबसे बड़े नेता मोतीलाल नेहरू थे। मोतीलाल नेहरू प्रमुख रूप से वकील थे पर नरम-दल के नेता भी थे। गांधी, राजनीतिक-स्वभाव से तो नरम-दल के नहीं थे परन्तु अपनी प्रकृति से सौम्य थे। वैचारिक उग्रता का उनके निकट कोई अर्थ नही था। चूंकि एक समय गोपालकृष्ण गोखले भी नरम-दल में ही थे अतः इस दल के साथ थोड़ी निकटता अनुभव हुई। गोखले की मृत्यु के बाद इस दल पर मोतीलाल नेहरू का वर्चस्व था अतः गांधी मोतीलाल नेहरू के सम्पर्क में आये।

देश और देश की राजनीति निरन्तर गरमा रही थी। कांग्रेस में भी उग्र तत्व प्रबल हो रहे थे। राजनीति के स्वरूप और आचरण में मूलभूत परिवर्तन हो रहे थे। सुविधा की राजनीति समाप्त हो रही थी। क्रांतिकारिता जिस प्रकार मुँहफट और दुस्साहसी हो रही थी उससे मोतीलाल नेहरू जैसे उच्चवर्गीय नेता लोग त्रस्त थे परन्तु इस विषम स्थिति का कोई समुचित राष्ट्रीय विकल्प प्रस्तुत कर सकना इन जैसे सुविधा-

भोगी नेताओं की मेधा से परे था। ऐसे नेता वाइसराय से तो बातें कर सकते थे परन्तु अपनी जनता से बातें करने के लिए उनके पास न तो भाषा ही थी और न ही कोई राजनीतिक दृष्टि। वकालत के साथ सगे हाथ ही राजनीति थी। स्थिति जैसी थी उसमें यथास्थिति भी नहीं रह सकती थी परन्तु राजनीति की बागडोर भी अपने हाथों से वह जाने नहीं देना चाहते थे। अंग्रेज सरकार जिस प्रकार कांग्रेसी आन्दोलनों पर लाठियाँ चला रही थी, निहत्ये सत्याग्रहियों पर जेलों में जुल्म ढा रही थी तथा क्रान्तिकारियों को बीन-बीन कर साफ करती जा रही थी उसमें राजनीतिक निष्क्रियता का कोई अर्थ नहीं रह गया था। अब राजनीति व्यक्ति से संकल्प, समय और मूल्य सभी चाह रही थी जबकि मोतीलाल नेहरू जैसे व्यक्ति के लिए इन तीनों बातों के लिए समय ही नहीं था।—इधर उन्हें अपने पुत्र जवाहरलाल नेहरू की भी चिन्ता थी, जो विलायत से पढ़कर, यूरोपीय राजनीति की आबोहवा से परिचित और प्रभावित होकर कुछ स्वप्न और कुछ तेवरों के साथ लौटा था। अगर किसी भी दिन पुत्र इस परिवर्तित राजनीति में कूद पड़ता है, तो क्या होगा? तत्कालीन आन्दोलन प्रधान राजनीति में यदि जवाहर भी कूद पड़ा तो उस भीड़ में पुत्र का संरक्षण कौन करेगा? वह तो मुकदमे की पैरवी छोड़कर जाने से रहे। तब?....इस संकल्प-विकल्प के समय ही असहयोग-आन्दोलन के प्रणेता, विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलवा कर जनता में स्वदेशी की मानसिकता तैयार करने वाले 'कर्मवीर गांधी' से परिचय हुआ। कलकत्ता-कांग्रेस में जिसने अपनी बात मनवा कर छोड़ी, जिसके कारण एनीबेसेंट और जिन्ना को अलग होना पड़ा, ऐसा व्यक्ति साधारण नहीं हो सकता। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के स्थापना-दिवस पर जैसा आचरण किया वह व्यक्ति राजनीतिज्ञ भी नहीं हो सकता। मोतीलाल नेहरू जैसे कानूनी पेंचीदगियों के माहिर व्यक्ति का भी नितान्त साधारण से लगने वाले व्यक्ति पर सहसा विश्वास तो नहीं हुआ होगा कि इस व्यक्ति को पुत्र का संरक्षण सौंपा जा सकता है। वैसे यह बहुत असम्भव भी नहीं है कि आरम्भ में नरम-दल के नेता, प्रमुख वकील मोतीलाल नेहरू को गुजरात के किसान जैसा व्यक्ति मोहन दास करमचंद गांधी मात्र एक राजनीतिक मोहरा लगे हों कि जिसे मौका पड़ने पर वे कांग्रेसी गरम-दल और क्रान्तिकारियों की आतंकवादी नीतियों के विरुद्ध चल सकते हैं, और तब इस मोहरे की अपने पक्ष में निरापदता और विरोधी के विरुद्ध मारक शक्ति का पता चल जाएगा।

लेकिन कालान्तर में जिस प्रकार देशव्यापी दौरों के द्वारा अपने रचनात्मक कार्यक्रम समझाते जा रहे थे तथा विनम्र किन्तु निर्भीक गतिविधियों के माध्यम से 'कर्मवीर गांधी—'अपना विकास कर रहे थे तथा देश के मनस पर अपनी पकड़ बनाते जा रहे थे उससे मोतीलाल नेहरू जैसे बुद्धिमान व्यक्ति को कुछ बातें स्पष्ट हुई होंगी कि एक तो इस व्यक्ति में राजनेता के नहीं बल्कि जन-आन्दोलनकारी से भी कहीं आगे जाने की प्रतिभा है। दूसरे यह कि तकली, चरखा, खादी जैसी सामान्य सी चीजों को भी उठाकर जन-मानस में उन्हें प्रतीकत्व दे देता है, तीसरे यह कि सन्तों

वाला आत्मसंयम, अपरिग्रहत्व इसे नेता नहीं कुछ और ही बनाता है, चौथे यह कि अपने किसी भी सहज और देशज आचरण तथा व्यक्तित्व को लेकर इस बात की चिन्ता नहीं है कि लोग क्या कहेंगे ?....ऐसे व्यक्ति को जवाहर सौंपा जा सकता है क्योंकि इसमें नैतिक वर्चस्व है, राजनीतिज्ञों वाली प्रतिस्पर्धा नहीं है। खादी-चरखा, आश्रम-जीवन, अहिंसा आदि कोई भी ऐसा कार्यक्रम नहीं है जिसे राजनीतिक संज्ञा दी जा सके।....यह व्यक्ति नहीं हो सकता। अगर कुछ हो सकता है तो ऐसा 'फिनामना' जो भारतीय राजनीति और इतिहास में घटित होकर ही रहेगा।

मोतीलाल नेहरू की यह चिन्ता भी स्वाभाविक ही होगी कि यदि देश की राजनीति गंगा-यमुना के मैदान की पकड़ से निकलकर उग्रवादी महाराष्ट्र या अति-वादी बंगाल या दूरस्थ मद्रास पहुँच जाती है तो उसका स्वरूप मुख्य रूप से एक प्रकार का हिन्दू ही होगा। मोतीलाल नेहरू ब्राह्मण अवश्य थे, पर कश्मीरी। भाषा, रहन-सहन, खान-पान, सभ्यता-संस्कृति, जीवन-दृष्टि सभी से तथा मुख्य रूप से अपने पेशे तथा उच्चवर्गीय सम्पर्कों के कारण वह अंग्रेजों और मुसलमानों के अधिक निकट थे। उन्हें आधा अंग्रेज और आधा मुसलमान तो आसानी से कहा जा सकता था—इसके बाद बचता ही क्या था कि वह हिन्दू होते ? उनकी राजनीति उनके पेशे का पर्याय ही थी। वह पेशे और राजनीति दोनों में गंगा-यमुना के मैदान के ही नहीं बल्कि देश के बड़े-बड़े राजा-महाराजा, नवाब-सुलतान, जमींदार-ताल्लुकेदार आदि के प्रवक्ता थे। वैसे तो महामना मदन मोहन मालवीय भी शीर्षस्थ नेता थे परन्तु वह कालान्तर मे हिन्दू नेता ही अधिक होते गये। हिन्दू जाति कभी भी उस अर्थ में समाज नही रही जिस अर्थ में मुस्लिम या ईसाई समाज होते हैं। व्यवहार के बहुत मोटे स्तर तक ही यहाँ समाज की आवश्यकता मानी गयी और उसके लिए जातियों से काम चल गया। बाकी अपने स्वतः के विकास, मुक्ति, चिन्तन आदि के लिए बाहरी किसी संस्था, व्यक्ति या पद्धति की परमावश्यकता को नही स्वीकारा। आप चाहे तो शास्त्र, पंथ या किसी अन्य का आश्रय लें अन्यथा व्यक्ति को स्वयं अपना उद्धार अर्जित करना होगा। वह सर्वसत्तात्मक है। वह किसी से कम नही है और न कोई उससे इतना बड़ा कि जिसे वह लांघ कर प्रभु तक नहीं जा सकता। व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता का यह दर्शन, केवल भारतीय धर्म का, दर्शन का ही आधार नही रहा बल्कि यहाँ के सामाजिक स्वरूप और संगठन में भी दिखलायी देता है। इसीलिए हिन्दू समाज अभिन्न तेजस्वी इकाइयों वाले व्यक्तियों का समाज है, जो कि समाज नहीं है जबकि इसके विपरीत इस्लाम या ईसाई समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपना नहीं, अपने समाज का प्रतिनिधित्व करता है। इसीलिए अन्य समाजों का संगठन सहज ही नही बल्कि नैसर्गिक और जीवन्त भी लगता है जबकि हिन्दुओंका संगठन दुष्कर ही नहीं है, असम्भव भी नहीं, अप्राकृतिक भी नहीं बल्कि प्रतिक्रिया लगता है। तभी तो चाहे वह वीर सावरकर रहे हों या मालवीय जी महाराज या श्यामाप्रसाद मुखर्जी हिन्दुओं के नेता बनने के कारण स्वयं हिन्दुओं के द्वारा ही अन्धकार में फेंक दिये गये। यह

तो स्वामी विवेकानन्द का सौभाग्य रहा कि वह इस राजनीति प्रधान युग के पूर्व हो गये वर्ना हिन्दुओं की जिस ओजस्वी अस्मिता की चर्चा की, पूरे विश्व में जिसकी वकालत की तथा श्रेष्ठ सिद्ध किया उसके कारण 'हिन्दू' शब्द मात्र से भड़कने वाले कांग्रेसी, समाजवादी, साम्यवादी, आधुनिक बुद्धिजीवी तथा लेखक पग-पग पर उनकी दुहाई न देते, क्योंकि अपनी बात को स्थापित करने के लिए तब उन्हें हिन्दुओं का संगठन बनाना पड़ता और तब इन सारे प्रशंसकों की दृष्टि में विवेकानन्द, थोड़े से बड़े गणेशदत्त गोस्वामी होते या बहुत हुआ तो गोरखपुर वाले दूसरे महन्त दिग्विजयनाथ बना दिये गये होते।

जब गांधी ने मोतीलाल नेहरू के नरम-दल की मुस्लिम तुष्टि प्रधान राजनीति को स्वीकारा तो वह राजनीति, वस्तुतः गंगा-यमुना के मैदान की विवशता की राजनीति थी, जिसे अंग्रेजों, मुसलमानों और कांग्रेसियों ने कालान्तर में पूरे देश पर लाद दिया। तुष्टि की इस राजनीति ने देश की मानसिकता, अस्मिता की प्रकृति को ही इतना बदल डाला कि पाठ्य-पुस्तकों में 'ग' माने गणेश पढ़ना-लिखना हिन्दू हो गया और 'ग' माने 'गधा' राष्ट्रीयता माना जाने लगा। प्रथम कांग्रेसी शासन के दौरान बिहार में तुष्टिकरण प्रधान यह राजनीति इतने निर्लज्ज रूप में सामने आयी कि भगवान राम, 'बादशाह राम' और सीता, 'बेगम सीता' हो गयीं थीं। तुष्टि प्रधान राजनीति रीढ़हीन राजनीति थी। जो गांधी व्यक्तिगत जीवन में पूर्ण सदाचारी, सर्वस्व त्यागी, आकण्ठ अहिंसक, स्वदेशी के व्रती, सर्वथा निरामिष, परम वैष्णव, मद्यपान के विरोधी थे वह अपने से सर्वथा विपरीत व्यक्तित्व के मोतीलाल नेहरू से एक व्यक्ति और एक नेता के रूप में कैसे सहमत हो सके?

शायद यह विवशता थी कि सेतु-व्यक्तित्व बनने के लिए केन्द्रीय आधार-भूमि गांधी को चाहिए थी और यह भूमि, गंगा-यमुना का मैदान ही हो सकती थी और उसके नेता मोतीलाल नेहरू थे। गांधी हिन्दी भाषी नहीं थे और न हिन्दी-प्रदेश के निवासी थे। यहाँ के जन-जीवन में और राजनीति में पैठने के लिए किसी माध्यम की उन्हें आवश्यकता थी। गांधी को लगा होगा कि इस मैदान के लोगों की निष्क्रिय मानसिकता को वह दिशा और गति दे सकते हैं अतः विवश होकर मुस्लिम तुष्टि प्रधान वाली बड़े-बड़े राजों-महाराजों, नवाबों-सुलतानों और जमींदारों-ताल्लुकेदारों की राजनीति को स्वीकारा। कालान्तर में गांधी इस राजनीति को इन निठल्ले श्रीमन्तों से निकाल तो सके परन्तु उसकी तुष्टि प्रधानवाली ें बदल सके।

उनके जैसे बूर्जुआ-मानस को न भाया हो परन्तु वह भी विवश थे । इसलिए अत्यन्त स्वरूपवान, निहायत धुले परिधान के मोतीलाल नेहरू को ग्रामीण से लगने वाले नितान्त साधारण व्यक्तित्व के गांधी से सहमत होना पड़ा । यह दो ऐतिहासिक विवशताओं की एकता थी । विलास और त्याग, महल और आश्रम, सम्पन्नता और अकिंचनता की यह युति भारतीय राजनीति के लिए निर्णायक सिद्ध हुई जिसमें गांधी, व्यक्ति के रूप में अतुलनीय, अप्रमेय और अपराजेय रहे परन्तु राजनीति में विजय तो मोतीलाल नेहरू की ही हुई । गांधी, मोतीलाल नेहरू के मोहरा तो नहीं बने परन्तु नेहरू-परिवार को लाभ, मोहरे का ही मिला ।

गंगा-यमुना के मैदान की मुस्लिम-तुष्टि-प्रधान राजनीति का जो मानवीय स था तथा इसका जो राष्ट्र विरोधी स्वरूप था उसे भी गांधी बहुत जल्द समझ ले गये । इसका विकल्प उनके पास पहले से ही था कि राजनीति का स्वरूप विशालतर कर दिया जाए ताकि देश की समस्त जनता उससे जुड़ सके । ऐसा होने पर मुस्लिम तुष्टि-प्रधान राजनीति, देश की स्वाधीनता, आर्थिक विकास जैसे बड़े प्रश्नों में विलीन हो जाएगी । और यदि विलीन न भी होगी तो निस्तेज अवश्य हो जाएगी । राजनीति की सीमित तथा नकारात्मक प्रकृति को गांधी ने खादी, कुटीर-उद्योग, स्वदेशी-शिक्षा आदि रचनात्मक प्रवृत्तियों की ओर मोड़ा । राज्य-शक्ति के विरुद्ध यदि समस्त जनता की लोक-शक्ति को खड़ा कर दिया जाए तो मुस्लिम-तुष्टि-प्रधान राजनीति स्वतः ही अप्रासंगिक हो जाएगी । मुसलमान एक खुले समाज की तरह व्यवहार करने के लिए बाध्य होंगे । स्वाधीनता का प्रश्न किसी वर्ग, सम्प्रदाय, धर्म, जाति या प्रदेश का नहीं है । यह भी नहीं कि स्वाधीनता किसी के लिए कम आएगी और किसी के लिए ज्यादा । गांधी को अपने पर आत्म-विश्वास था कि परमार्थ भाव से काम करने पर कुछ भी असम्भव नहीं है । अंग्रेज लेकिन गांधी की इस चतुराई को कुछ-कुछ समझने लगे थे, उनके पास गांधी का जवाब मुसलमान थे । जिन्ना धीरे-धीरे मुसलमानों के प्रवक्ता नने की प्रक्रिया में थे । जिन्ना ने जब भी गांधी से 'स्वराज्य' की व्याख्या करने को कहा तो गांधी ने चतुराई के साथ उसकी और सारी परिभाषाएँ दीं, पर राजनीतिक नहीं । वस्तुतः गांधी, राजनीति की संकीर्णता को मानवीय तथा नैतिक उदारता देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने सभाओं, आन्दोलनों से भी ज्यादा प्रतिदिन चरखा कातने, स्वावलम्बी होने, आचरण की पवित्रता का पालन करने, खादी पहनने पर अधिक जोर दिया । आन्दोलनों के लिए वह दूसरे प्रकार के सत्याग्रही तैयार करना चाहते थे ।

इस प्रकार पूरे देश में जागृति का स्तर भले ही समान न हो परन्तु जागृति अनिवार्य थी। जेल जाने से कम महत्वपूर्ण नहीं था चरखा कातना। मनुष्य मात्र में यदि ऐसी रचनात्मकता जाग जाए तो वह स्वतन्त्र तो हो ही गया। गुलामी, निर्भरता का नाम है। यदि व्यक्ति केवल अपने पर निर्भर है तो न तो वह किसी का शोषण करेगा और न कोई दूसरा उसका शोषण कर सकेगा। इसके अतिरिक्त स्वाधीनता किसे कहते हैं! रचनात्मक व्यक्तित्व की सबसे बड़ी पहचान थी कि व्यक्ति निर्भय हो। स्वावलम्बी व्यक्ति ही निर्भय होगा। देश का जब प्रत्येक व्यक्ति सृजनात्मक-शक्ति [साधारण शब्दों के सन्दर्भ में उत्पादक-शक्ति भी] बन जाएगा तो कानून और राज्य का हस्तक्षेप अपने आप अप्रासंगिक हो जाएगा। मनुष्य, पशु नहीं है कि उसके लिए कानून बनाया जाए, वह चेतना है, जिसे स्वतः ही नैतिकता से अनुशासित होना चाहिए। ऐसे आत्म-निर्भर को राज्याश्रय या यन्त्राश्रय क्यों चाहिए? परमुखापेक्षी ही अपने से बाहर के आश्रय, प्रश्रय आदि चाहता है। अपने चारों ओर प्रकृति ने आपके लिए पदार्थ रूप में सब कुछ उपलब्ध कर रखा है, उसी से निर्माण करो—स्वतः का भी और समाज का भी। अपने लिए जब कपड़ा तैयार कर लोगे, अनाज उत्पन्न कर लोगे, बांस-बल्ली गाड़ कर अपनी मिट्टी से झोंपड़ी बना लोगे तो राज्य-सत्ता और मशीन-सत्ता निरर्थक तो हो ही जाएँगी। स्वतन्त्रता की इससे अधिक सार्वजनीन, असाम्प्रदायिक परिभाषा, सकारात्मक स्वरूप और क्या हो सकता था? उनकी स्पष्ट समझ थी कि राज्य प्रायः निरंकुश हो जाते हैं इसलिए लोकशक्ति के प्राचीन तथा पारम्परिक स्वरूप ग्राम-पंचायतों को सक्रिय करने का आग्रह किया। मनुष्य की रचनात्मकता, स्वावलम्बनता का प्रतीक चरखा बना। हाथ की कती-बनी खादी औद्योगिक उत्पादन को चुनौती देने के लिए थी। जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वदेशी का आग्रह चाहे वह कागज का हो या शहद का या गुड़ का रहा हो या पेरे गये तेल का रहा हो, गाँधी के द्वारा प्रतिपादित हुए। स्वामी दयानन्द के बाद पहली बार किसी भारतीय नेता ने स्वदेशी भाषा के नाम पर हिन्दी का समर्थन किया। शिक्षा का उद्देश्य नौकरी के स्थान पर व्यक्ति को जीवन-समर में तथा समाज के सन्दर्भ में रचनात्मक व्यक्ति बनाना चाहिए। भारत के लिए ही नहीं बल्कि विश्व की मानवता के सामने जीवन की इतनी सरल परिभाषा, निर्भय स्वरूप, सर्वसत्तात्मक स्वतन्त्रता की परिकल्पना गांधी के पूर्व किसी राजनेता ने नहीं प्रस्तुत की।

जिस प्रकार जनता में स्वदेशी के प्रति उत्साह आया यदि वैसी ही निष्ठा और उत्साह अधिकांश कांग्रेसियों में भी 'जेनुइन' रूप से आया होता तो अंग्रेजों की हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, हरिजन आदि को पृथक करनेवाली राजनीति सफल न होती। इस राजनीति का जितना सटीक, मानवीय एवं उच्चाशयी उत्तर गाँधी के पास था उतना न किसी नेता के पास था और न राजनीतिक दल के पास था। कांग्रेस के अधिकांश नेताओं की इन कार्यक्रमों में न तो कोई रुचि थी और न आस्था ही। इन सत्ताप्रियी नेताओं की सामाजिक रचनात्मकता में कोई रुचि नहीं थी, वे तो

भावी सत्ता के लोभ में गांधी से असहमत होते हुए भी असहमति व्यक्त करने का साहस ही नहीं रखते थे। विशेष जयन्तियों, आयोजनों पर प्रदर्शन और चित्र खिंचवाने के लिए ये कांग्रेसी चरखा कातने का नाटक केवल सत्ता के मिलने तक ही करते रहे। खादी अनिवार्य कर दी गयी थी इसलिए पहनते थे और सम्पूर्ण अश्रद्धा से सिर झुका कर प्रार्थना-सभाओं में 'वैष्णव जन तो तेणें कहिए' गाते शर्म अनुभव करते हुए भी गाते थे।

गांधी ने कहा है कि केवल साध्य की शुचिता ही नहीं बल्कि साधन की शुचिता भी चाहिए। गांधी का यह आप्त-वाक्य केवल गांधी पर ही सटीक और खरा उतरा। गांधी और कांग्रेसियों में तात्विक दरार थी। गांधी लाख चतुर रहे हों परन्तु कांग्रेस, चालाकों का गिरोह थी। बिना आस्था के भक्त की, अनुयायी की मुद्रा सत्ता मिलने तक बनाये रखना क्या होता है यह उस काल के अधिकांश कांग्रेसियों को देखकर समझा जा सकता था। गांधी हर संकट को, चुनौती को झेलने के लिए सदा तैयार रहते थे। अपने से भी अधिक अपने नियमों-सिद्धान्तों को वह महत्त्व देते थे फिर चाहे वह भगतसिंह जैसे उत्कट देशप्रेमियों की फाँसी का प्रश्न हो, या—चौरी-चौरा काण्ड हो या सुभाषचन्द्र बोस का अध्यक्ष चुना जाना हो—अपने सिद्धान्तों, मान्यताओं के सामने न व्यक्ति, न आन्दोलन, न निंदा, न स्तुति किसी की चिन्ता नहीं करते थे। एक छोटी सी पेन्सिल को ढूँढ़ने के लिए अपनी पौत्री को मीलों दूर खोजने के लिए भेजने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं हो सकता था। प्रश्न चीज का छोटा या बड़ा होना नहीं बल्कि दायित्वबोध का था। ऐसे परम सूक्ष्म-दर्शी व्यक्ति से, अवसर भुनाने में सिद्ध-हस्त कांग्रेसियों को, अपने को पृथक ही नहीं परन्तु अगांधीवादी कर लेने में क्षण भर की भी देरी नहीं हुई। ठीक तो है, संकोच मनुष्य को होता है, राजनीतिज्ञों को नहीं। कृतज्ञता मानवीय गुण है, राजनीतिज्ञ का चरित्र नहीं। गांधी का हर बार तथा हर श्न पर जनता के बीच लौटना कांग्रेसियों को आरम्भ से ही असुविधा देता था जबकि ांधी भूल करने पर जनता के सामने पहुँच कर प्रायश्चित्त करके पुनः उनका विश्वास र अपने में संकल्प प्राप्त करते थे।

सन्' २० से ३० की राजनीतिक चेतना के बारे में मालवा अखबारों, पत्रिकाओ से थोड़ा-बहुत अवगत और परिचित होता रहा पर सक्रिय तो वह 'सार्वजनिक-सभा' तथा 'प्रजा-मण्डल' की स्थापना के बाद ही हुआ। असहयोग-आन्दोलन के बारे में अधिकांश लोगो ने केवल सुना ही होगा और वैसे भी असहयोग-आन्दोलन की प्रासं-

गिकता देसी राज्यों में प्रतीकात्मक हो सकती थी परन्तु उसमें वास्तविकता कुछ नहीं होगी क्योंकि प्रशासक विदेशी तो था नहीं। परन्तु जब से 'सार्वजनिक-सभा' की स्थापना हुई तब से जन-साधारण के विभिन्न कार्यक्रम, आयोजन कुछ न कुछ होते रहते। खादी-भण्डार के खुलने से लोगों में खादी के प्रति रुचि बढ़ने लगी थी। लोग टुकड़ों में खादी पहनने लगे थे। विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार, विदेशी वस्तुओं के स्थान पर स्वदेशी का उपयोग के कार्यक्रम लोगों में फैलाये जाने लगे।

आज सवेरे से ही उत्साह था। 'युवराज जनरल लाइब्रेरी' के सामने वाले चौक में उठाऊ-दूकानें हटा दी गयी थीं। जिस प्रकार लोग उत्साहवश, कौतूहल की दृष्टि से एकत्र होते जा रहे थे वह उज्जैन के इतिहास में अभूतपूर्व था। सिंहस्थ के अवसर पर या श्रीमन्त सरकार के जन्मदिन पर होने वाली भीड़ में तथा इस भीड़ में गुणात्मक भेद था। गाँधी-जयन्ती आ रही थी। शायद उज्जैन के इतिहास में यह पहली गाँधी-जयन्ती थी। दो दिन पहले से ही रावल जी, अयाचित वकील, विजयवर्गीय जी, भार्गव जी, आदि वकील, नेता, सामाजिक कार्यकर्तागण घर-घर मुहल्ले-मुहल्ले और दूकान-दूकान जाकर लोगों को विदेशी वस्त्रों और वस्तुओं के परित्याग तथा स्वदेशी वस्त्रों और वस्तुओं के उपयोग का महत्व समझा रहे थे। फलतः खादी-भण्डार में खादी के लिए लोग टूटे पड़ रहे थे। सबसे अधिक बिक्री टोपियों और बण्डियों की हो रही थी। घर-घर जाकर एक न एक विदेशी कपड़ों की माँग की जाती थी ताकि गाँधी-जयन्ती पर विदेशी कपड़ों की होली में काम आ सके। लोग, कुछ समझ रहे थे, कुछ उदासीन थे तथा कुछ झगड़ा करने पर आ जाते थे।

स्त्रियों में भी यह कार्यक्रम विभिन्न महिलाओं को सौंपा गया। मराठी परिवारों के लिए महाराष्ट्रीय नेताओं के घरों की महिलाओं को चुना गया। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय को भी कार्तिक-चौक से लेकर सती-दरवाजे तक का क्षेत्र दिया गया कि वह स्त्रियों को समझाएँ क्योंकि इस तरह के विदेशी वस्त्र और विदेशी वस्तुओं का व्यवहार ज्यादातर महिलाएँ ही अधिक करती हैं। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने सबसे पहले दुर्गा के घर पहुँच कर स्वदेशी पर एक पूरा भाषण ही दे डाला। दुर्गा टुकुर-टुकुर ताकते हुए मासीमाँ की बातों को समझने की चेष्टा करती रही। जब श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय लगभग थक कर चुप हुई तो दुर्गा किंचित शरारत के साथ बोली,

— क्या भाषण ऐसे ही दिये जाते हैं ?

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने सहज भाव से कहा,

— हाँ, और क्या ?

— नेता लोग भी क्या इसी तरह बोलते हैं ?

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय समझ नहीं पायीं कि यह क्या पूछ रही है। बोलीं,

— हाँ, इसी तरह, लेकिन तुम यह सब क्यों पूछ रही हो ?

— तब तो आप भी नेता हुईं, मासीमाँ ! है न ?

दुर्गा जिस निरीह मुद्रा और शरारत से भरी आँखों से बोल रही थी उसका रहस्य अब उनकी समझ में आया, बोलीं,

— मासी-सास हूँ न, इसीलिए मजाक उड़ा रही हो। अभी दीदी होतीं तो मुँह से बोल भी नहीं फूटता।

और वे दोनों हँस पड़ीं। तभी श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय को जैसे कुछ याद आया, बोलीं,

— पर तुम्हें कैसे मालूम कि नेता लोग ऐसे ही भाषण देते हैं ? क्या कभी सुनने गयी हो ?

— गोविन्द और धूर्जटी के बीच आये दिन इसी तरह की बातें होती हैं तो मैंने सोच लिया कि भाषण इसी को कहते होंगे। आपको बोलते देखा तो पुष्टि भी हो गयी।

— सच दुर्गा ! तुम बहुत बुद्धिमान हो।

— मैं और बुद्धिमान ? ?

और आश्चर्य प्रकट करते हुए जिस प्रकार वह हाथ कानों पर धरे थी उसमें वह श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय को निर्दोष बालिका ही अधिक लग रही थी।

— अच्छा, यह बताओ कि तुमने विदेशी कपड़ों की होली के लिए क्या देने की सोची है ?

— आप अपने बेटे से क्यों नहीं कहतीं ? मैं देने वाली कौन होती हूँ ?

— ठीक है। मैं ही त्र्यम्बक से बातें कर लूँगी। परसों सबेरे तुम भी प्रभात-फेरी में मेरे साथ चलना। उसके लिए मैं एक खादी की साड़ी लेती आऊँगी।

— मैं और प्रभात-फेरी में ?....तो फिर सबेरे का यहाँ चाय-पानी कौन करेगा ? और मासी माँ ! प्रभात-फेरी....

— क्यों ? प्रभात-फेरी में जाना क्या बुरा है ?

— बुराई की बात नहीं है मासी माँ ! ...लेकिन मुँह खोलकर सड़कों पर घूमना और वह भी बहू का ...

— वैसे हम लोगों में न जाने कहाँ से यह पर्दा आ घुसा, नहीं तो गुजराती स्त्रियाँ पर्दा नहीं करतीं....पर अब तुम कब तक बहू ही बनी रहोगी ?

— जब तक आप लोग हैं।

— देखो तुम्हारे मासाजी ने मुझे भी तो देश-सेवा के काम में आगे बढ़ाया है।

— लेकिन आपकी बराबरी मैं तो नहीं कर सकती।

— इसमें बराबरी की क्या बात है ? गांधी जी कहते हैं कि देश-सेवा का काम स्त्री और पुरुष दोनों का है।

— क्यों मासीमाँ ! यह गांधी जी कौन हैं ?

— बहुत बड़े नेता हैं।

— नेता तो हैं, पर मासीमाँ ! आये दिन लोगों को जेल जाने के लिए कहना, पुलिस

की मारपीट....क्या ये बातें सब ठीक हैं ?
— और क्या-क्या सुनती हो ?
— जेल जाना क्या भली बात है ? और हाँ, खादी पहनने से क्या होगा ? मिल के कपड़ों में क्या बुराई है ?....अपने यहाँ तो जब तक पिता होवे हैं तब तक सफेद कपड़ा सिर पर नहीं लेते पर सुना गांधी जी सबको सफेद टोपी पहनाते हैं.... शक्कर नहीं गुड़ खाने को कहते हैं ।
— लगता है तुमने बहुत सारी बातें सुनी हैं गांधी जी के बारे में....तो यह सब भी गोविन्द-धूर्जटी से मालूम हुआ तुम्हें ?
— ये दोनों तो खुद ही सुराजी हो रहे हैं । मुझे तो सच्ची, बड़दा की और गोविन्द की कोई बात समझ में नहीं आती ।
श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय उठते हुए बोलीं,
— पूरे एक हफ्ते से दौड़ते-दौड़ते इतनी थक गयी हूँ, कि बस ।
— मैं चाय बनाती हूँ, आप बैठिए ।
— नहीं, अब चलना चाहिए....पर मैं तुम्हारे बारे में त्र्यम्बक से बात करूँगी ।
— क्या बात करेंगी उनसे !
और हँसते हुए श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,
— यही कि बहू को सम्हाले वर्ना यह भी सुराजी हो रही है और किसी दिन जेल में होगी ।
— हे भगवान ! जेल के बाद तो फिर सीधे मसान ही जाना होगा ।
— पगली ! ऐसे जेल जाना बुरी बात थोड़े ही होती है ।
— नहीं, नहीं मासी माँ ! मैं तो जैसी हूँ वैसी ही भली....वासुदेव तो अब यहीं लाइब्रेरी में आ गये हैं न ?
— हाँ, आ तो गया है ।
— मैं भी यहाँ से कुछ किताबें मँगवा कर पढ़ना-लिखना चाहती हूँ....पर ये मन्ना, शशि सुनते ही नहीं । अपने मन से पूरी उज्जैन घूम आएँगे पर आप कहेंगे तो कहीं नहीं जाना चाहेंगे ।
— शाम को तो वासुदेव को समय नहीं मिलता परन्तु कह दूँगी कि वह किसी समय तुमसे मिल ले । लाइब्रेरी का सदस्य बनना होता है । यह सब छोड़ो । यह सारा काम तो वह कर लेगा ।
और वह उठ पड़ीं । दुर्गा बोली,
— आप बहुत जल्दी में हैं ।
— परसों गांधी-जयन्ती है और उस दिन विदेशी कपड़ों, चीजों की होली जलायी जायगी । इसके लिए घर-घर घूमना पड़ रहा है । लोगों को समझाना पड़ रहा है । सच में दुर्गा ! स्त्रियों को अपनी काँचली [चोली] के टुकड़े से भी ऐसा लगाव होता है कि आप लाख समझाओ पर वह उसे छोड़ना नहीं चाहतीं । कभी

उस कपड़े के मुलायम होने की बात करेंगी, तो कभी उसके रंग को लेकर अड़ जाएंगी या कभी यह कि यह तो उनके विवाह के समय आया था इसलिए भले ही विदेशी हो पर सौभाग्य का चिन्ह है।....कोई एक मुसीबत है ?

और कुछ-कुछ शरारत भाव से दुर्गा बोली,

— तो यह कहिए न कि....

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय दुर्गा की शेष पूरी बात उसकी आंखों, लहजे से समझ ले गयीं और बोली,

— अच्छा अब रहने दो....मैं तुम्हारी हरकत सब समझ रही हूँ....पर यह बताओ कि तुम इस समय क्या कर रही हो ?

— इस समय तो अपनी मासी-सास की सेवा में हूँ।

उसने जिस सरल-शरारत भाव एवं मुद्रा से कहा उसमें श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय लगभग निहाल हो उठीं, वह बोलीं,

— तुम बचपन में निश्चित ही बहुत शैतान रही होगी।

— मैं और शैतानी ? बिल्कुल नहीं मासीमां ! आप समझ लें कि मैं बिल्कुल अल्ला की गाय थी। दिन भर जिजी की फटकार कि....दुर्गी ! यह करो, दुर्गी ! वह करो।

और विगत में खोये हुए भाव से दुर्गा, स्त्री नहीं, लड़की लग रही थी। उसकी इस सरलता पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय मुग्ध थीं। दुर्गा फिर बोली,

— पर आपने यह निष्कर्ष कैसे निकाला कि मैं शैतान रही हूँगी ?

— मैं तो सोच रही हूँ कि भगवान ने तुम्हारे जैसी स्त्री दूसरी क्यों नहीं बनायी ?

— एक बनाकर ही पछता रहे होंगे—लो, मैं भी कैसी हूँ ? आपने यह क्यों पूछा था कि मैं इस समय क्या कर रही हूँ ?

— दीवाली के गूंजों [गुझिया] की तैयारी तो नहीं कर रही हो ?

— क्या आपके साथ कहीं चलना है ?

— सच दुर्गा ! इस देशसेवा में तुम भी साथ दो तो....

— अपने बेटे से पूछिए कि घर-घर घूमने देंगे ?

— उसकी बात छोड़ो। अपनी बताओ ?

— तब तो आप कहेंगी कि खादी भी पहनो, है न ? मासीमां ! खादी की साड़ी पहनो तो फिर पांव में डण्डा-बेड़ी की क्या आवश्यकता है ?

और दोनों खिलखिला कर हँस दीं। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय जिस मुग्धता से दुर्गा को देख रही थीं उसमें लग रहा था कि वह अपनी आँखों से दुर्गा रूपी बहू को नहीं बल्कि अपनी बेटी को गले से लगा रही हैं। तभी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के आने की आहट हुई। उन्हें आशा थी कि घर में केवल पत्नी ही होगी और वह यहीं से कुछ कहते ही जा रहे थे कि अवचेतन में प्रतीति हुई कि नहीं कोई और भी है। ऊपर आते ही मासीमां को देखा तो बोले,

— लो, यहाँ तो मासीमाँ बैठी हुई हैं।
— वर्ना तुम कुछ दुर्गा से कहने वाले थे न ?—ठीक है, मैं हटे जाती हूँ, बस!
और वह उठने को हुई तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने उन्हें कंधे से लगभग दबाते हुए बैठा दिया और बोले,
— क्या मासीमाँ ! आप भी कैसी बातें करती हैं।....दुर्गा से भला ऐसी-वैसी कोई बात कहने का साहस मुझमें है ?
— तुम नहीं उसे कहोगे तो क्या कोई बाहर का आएगा कहने ?
— क्या पता मासीमाँ !
— अच्छा यह लड़कपन छोड़ो। मैं इस समय दुर्गा को अपने साथ ले जा रही हूँ।
— तो इसमें मुझसे क्या पूछना मासीमाँ ?....लेकिन....यह खादी-वादी पहने आप तो बिल्कुल....
और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के बोलने, रुक-रुक बोलने के ढंग पर दुर्गा मुँह में पल्लू लेकर हँस पड़ी। इस पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,
— तुम लोगों के मारे कोई कुछ पहने ही नहीं ?....और क्या खादी में आज ही देखा है ?
— नहीं, नहीं मासीमाँ !....लेकिन क्या बात है ?
— लो, दुनिया को मालूम है कि परसों गांधी-जयन्ती है पर घर ही में किसी को पता नहीं। दिया तले अँधेरा और किसे कहते हैं ?
मासीमाँ के सामने पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल भी पाट बिछाकर बैठ गये थे, बोले,
— अब हम जैसे साधारण घर-गृहस्थी वाले ये बड़ी-बड़ी बातें क्या जानें मासीमाँ !
— मैं देखती हूँ कि तू भी बड़ी छल-छंदी भाषा बोलने लगा है।
— क्या ?
— और नहीं तो क्या ? एक तुम्हीं घर-गृहस्थी वाले हो, हम लोग तो अपनी घर गृहस्थी सब बेच खाये हैं। है न ?
— आप तो नाराज हो गयीं मासीमाँ ! मेरा मतलब था कि....
— ऐसी बातें कहेगा तो नाराज नहीं होऊँगी तो क्या तुझे सिरोपा पहनाऊँगी ?....और जब स्वराज्य आएगा तो वह घर-गृहस्थी वालों को छोड़ देगा, है न ? ऐसी मूर्ख बात तो मैंने किसी गँवार स्त्री के मुँह से भी नहीं सुनी और तुम पुरुष होकर कह रहे हो ?
पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लगा कि अजाने ही मासीमाँ उनके कारण आहत हो गयी हैं, तो वह दुर्गा से बोले,
— मासीमाँ को चाय-वाय पिलायी या....
— मैं चाय पीने नहीं आयी थी। परसों गांधी-जयन्ती के दिन विदेशी वस्त्रों और चीजों की होली जलायी जाएगी तो—तुम लोग भी कुछ दे रहे हो ?
— अपने को क्या पता मासीमाँ ! कि क्या विदेशी है और क्या नहीं। जो कुछ

होगा आपकी बहू के पास होगा।
— लेकिन वह तुम्हारे कहे बिना कैसे दे सकती है ?
— मेरे कहे से देगी और आपके कहे से नहीं देगी ?
— और यह भी कहने आयी थी कि दुर्गा को लेकर परसों सबेरे पाँच बजे प्रभात-फेरी में आना।
— आप तो लगता है पूरा कार्यक्रम बनाकर लायी हैं।
— अभी पूरा कार्यक्रम सुना कहाँ तुमने।
— जैसे ?
— मैं दुर्गा को इस काम में अपने साथ रखना चाहती हूँ।
— तो मेरे आने के पहले सास-बहू में यही खिचड़ी पक रही थी ?
— खाकर देखो, कैसी है ?
और इस पर सब हँस दिये। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,
— मुझे क्या मासीमाँ! आपकी बहू है, आप ही लोगों से जवाबदेही करिएगा। मुहल्ले के, जाति के चार लोग जब आपकी बहू को घर-घर डोलती देखेंगे तो फिर मैं नहीं जानता कुछ।
— लोगों की बात बाद में होगी, पहले तुम अपनी बताओ।
— मुझे क्या मासीमाँ! चाय, खाना समय से मिल जाये उसके बाद यह जहाँ चाहे जाएँ, जो चाहे करें....
— लगता है कि तुम्हें दुर्गा का घर से बाहर निकलना बुरा लग रहा है।
— बिल्कुल नहीं मासीमाँ! पर मगरमुँहा, सिंहपुरी, कार्तिक-चौक, भागसीपुरा ....कहाँ-कहाँ, क्या-क्या नहीं सुनना पड़ेगा ?
— मान लो सुनना ही पड़ा, तो क्या किसी बुरी बात के लिए सुनना पड़ेगा ? और तुम्हारे ये मुहल्ले के भटजी, गामोठजी महाराज पूरी दुनिया हो गये, क्यों ? इन कूप-मण्डूकों को पता भी है कि बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात में स्त्रियाँ कैसे पुरुषों के साथ मिलकर देश-सेवा के काम कर रही हैं ? शिप्रा पर जाकर हिमाद्री कर आये, यजमानों से संकल्प छुड़वा दिया, धर्मशाला में जाकर मोतीचूर के लड्डू खा लिये और 'जय महाकाल' 'जय महाकाल' करते पटनी-बाजार में कभी इस दूकान पर, कभी उस दूकान पर बैठ लिये तो समझ लिया कि कोटा-बूँदी जीत लिया, है न ?...और घरों में चार औरतें एक दूसरे के फटे में झाँकती बैठी रहें यह उन औरतों को भी सुहाता है और तुम लोगों को भी।
— मासीमाँ! आप तो यहाँ के लोगों से बहुत ही नाराज लगती हैं।
— दुनिया बदल रही है त्र्यम्बक! नहीं बदलोगे तो पीछे छूट जाओगे और पीछे छूटे का कोई साथ नहीं देता।
— मासीमाँ! अब आपको सच बात बताऊँ ?
— क्या ?

— मैं तो अभी सार्वजनिक-सभा की ओर से ही आ रहा हूँ। मासाजी और बोऽ गिरिधर ठक्कर मिल गये थे।

इस पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय कुछ खिसियाने भाव से बोलीं,

— बड़ा पाजी है, पहले क्यों नहीं बताया ?

— बता देता तो यह सब सुनने को कैसे मिलता ?

— दुर्गा के बारे में तुमने नहीं बताया।

— आप भी कमाल करती हैं। मेरी ओर से कोई प्रतिबन्ध की आप आशा करती हैं क्या ? आप कहें तो मैं इन्हें अभी खादी की साड़ी ला देता हूँ....पर देवी जी पहनेंगी उसे ? पूछ देखिए न आप ?

सबको हँसी आ गयी। पता नहीं क्यों, पर स्वयं श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय को लगा कि वह एक आत्मीय स्वजन की भाँति न बोलकर एक कार्यकर्त्री की भाँति क्यों बोल रही हैं, बोलीं

— खादी पहनना तो आवश्यक है त्र्यम्बक! परन्तु उससे भी ज्यादा आवश्यक है चीजों को, बातों को सही तरह से देखना।

और इस बार वह जिस प्रकार उठीं, उस उठने में सचमुच का उठना लग रहा था। इस पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— क्या बिना कुछ खाये-पीये ही जाएँगी ?...कैसी हो तुम ?

दुर्गा पति की बात, जो कि झिड़कने जैसी थी, सुन कर खिसियाये हुये भाव से रान्नी-घर में जाने को हुई तो वह बोलीं,

— मैं कुछ खाऊँगी-पीयूँगी नहीं पर अगर दुर्गा को घर में बहुत जरुरी काम न हो तो अपने साथ दो-एक जगह ले जाना चाहती हूँ।

— घर में ऐसा काम ही क्या है ? कुन्ती और कान्ता हैं ही।....मैं तो चाहूँगा मासीमाँ ! कि यह भी बाहर आये-जाये....दुनिया सच ही बदल रही है।

इस पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने दुर्गा से कहा,

— सुन लिया ?....अच्छा अब तैयार होकर जल्दी से आओ।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने जाती हुई दुर्गा की पीठ को सुनाते हुये मासीमाँ से कहा,

— अब बताओ मासीमाँ ! मैंने आपकी बहू को इतनी बड़ी छूट दी और बदले में न आपकी बहू ने और न आपने मुँह तक मीठा नहीं करवाया।

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय अपने इस भानजे को बड़ी ही तन्मयता से देखती खड़ी थीं, बोलीं,

— बड़ी छूट देने वाला आया है। मेरी बहू को आज्ञा देने वाला तू होता कौन है ?

इस पर लगभग ठहाका लगाते हुये वह बोले,

— मासीमाँ ! बिल्कुल ठीक, अगर कुछ होता तो क्या आज्ञा देता ? नहीं था तभी तो कह दिया कि जाए। अपना क्या जाता है।

— तुमसे तो पार पाना मुश्किल है।

और इस बीच दुर्गा तैयार होकर आ गयी थी।

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय, दुर्गा को लेकर झालानी जी की हवेली के लिए निकलीं। मगरमुँहे से निकल कर पटनी-बाजार जैसे ही आयीं तो देखा कि गिरिधर ठक्कर अपने दो-चार साथियों के साथ पटनी-बाजार के बनियों, सराफों, कसेरों, दूकानदारों से सम्पर्क स्थापित करते घूम रहे हैं। भागसीपुरे की गली के मुहाने के लगभग सामने ही गांधी-भण्डार था। लोग बड़े जोर-शोर से टोपियां, बण्डियां खरीदने के पहले उन्हें लगाकर, पहन कर देख रहे थे। पास ही छोटा सा शिवाला था जिसके चबूतरे पर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बैठे हुए अखबार भी पढ़ रहे थे और लोगों की जिज्ञासाएँ भी शान्त करते जा रहे थे। उन बातों के बीच ही जब वह खादी की तात्विकता के बारे में कहने लगते कि खादी मनुष्य मात्र के स्वावलम्बन की प्रतीक है, तो यह कथन लोगों के सिर पर से गुजरता लगता; परन्तु पण्डित नागेश्वर उपाध्याय उसी ध्यानस्थ भाव से बोलते रहते। जब मनुष्य न किसी को अपने पर निर्भर बनने देता है और न किसी पर स्वयं को निर्भर करता है तो वह पूर्ण स्वराज्य की स्थिति है। अर्थ और शोषण ये—दो बातें ही सारे सामाजिक विकार की कारण हैं। पदार्थ जो सीमित है पर भोक्ता असीमित हैं। पदार्थ को वस्तु में परिणत करनेवाली पूँजी तो बहुत ही कम है, इसीलिए समाज में यह आर्थिक भेद है कि कोई गरीब है और कोई अमीर। यह विषमता औद्योगिक उत्पादन से भी कभी दूर नहीं हो सकती। औद्योगिक उत्पादन की उपादेयता यही तो है कि उत्पादन ज्यादा से ज्यादा बढ़े और कम से कम समय में हो। लेकिन जब अधिकांश लोगों की क्रय-शक्ति ही नगण्य हो तो यह बढ़ा हुआ उत्पादन कहाँ जाएगा? उन्ही लोगों के पास ही न, कि जो पहले से ही समृद्ध हैं, वे इस औद्योगिक बढ़े उत्पादन से व्यवसाय के द्वारा अथवा संग्रह करके और भी समृद्ध होते जाते हैं तथा गरीब और गरीब होता जाता है। चूँकि पूँजी का समान वितरण नहीं है इसलिए उत्पादन तथा उसके लाभ का समान वितरण भी नहीं है—तब क्या हो? गांधी इस भावी वैषम्य को देख रहे हैं इसलिए वह कहते हैं कि उत्पादन अवश्य हो पर भोक्ता की आवश्यकताएँ कम की जानी चाहिए। कानून से यदि यह करोगे तो कटुता, विरोध, छल-कपट को बढ़ावा मिलेगा इसलिए मनुष्य में यह चेतना उत्पन्न की जाए कि वह अपनी आवश्यकताएँ स्वेच्छया कम करे और यह तभी सम्भव है जब वह अपनी आवश्यकता के लिए जैसे स्वयं अर्थ का उपार्जन करता है उसी प्रकार वस्तुओं का उत्पादन भी स्वयं करे। यह स्वावलम्बी दृष्टि समाज में शोषण को पैदा

ही नहीं होने देगी। जब स्वयं ही धनोपार्जन के साथ-साथ उत्पादन भी करता है तो उसका अनावश्यक व्यवसाय नहीं करेगा। जब अनावश्यक व्यवसाय नहीं होगा तो अर्जन के अतिरिक्त वह पैसा नहीं आएगा, जो सम्पत्ति बनता है। व्यावसायिक कार्य से एकत्रित पूँजी का नाम ही सम्पत्ति है। लेकिन जब समाज में सभी स्वावलम्बी हैं तो किसी के पास कपट की यह पूँजी नहीं होगी। और जब यह अतिरिक्त पूँजी नहीं होगी तब समाज में उत्पादन के द्वारा वैषम्य को जन्म देनेवाले उद्योग, कल-कारखाने नहीं होंगे। अब बताओ कि क्या यह बात तर्कपूर्ण या माननीय नहीं है? पता नहीं कि लोग कितना-कुछ पण्डित नागेश्वर उपाध्याय की इन बातों को समझते थे, पर वह तब खादी-भण्डार से और कुछ न सही तो रुमाल तो खरीद ही ले जाते थे।

भागसीपुरे की गली के पहले ही छीपा-बाखल [हिन्दू रंगरेजों की गली] थी। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय और दुर्गा इस बाखल से नमक-मण्डी की ओर चलीं। इस बाखल में दो-एक मुसलमान रंगरेजों को छोड़कर शेष सब हिन्दू छीपे ही थे। आगे चल कर दाहिने हाथ से वह सड़क आकर मिलती है जो आती तो मुख्य रूप से स्टेशन या फ्रीगंज की ओर से है, उधर आकर देवास-गेट होती हुई दौलतगंज तथा महाकालेश्वर की ओर चलकर यहाँ मिलने के पूर्व भागसीपुरे मुहल्ले को दो भागों में विभाजित कर देती है। छीपा-बाखल वाली सड़क को सीधे काट कर यह तब मुवराज जनरल लाइब्रेरी में गोपाल-मन्दिर के दूसरे चौक में विलीन हो जाती है। जैसे ही यह सड़क छीपा-बाखल वाली सड़क को काट कर आगे बढ़ती है, वहीं दाहिने हाथ वह हवेली पड़ती है जिसमें सार्वजनिक सभा आदि के कार्यालय हैं।

झालानी जी की हवेली पीठा-बाखल [बांस-मण्डी] में थी। पीठा-बाखल उस मेन-रोड के समानान्तर थी जिसे नयी-सड़क कहते हैं, जिस पर गुजराती-समाज की टेकरी, 'कल्पवृक्ष-कार्यालय' और क्षीर-सागर का दरवाजा पड़ता है। क्षीर-सागर से आगे यह नयी सड़क बाँयें हाथ मुड़ जाती है। सती-दरवाजे से होती हुई, कण्ठाल मुहल्ले को बाजार बनाती यह सड़क गोपाल-मन्दिर के पहले चौक में जाकर समाप्त हो जाती है। इसकी समाप्ति के बाँयें हाथ पर पटनी-बाजार है और दाहिने हाथ वह सड़क है जो बोहरा-बाखल चली जाती है।

पीठा-बाखल वाली गली वस्तुतः 'कल्पवृक्ष-कार्यालय' के ठीक पीछे आकर निकलती है। सती-दरवाजे के यहाँ, जहाँ पण्डित नारायण जी पंण्ड्या का मकान जिस गली के मुहाने पर है वही गली नयी-सड़क को थोड़े तिरछे से काटकर फिर नयी-सड़क के समानान्तर चलते हुए 'कल्पवृक्ष-कार्यालय' पर जाकर खुलती है और वापस नयी-सड़क में ही गुजराती टेकरी के उतार वाले हिस्से के सामने, जहाँ कि सुना है कोई बैंक बन रहा है, पहुँचकर विलीन हो जाती है। यह पीठा-बाखल की गली जब पण्डित नारायण जी पण्ड्या के घर से आगे बढ़ती है तो यह आगे जाकर थोड़ी खुली-सड़क बन जाती है। इसी पर आगे बुधवार्‌या पड़ता है। यहीं से यह मंगलनाथ, भैरोगढ़ की ओर निकल जाती है।

इस गली का पीठा-बाखल नाम, केवल नाम के लिए ही नहीं था। कभी इस गली में आद्यन्त बाँसों-लकड़ियों के बड़े-बड़े पीठे रहे होंगे पर अब और पीठे फर्नीचर वालों की दूकानें कम हो गयी हैं। सती-दरवाजे की तरफ से आने पर इसमें सेठों, साहूकारों, दलालों, आढ़तियों की अच्छी-खासी हवेलियाँ बन गयी हैं पर 'कल्पवृक्ष-कार्यालय' की ओर से जाने पर आज भी कच्चे-पक्के घर और पीठे-दूकानें पड़ती हैं। उन्हीं हवेलियों में जो सबसे बड़ी हवेली है वही झालानी जी की हवेली कहलाती है। झालानी-परिवार बहुत बड़े कुल-कुटुम्ब के रूप में मालवा के बाहर गुजरात तक व्यापार के सिलसिले में फैला हुआ है। बम्बई-सूरत में तो रेशम और मसालों का व्यापार ये विदेशों तक से करते हैं। रुपयों का लेन-देन, जमींदारी, बाग-बगीचे, मिलों की एजन्सियाँ, कपड़ों की दूकानें आदि इतने विभिन्न व्यापार इस परिवार के लोग पूरे मालवा में करते है कि लोग इन्हें मालवा का दूसरा हुकुमचन्द-परिवार समझता है। अपने कपड़े की दूकानों को 'कपड़ा-भण्डार' या 'वस्त्र-भण्डार' कहने-लिखने के स्थान पर 'क्लाथ-स्टोर्स' कहने-लिखने की प्रथा शुरू करने का श्रेय इन्हीं लोगों को जाता है। कण्ठाल में 'झालानी-ब्रदर्स', 'झालानी क्लाथ-स्टोर्स' आदि नाम से स्टोर्स हैं जहाँ क्रीम-पाउडर, टाइयाँ, टार्च से लेकर सभी प्रकार के विदेशी कपड़े मिल जाएँगे।

जिस समय ये दोनों नमक-मण्डी से निकलकर पीठा-बाखल के लिए उस पिछ-वाड़े की गली में पहुँचीं जिधर अधिकांश घरों के पिछवाड़े ही पड़ते थे, उस समय आश्विन की तीसरे प्रहर की धूप में मिठास का हल्का सा आस्वाद था परन्तु इस गली की दुर्गन्ध ने सब बेमजा कर दिया। म्यूनीसिपाल्टी का टीन का बड़ा सा कूड़ादान अवश्य था पर उसमें इतने सारे दोने-पत्तलें भरी हुई थी जैसे किसी के यहाँ सत्यनारायण की कथा का भोज रहा हो। और पता नहीं इस कूड़ेदान में कितने दिनों का कूड़ा जमा हुआ हो। इसके अलावा भी चारों ओर यहाँ से वहाँ तक जूठी पत्तलें, बासी-बठरायी दाल-सब्जियों की काफी तेज खट्टी दुर्गन्ध तक भरी हुई थी। घरों की गन्दी नालियों से तरह-तरह का बदबूदार पानी कच्ची-पक्की नालियों में या तो बह रहा था या टूटे पत्तों, कागजों के मारे रुका पड़ा था। यों तो मक्खियों की भन्नाहट उठ ही रही थी पर तब और भी तेज हो जाती, जब कोई गाय या आवारा कुत्ता उन दोनों पत्तलों को हटाता। मक्खियाँ तब चौंककर हठात् उड़तीं और एक तेज भनभनाहट उस दुर्गन्ध के साथ मिलकर जैसे आप पर झपट्टा मारती सी लगतीं। आवारा कुत्तों-गायों में होड़ लगी हुई थी कि इस जूठन में से ताजी जूठन किसे अधिक मिलती है। इनके अलावा इस अलभ्य पदार्थ के दावेदार दो-एक कौवे भी थे, जो किसी अहाते की दीवार पर बैठे हुए ताक रहे थे। गायों के पास अपने शत्रु के लिए सींग थे तो कुत्तों के पास गुर्राना पर कौवों के पास सिवाय चालाकीपूर्ण झपट्टे के अलावा क्या था परन्तु प्रायः कौवे अपनी चोंच में कोई टुकड़ा दबाकर सीधे पासवाली नीम की सबसे ऊँची फुनगी पर ठहरते। जिस कूड़ेदान के पास एकाध गाय ही होती और दो-चार कुत्ते होते वहाँ कुत्ते ऐसा गिरोह बनाकर उस जूठन को घेर कर खड़े होकर सतर्क भाव से देखते भी जाते, गुर्राने की मुद्रा भी

बनाये रखते और खाते भी जाते। बेचारी गाय तब कूड़े में पड़े केले के पत्ते को ही चबाकर सन्तोष कर लेती।

पता नहीं किसका वहाँ एक बग्घीखाना था, जिसके टीन के बड़े दरवाजों की चादर इतनी सड़ गयी थी कि पूरी बग्घी ही नहीं दिखलायी देती थी बल्कि उस बग्घीखाने के बड़े-बड़े मकड़ी के जाले तक बतला रहे थे कि बीसियों वर्षों से यह सब बन्द पड़ा है। शायद इस पिछवाड़े वाली गली में बिना ध्यान दिये और नाक पर कपड़ा रखे आना-जाना मुश्किल था परन्तु तब भी बुर्राक धोती, सफेद मक्खन जीन का लम्बा कोट पहने, दुपट्टा डाले, इन्दौरी पगड़ी बाँधे सेठ-साहूकार आदि नाक पर सारंगपुरी दुपट्टा रखकर दिन-रात आते-जाते ही थे। स्त्रियाँ भी इस गली में पहुँच कर घूँघट एकदम तो नहीं हटा लेती हैं तब भी इतना ऊँचा तो कर ही लेती हैं कि सिर्फ कपाल ढंका रहता है। हाँ बदबू से बचने के लिए नाक पर पल्लू ले लेती हैं परन्तु चाल और व्यवहार में तथा रच-रच कर बातें करने की शैली में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि चारों ओर गन्दगी हैं तो थोड़ा तेज चलकर निकल ही लिया जाए। उस गन्दगी में जिस प्रकार उनके अलंकार चमकते होते, पायल-बिछिया बोल रही होतीं उसी प्रकार वे भी बोल रही होतीं, खिलखिला रही होतीं।

इस पिछवाड़े की गली के बाँये हाथ से पीठा-बाखल शुरू होती थी और सीधे जाने पर वही नयी-सड़क आ जाती थी जहाँ कि 'कल्पवृक्ष-कार्यालय' था। बाखल में पीठे आरम्भ होने के पूर्व कई कच्चे-पक्के अधपके घर थे। खपरैलो वाले इन घरों में प्रायः कमरा तो एक ही होता था परन्तु आँगन खूब-खूब बड़े थे जहाँ रंगीन तागे बँटने-कातने-बुनने वालों के नीचे-नीचे घर थे। मर्द लोग या तो तागों को लम्बे-लम्बे करके खास तरह से बँटते रहते या स्त्रियाँ चरखेनुमा चरखियों पर कात रही होतीं। बड़ी लड़कियाँ या बहुएँ इन रंगीन तागों की लच्छियाँ बनाने में व्यस्त रहतीं जबकि लड़के, मार खाने के बाद भी, हाथ का काम छोड़कर गोलियाँ खेलते रहते। यहाँ पतंग बनानेवाले, कागज के फूल, कन्दील, पंखें बनानेवालों के भी घर थे। नये हुचकों [पतंग की चकरी] के लिए बाँस की खपच्चियाँ छीली जा रही होतीं। बाकी के लोग या तो रंगीन कागज काटने में लगे रहते या पंखे के लिए किस प्रकार कागजों को जमाकर घुटनों से इनको जोरों से दबाना पड़ता है कि जैसे उन्हें चिपका दिया गया है और तब कैसे उन्हें काटना होता है और तब उन्हें रँगना पड़ता है। रंग अगर एक-दूसरे पर चढ़ गया या फैल गया तो फिर कारीगरी ही क्या हुई? और यह बताते हुए बड़े मियाँ जब कल्लन या रमजान की ओर देखते तो लड़कों की आँखों में अपने अब्बाजान के लिए गर्व का भाव होता। कुछ लड़के पतंग में लगी कमानियों के सहीपन को दोनों ओर से पकड़ कर देख रहे होते, कि उसमें पतंग सजीव लगने लगती। साथ ही कोई मंझा तैयार करने के लिए शीशे के चूरे में खपच्ची से गोंद मिला रहा होता। गोंद था कि चूरे को अपने साथ लिपटा जरूर लेता पर क्या मजाल जो बिना मेहनत के एकरस हो जाए।

एक चूड़ीवाला मनिमारी भी था जो अपने टट्टू पर चूड़ियों के आवाज करते गट्ठर लाद कर अपने चबूतरे के सिरे पर जिस तरह तैयार खड़ा अपनी घरवाली से कुछ कह रहा था उससे स्पष्ट लग रहा था कि यह ताजपुर-तराने के साप्ताहिक हाट में दूकान लगाने जा रहा है। यदि इसे किसी मेले-ठेले-जतरा आदि में कुछ दूर और कुछ दिनों के लिए जाना होता तो एक और टट्टू पर साथ में घर वाली भी होती जिस पर छोटा-मोटा तम्बू तथा दूसरा सामान भी होता। चूड़ी वाले के आगे एक बड़ा सा नीम का पेड़ था जहाँ कि छोटा सा खुलापन था, जिसे मैदान शायद ही कोई कहता। यह एक कुम्हार का घर था। उस नीम नीचे एक चक्के पर वह कुम्हार दीवाली के लिए बड़े-छोटे दीये बना रहा था। पास ही अलाव जल रहा था जिसमें पहले के बनाये गये खिलौने, 'कोजागरी' के लिए छेद वाले दीप-कलश पकाये जा रहे थे। रंगे जाने की प्रतीक्षा में पके हुए लक्ष्मी-गणेश, घुड़सवार, तोते, बच्चों के खेल के बर्तन धूप में रखे हुए थे। एक टोकरी में धूप में सूखे हुए खिलौने, मूर्तियाँ, सकोरे, दीये दूसरे अलाव के लिए जमा किये जा रहे थे। बहुएँ-लड़कियाँ मिट्टी के सकोरों में नीम की दतौन के ब्रश बनाये इन खिलौनों को, मूर्तियों को रंगने में लगी थीं। रंग-पुत कर यही साधारण सी मिट्टी कैसे भगवान, देवता, राजा, सिपाही, हाथी, तोता, रसोई के बर्तन बन कर एक प्रतिसृष्टि लगने लगती है। लगता है कि यह कुम्हार यदि उस कुम्हार की तरह शरीर के साथ यदि आत्मा और भाषा भी इन्हें दे पाता तो यही प्रतिसृष्टि अपने सृष्टिकर्ता के स्तवन में वेद-पुराण लिख डालती। आत्मा और भाषा के अभाव में यह प्रतिसृष्टि केवल खिलौना बन कर रह जाती है और इनका सृष्टिकर्ता बेचारा अनाम कुम्हार ही बना रहता है।

पितृपक्ष से लेकर दीवाली तक इतने त्यौहार होते हैं कि लावा-लैया, चूड़ा, खील, गट्टे-बताशों से बाजार के बाजार पटे रहते हैं। सड़क के दोनों ओर पटरियों पर उठाऊ दूकानें लगाकर यह चहल-पहल होती रहती है। इसी में मिट्टी भी रंग और स्वरूप तथा नाम ग्रहण कर देवता बन जाती है। घर-घर देवत्व के माध्यम से यह मृतिका-पूजन ही तो है। शिव का पार्थिव-पूजन मृत्तिका-पूजन ही तो है। मिट्टी की ऐसी अभ्यर्थना, पूजन और प्राण-प्रतिष्ठा का दर्शन केवल धार्मिक नहीं है बल्कि इसका समाज की अर्थ-व्यवस्था से भी बहुत सम्बन्ध है। वस्तुतः धर्म तो आस्था और भाषा तक ही इसमें निहित है बाकी तो अर्थ-व्यवस्था, अर्थ-वितरण की यथार्थता, लौकिकता ही है। सारे त्यौहारों के पीछे धर्म और अर्थ दोनों ही है। त्यौहारों के पीछे का अर्थशास्त्र भले ही कुम्हार को न मालूम हो पर उसका अर्थ-लाभ तो होता ही है। प्राचीन या आरम्भिक समाजशास्त्रियों को इस धर्म-भाषा में छुपी अर्थ-दृष्टि से ने क्या साधारणजन को अर्थ-लाभ नहीं करवाया? जिसने इन धार्मिक-पर्वों, त्यौहारों से धर्म-लाभ चाहा उन्हें धर्म-लाभ मिला। पर इसके लिए कितनी बड़ी दृष्टि को जन्म देना पड़ा कि साधारण से नगण्य धर्म को मूर्ति का स्वरूप देकर पूजा-भाव उत्पन्न किया। मंत्र और मृत्तिका के संयोग से समाज की वैचारिक और धार्मिक अस्मिता को

जिन्होंने भी सोचा क्या वे साधारण मेधा के लोग थे ? क्यों नहीं किसी दूसरे प्रकार के पर्व को यह सामाजिक अस्मिता मिलती ? धर्म के चक्र को कुम्हार के चक्के से पृथक नहीं किया बल्कि यह स्वीकार किया कि चेतना का जो दिव्य धर्मचक्र अदृश्य रूप में ऊर्ध्व में है वही व्यक्त रूप में, कर्म बन कर कुम्हार का चक्र है। इस अद्वैत की धूल पग-पग पर बैठा ली गयी है।

कुम्हार के घर के बाद से बोहरे और दूसरे लोगों के बाँसों-लकड़ियों के बड़े-बड़े पीठे शुरू हो जाते हैं। इन पीठों के सामने ठेले, गाड़ियाँ खड़ी हुई थीं, जिन पर आम, देवदार, सागौन, चीड़ के कुन्दे, तराशे हुये तख्ते, पल्ले, इमारती लकड़ियाँ और तरह-तरह के तैयार सामान लादा जा रहा था, उतारा जा रहा था। अपने सिलेटी रंग के तंग पजामों, तनजेबी कुरतों, बासकटों और सूती गोल कढ़ी टोपियों में तराशी हुई पतली डाढ़ियों में सुदर्शन बोहरे तख्त पर शीतलपाटी बिछाये पलथी मारे ग्राहकों से गुजरातीनुमा हिन्दी मे मोलभाव भी करते जा रहे थे और सिलक में 'माल' भी रखते जा रहे थे। एक तरफ एक दूसरे बोहराजी कलदार रुपयों की गिनती और ढेरी भी लगाते जा रहे थे तथा पास मे बैठे आदमी पर निगाह भी रखे हुये थे कि वह पत्थर पर रुपये ठीक से बजाकर देख रहा है कि नही ? जिस बोहराजी के सामने गोलक रखी थी वह शायद 'सेठ' था। पीठों के सामने जो फर्नीचर वालों की दूकानें थीं वे ज्यादातर बोहरों की ही थी, हां, वहां काम करने वाले दूसरे लोग थे। इन दूकानों के बाहर बड़े-बड़े लट्ठे पड़े थे परन्तु अन्दर बिना पालिश किये पलंग, कुर्सियाँ, टेबलें, आदमकद शीशों के फ्रेमे या तो तैयार थे या तैयारी के विभिन्न स्तरों मे थे। रेजमाल किया जा रहा था, वार्निश पोता जा रहा था इसलिए तारपीन की तेज गन्ध आ रही थी। किसी के अन्तिम रूप में नैन-नक्श दुरुस्त किये जा रहे थे। भीतर की ओर जहाँ तख्ते चीरे जा रहे थे, लकड़ियाँ बड़ी-बड़ी करवतों से रेती जा रही थीं, हत्थे या पल्ले बसूलों से छील कर बराबर किये जा रहे थे वहाँ ज्यादा शोर था। बड़े-बड़े सागौनी कुन्दों को बड़ी-बड़ी करवतें ऊपर से नीचे आती-जाती खर्र-खर्र काट रही थीं और फलस्वरूप बूरा गिर-गिर कर जमा हो रहा था। यह बूरा नीचे खड़े आदमी के पैरों के चारो ओर जमा हो गया था जैसे वह बूरे के पानी में खड़ा है। लकड़ी के इस बुरे की बड़ी सूखी गन्ध थी जो गला पकड़ती थी। यदि ये दूकानें खुले ढंग की न होतीं तो चपड़ा, तारपीन और लकड़ी की गंध में खड़ा रहना मुश्किल था।

फर्नीचर वालों की दूकानों के बाद तत्काल एक तेली का मकान था, जो पक्का था। तैली शायद बड़ा चुस्त आदमी था इसीलिए आस-पास के सारे घरों से पहले दीवाली [अर्थात् लक्ष्मी] के स्वागत में सबसे पहले सफेद-झक बना, बड़ा ही रंगा-पुता तैयार खड़ा था। इस घर का खूब बड़ा, चौड़ा सा फाटक ही बतला रहा था कि आसपास के गाँवों से तिल, मूंगफली की गाड़ियाँ कसरत से आती हैं, और वे सीधे आँगन तक जाती हैं। बाहर के इस फाटक से ही आँगन में खड़ी दो घानियाँ (कोल्हू) दिखलायी दे रही थीं। इस समय वे बन्द पड़ी थीं। केवल दालान में जो घानी थी उसी पर इस समय

तेल पेरने का काम हो रहा था। दालानवाली घानी तो सड़क से ही दिखलायी देती थी। घानी के बीच में एक लड़का हाथ में संटी लिये आँखों पर टोप चढ़ाये गोल घूमते बैल को धीमे पड़ने पर रह-रहकर टिटकारता जा रहा था, साथ ही चूँ-चूँ करती घानी में से निकलते तेल की निगरानी भी करता जा रहा था। घानी की लकड़ी इतनी चीकट थी कि देखने भर से अँगुलियों में चिकनापन लगने लगता। इन तेली महाशय की अनुकम्पा से पूरी बाखल में न भी सही तो आसपास के दो-चार घरों तक जरूर ही तेल की तरह-तरह की गन्ध फैली हुई थी। दीवाली के कारण तेल की खपत ज्यादा होती ही है। मालवा, सामान्यतः तो तिल्ली का ही तेल खाता है या बहुत हुआ तो मूँगफली का तेल। इसके अलावा भी तो दीवाली पर तो कई बातों के लिए तेल चाहिए। दीये तो तेल के जलते ही हैं पर उससे ज्यादा तो घरो के दरवाजों, खिड़कियों, बारजों, लकड़ी की छतों, खम्भों सभी के लिए चाहिए। बरस में एक बार तो तेल-पानी करना ही पड़ता है। ठीक है, सब पर एक ही साथ न भी करो तो भी हर साल किसी न किसी पर तो करना ही पड़ता है। मालवा के सम्पन्न घरों का, खास कर पुराने मुहल्लों के मकानों का स्थापत्य प्रायः पेशवाई स्थापत्य का है जिसमें लकड़ियो का उपयोग छत डालने से लेकर छत छाने तक तो होता ही है परन्तु खम्भे, धरन भी तो लकड़ियों के ही होते हैं। सागौन-शीशम जैसी इमारती लकड़ियों पर तो हर वर्ष तेल-पानी नहीं चाहिए, खाली धूल झड़ जाए तो भी चमक आ जाती है दूसरे उनमें वर्षों दरार नहीं पड़तीं, लेकिन साधारण घरों में जहाँ खजूर की धरनों पर दो-दो, तीन-तीन मंजिलें खड़ी कर ली जातीं हैं और साधारण लकड़ियों के खम्भे खड़े कर लिये जाते हैं तो उनके लिए केवल चमक या शोभा के लिए ही तेल-पानी नहीं चाहिए बल्कि गरम हवा उन्हे जहाँ तिड़का (फाड़ देना) देती है, वहाँ बरसाती हवा उन चीरों में घुसकर लकड़ी को भीतर से खा जाती है। उस पर रही-सही कमी तेज आँधियों के साथ आयी धूल उनमें भर कर उन्हें चौपट कर देती है। लकड़ियो की इन दरारों में कीड़े लगना तो आम बात है। दीमकें रेंगती हुई इन दरारों में भर जाती हैं। इन सब झंझटों के लिए ही तेल-पानी करना पड़ता है। चमक-दमक के लिए चीड़, सागौन, शीशम की लकड़ी होनी चाहिए जिनमें न दरार पड़ें न उनमें मोम-चपड़ा भरना पड़े। तेल-पानी साधारण घरों के लिए तो बहुत ही जरूरी है। खिड़कियों के वेलबूटेदार पूरे के पूरे पैनल किसी बरस तेल-पानी से रह जाएँ तब दूसरे बरस देखिए कि उनकी जालियों में मार धूल ही धूल, बर्र के सफेद टीके जैसे छत्ते दिखलायी देंगे। पता नहीं क्या ऐसा है कि जिसे देखो वही लकड़ी का दुश्मन होता है। मतलब यह है कि घर नहीं एक मुसीबत है। हमेशा ही हाथ में झाड़न लिए न रहो तो तिलचट्टे लकड़ी को पोला करके मय बाल-बच्चो के साथ आपको मिल जाएँगे। जरा चूके नहीं कि घर, धूल धानी और कांकरा पानी हो जाए। तभी तो इन दिनों पूरे मालवा के कस्बे-कस्बे, गाँव-गाँव, मुहल्ले-मुहल्ले, घर-घर से केवल चूने, रंग और तेल-पानी की ही गन्ध आएगी। मालवी जन का प्रिय तेल तो तिल्ली का ही है। सरसों का तेल खाने के लिए भी होता है, यह सुनकर मालवा आश्चर्य में आ जाएगा।

आम के अचार [अचार] में सरसों का तैल तो दुनिया खाती है, पहलवान देह बनाने के लिए देह पर मलते भी सुना है, गांवों में लोग लाठियों को और अपने चमरौधों को सरसों का तेल पिलाते हैं परन्तु यह खाया भी जाता है, यह सुनकर मालवा नाक पर दुपट्टा रखकर खांसने लग सकता है कि—उस तैल की कैसी घांस आती है—भला इसे कोई खा कैसे सकता है ? भैया, इस संसार में सब कुछ सम्भव है, होगा !! हमें क्या, पर हम नहीं खा सकते !

तैली के इस मकान के बाद चार-छह मकान दक्षिणियों [मालवा में महाराष्ट्रियों को सामान्यतः यही कहा जाता है] के आ जाते हैं। साधारण से आकार वाले इन मकानों को देख कर कोई भी कह सकता था कि मिलों में या रेलवे में छोटे-मोटे काम करनेवाले निम्न मध्यवर्गीय बाबू ही इनमें रहते होंगे। दो कमरों के ये इकतल्ले मकान, घर से अधिक क्वार्टर लगते हैं, इसलिए इनमें स्थायीत्व की नहीं बल्कि कामचलाऊपन की भावना ही झलकती है। इन क्वार्टरों के बीच में फेंसिंग के नाम पर मेंहदी या बेशरम की नाम मात्र की विभाजन-रेखा खड़ी होगी। इनमें रहने वाले भाऊराव, गणपत राव या दामोदर राव जैसे अनाम नामों वाले लोग मिलों में रात-पाली या दिन-पाली में काम पर जाते होंगे या जो मिल में नहीं होगा वह रेलवे में गुड्स-क्लर्क होगा या बहुत तरक्की किये होगा तो किसी जंगली इलाके के एकाकी, छोटे से फ्लैग-स्टेशन का असिस्टेण्ट स्टेशन-मास्टर होगा। दिन भर इनकी स्त्रियाँ मराठी ढंग की कच्छे वाली दुलंघी बरारी या नागपुरी साड़ियाँ कसे कपड़े धोती रहती हैं या बर्तनों को शीशे की तरह चमकाने में लगी रहती हैं। घर के चारों ओर तार पर कपड़े सूखते रहते हैं। बीनना-चूंटना लेकर लम्बे-फैले पैरों पर थालियाँ रखे आपस में बातें तब तक करती रहेंगी जब तक कि आपस में झगड़ने की सीमा न आ जाए। शाम को पतियों के लौटने पर पीतल के कप-बशी में चाय दे देंगी और तत्काल अंगीठी जला कर दरवाजे पर रख आएंगी ताकि धुंआ निकल जाए तो गोधूली के बीतते न बीतते थके पति को खाना दिया जा सके। प्रतिदिन पोली [रोटी] भाजी, या बेसन-भात, बस इसी तरह का बनाना होता है। बाहर रखी अंगीठी का धुंआ जब दूसरे के घर पहुँचता है तो प्रायः कहा-सुनी हो जाती है यह भी तो जीवन का, गृहस्थी का अनिवार्य अंग है इसलिए कहा-सुनी भले ही जोरों पर होती हो परन्तु बुरा कोई नहीं मानता। गोधूली होते न होते 'देवा लम्बोदर गिरिजा नंदना !!' की प्रार्थना, भजन, आरती भी अनिवार्य है और हर झगड़े के बाद सिर पीटते हुए 'देवा !' 'देवा !' कहना भी आवश्यक है। प्रत्येक बृहस्पतिवार को जब 'दत्तात्रय-मण्डली' का साप्ताहिक भजन-पूजन, कथा-गायन का कार्यक्रम होता है तो इन घरों में थोड़ा आपसी सौहार्द आ जाता है अन्यथा इसके 'दिनकर' और उसके 'भास्कर' को लेकर आपस में जो तुला-तुका [तू-तू, मैं-मैं] होती है वह स्पृहणीय होती है। शाला [स्कूल] से मुल्गे-मुल्गी [लड़के-लड़की] खेलते-वतियाते आते। लड़के, या तो फर्नीचर वाले की दुकानों के सामने रखे लकड़ियों के कुन्दों पर कूदते-फांदते या बाखल में गुल्ली-डण्डा खेला जाता।

लड़कियाँ या तो जाफरियों के दरवाजों के पल्लों को थामे खण-पातल के पोलके और बंगलोरी या नागपुरी कपड़ों के पेटीकोट पहने हर बात पर आँखों और ओठों दोनों से 'आइग ऽऽ' आश्चर्य प्रगट करती शाला की या रास्ते में घटी किसी घटना की चर्चाएँ करती रहतीं; या आई [मराठी में माँ के लिए सम्बोधन] द्वारा थमा दिया गया कोई सीना-पिरोना थामें या थाली-सूप में दालें फटकारते हुए किसी की नकल उतारते हुए हँसा जाता।

जिस समय श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय और दुर्गा पीठे वालों की दूकानों के पास पहुँची भी नहीं थीं कि शाला से लौटी लड़कियाँ दो चोटियों में रोज की सी मुद्रा में चबर-चबर करती तोतों का झुण्ड लग रही थीं। कुछ तार पर से सूखे कपड़े बटोर रही थीं और कुछ दूसरा उठाना-धरना कर रही थीं। तार पर से कपड़े बटोरती एक महिला ने दूसरे घर में बातें करती लड़कियों के झुण्ड की ओर देखा कम, पुकारा ज्यादा,

— शालिनी ! इकड़िये !! [शालिनी ! इधर आ।]

पुकारना जैसे गोली चलना था। वह तोतों वाली चबर-चबर हठात् रुक गयी। एक लड़की ने पास खड़ी लड़की को, जो कि बहुत बोल रही थी, कुहनी मारते हुए कहा,

— तुला आई बोलवते।—[तुम्हे माँ बुला रही हैं]

यद्यपि बीच की झाड़ी और अपनी पीठ के कारण शालिनी अपनी माँ को नहीं देख पा रही थी तब भी उत्तर दिया।

— काय आई ! मी इथेस आहे। [क्या माँ ! मैं यही हूँ]

— इकड़िये न ? [यहाँ आ न ?]

— हो ऽऽ ओ, अत्तास येते। [हाँ, अभी आयी।]

पर जब दूसरों ने शालिनी को नहीं जाते देखा तो उसी लड़की ने फिर कहा, जिसने कुहनी मारी थी,

— फारच वाइट आहे, जाती कशाला नको ? [बहुत बुरी है, जाती क्यों नहीं ?]

— जाते बाबा ! जाते, तुला काइ घाई आहे ?...हाँ, तरी काय झाला, वसुन्धरा ?

— [जाती हूँ बाबा ! जाती हूँ। तुम्हे ऐसी क्या जल्दी है ? हाँ, फिर क्या हुआ वसुन्धरा ?]

इन लड़कियों मे कोई वसुन्धरा भी थी जो कुछ सुना रही थी और उसे सुनने को शालिनी बहुत उत्सुक थी। वसुन्धरा ने दोनों हथेलियाँ उल्लास में गूँथ लीं और आवाज दबाते हुए पूरी देह और भाषा को एकरस करते हुए कहा,

— आइंग ऽऽ ! मी काय तुला साँगू शालिनी ! अशी गम्मत झाली....।

— [ओ माँ ! मैं क्या बताऊँ शालिनी ! ऐसा मजा आया...।]

तभी शालिनी की आई ने जाफरी के पल्ले को थामते अपने को अधिक दिखाते हुए कहा,

— तुला दादा ची कमीज कोणी पाहिले का ? [अपने पिता की कमीज किसी ने देखी

है क्या ?]
— मी नाही पाहिले ।....कोण ची कमीज ?
— अइसा कइसे होयेंगा देवा ! तार पर हम खुद सुखाया । बाहेर का कोई तो आ
नहीं । उस वखत कालिन्दी बाई अपने दरवाजे पर बइठा था ।
उत्तर भारत में अहिन्दी भाषी अपने असौहार्द को व्यक्त करने के लिए अपने ढं
हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं ।
इस पर शालिनी बोली,
— तपास करू काय ? [पूछूं क्या ?]
और जब श्रीमती कालिन्दी बाई से शालिनी ने अपने पिता की कमीज के बारे में पूछा
क्योंकि वह उस समय अपने दरवाजे पर बैठी थीं, तो वह आगबबूला हो उठीं । ब
सा लाल टीका लगाये, खिंचे बालों वाला जूड़ा बनाये, गाल पर की गुदने की नीले
बिन्दी वाली कालिन्दी बाई बेलन ही नहीं बल्कि लड़ने वाली पूरी लाठी लग रही थीं।
अपने कपाल को हथेली से ठोकते हुये बोली,
— देवा ! देवा !! तुमारे आदमी का कमीज हम कायकू देखेगा शकुन्तला बाई ? हम
अपना जाफरी के पास ऊभा [खड़ा] था इस वास्ते हम वो कमीज चोरी किया, है
न ?...हम चोरी किया, है न ? वो दो पइसे का कमीज हम चोरी किया—ऐ
बोलेगा तुम ?
शालिनी की माँ का नाम श्रीमती शकुन्तला बाई पेंडसे था ।
— हम कब कहा वहिणी ! [भाभी !] के तुम चोरी किया ? खाली तुमसे तपा
[पूछा] किया ?...ठीक है तुम नहीं ले गया, तब कौन ले गया ?
वाक्य शायद श्रीमती शकुन्तला बाई पेंडसे ने अपने सोचने के लिए ही कहा होगा
कि—तब कौन ले गया ?—परन्तु श्रीमती कालिन्दी बाई मोरासकर को लगा कि य
कहना चाहती हैं कि जब कोई और आया नहीं, तुम अपने दरवाजे पर खड़ी थीं, त
और कौन ले जा सकता है ?
वह ताव खाते हुए बोली;
— तुम अपना पोरगी [लड़की] को तपासने को हमारे घर कायकू भेजा ? ओ उधर
दूसरा बाजू में नलिनी बाई साठे का घर क्यूं नहीं भेजा ?
— जब हम कमीज इधर कू सुखाया तो तुम ऊभा नहीं था ?
— हमारा घर—हम चाहे ऊभा रहे या बइठा रहे । तुमारा या किसी का क्या लेता
है बाई ? हमको हलकट [नीचा] समजता है न ?
— एकदम नवा कमीज था । गणेशोत्सव पर सिलवाया था ।
— तो हम चुराया उसको ?
— हम तुमको चोर बोला क्या कालिन्दी बाई ?
— चोर, दूसरे को कइसे चोर बोलेगा ? बोलो न ?
— काय सांगित्ले तुमि ? [क्या कहा तुमने ?]

— मी सांगित्ले शकुन्तला बाई ! तुमि चोर । एक बार नको, शंबर [सौ] बार चोर। पाहिले का ? [समझो क्या ?]...तुमारे आदमी का कमीज...छिः अइसा कपड़ा से तो घाटी लोक [बर्तन मांजने वाले] मला घर का मांडा भी नई घसेगा—हुँअ !! नवा कमीज !!...हमको तुम चोर बोलेगा तो हम बोलेगा—तुम चोर आणी तुमाला वड़ील [बड़े सदस्य] चोर !!

— तुम हमारा वड़ील को गाली दिया ?

— मील [मिल] में गाँठें गिनेगा और नवा कमीज पहनेगा—हलकट कहीं का, हम्माल !!

अब तो श्रीमती शकुन्तला बाई पेंडसे भी लड़ने पर आमादा हो गयी थीं और हाथ नचाते हुए बोली,

— हम्माल [कुली] होगा तुम । हम्माल होगा तुमारा नवरा [पति] दामोदर । हमेरा आदमी तो आवखा दीन खुर्ची वरून बसल्यात टाइम-कीपरी करतात।

इस पर बहुत ही नाटकीय ढंग से श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर बोलीं,

— खुर्ची ? हे काय होते शकुन्तला बाई ? आणी तुमी कुठुन पाहिले ?

[कुर्सी ? यह क्या होती है शकुन्तला बाई ? और तुमने कहाँ देखी है ?]

श्रीमती शकुन्तला बाई पेंडसे लेकिन अपनी ही बात बोलीं,

— मला बरोबर खात्री आहे....[मुझे पूरा विश्वास है....]

— के हम तुमारे नवरा की कमीज घेतली, है न ? खरं सांगित्ले तुमि....वो कमीज हमीच चुराया....तब्बी तो वो....दामोदर राव भास्कर राव भौरासकर....हम्माल का वो ...पीतल का तुक्कस [कप जैसी कटोरी] विनायक राव नारायण राव पेंडसे....टाईम कीपर....है न ? उसके घर मिला....हे पांडुरंगा चे चमत्कार पाहिले तुमि शकुन्तला बाई ?....देवा ! देवा ! ! पांडुरंगा ! तुफास डोले आहे रे, मी काय करु अता ? [कि मैंने तुम्हारे पति की कमीज ली, है न ? ठीक कहा तुमने.... वो कमीज हमीं ने चुरायी....तभी तो वो....हम्माल का, वो....पीतल की कटोरी.... टाइम कीपर... हे भगवान ! तुम्हारे ही आँखें हैं, मैं क्या करूँ अब ?]

और श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर दोनों हाथों से अपने गाल पीटने लगी । जिस समय यह हो रहा था उसी समय श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय और दुर्गा इन लोगों के घर के सामने पहुँची थीं । जब दो सम्भ्रान्त गुजराती महिलाओं को सड़क से जाते देखा तो जो लड़के-लड़कियाँ यह तमाशा देख रहे थे वे एक तरफ हट गये । श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर और श्रीमती शकुन्तला बाई पेंडसे ने भी देखा तो चौंकीं । यदि ये अपरिचित सम्भ्रान्त महिलाएँ हठात न आ जातीं तो यह गृहयुद्ध अभी तत्काल न समाप्त होता । दोनों ने जब देखा तो उन्हें लगा कि इनमें जो वृद्ध सी महिला हैं उन्हें कहीं देखा है, लेकिन कहाँ ? समझ नहीं पा रही थी तब भी उन्होंने अपने काष्ठे ढीले किये । कसे हुए वस्त्र ही नहीं ढीले किये बल्कि मन का तनाव भी दूर करते हुए नारी सुलभ कोमलता लाकर दोनों ने ही लगभग साथ-साथ नमस्कार किया । नमस्कार का

जवाब केवल प्रति-नमस्कार से ही नहीं बल्कि श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने स्न कर दिया। चूँकि ये दक्षिणी महिलाएँ थीं अतः मराठी में पूछा,

— मी आपणार ओलखणार नाहीं। [मैंने आप लोगों को पहचाना नहीं।]

इस पर श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर ने अपनी वाली हिन्दी में ही जवाब दिया,

— आप जइसे मोटे लोक हम जइसे छोटे लोक को कइसे जानेगा?

— नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं बहन!....आप लोग यहीं रहती हैं क्या?

— होऽऽओ, इथेस राहतात। [जी, यहीं रहती हैं।]

— आपल्या नाव काय? [आपका नाम क्या है?]

— मी शकुन्तला पेंडसे आहे [मैं शकुन्तला पेंडसे हूँ]

— आणी मला कालिन्दी भौरासकर बोलवते। [और मुझे कालिन्दी भौरासकर कहते हैं।]

इस परिचय के बाद श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय ने पूछा,

— लेकिन आप लोग मुझे कैसे जानती हैं?

इस पर श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर ने तपाक से कहा,

— वोऽऽ महाराष्ट्र-भगिनी-मण्डल के गणेशोत्सव में आप आयी थीं न? और सम्बोधन भी किया था?

— अच्छा, अच्छा वो सरदार आंग्रे साहेब के बाड़े में जो हुआ था?

— होऽऽओ, तबीच हमने और शकुन्तला बाई ने देखा था। देखा था बाई न?

— बरोबर, तबीच देखा था।

श्रीमती शकुन्तला बाई पेंडसे ने श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर की बात का अनुमोदन मराठी ढंग से सिर हिलाते हुए किया। इस बीच शालिनी, जो कि घर में थी, जाफरियों के पीछे से कमीज हाथ में लिये हुए आयी और लगभग चिल्लाते हुए कहा,

— मिला ली!! आई! दादा ची कमीज मिला ली। [मिल गयी!! माँ! पिता की कमीज मिल गयी।]

श्रीमती शकुन्तला बाई पेंडसे ने जैसे ही 'मिला ली' सुना तो वह चौंकी। कुछ प्रसन्न भाव से पुत्री की ओर देखा और बहुत-कुछ खिसियाये भाव से श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर की ओर देखा और पुत्री से पूछा,

— कुठ्ठन मिला ली गऽ? [कहाँ से मिली रे?]

— पेटी मधेच राहिली। [पेटी में ही थी]

— अस ऽऽ!! [ऐसा!!]

श्रीमती शकुन्तला पेंडसे के 'अस ऽऽ!!' कहने में अपनी भूल स्वीकार करने का भाव तो था ही साथ ही थोड़ी देर पूर्व इसी कमीज को लेकर 'वहिणी' कालिन्दी बाई भौरासकर से जो 'तुला-तुका' [तेरी-मेरी] हुई उसके लिए परिताप भी था।

कमीज मिल गयी, सुन कर श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर का भी तनाव कम हुआ उन्होंने जैसे ही श्रीमती शकुन्तला बाई पेंडस की ओर देखा तो अपराध भाव से प्रस्

किन्तु पूर्ण क्षमा माँगते हुए श्रीमती शकुन्तला बाई पेंडसे बोलीं,
—मला क्षमा करा अता, कालिन्दी वहिणी ! [अब मुझे क्षमा करें कालिन्दी भाभी !]
श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय इस विषय में शायद कुछ पूछें इसके पूर्व ही श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर बहुत सन्तुष्ट और उन्मुक्त भाव से बोलीं,
— देवा !! देवा !! यह संसार कितना विचित्र है बहन जी ! अभी थोड़ी देर पहले एक कमीज के लिए झगड़ा हो रहा था....और अब शकुन्तला कइसी बहन जैसी लग रही है....

और गहरी निश्वास के साथ कहते-कहते श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर की आँखें न केवल छलछलायी हीं बल्कि वह साड़ी का पल्लू मुँह में ठूंस कर अपना रोना रोकने लगी। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय और दुर्गा दोनों चकित भाव से देख रही थीं। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने तब आत्मीयता से पूछा,
— किसी कमीज को लेकर आप लोगों में....
— होऽऽओ, बहन जी ! हम छोटे लोकों को न लड़ने में समय लगता है, न हँसने में देर लगती है।

इस पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोली,
— नहीं बहन ! न कोई छोटा है, न कोई बड़ा।....आप लोगों के यहाँ क्या काम होता है ?

इस पर शायद दोनों ही एक साथ बोलना चाह रही थीं परन्तु श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर हाथ जोड़ कर बोलीं,
— आपको हमारे घर चलना होगा। हम ज्यास्ती तो स्वागत नहीं कर सकते बहन जी ! पर एक कप चाय तो पीनाच पड़ेगा।
— इस समय तो नहीं, फिर कभी आ जाएँगे....अभी जरा झालानी जी के यहाँ जा रहे हैं।
— बहन जी ! वो लोक तो बहुत मोटे लोक हैं पण फिर भी..
— बहन ! असल में परसों गाँधी-जयन्ती है न....उस दिन विदेशी कपड़ों-चीजों की होली जलेगी। गांधी जी ने पूरे देश से विदेशी चीजों के बहिष्कार के लिए कहा है।
— गाँधी जी का नाम तो हम बी सुना है... पण ये विदेशी कपड़ों की होली क्या है ?
— विदेशी कपड़े हम-तुम तो नहीं पहनते हैं बहन ! पर ये बड़े लोग पहनते हैं। विदेशी चीजें काम में लाते हैं इससे हमारे देश का पैसा तो बाहर जाता ही है पर हमारे उद्योग और लोगों के काम-धन्धे पर भी असर पड़ता है। स्वदेशी पहनोगे, स्वदेशी चीजें वापरोगे तो अपने ही लोगों को काम मिलेगा, पैसा भी देश में ही रहेगा। और जब अंग्रेजों की ये विदेशी चीजें यहाँ नहीं बिकेंगी तो उनके उद्योग-धन्धे कमजोर बनेंगे।
— वो सब तो ठीक है बहन जी ! पण पोरगे-पोरगी वास्ते पेंसिल तक तो विलायत

से आती है। वो कौन बनाएँगा ?

— वो हम-तुम मिल के बनाएँगे। पर जब तक नहीं बनाते हैं तब तक पेम [खड़िया] से लिखो ना ?

— पण शाला में मास्तर लोक [मास्टर लोग] कइसे मानेंगा ?

— उनको मनवाना पड़ेगा। हम-तुम मनवाएँगे। हम सब मिलकर धरना देंगे। और वो नहीं मानेंगे तो हम राष्ट्रीय शालाएँ खोलेंगे। देश हमारा है तो इसका निर्णय हम करेंगे कि देश का सारा कारोबार कैसा होना चाहिए।....नहीं क्या ?

श्रीमती कालिन्दी बाई मौरासकर की आँखें कुछ-कुछ समझते हुए चमक भी रही थीं और कुछ-कुछ सोचती हुई खोयी-खोयी भी लग रही थीं। इस बीच श्रीमती शकुन्तला बाई पेंडसे सारा प्रबन्ध कर आयी थी, आते ही बोली,

— चलिए, दो ही मिनिट बैठकर चली जाइएगा। हमारे लोक का घर पवित्र हो जाएगा, है न वहिणी ?

श्रीमती कालिन्दी बाई मौरासकर सुनी बातों को जैसे मन में गुन रही थीं। वह कुछ बोलीं नहीं। इस भाषा के बाद श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय के लिए न जाना सम्भव ही नहीं था। ऐसा नहीं कि श्रीमती शकुन्तला बाई पेंडसे ने कोई आयोजन कर डाला हो पर उन लोगों के उत्साह को देखकर आयोजन का भाव तो लग ही रहा था।

शाम तब भी नहीं हुई थी, लेकिन दरवाजे पर रांगोली ताजी-ताजी थी। स्पष्ट लग रहा था कि ये क्वार्टर खोलियों जैसे ही थे, विशेषता के नाम पर इनमें जाफरियाँ अवश्य थीं जिनके कारण ये निम्न नहीं, मध्यवर्ग की लग रही थीं, परन्तु कुल दो कमरे मुश्किल से थे। दालान को जाफरी से घेर लेने के कारण बैठक निकल आयी थी। सामान के नाम पर मुश्किल से दो-एक टीन की कुर्सियाँ थीं परन्तु सामान्यतः तो फर्श पर एक चटाई पड़ी रहती है। इस समय उस पर न केवल दरी बल्कि बिस्तरा बिछा दिया गया था और शायद घर की सबसे बढ़िया, बक्से में से निकाल कर फूलदार चादर बिछा दी गयी थी। एक तकिया भी दीवाल से खड़ा कर दिया गया था। टीन की दोनों कुर्सियों पर पुरानी धोतियों को तहाकर बिछा दिया गया था। दीवालों पर दत्तात्रय, गणपति के कैलेन्डर लगे थे। समर्थ रामदास स्वामी, छत्रपति शिवाजी, लोकमान्य तिलक के चित्र मँढ़े हुए दीवालों को सजीव किये हुए थे। दो-एक पारिवारिक फोटो भी तिरछी हालत में टँगे थे। एकाध फोटो बरसात के पानी के कारण अधखाया बच गया था जिसके कारण फोटो से ज्यादा बेलबूटेदार उसका माउन्ट ही प्रमुख लग रहा था। शीशे की पतली नलियों की एक बन्दनवार घर में भीतर जाने वाले दरवाजे पर लटक रही थी। घर के कमरे और बैठक सारे गोबर लिपे थे जिन पर लीपने वाले के हाथ की लय चन्द्राकार सूख कर उभर आयी थी। हर कोने में कुंकुम के स्वस्तिक ताजे लिखे लग रहे थे। बैठक से भीतर का जितना हिस्सा दिखता है वहाँ एक पूजाघर था। उस कमरे से और अन्दर वाले कमरे की, जो कि रसोईघर था, झलक दिखलायी दे रही थी। कुछ बर्तन चमक रहे थे तथा स्टोव जलने की आवाज

आ रही थी। पूजाघर में अगरबत्ती जल रही थी जिसका पतला धुंआ तो नहीं, पर सुगन्ध अवश्य बैठक तक आ रही थी। इन मराठी-गुजराती लोगों के निम्न, मध्यवर्ग के घरों तक में सम्पन्नता की नहीं बल्कि शुचिता की प्रतीति अवश्य होती है। कोने में खड़ी आरामकुर्सी भी बड़ी धुली-पुँछी लग रही थी। बैठक के बिस्तरे पर एक ओर जो पेवची [कपड़े का पानदान] थी वह तक स्वच्छता अनुभव करा रही थी। इन घरों या लोगों की गोदड़-मच्ची [गद्दे आदि रखने की मचिया] ही क्यों न हो, सदा चादर से ढँकी हुई होगी। अव्यवस्था किसी भी प्रकार की इन लोगों में नहीं होगी चाहे पहनने के लिए दो ही क्षण-पातल क्यों न हों। अपने पर कोई भी अलंकार नहीं होगा। कानों में सिर्फ तारों वाले बुन्दे होंगे और मंगल-सूत्र, परन्तु तब भी इन मराठी स्त्रियों के धुपे-धुपे चेहरों में मार्दवता न होने पर भी ऐसी लयता होती है जो बरबस आपका ध्यान खींचती है। तभी तो ये स्त्रियाँ स्वयं ही मल-मलकर नहायी नहीं लगती हैं बल्कि कपड़े-लत्ते, बर्तन-भाण्डे सब एकदम धुले-पुंछे, चमकते-चमचमाते इनके चारों ओर ऐसे लगते हैं जैसे कस कर मुँह धुलाकर तैयार खड़े हैं और किसी भी क्षण 'आई गऽऽ' कह पड़ेंगी। भीतर थोड़ा अँधेरा घिरा हुआ लग रहा था परन्तु थोड़ी देर में ही पूजाघर के ऊपर महारानी देवी अहल्याबाई का प्रसिद्ध चित्र दिखने लगा। पास ही में महाकालेश्वर का भी चित्र लगा था।

इस बीच पीतल की तबक में गरम-गरम भाप निकलते पोहे और चाय एक थाली में लेकर शालिनी, शालीन भाव से, कानों की मुर्कियों में बड़े ही चित्र-भाव से उपस्थित हुई। चाय में इलायची डाली गयी थी यह चाय की उपस्थिति से ही लगने लगा।

पोहों की ओर संकेत करते हुए कहा,

— बहन ! खाएँगे कुछ नहीं, हाँ चाय पी लेंगे।

— पोहे खाने में क्या है ?

श्रीमती शकुन्तला पेंडसे की बात पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने शालिनी की ओर देखते हुए पूछा,

— आपकी लड़की है न ? क्या नाम है ?

— शालिनी।

शालिनी ने जिस ढंग से कहा उस पर वह हँस पड़ीं, बोली,

— कहाँ पढ़ती हो बेटी ?

— महाराजवाड़ा मराठी कन्या-पाठशाला में सातवीं कक्षा में।

— अच्छा बहन ! पेंडसे साहब कहाँ काम करते हैं ?

इस पर श्रीमती कालिन्दी बाई मोरासकर बोलीं,

— पेंडसे साहब और मोरासकर जी दोनों विनोद मील में हैं।

— अच्छा यह बताइए कि आप फ़ुर्सत में क्या करती हैं ?

— बहन जी ! फ़ुर्सत मिलती ही कितनी है ? और जो मिलती है उसमें हमारे पड़ोस में

जो आखरी मकान है न उधर का बाजू में? वहाँ लागू साहब रहते हैं। फतेहाबाद में रेलवे में स्टेशन-मास्टर हैं। उनके यहाँ 'केसरी' आता है, 'किर्लोस्कर' आता है, 'स्त्री' पत्रिका भी आती है। देखना-पढ़ना कभी-कभी हो जाता है। रात में कभी-कभी 'दासबोध' है तो कभी 'ज्ञानेश्वरी' पढ़ लेते हैं।

— पढ़ना तो बहुत अच्छा है लेकिन तब भी कुछ तो खाली समय बचता ही होगा।

श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर ने जैसे याद करते हुए कहा,

— हाँ ऽ ऽ, थोड़ा-बहुत।

— तो उसमें गप्पाष्टक होता होगा, है न?

और सब हँस दीं। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने अपनी बात चालू रखते हुए कहा,

— लेकिन क्या उस समय कुछ हाथ का काम नहीं कर सकती हैं?

— करते क्यों नहीं हैं? दाल, चावल....

— नहीं, उसके अलावा।

— हम समझा नहीं बहन जी!

— जैसे चरखा चलाना, तकली कातना आदि है। सूत कातेंगी तो उसे बेच देने पर घर की आमदनी बढ़ेगी। चाहेंगी तो अपने ही सूत का अपने ही बापरने के लिए कपड़ा तैयार करवा दिया जाएगा। बाजार से सस्ता भी पड़ेगा और सब की जरूरतें भी पूरी होंगी।

— खरी सांगतात तुमि, पण बहन जी! चरखा के वास्ते, सूत के वास्ते इतनी कम पगार में हम लोग कइसे क्या कर सकते हैं? बेसन-भात, पोली-भाजी ही दोनों जून हो जाता है, वही पान्डुरंग की दया है, अनुकम्पा है।

— मुश्किल तो सभी बातों में आती है कालिन्दी बेन! पर गृहस्थी में कुछ खर्चे तो ऐसे होते हैं जिन्हें काटा नहीं जा सकता। त्यौहारों पर खर्च अवश्य करना चाहिए पर फिजूलखर्ची भी बचाना चाहिए। तैल-साबुन, पान-बीड़ी, ऐसे कई खर्चे निकल आएँगे बहन! कि जिनमें कटोती की जा सकती है। क्या यह झूठ है शकुन्तला बाई?

इस पर श्रीमती शकुन्तला बाई पेंढसे बोलीं,

— गोष्ठ तो खरी आहे पण....

तभी श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर बोलीं,

— घर का दूसरा लोक को भी मेई बात समजना चाइये न?

— तभी तो, यह स्वदेशी, यह स्वराज्य सबका प्रश्न है। पुरुष, स्त्री, बच्चे, गरीब-अमीर, हिन्दू-मुसलमान सबका सवाल है। खाली गाँधी जी के खादी पहनने से या नेता लोगों के खादी पहनने से तो स्वराज्य नहीं आएगा और अगर ऐसे आ भी गया तो हम जैसे साधारण लोग तो वंचित ही रह जाएँगे। हम जब तक उसमें हिस्सा नहीं लेंगे तब तक अकेले गाँधी जी या कुछ नेताओं से थोड़े ही कुछ होना है।

— हमें कातना तो आता ही नहीं।

इस पर हँसते हुए श्रीमती नर्मदा देवी ने जवाब में पूछा,

— क्या पहले दिन गृहस्थी चलाना आता था ?... बहन ! सीखना पड़ता है। सीखने से तो मनुष्य को तैरना तक आ जाता है जो कि भगवान जानवरों को अनायास ही सिखाये होते हैं। आदमी आकाश में पक्षियों सा उड़ने भी तो लगा है—यह सब आया कैसे ?

श्रीमती कालिन्दी बाई भौरासकर और श्रीमती शकुन्तला बाई पेंडसे मुग्धभाव से सुन रही थीं।

— आप लोग चिन्ता न करें, कुछ न कुछ तो प्रबंध हो ही जाएगा। सूत भी बिकवा दिया जाएगा। मन में आपको तो स्वदेशी और स्वराज्य के लिए संकल्प लेना है —बस।

— आप किदर को मिलती हैं ?

— भागसीपुरा सुना है ?

— हो ऽऽ ओ।

— छोड़िए, पटनी-बाजार में गांधी-भण्डार है न, वहाँ किसी से भी नर्मदाबेन पूछने से मालूम हो जाएगा।

और वह उठते हुए बोलीं,

— अच्छा, अब चलें। बड़ा अच्छा हुआ आप लोगों से भी परिचय हो गया। समय हो तो परसों गांधी-जयन्ती का कार्यक्रम सबेरे लाइब्रेरी के सामने होगा। सब लोग आएँ उसमें। बहन ! स्वराज्य तो यज्ञ है उसमें सब को आहुति देनी होगी। ....शालिनी ! तुम्हारी चाय बहुत अच्छी थी।

और जिस समय वे दोनों वहाँ से निकलीं धूप न केवल तिरछी हो गयी थी बल्कि ढलने को आ गयी थी। रास्ते में दुर्गा बोली,

— मासी माँ ! अभी तो झालानी जी के यहाँ हो नहीं पहुँचे और धूप ढलने भी आ गयी।

— दुर्गा ! इन बातों के लिए सब में जागृति आनी चाहिए।

— आप जब तक उन लोगों को समझा रही थीं तब बहुत सी बातें मेरी भी समझ में आ रही थीं। पर एक बात नहीं समझ पा रही थी।

— कौन-सी बात ?

— कि ये छोटी-छोटी सारगर्भित बातें देश के लाखों-करोड़ों लोगों तक कैसे और कितने दिनों में पहुँचेंगी ?

— दुर्गा ! यदि आदमी यात्रा की दूरी सोच कर चलना ही शुरू न करे तो वह कभी भी कैसी ही यात्रा पूरी नहीं कर सकता। लेकिन यदि वह चल पड़े तो देर-सबेर पहुँच ही जाएगा।

और दोनों झालानी जी की हवेली के निकट पहुँचीं।

झालानी जी की हवेली, पीठा-आगन की सभी हवेलियों, मकानों से भिन्न भी थी और बड़ी तो इतनी थी कि छोटे-छोटे जमीदारों-जागीरदारों की गढ़ियाँ भी इतनी बड़ी नहीं होती होंगी। खूब ऊँची पुश्त का एक लम्बा-चौड़ा पक्का चबूतरा यहाँ से वहाँ तक चला गया था। इस चबूतरे पर ही हवेली की खूब ऊँची सी बाहरी दीवाल, जो कि परकोटा ही थी, खड़ी हुई थी जिसमें सिर्फ एक बड़ा सा फाटक ही था। कोई खिड़की, कोई मोखा या कोई गवाक्ष नहीं था। इस दीवाल पर तिरछी खपरैल निकली हुई थी जिसमें लकड़ी की गोट पूरे मे लगी हुई थी। इस निकली हुई खपरैल को सम्हाले रखने के लिए इस परकोटे में लकड़ी के कामदार कई टिकान थे जो पेशवाई स्थापत्य की याद दिला रहे थे। खपरैल के कोनों में लगी लकड़ी में लकड़ी के ही बड़े-बड़े लटकन लगे थे। परकोटे के उस बड़े से फाटक की कँगूरेदार महराब में बीचोबीच कुंकुम से पुते गणपति की एक मूर्ति टँकी हुई थी तथा विभिन्न रंगों के तिकोने कपड़ों की एक बड़ी सी रेशमी वन्दनवार टँगी हुई थी, जिसके रंग धूप और धूल में मटमैले हो चुके थे। फाटक की मोटी लकड़ी के बड़े दरवाजे के दोनों पल्लों पर पीतल के गोल, कटे हुए फूल और चकतियाँ तथा बड़ी-बड़ी ठुकी कीलें इस समय तो धुँधली ही थीं परन्तु तैल-पानी के बाद दीवाली के अवसर पर जरूर ही चमचमा उठेंगी। दीवाली की तैयारी चल रही थी यह चबूतरे पर चढ़ने के लिए बनी गहरी सीढ़ियों के चढ़ते ही देखा जा सकता था कि लकड़ी की सीढ़ियों पर चढ़े हुए लोग परकोटे की बाहरी तरफ बड़ी-बड़ी झाडुओं से दीवाल की धूल झाड़ रहे थे तो कुछ लोग पुताई कर रहे थे।

उस बड़े से फाटक के दोनों ओर पत्थरों की बैठकी बनी थी जिस पर दिन-दोपहर में बच्चे कूद-कूद कर चढ़ते होंगे। वैसे ये होती दरवानों, चोबदारों के लिए हैं। भीतर घुसते ही दोनों ओर ऊँचे दालान तथा कोठरियाँ थीं। दाहिने हाथ की दालान खुली थी परन्तु बाँये हाथ की दालान में झँझरी लगी थी। खुली दालान की एक महराब के नीचे एक चौकीदार अपने किसी कपड़े को या तो सी रहा था या कोई बटन टाँक रहा था, साथ ही आने-जानेवालों पर नजर रखने के साथ ही अपने कान वह सामने वाली दालान की ओर ही लगाये हुए था जहाँ कि मुनीम जी और गुमाश्ते बैठे हुए थे। हर मुनीम-गुमाश्ते के सामने फर्शी, ढक्कनदार चौकियाँ थीं जिनकी ढलानों पर उनकी बड़ी-बड़ी बहियाँ खुली थीं। पीतल की दवातों के साथ-साथ महीन बालू की छेददार डिब्बियाँ भी थीं जो स्याही सोखने के काम आती थीं। ज्यादातर मुनीम-गुमाश्ते इन्दौरी पगड़ी में ही थे पर उनके हाथ नीचे के लोग जरूर तरह-तरह की टोपियाँ लगाये थे।

देते। झालानी जी की इस गद्दी के जो बड़े मुनीम थे वे हवेली में ऊपर बैठते थे ताकि मालिकों से सम्पर्क करने में उन्हें और मालिकों को ऊपर-नीचे, आने-जाने का कष्ट न उठाना पड़े। अधिकांश लिखा-पढ़ी, जमा-खर्च सब इस ड्योढ़ी पर ही हो जाता था। एक बड़ी सी दीवालघड़ी का बड़ा सा पेण्डुलम इतने सधे ढंग से तथा प्रशान्त भाव से चलता रहता था कि जैसे उस पेण्डुलम का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है और उसे वह पूरी गरिमा और निश्चिन्तता के साथ व्यक्त कर रहा है। वह समय का नहीं बल्कि झालानी सेठों का प्रतिनिधित्व करने के लिए बना है। इस घड़ी के ठीक ऊपर 'श्रीनाथ जी' का एक बड़ा सा चित्र सुनहली फ्रेम में टँगा था जिस पर बड़ी सी रेशमी पवित्रा पड़ी हुई थी। आइलपेंट की हुई इन दीवालों पर घड़ी के दोनों ओर लाल से स्वस्तिक के चिन्ह 'शुभ-लाभ' तथा 'श्री गणेशाय नमः' तो लिखे ही हुए थे परन्तु बहुत ही सुन्दर फूलदार अक्षरों में 'जय श्रीकृष्ण' भी लिखा हुआ था। पूरी छत में सफेद चाँदनी तनी हुई थी जिसमें हरे-नीले हण्डों के अतिशदान थे और चाँदनी में कागज के रंग-बिरंगे फूल चिपके हुए थे। दीवालों पर जर्मनी के छपे रासलीला, चीरहरण के रंगीन चित्र मढ़े हुए सजे थे परन्तु दो तैल-चित्र, जहाँ तिजोरी रखी हुई थी उसके दोनों ओर रखे थे। सेठानी अवश्य पूर्ण अलंकृता थीं परन्तु चित्र मे कोई विशेषता नही थी परन्तु हाँ सेठ वल्लभदास झालानी बिल्कुल सींधिया महाराजाओं वाली वेश-भूषा, पगड़ी-दुपट्टा और एक सिंहासननुमा कुर्सी की पीठ पर हाथ धरे अपने गले के कण्ठे तथा वर्ण से सेठ-साहूकार नही बल्कि कोई राजा-महराजा का ही बोध करवाते थे।

इस प्रवेश-ड्योढ़ी के तत्काल बाद चारों ओर चला गया, खूब बड़ा-सा पक्का आँगन खुले रूप में फैला हुआ है। जगह-जगह इस पक्के आँगन मे फूलों-फलों के लिए बड़ी-बड़ी पक्की क्यारियाँ थीं जिनमें लताओं से लेकर अंगूर, नीबू, अनार, सन्तरे सभी के पेड़ थे। कोने में दो-एक कलमी आम के पेड़ भी थे, जो इस समय तो साँस रोके खड़े लग रहे थे, परन्तु फाल्गुन में मंजरियों के समय कोई इन्हें देखे। यह आँगन जहाँ घूमता है उधर जालियों का एक बड़ा सा घेरा पीछे तक चला गया है जो इस हवेली का छोटा-मोटा चिड़ियाघर था। पचासों तरह के पक्षी साँझ के समय इतना चहचहाते हैं कि बस। इस आँगन को पार करते ही सबसे पहले बारादरी पड़ती है जिसकी मेहराबों में धूप बचाने वाले परदे रोल किये हुये डोरियों से बँधे थे। यदि यह हवेली किसी ठाकुर-सामन्त की होती तो निश्चित ही यहाँ रोज बाइयों के नाच-मुजरे होते परन्तु झालानी परिवार कट्टर वैष्णव-परिवार है अतः यहाँ विशेष-विशेष अवसरों पर ठाकुर जी की एक से एक झाँकियाँ सजती हैं। बसंत पंचमी, रंग-पंचमी और होली पर भगवान् लोगों से होली खेलते हैं। श्रावण-भाद्रपद में 'जल-विहार' होता हैं, वन-यात्रा का ठाठ सजता है, या फिर नाथद्वार या बम्बई से गुसाईं जी महराज आते हैं तो उनके प्रवचन होते हैं, मण्डली होती है। सप्ताह जी के दिनों में कथा-भागवत, कीर्तन-भजन होते हैं। आरम्भ में कभी इस परिवार को 'चित्र-सेवा' की ही आज्ञा गुसाईं जी की ओर से मिली थी परन्तु अब तो 'मन्दिर-सेवा' प्राप्त थी। ठाकुर

जी का मन्दिर दाहिने-हाथ की ओर है। जब उसके पट खुलते हैं तब लोग इस बारादरी में खड़े होकर भी दर्शन कर सकते हैं। दीवाली के तत्काल बाद जैसा अन्नकूट झालानी जी के इस मन्दिर में होता है वैसा मालवा के किसी वैष्णव-मन्दिर में शायद ही होता हो। कहने वाले तो कहते हैं कि नाथद्वारे के बाद अगर कहीं अन्नकूट की छटा, वैभव देखना हो तो झालानी जी के मन्दिर में देखो, आँखें फटी की फटी रह जाएँ। महीनों पहले से इस अन्नकूट की तैयारियाँ होने लगती हैं। मन्दिर के इन पर्वों, उत्सवों और उत्थापनों में उज्जैन के न केवल गुजराती-मालवी वैष्णव ही सम्मिलित होते हैं बल्कि होली, अन्नकूट, झाँकियों आदि पर तो पूरी उज्जैन टूट पड़ती है। उन दिनों बड़ौदा से शहनाई वाले, नफीरी वाले दिनों तक हवेली के चबूतरे पर बैठे हुए नौबत झाड़ते रहते हैं। पूरे चबूतरे पर बाहर से आने वालों के लिए शामियाना तान दिया जाता है, जैसे झालानी परिवार में कोई ब्याह-शादी हो रहा है। मुखिया जी और भीतरिया जी आज भी कभी-कभी पद गाते हैं पर इन दिनों जो विट्ठलदास जल-घड़िया है वह अष्टछाप और सूर-सागर से ऐसे-ऐसे मार्मिक पद छाँट कर गाता है कि मण्डली में आये लोगों की हिचकियाँ बँध जाती हैं। विशेष अवसरों पर वर्तमान सेठ या सेठानी में से एक व्यक्ति जरूर ही 'अपरस' में स्नान करता है, होली पर ठाकुरजी के पलने से सोने-चाँदी की पिचकारियाँ लगा कर सेठ पुरुषों पर और सेठानी स्त्रियों पर सुगंधित रंग डालती हैं। फाग और रसिया गाये जा रहे होते हैं और 'बोऽऽल गिर्राजधरन की जै' बोली जा रही होती है। दधि-काँदों के दिन तो यह बारादरी दही से ऐसी भर उठती है कि चलना तो दूर बिना खम्भे का सहारा लिये खड़े रहना मुश्किल होता है। रोज ठाकुर जी को इतना भोग लगता है कि हवेली के लोगों नौकरों-चाकरों के अलावा पचासों का पालन अनायास ही हो जाता है।

शृङ्गार के दिनों में कभी केले का शृङ्गार हो रहा है तो पचासों केले कट कर आ गयी हैं। केले के खम्भे, जालियाँ, मेहराबें, कँगूरे, गहने, मुकुट काटे जा रहे हैं, जोड़े जा रहे हैं और देखते-देखते केले का पूरा महल तैयार हो जाता। जिस दिन ठाकुर जी का चमेली के फूलों का शृङ्गार होता उस दिन पूरी बारादरी ही क्या हवेली में चमेली ही चमेली गमक उठती। चमेली की कलियों से ऐसी-ऐसी झालरें तैयार होतीं, चँदोवा तान दिया जाता कि तिल धरने की जगह न दिखती। पान-फूल की यह सेवा लोग रातों जागते हुए, कभी कोई पद गाने लगते या चौरासी-वैष्णवन की वार्ता कोई सुनाने लगता या फिर पुराण का ही कोई प्रसंग आ जाता। रंग-पंचमी से आरम्भ हुई होली जब पूरे माह चलती है तब पीलू से लेकर काफी थाट का कौन सा ऐसा अंग बचता है जिसे किसी न किसी 'दर्शन' के समय न गाया जाता। मण्डली के बाद इन रागों की ठुमरियाँ, रसिये सभी सुनने को मिलते और राग, रंग और भावना में दर्शक डूबे होते।

तात्पर्य यह कि वर्ष भर इस बारादरी में भगवान् का एक न एक उत्सव होता

ही रहता या कभी कोई प्रसिद्ध कथा-वाचक, शास्त्री, गायक आते तो अलग से उनके भी कार्यक्रम होते। इस पूरी हवेली और मन्दिर के लिए सफाई वाले, बर्तन मांजने वाले, ब्राह्मण रसोइये, माली, कुम्हार, दोने-पत्तल वाले, नाई, धोबी, दूध-दही वाले कितने ही ऐसे थे जिनके पूरे के पूरे परिवार केवल इसी हवेली का ही काम करते थे। मन्दिर में काम करने वाले अलग थे तथा हवेली के नौकर-चाकर अलग थे। इन नौकर-चाकरों की निगरानी के लिए कुछ लोग और दो-एक गुमाश्ते-मुनीम भी अलग थे जो इनके काम और इन्हे दी जाने वाली चीजों आदि का ब्योरा रखते थे। चिड़ियो की देख-भाल कोई छोटा काम था? उस पर गाय-भैंसों की अच्छी-खासी रेवड़ थी। उनका चारा-दाना, समय पर दुहना, दूध का दही जमाना, जान की आफत थी। उस पर सेठों की बग्घी के घोड़े थे तो गाँव-देहात से सेठ की काश्त में काम आने वाले दो-चार बैल भी आते-जाते ही रहते थे। घोड़ों का दाना-पानी, खुर्रा-टहलाना समय से न हो तो ऊपर बड़े मुनीम जी तक शिकायत हो जाए। ये तो घर के नौकर-चाकर हुए पर शहर भर में जो मकान, दूकानें हैं, आढ़तों-मण्डियों में जाकर, वसूल-वासलात है उनके सारे नौकर-कारिन्दे भी तो हैं। और इनके अलावा दो-चार राज-मिस्त्री भी तो हैं जो कन्नी-बसूला लिए हवेली और शहर भर के मकानों-दूकानो की मरम्मत करते घूमते रहते हैं। इनके अलावा हवेली मे कम से कम दो दर्जन नौकरानियां होंगी, जो बहू-बेटियों की सेवा में तेल-उबटन लिये, मेंहदी-महावर घोले ऊपर से नीचे, इस कमरे से उस कमरे डोलती रहेंगी। किसी को पता नही होगा कि कौन किसकी नौकरानी है। इनमें जो बहुओं के साथ उनके मायकों से आयी हैं उनमें और यहाँ की नौकरानियो में आये दिन जरा-जरा सी बात में वो-वो कहा-सुनी, झोटा-झुटव्वल होती है कि पूछो नहीं। मायके से आयी नौकरानियां अपनी मालकिन के कमरे से बाहर पैर नहीं रखना चाहतीं। उस कमरे का अगर कूड़ा निकाला भी है तो क्या मजाल जो उसे समेट कर बाहर फेंक दें। उन्होने तो उसे कमरे से झाड़कर देहली के बाहर कर दिया, अब यहाँ की नौकरानी का यह काम है कि वह चाहे उसे उठाकर फेंके या बुहारती उसे ले जाए। मायके वाली नौकरानियाँ बाहर का छोड़ दीजिए हवेली का भी काम नहीं करना चाहतीं क्योंकि वे बाहर की हैं, यहाँ किसी को जानती नही। तब भला किससे पूछें? क्या कहें? ड्योढ़ी के गुमाश्तों-मुनीमों या उनके हाथ नीचे के आदमियों से कुछ कहते उन्हें हेठी लगती है। वह तो चाहती हैं कि ये सारे काम यहाँ की नौकरानियों के हैं उनके नहीं।

धोबियों की अलग मुसीबत है। रोज के कपड़े और बाहर के कपड़ों का कैसे-क्या हिसाब रखा जाए कि कौन किसका कपड़ा है? आपने तो अपना नोट कर लिया पर लेते समय इसका कपड़ा उसको चला गया। लेते समय तो देखा नहीं और जब किसी दिन पहनने को हुए तब ढूँढ़ाई होने लगी। यह उसको दोष दे रहा है और वह इसको। पचास लोग हैं तो पचासों आलमारियाँ, बक्से हैं। तरह-तरह के कपड़े हैं—कुछ पहनने के, कुछ धराऊ, किसे पता कि किसका कपड़ा गलती से आ गया था और उसे

कहाँ रख दिया गया है। आप पूछ ही तो सकते हैं, किसी की खाना-तलाशी तो नहीं ले सकते और कौन जाए यह करने ? और जिस नौकरानी की गलती निकले वही मारी जाए इसलिए सिर्फ दोषारोपण ही होता रहता है कि इसी तार पर अपने हाथों साड़ी और पोलका धोकर आधा घण्टे पहले डाला था। आखिर कौन ले गया ?...ऐसी पचासों बातें हैं कि जिनके कारण पूरे दिन लोग व्यस्त रहते हैं।

रसोड़े में कभी महाराजिनों की समझ में ही नहीं आता कि नाश्ते के लिए सवेरे पाँच सेर का सीरा [हलवा] बना। सब बहुओं के कमरों के लिए अपने हाथों से रकाबियाँ तैयार करके नौकरानियों को सहेजा गया और दस बजे अहमदाबाद वाली बहू की नौकरानी शोर कर रही है कि उनके कमरे में नाश्ता ही नहीं पहुँचा।—अरे पूछो कि इतनी देर से क्या सब सो रही थीं ?—बच्चों को स्कूल ले जाने वाले नौकर अलग बच्चों के खाने के लिए शोर कर रहे हैं कि बच्चों को जल्दी से खाना दिया जाए।—तुमने तो जीभ हिला दी, तुम्हे क्या ? इन दो दर्जन बच्चो का खाना बनाते, परसते समय नहीं लगेगा ?—उधर इन स्कूल ले जाने वाले नौकरों को कड़ा आदेश है कि बच्चों को स्कूल पहुँचा कर सीधे हवेली लौटें क्योंकि उन्हें फलां काम के लिए भेजना है परन्तु क्या मजाल जो शाम के पहले आएँ। रोज एक न एक बहाना कि भैया साब ने स्कूल मे रोक लिया, या लौटते में कोई मिल गया और जाना पड़ गया। लाख जवाब-तलबी हो पर सब जानते हैं न कि थोड़ी देर में मुनीम-गुमाश्ते भूल ही जाएँगे। और कोई एक दिन की बात है ?

अमावस्या-पूर्णिमा को ब्राह्मणों-विधवाओं को सीधा दिया जाता है। उस दिन इस काम के मुनीम जी की शामत आ जाती है। इन लोगों के साथ न जाने कितने लोग और भी आ जाते हैं कि इस मद के लिए रखा गया आटा या तो कम हो जाएगा या दाल। घी-चीनी का तो यह हाल होता है कि बाल्टियों से नाप कर रोज घी रसोड़े मे दिया जाता है तब भी रोना बना ही रहता है। गाड़ियों गेहूँ, दाल, चावल देहात से आता है और इस सबका राई-रत्ती हिसाब ड्योढ़ी पर रखा जाता है। बादाम, पिश्ता, इलायची, केसर, इत्र आदि इस ड्योढ़ी के जो बड़े मुनीम हैं इनके जिम्मे है। तब भी नौकर-चाकर गड़बड़ कर ही देते हैं। किसी भी नौकर को रोक कर देख लें। यों चार दिनों से उसके कपड़े नहीं धुले होंगे पर कपड़े गमक रहे होंगे। परन्तु कौन किससे कहे ? बारादरी से पहले ही ड्योढ़ी पर गाहे-बगाहे आने वालों, अपरिचितों से पूछ-ताछ होती है और तभी भीतर जाने दिया जाता है। सुनार भी यहीं ड्योढ़ी तक आते हैं। कोई खास ही बात हो तो अलग, नहीं तो सामान्यतः सुनारों से जो माल लेकर भीतर भेजा जाता है उसकी तौल कर ली जाती है और किसी गुमाश्ते के हाथ माल भेज दिया जाता है। हीरे, जवाहरात, इत्र-फुलेल आदि के खरीदने का सारा काम बड़े मुनीम जी करते हैं। बड़े मुनीम जी बड़ी खरीदी के लिए तब सेठ जी या सेठानी जी से पूछ लेते हैं, दिखा देते हैं। गहनों-कपड़ों के मामलों मे...बहू-बेटियों से सेठानी जी पूछ लेती हैं पर अन्तिम निर्णय उनका ही होता है। किसी भी मुनीम-गुमाश्ते से

कह कर परिवार का कोई भी सदस्य, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, बाला-बाला बाजार से कुछ भी खरीद-फरोख्त नहीं कर सकता था और न मुनीम-गुमाश्ते करते ही थे।

ड्योढ़ी पर दो सम्भ्रान्त महिलाओं को देखा तो मुनीम जी उठे और उनसे आने का कारण पूछा। जैसे ही उन्हे मालूम हुआ कि ये लोग पण्डित महादेव शुक्ल के परिवार की हैं तथा सेठानी जी से मिलने आयी हैं तो वह उन्हें बारादरी में बैठाल गया। बारादरी मे एक बहुत बड़ी मसनद एक ओर पड़ी थी जिस पर गद्दियों वाला बड़ा सा गद्दा बिछा था तथा ढेर सारे गाव-तकिये पड़े थे। निश्चित ही सेठ जी या और कोई यहाँ लोगों के साथ बैठते होंगे। बारादरी के खम्भे, दीवालें तथा बड़ी सी छत विभिन्न रंगों में पुते हुए थे। जिधर भीतर जाने का बड़ा सा दरवाजा था उसके दोनों ओर आदमकद शीशे सुनहरी फ्रेमों में मंढ़े हुए थे जिनमें पूरे आँगन की ही नहीं बल्कि बाहर और बाहरी गली तक की प्रतिच्छाया दिखती थी। नौकरों-चाकरों का आना-जाना लगा था परन्तु तब भी शान्ति ही थी। केवल चिड़ियों की चहचहाहट आ रही थी। मन्दिर की ओर संझा-आरती की तैयारी हो रही थी। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय और दुर्गा को छोड़कर मुनीम जी भीतर खबर करने गये थे, लौटे और बोले, — आप लोगों को भीतर ही बुलाया है।

मुनीम के साथ आयी नौकरानी उन दोनों को भीतर ले जाने के लिए तैयार खड़ी थी। बारादरी से भीतर जाने वाले दरवाजे से वे लोग एक लम्बे गलियारे में पहुँचे। थोड़ी दूर जाकर वह गलियारा एक बड़े भारी पक्के चौगान में निकला। इस चौगान या चौखण्डी में चारों ओर कमरे-कोठरियाँ थीं जहाँ नौकर-चाकर आ-जा रहे थे। कुछ कमरे खुले थे और कुछ बन्द थे। इस चौखण्डी के दालानों में विभिन्न पिंजरों में तोते, मैना, लाल मुनियाएँ, तरह-तरह की रंग-बिरंगी चिड़ियाँ टंगी थीं। सामने एक बड़ा सा जीना था। इस चौखण्डी में लोहे के छड़ों की झँझरी तनी थी। इसमे से देखने पर लगता था कि हवेली तिमंजली थी और निश्चित ही जिसमें पचासों कमरे होंगे। इससे स्पष्ट था कि झालानी परिवार बीसियों परिवार के बराबर था।

सीढ़ी से ऊपर पहुँचने के पूर्व ही साधारण सीढ़ियाँ टाइलों की हो गयी थी। इस हवेली में चाहे पत्थर रहा हो या लकड़ी, सब कीमती थे। दीवाली की तैयारी भीतर पूरी हो चुकी है यह यहाँ की रँगाई-पुताई से ही नहीं स्पष्ट थी बल्कि रास्ते में मिली सारी आलमारियों, रेलिंगों तक के चिकनेपन से स्पष्ट था कि पालिश हो चुकी है।

अन्तिम रूप से जिस बड़े कमरे में श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय और दुर्गा पहुँचीं वह भी हॉल ही था। बड़े-बड़े झाड़फानूस, कन्दील अपने विभिन्नवर्णी शीशों में लकदका रहे थे। एक बड़ा सा 'श्रीनाथ जी' का चित्र सोने की फ्रेम में मॅढ़ा वैभव प्रदर्शित कर रहा था। ठाकुर जी का चित्र चूँकि अकेला था इसलिए वहाँ की सजावट में वह बहुत जीवन्त लग रहा था चौकियों, मसनदों को विभिन्न आकार-प्रकार में रखा-सजाया गया था तथा उन पर बिछे रेशमी कपड़े और चादर मूल्यवान तो थे ही परन्तु वर्णों के चुनाव में रुचि झलक रही थी। परन्तु तब भी इन दोनों को लगा कि यह सब तो है, पर बैठा कहाँ जाए? कालीन पर चलना दुर्गा को सर्वथा नया अनुभव लग रहा था। दरवाजों-खिड़कियों पर मोतिया रंग के इतने महीन रंग के पतले परदे थे कि हवा परदों को और उनके रंगों को भी उड़ाते हुए व्यक्त करती लग रही थी। हवा में उड़ते परदों का पतलापन उड़ता न लगकर पंख फड़फड़ाता लग रहा था, नहीं, बल्कि चौंके पक्षी सा पर तौलता लग रहा था। अभी ये लोग पहुँची ही थीं कि सेठानीजी हाथ जोड़े बगल के कमरे से निकलीं। वह व्यक्ति नहीं दृश्य लग रही थीं।

हवेली के सारे बाहरी तामझाम को देखकर तथा सेठानी नाम के साथ जो सामान्य धारणा बनती है, उससे जो बना-ठना रूप, सज्जा सोच रखी होगी उससे सर्वथा भिन्न थीं। सेठानी जी वर्ण से कंचनवर्णा ही नहीं थी परन्तु तदनुरूप रूपवती भी थीं परन्तु इस सारे सौष्ठव में भूषा और अलंकारों का बहुत ही सधा हुआ सहयोग लिया गया था। चित्रकार का परम कौशल इसमें होता है कि कम से कम रेखाएँ अधिक से अधिक को अभिव्यक्त ही न करें बल्कि अनुपस्थित रेखाओं का प्रतिनिधित्व भी करें। लगभग इसी प्रकार का संयोजन सेठानी जी में भी था लेकिन पता नहीं कि इसमें सायास कितना था। गले में मात्र एक पतली सी जंजीर, कान में निरभ्र दमकते हीरे के कर्णफूल भर थे। भूषा के नाम पर अत्यन्त बारीक नाखूनी रंग की आभावाली अत्यन्त मूल्यवान परन्तु सादी साड़ी थी परन्तु जिसके पल्लू और नीचे की ओर मोतिया रेशमी तागों की एक बेल कढ़ी थी उससे वह पारसी-फैशन की लग रही थी। लेकिन उसे पहनने का ढग खांटी गुजराती था जो उनकी देह-यष्टि पर जा रहा था। कुल मिलाकर उन्हें देखकर यही लगता था कि पूरे जीवन इतने आभूषण पहने होंगे कि अब वे इस देह पर न होने पर भी शेष जीवन के लिए आभा बनकर उनकी देह, उनके स्वत्व में सदा को रस-बस गये हैं। आयु से वह वयस्क होने पर भी पृथुल तो नहीं थी परन्तु पुष्ट अवश्य थीं। देह और मन सभी से जब व्यक्ति तुष्ट हुआ रहता है तब वह दाड़िमवत, जलभरी आभा देता है जिसमें सुगन्ध का भी आभास होने लगता है।

बहुत ही आत्मीय व्यवहार के साथ सेठानी जी ने जब दोनों को लगभग अपनी ही मसनद पर बैठाल लिया तो बोली,

— आप लोगों को यहाँ तक आने में कोई कष्ट तो नहीं हुआ?

— नहीं तो....हम लोग एक काम से आयी थीं आपके पास।

— तो क्या हुआ? क्या बहुत जल्दी में हैं?....आपको लग रहा होगा कि मैं आप

लोगों को नही जानती हूँ, है न ?

— कभी सीधा परिचय तो नहीं हुआ इसलिए...

— उज्जैन का कोई हो और वह शुक्ल-परिवार को न जाने, क्या यह सम्भव है ?

— पर सेठानी जी ! मैं...

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने जब उन्हें 'सेठानी जी' कहा तो वह बहुत ही मीठे ढंग से मुसकराती हुई बोली,

— आप तो कम से कम मुझे सेठानी न ही कहें। सीधे-सीधे 'कामिनी बेन' क्यों नहीं कहती। हाँ, यह आपकी बहू है न ?

— हाँ, मेरी भी बहू है, पर यह पण्डित महादेव शुक्ल की पुत्र-वधू है—दुर्गा !! मैं इसकी मासी-सास हूँ—नर्मदा देवी उपाध्याय।

यह सुनकर कामिनी बेन बहुत खुलकर हँस दी। शायद उनके हँसने का कारण दोनों की ही समझ मे कुछ-कुछ आ गया था और वे भी हँस दी। कामिनी बेन बोली,

— आप लोग मेरे हँसने को समझ ले गयी, है न ? चलो अच्छा हुआ, बता दिया आपने।

और तभी दो गिलासों में केसर, बादाम, पिश्ता तथा चिरोजी डला दूध आ गया। नौकरानी ने गिलासो पर की झालर हटाकर गिलास उन लोगों के सामने कर दिये तो कामिनी बेन बोलीं,

— लीजिए।

— दूध तो...

— तो फिर चाय मँगवा दूँ ?

— नही चाय रहने दीजिए।

— तो फिर यह लें।

— और आप ?

कामिनी बेन थोड़े हँसते हुए बोली,

— खिचड़ी तक तो हजम होती नही तब भला यह दूध ...।

उनके बोलने, हँसने, देखने मे स्वत्वीय बोध अवश्य था परन्तु किसी भी प्रकार का अप्रिय बड़प्पन नहीं था। पास बैठकर लगता था कि आप किसी सुगन्धित वनस्पति वाले गमले के पास बैठे हैं। इस बीच नौकरानी आयी गिलास वापस ले गयी। कामिनी बेन बड़ी ही आत्मीयता से बोलीं,

— आपको खादी में देखकर बहुत अच्छा लग रहा है।

— तब, आप भी क्यों नहीं पहनतीं ?

— क्या मनुष्य की सभी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं ?

तभी एक दूसरी नौकरानी पान और सौंफ-सुपारी-इलायची को प्लेट रख गयी। उस प्लेट मे जीनतान की गोलियों की शीशी भी थी और कोई खुशबूदार तम्बाकू की चाँदी की छोटी डिबिया भी थी। उस हॉल में एक खास किस्म की गंध भर उठी।कामिनी

बेन ने चाँदी की सलाइयों वाले झुमके में खुँसे पानों को उन दोनो की ओर बढ़ाया तो श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,
— पान तो नहीं खातीं हम लोग।
और सुपारी ले ली। कामिनी बेन ने भी इलायची ले ली। इलायची की कोमल-गन्ध उस वस्तु में से ही नहीं बल्कि अपने धारक व्यक्ति के व्यक्तित्व में से भी आने लगी।
श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,
— खादी पहनना तो ऐसी कोई बड़ी इच्छा नहीं है।
वह हँस पड़ीं और श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय की ओर देखते हुए बोलीं,
— नर्मदा बेन ! इच्छा तो इच्छा। छोटी-बड़ी होने से क्या होता है ? मनुष्य चाहे तो छोटी इच्छा की अपूर्ति पर भी दुःखी हो सकता है, क्या ऐसा नहीं है ?
शाम हो चुकी थी, या यहाँ बैठकर ही ऐसा लग रहा था, पता नहीं। नौकरानी आयी और बत्तियाँ जला गयी। कमरा जैसे हठात खिलखिलाने लगा।
कामिनी बेन ही बोलीं,
— आप नहीं जानती होंगी कि मैं सूरत की हूँ। हमारे पिता तो अब नहीं रहे परन्तु दो भाई हैं। बड़े भाई तो सूरत ही में कपड़ों का पारिवारिक व्यापार करते हैं परन्तु छोटा भाई इसी व्यवसाय के लिए नायरोबी चला गया, वहीं बस गया। हम लोग कापड़िया हैं। मेरे बड़े भाई का नाम मंगलदास कापड़िया है। दो बरस पहले जब मैं भाई के पास गयी तो नर्मदा बेन ! उन्हें सहसा पहचान नहीं पायी। जिसने कभी दो घोड़े की बोस्की की कमीज, टसर का कोट और मैंचेस्टर की धोती से नीचे नहीं पहना हो जब वह आपके सामने खादी की मोटी-झोटी धोती-कुरते में चरखा कातते मिले तो आप पहचान सकेंगे ? कमरे के परदे, गादी-तकियों की खोल तक खादी की हो तो आप सिवाय अवाक रह जाने के और क्या कर सकते हैं ?
— लेकिन, क्या आपको अच्छा नहीं लगा अपने भाई का यह परिवर्तन ?
— कोई भी बात हो यदि वह सहसा हो, तो, झटका तो लगता है।
— और उनका अपना व्यापार ?
इस पर कामिनी बेन थोड़े अधिक ही खुलकर हँसीं और बोलीं,
— नर्मदा बेन ! आप भी तो गुजराती हैं। गुजराती भला व्यापार कभी छोड़ सकता है ? मुझे तो ऐसा लगता है कि ये गाँधीजी भी तो वाण्या-बुद्धि [बनिया-बुद्धि वाला राजनीतिक-व्यापार ही तो कर रहे हैं।
इस पर श्रीमती नर्मदा देवी भी हँसते हुए बोलीं,
— तब तो आपसे हम जो विदेशी कपड़े लेने आयी हैं उसे भी व्यापार मानेंगी, है न
सब लोग हँस दिये। कामिनी बेन के हँसते हुए व्यक्तित्व में वर्षा भीगे वृक्षत्व का र बोध था कि जैसे रह-रह कर कोई उस जल भरे वृक्ष को हिला जाता है और वृक्ष ..नी झरने लगता है। और आप भीग उठते हैं। तब भी श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्या

को लगा कि गांधी के बारे में कामिनी बेन का कथन कुछ अप्रिय जैसा है। वह बोलने को हुई तो कामिनी बेन ने टोका,

— अभी तो आपने कपड़ों के लिए कहा नहीं बेन!....और गांधीजी का अपमान करने के विचार से भी मैंने नहीं कहा। सच तो यह है कि वह मनुष्यत्व को भी पूर्णता देने के लिए ही आये हैं।

इस पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,

— आपकी आत्मीयता और मधुर बातों में देखिए न कि काम की बात रही ही जा रही है और देर भी हो रही है।

— आपकी देर वाली बात मैं माने लेती हूँ, बाकी नहीं।

— आपको तो मालूम ही होगा कि परसों गांधी-जयन्ती है और उस दिन गोपाल-मन्दिर-चौक मे विदेशी-कपड़ों और चीजों की होली जलायी जाएगी। इसके लिए विदेशी वस्त्रों और वस्तुओं को जमा किया जा रहा है।

— थोड़ा-बहुत तो जरूर सुना है। मैं तो एक साधारण स्त्री हूँ बेन! आप लोग जो करेंगे या कर रहे हैं वह देश के भले के लिए ही करेंगे परन्तु मन में एक बात आती है, पर सोचती हूँ कि पता नहीं कहना चाहिए कि नहीं।

— नहीं, आप अवश्य कहें।

— स्वदेशी वस्तु और वस्त्रों का व्यवहार सबको करना चाहिए। बहुत अच्छी बात है यह, पर जो विदेशी कपड़े, विलायती चीजें खरीद ली गयी हैं उन्हें नष्ट करने से क्या मिल जाएगा? हमारे देश में करोड़ों-करोड़ों ऐसे लोग होंगे जिन्हे ये कपड़े दे दिये जाएँ तो इससे उनका काम ही चलेगा। जलाने से क्या होगा? भविष्य में न खरीदे जाएँ, यह तो समझ में आता है परन्तु उन्हे नष्ट करना नहीं। वैसे गांधीजी ने जरूर कुछ सोच-विचार कर यह आन्दोलन चलाया होगा परन्तु.... और बेन! मनुष्य अपनी ये मूल्यवान चीजें क्यो देना चाहेगा? और भावनावश या किसी लौकिक दबाव में थोड़ा-बहुत दे भी देगा तो वे किसी के काम आ जाएँ यह तो मानवीय लगता है परन्तु जला देना, कुछ समझ में नहीं आता।....नर्मदा बेन! यह मैं किसी दूसरे भाव नहीं कह रही हूँ...पर ऐसा विचारना आता तो है मन में, क्या नहीं?

श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय, कामिनी बेन को सुनते हुए सोच रही थीं कि जिस प्रकार की सेठानी की कल्पना लेकर वह आयी थीं उससे सर्वथा भिन्न प्रकार की महिला निकली। व्यक्तित्व के खुलेपन के साथ-साथ वैचारिक जागरूकता और जो खुलापन था वह उन्हें अधिक मोहक बना रहा था। वह बोलीं,

— कामिनी बेन! मैं भी किसी अधिकारभाव से तो बातें स्पष्ट नहीं कर सकती क्यों कि स्वयं ही कितना जानती हूँ और फिर आपको तो मुझसे भी कहीं ज्यादा इन बातों की जानकारी है पर क्या आपको नहीं लगता कि गांधीजी ने भी यह नहीं सोचा होगा कि उनके कह देने भर से लोग विदेशी कपड़ों और चीजों का

व्यवहार एकदम ही छोड़ देंगे ? वह भी जरूर जानते होंगे कि इन मूल्यवान कपड़ों और वस्तुओं को जरूरतमन्द लोगों को यदि दे दिया जाय तो कहीं अच्छा होगा, लेकिन ऐसा करने के स्थान पर केवल इनके बहिष्कार से भी आगे जाकर जला देने की उनकी बात में कुछ तो तत्व होना ही चाहिए । शायद गांधीजी केवल राज-नीतिक गुलामी की ही नहीं बल्कि सभी प्रकार की परनिर्भरता को भी गुलामी ही समझते हैं और ये विदेशी कपड़े और वस्तुएँ उसी परनिर्भरता के चिन्ह हैं । अगर ये कपड़े और वस्तुएँ उन लोगों को दे दिये जायें जिनके पास ये नहीं पहुँचे हैं तो क्या यह एक प्रकार से गुलामी की बीमारी के जन्तुओं को उन तक पहुँचाना नहीं होगा ? क्या इससे उनकी जो थोड़ी-बहुत चली आती आत्मनिर्भरता वाली स्वतंत्रता है वह परनिर्भरता वाली गुलामी में नहीं बदल जाएगी ? और बेन ! किसी को भी यों ही उठाकर कोई चीज दे देना एक प्रकार की भीख देना ही तो है । हमें अपने ही देशवासी को भिखारी समझने का क्या अधिकार है ? और यदि देशवासी में भी भीख लेने-देने की आदत बनी रही तो किसी दिन भी यह देश पीठ सीधी करके स्वतन्त्रता अनुभव करेगा ? भीख, दान, दयाओं पर जीनेवाला क्या किसी दिन अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा या खड़ा होना चाहेगा भी ? ऐसा करके तो हम अपने देशवासी के मन में सुलग रही आग पर पानी ही डालेंगे । इसीलिए गाँधीजी सबको स्वावलम्बी बनाना चाहते हैं । सबके लिए चरखा कातना, अपने उपयोग के लिए खादी ही नहीं बल्कि जरूरत की सारी चीजें पैदा करना ही सच्ची आजादी मानते हैं ।.. मैं नहीं कह सकती परन्तु ऐसा न होने पर आजादी आने पर भी सच्ची आजादी वह होगी कि नहीं, नहीं कह सकती ।

न जाने क्यों कामिनी बेन को हँसी आ गयी । श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय को इससे असुविधा तो अवश्य हुई क्योंकि यह उन्हें अपनी अवमानना लगी परन्तु संयत ढंग से पूछा,

— कुछ गलत कह गयी क्या ?

— नहीं बेन ! आपने गलत नहीं कहा, परन्तु आपकी बात सुनकर कल के ताजे 'हरिजन' में गांधी जी की बात जो पढ़ी थी, वह स्पष्ट हुई । सच में गांधी जी की आजादी की कल्पना में राज्य भी नहीं आता । उन्होंने लिखा है न कि राज्य पर यदि आश्रित रहोगे तो तुम्हारा अपना ही राज्य शोषण करने लगेगा !.... गाँधी जी की बात ऊपर से अमानवीय लगती हो पर अन्तर में, अपने प्रयोजन में मानवीय होती है । गाँधी जी सरल होते हुए भी कितने कठिन हो जाते हैं न.... ....चलिए, किसी बहाने सही आपसे और आपकी बहू से परिचय तो हुआ ।

— कामिनी बेन ! यह कहने के लिए क्षमा चाहूँगी कि आपसे मिलने के पूर्व जो तस्वीर मन में थी उससे आप सर्वथा भिन्न निकलीं ।

लगभग खुल कर हँसते हुए कामिनी बेन बोलीं,

— फ्रेम के बाहर तो नहीं लटक आयी न ?....मैं अभी आयी ।

और वह उठकर उसी कमरे में चली गयीं जिधर से आयी थीं। कामिनी बेन के जाते ही हॉल में सन्नाटा खिच उठा। जो परदे, जो गद्दे-गावतकिये, चित्र, दीवालें कहीं नहीं रह गयी थो वे सब फिर प्रमुख हो उठे। अजीब वस्तु प्रधान वातावरण हो उठा। कामिनी बेन कुछ ही क्षणों में लौट आयीं। आते ही बोलीं और इस बोलने में अब बहुत कुछ निकटता की ध्वनि आ रही थी,

— इस परिचय के बाद आशा है अब मिलना भी होता रहेगा पर आपकी यह बहू तो कुछ भी नहीं बोलीं। किसी दिन इन्हें अपनी बहुओं से मिलना करवा दिया जाए तो अच्छा ही रहेगा।.. हाँ, पण्डित महादेव शुक्ल जी के कितने पुत्र हैं ?

— जीजा जी के एक ही पुत्र है....त्र्यम्बक शुक्ल।

— हाँ, हाँ त्र्यम्बक जी का तो नाम आये दिन सुनती हूँ।—एक बात बताएँ कि नाथद्वारे में जो व्यास जी हैं वो....

— जी वो मेरे बड़े भाई हैं और त्र्यम्बक के मामा हैं।

— लीजिए, कितना पास का परिचय निकला। आप लोग कभी हमारे यहाँ के किसी उत्सव में नही आयी हैं क्या ?

— बस, संयोग ही नही हुआ।

— तो ठीक है, इस बार अन्नकूट पर सब लोग आइए न ?

और चलते हुए कामिनी बेन ने दुर्गा को जिस माधवी भाव से देखा उसमें दुर्गा को लगा कि यह महिला सच ही सदाशयी है। कामिनी बेन आगे-आगे चल रही थीं, उसी तरह से बोलीं,

— अबकी बार आपकी बहू को मैं सुनना चाहूँगी।

बारादरी मे नीचे दो नौकर दो गट्ठर लिये खड़े थे। कामिनी बेन ने दोनों को आदेश देते हुए कहा,

— आप लोगों के साथ जाकर गट्ठर पहुँचा आओ।

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय कामिनी बेन के इस व्यवहार पर अवाक रह गयी। आश्चर्य प्रकट करने के स्थान पर वह विषय बदलते हुए बोलीं,

— आप गांधी-जयन्ती के कार्यक्रम में तो आएँगी न ?

— मैं जरूर आती नर्मदा बेन ! पर मैं इन दिनों प्रतिदिन अपरस में ठाकुर जी की सेवा मे सवेरे रहती हूँ इसलिए बताइए कैसे आऊँ ?....और कोई बात नही बेन। आप जिस सत्कार्य से घर-घर घूम रही हैं ऐसा धर्म-भाव कितनों के मन में होता है ? हम लोग तो साधारण हैं। ये दो-चार कपड़े-लत्ते देने के बाद पता नही अपने को क्या समझें।....सच तो यह है बेन ! कि दुनिया जो चाहे कहे गांधी जी का यह कार्य देशसेवा नहीं, देशोपकार है। हम भले ही इसे न समझें।....तो फिर अवश्य आइएगा।

और जिस प्रकार सिर का पल्लू ठीक करते हुए कामिनी बेन लौट पड़ीं उसमें दुर्गा को अवश्य लगा कि संस्कारी व्यक्ति कैसा लबालब जल भरा जलाशय होता है कि छूने मात्र

से ही उसका आस्वाद आपके भींगे हाथों के माध्यम से भी आने लगता है।

दिया-बत्ती का समय न भी सही तो भी धरधरी बखत तो लौटते में हो ही गयी थी। मगरमुँहे की गली पर हलवाइयों, बताशे वालों, घी वालों और पूजा का सामान बेचने वालों की जो दूकानें हैं वहाँ पहुँचने पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,

— चलो, घर तक छोड़ दूँ।

दोनों ही हँस दीं। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,

— ठीक है, चलूँ, नहीं तो वो कामिनी बेन के दोनों नौकर पुस्तके साहब के ओटले [चबूतरे] पर बैठे उकता रहे होंगे।

— लो, मैं तो उन दोनों को भूल ही गयी थी।

इस पर श्रीमती नर्मदा देवी हँसते हुए बोलीं,

— यही तो बहू होने के लक्षण होते हैं कि सब कुछ सास जानें, हमें क्या है।

बहू की यह परिभाषा सुनकर दुर्गा को भी हँसी आ गयी।

— दुर्गा! कल मैं भाभी की तरफ जाने की सोच रही हूँ।

— कल तो आपको और जगह भी तो सम्पर्क के लिए जाना होगा, परसों ही तो सब है।

— परसों वाली प्रभातफेरी और सारे कार्यक्रमों में आओगी न?

इस पर दुर्गा बोली,

— आपके पुत्र और पोते-पोतियों की गृहस्थी नही सम्हालूँगी तो सब ले जाकर क्षिप्रा-जी के घाट पर बैठाल नहीं आएँगे?

— सच दुर्गा! गृहस्थी जितनी स्त्रियों की जान की आफत होती है उसकी धेले बराबर भी पुरुषों को चिन्ता नहीं करनी होती है।....ठीक है, तब भी वासुदेव लिवाने आ जाएगा।

— वासुदेव को मत दौड़ाइएगा, क्या पता गोविन्द पीछे से आ ही गया हो...और हो सकता है इस समय घर पर बैठा भी हो।

और जिस समय दुर्गा 'कल' खोलकर चौखण्डी में पहुँची तो देखा कि पति और गोविन्द बैठे हुए बातें कर रहे हैं। पत्नी को देखकर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल गोविन्द

से बोले,

— लो, ये आ गयीं। मैंने कहा न था कि तुम्हारी दीदी किसी सरोजिनी नायडू से कम हैं! हो गयी देश-सेवा?

गोविन्द ने चरण-स्पर्श कर लिये तो दुर्गा बोली,

— मैं तो नहीं पर आपकी मासीमाँ किसी सरोजिनी नायडू से कम नहीं हैं।...और गोविन्द! पहले तो खुद मुझे भेजा और लौटने पर ताना मार रहे हैं कि हो गयी देश-सेवा?

— लो इनकी सुनो गोविन्द! किसी को सरोजिनी नायडू कहना, किसी से देश-सेवा के बारे में पूछना, ताना मारना है। क्या जमाना आ गया है भाई!

इस पर गोविन्द बोला,

— दीदी! यह तो ताना नहीं बल्कि अपशब्द है।

इस पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल तो चौंके ही बल्कि दुर्गा भी चौंकी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने पूछा,

— क्या?

— ठीक ही कह रहा हूँ। कहाँ दीदी और कहाँ वो मोटे-मोटे हाथ-पैरों वाली....

इस पर दुर्गा बोली,

— अपने जीजाजी की तरह क्या तुम भी बेहाथ के हुए जा रहे हो?....जरा शरम नहीं कि इतनी बड़ी नेता को....

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— देखो गोविन्द! आते ही तुम्हें डाटने लगीं। यह भी नहीं पूछा कि तुम कब आये। पानी भी पिया कि नहीं। धूर्जटी आया कि नहीं....नेताओं के और क्या लक्षण होते हैं।

— अच्छा अब आप रहने दीजिए। पहले आग भी लगाएँगे और फिर 'आग-आग' चिल्लाएँगे भी।....हाँ बताओ गोविन्द!....

बीच ही में गोविन्द बोल पड़ा,

— धूर्जटी तो धनतेरस को ही आएगा। वह वहाँ गाँधी-जयन्ती के कार्यक्रम में लगा है। वह तो वहाँ के *'प्रजामण्डल' [होल्कर राज्य की कांग्रेस]* के कार्यक्रमों में खूब मजा लेने लगा है।

सिर से हाथ छुलाते हुए दुर्गा बोली,

— हे भगवान्! हो गया न सब चौपट।

इस पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— इसमें चौपट की क्या बात है? माँ नेता तो उसका बेटा नेता नहीं होगा तो क्या पण्डा होगा?

— अब आप तो चुप रहिए। फिर कभी कहिएगा मुझे जाने के लिए।

— ठीक है, चुप रह जाता हूँ। तुम्हारे बाल-बच्चों के मामले में नहीं बोलूंगा।

दुर्गा ने गोविन्द से पूछा,

— मैं तुमसे पूछती हूँ कि तुम लोग वहाँ पढ़ने गये हो या यही सब खुराफातें करने गये हो ?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— तुमने तो बोलने को मना कर दिया था पर तुम अपने लड़के के लिए अपने भाई पर क्यों बिगड़ रही हो ?

— बच्चे सिर्फ आपकी ही वजह से बिगड़ रहे हैं, समझे ?...मैंने तो पहले ही कहा था कि यह धूर्जटी वकालत न करे, तो आपने ही जोर दिया। मैं कहती हूँ कि यह वकालत नेतागिरी करने के लिए ही कर रहा है।

— अच्छा, नाराज न होओ। यह बताओ कि देश-सेवा का काम क्या बुरा है ? और है तो फिर गाँधी जी से लेकर मालाजी लोग क्यों कर रहे हैं ?

— मैं यह सब नहीं जानती। ये लोग वहाँ पढ़ने के लिए गये हैं, तो पढ़ें। अभी धरती में से पैदा नहीं हुए हैं और नेतागिरी शुरू कर दी। अरे, जब अपने हाथ-पाँव हो जाएँ, कमाने-धमाने लगें तब जो मन में आये करें। हम इन लोगों को कहने-सुनने को नहीं बैठे रहेंगे, पर दूसरे के सिर पर यह लक्ष्मीनारायण नहीं चलेगा।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल कुछ हतप्रभ भी हुए। पहले तो वह मात्र मजाक समझ रहे थे और उसी तरह बातें कर रहे थे परन्तु उन्होंने देखा कि दुर्गा तो सचमुच ही गम्भीर ही नहीं बल्कि दुःखी लग रही है, तो पूछा,

— क्यों क्या बात है ? मासीमाँ से कुछ कहा-सुनी हो गयी क्या ?

— उनसे तो नहीं हुई पर अब आपसे हो जाएगी।...गोविन्द ने कुछ खाया-पिया कि नहीं ?

— बच्चों ने तो कहा कि मामा ! और तो कुछ नहीं है घर में, सत्तू घोलकर ले आएँ ?

इस बात पर दुर्गा ने ऐसे तमक कर पति को देखा कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बहुत जोरों पर हँस दिये। दुर्गा जाते हुए बोली,

— मुझे नहीं पता था कि मेरा बाहर जाना आपको इतना खलेगा। पहले तो खुद ही ने भेजा और अब ताने मार रहे हैं।...कभी सत्तू घोलकर खिलाती तो पता नहीं क्या-क्या सुनना पड़ता।...गोविन्द ! ऊपर चलो।

और वह जिस प्रकार चली उसमें 'हाँऽऽ नहीं तो' वाला पत्नियों का लटका था।

सच तो यह है कि गोविन्द श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के यहाँ से चला तो दीदी के घर के लिए ही था परन्तु लगा कि अभी थोड़ा समय है तो वह वासुदेव से मिलने लाइब्रेरी चला गया ताकि गांधी-जयन्ती के कार्यक्रम को ठीक-ठीक जान सके और कुछ सहयोग दे सके। जैसे ही वह वासुदेव से बातें करके नीचे आया कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल मिल गये और फिर उन्हीं के साथ चला आया। वासुदेव से यही तय पाया था कि दीदी से मिलकर वह खाना खाकर नौ बजे तक लाइब्रेरी लौट आएगा। वासुदेव ने भी कहा कि उसी समय सार्वजनिक-सभा के मन्त्री गिरिधर ठक्कर भी आने वाले हैं। गिरिधर ठक्कर से वासुदेव की आत्मीयता है यह गोविन्द उसकी बातों से समझ गया था।

गिरिधर ठक्कर बहुत ही जीवट का और अलमस्त स्वभाव का छरहरा व्यक्ति था। सरदार भगतसिंह टाइप की जेबों वाली कमीज और मिलिट्री वालों की सी पैंट पहनता था। उसकी इस वेश-भूषा पर जब नेताओं ने थोड़ी नाक-भौं सिकोड़ी तो उसने अपनी भूषा मे कुल यही परिवर्तन किया था कि ढक्कनदार जेबों वाली कमीज अब कुरता बन गयी थी और मिलिट्री वाली पैंट अब गुजराती जेबों वाला पाजामा हो गया था। दूसरे सारे नेता धोती पहनते थे और ठक्कर को धोती के नाम से ही चिढ़ थी। कुरते की एक ओर की जेब में तीन तहों वाला मनीबेग या पर्स रहता था जिसके कारण वह जेब फूल आती थी और दूसरी ओर एक नोटबुक। इस नोटबुक के साथ ही, जेब के ढक्कन को कोने की ओर असुविधात्मक ढंग से उठाकर चमकदार टीन की ऊँची क्लिप वाली एक पेंसिल खुंसी रहती थी, जो प्रायः हाथ इधर-उधर करने में चुभती थी। इस उलझन को देखा तो बहुतों ने होगा पर सदाशयी शायद एक ही निकले और उन्होंने ठक्कर को प्रशंसा-स्वरूप एक 'ब्लैक-बर्ड' काली पैन उपहार में दी जिसे ठक्कर प्रायः अपनी जेब को छूकर देख लेते हैं कि कहीं छूट तो नहीं गयी या किसी ने मार तो नहीं? दो हड्डियों प्रधान पैरों में सादी सी कोल्हापुरी चप्पलें होतीं। सर्दियों में ठिठुरायी हुई पैरों की अँगुलियाँ लाल तक पड़ जातीं पर गिरिधर ठक्कर महाशय को परवाह भी नहीं थी। घने घुंघराले बाल इतने सघन थे कि प्रायः कंघियाँ टूट-टूट जातीं थीं इसलिए प्रायः अँगुलियों से ही उनका काम चल जाता था। तैल और साबुन के अभाव में बाल हमेशा उलझे रहते थे। आँखें तीक्ष्ण अवश्य थीं परन्तु उनमें सौन्दर्य न होकर सदाशयता या सद्भाव ही अधिक झलकता था। दूर से देखने पर वे आँखें बन्द किताब जैसी लगती थीं परन्तु पास से बिलकुल बच्चों की सी निर्दोष थीं। सामान्यतः गिरिधर ठक्कर का व्यक्तित्व और व्यवहार, मित्रहीन और सिर्फ कामकाजी लगता था। हालांकि अपने से बड़े नेताओं व्यक्तियों से वह न कभी उलझता था और न ही किसी प्रकार का असम्मान का भाव व्यक्त करता था परन्तु वे सब गिरिधर ठक्कर को असुविधा से देखते थे। 'सार्वजनिक-सभा' के कार्यालय में बैठे हुए कार्यवाहियों के 'मिनिट्स' लिखना, नोटिसें लिखना, चिट्ठियाँ भेजना, रसीदें काटना, रजिस्टरों में सारा हिसाब-किताब लिखना : मीटिंगों में तथा प्रभात-फेरियों में सारी देख-रेख,

प्रबन्ध सभी कुछ तो गिरिधर ठक्कर के जुम्मे था पर गिरिधर ठक्कर को किसी ने भी न तो जोर से बोलते सुना होगा और न ही गरमाते। कम से कम रावल जी को छोड़कर वह किसी का आत्मीय नहीं कहा जा सकता था। हालांकि रावल जी ही बता सकते कि गिरिधर ठक्कर उनका आत्मीय था कि नहीं क्योंकि मिजाज और तेवर से गिरिधर ठक्कर चरखा कातने वाले नेताओं में से नहीं ही था। कुछ नेताओं को यह दबे-दबे शिकायत थी कि गिरिधर ठक्कर नये लोगों का गुट बना रहा है और सभा में अपना दबदबा बनाना और बढ़ाना चाहता है। पर गिरिधर ठक्कर में बहुत सी बातों को लेकर अजीब ठण्ढापन था। उसके हड्डियों भरे हाथ में अंगुलियाँ उगी हुई लगती थीं। जब भी वह कुछ लिखता होता तो उस समय यह नहीं लगता कि यह शब्द या अक्षर लिख रहा है बल्कि ऐसा लगता कि यह व्यक्ति मूलतः किसान है और कागज पर भी बीज रोप रहा है। सच तो यह है कि गिरिधर ठक्कर का दूर-दूर तक न तो किसी देहात और न किसी किसानी-परिवेश से सम्बन्ध ही था। 'सार्वजनिक-सभा' के मंत्री गिरिधर ठक्कर शुद्ध सिंहपुरी मुहल्ले के रहनेवाले थे और जाति का सम्बन्ध खोजने-खाजने पर वह पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और पण्डित नागेश्वर उपाध्याय का दूरस्थ रिश्तेदार भी होगा पर इस सबकी किसी को भी आवश्यकता नहीं हुई। सिंहपुरी में कार्तिक-चौक की ओर से आने पर गली के मुँहाने पर जो बाँये हाथ हनुमान जी का प्राचीन मन्दिर है न, बस, वहीं एक दुमंजिला लाल सा मकान देखा होगा आपने, बस, यही मकान गिरिधर ठक्कर का है। पुश्तैनी मकान के कारण गिरिधर ठक्कर को रहने की कभी चिन्ता नहीं हुई। पिता सेंट्रल प्राविन्सेज में रेंजर थे, और बालाघाट में नियुक्त थे। वन-विभाग की इस नौकरी में पिता पण्डित कान्तिभाई ठक्कर सागर-दमोह से लेकर छत्तीसगढ़, आदि के जंगलों में मारे-मारे घूमते रहे। वर्षों तक कोई सन्तान नहीं हुई और जब बुढ़ापे में हुई भी तो पत्नी बीमार रहने लगी। पण्डित कान्तिभाई ठक्कर को तो रोज ही जंगलों में बीसियों मील मुआइने के सिलसिले में जाना पड़ता था इसलिए सिंहपुरी में यह छोटा सा मकान लेकर जाति-रिश्तेदारों के बीच पत्नी और बच्चे को रख दिया। जंगल में दिनों अकेले पड़े रहने से तो अपने सगा-सोइयों के बीच रहना कोई बुरा भी नहीं था। पति जब कभी हुशंगाबाद-पंचमढ़ी के जंगलों में किसी सरकारी काज से आते तो दो-एक दिनों के लिए घर-परिवार भी देख जाते थे। पर पता नहीं कैसे एक दिन इसी तरह जंगल में अपने साहब के साथ चले जा रहे थे। शिकायत यह आ रही थी कि लोग चीड़ और सागौन खुद चोरी से काट रहे हैं। उसी के सिलसिले में चले जा रहे थे। किसी ने सागौन का एक बड़ा सा पेड़ पूरा काट रखा था, सिर्फ जरा सा तना बाकी था कि हल्ला हुआ कि साहेब लोग मुआएने पर आ रहे हैं। वैसे ही छोड़कर सब लोग भाग लिये। पण्डित कान्ति भाई ठक्कर भी साहेब के पीछे-पीछे चल रहे थे। साहेब तो निकल गये परन्तु जैसे ही पण्डित कान्ति भाई ठक्कर उस सागौन के पास से निकले कि वह भरहरा कर टूटा। उसे टूटते देख कर वह भागे परन्तु शायद इसी प्रकार आगे वाला पेड़ भी अधकटा था

और वह भी गिरा जिसके कारण वह घिर गये और भारी चोट आयी। तुरन्त उन्हें उठाकर बालाघाट जीप से पहुँचाया गया। अस्पताल पहुँचते-पहुँचते तक इतना खून निकल चुका था कि उन्हे बचाया नही जा सका।

इस प्रकार गिरिधर ठक्कर ने अपनी अबोध आँखो से अपने पिता को भले ही देखा हो परन्तु समझ आने पर उन्हें नहीं देखा। परिवार में केवल माँ थीं। माँ ने इतनी ही समझदारी की थी कि जो कुछ रुपया सरकार की ओर से मिला था उसे बैंक में जमा कर दिया था। चूंकि उस बैंक मे गिरिधर ठक्कर के एक दूर के मामा थे इसलिए गिरिधर ठक्कर की माँ को कोई कठिनाई नहीं हुई। लेकिन इस पितृहीन बालक की जैसी शिक्षा-दीक्षा, लालन-पालन हो सकता था या होना चाहिए था वह माँ कर नहीं पायी इसलिए लड़के ने अपने ढंग से विकास किया। पढ़ने-लिखने में तेज होने के बावजूद मुश्किल से मेट्रिक पास किया और विनोद मिल में नौकरी कर ली। वहाँ भी जब अपने सुपरवाइजर से कहा-सुनी हुई तो हजरत निकाल दिये गये। इस निकाल दिये जाने का नतीजा यह हुआ कि गिरिधर ठक्कर सहसा गम्भीर हो उठे। कल तक जो बातें उन्हें न कुछ दिखायी देती थीं अब वे सहसा अर्थ देने लगीं। नतीजा यह हुआ कि सिवाय रात में सोने और खाना खाने घर जाने के अलावा वह बराबर लाइब्रेरी में पुस्तकें पढ़ते रहते। इसी सन्दर्भ से गिरिधर ठक्कर और वामन गणेश आइनापुरे में केवल परिचय ही नहीं हुआ बल्कि थोड़ी बहुत आत्मीयता भी हो गयी थी। जिस दिन ट्रेन से कटकर आइनापुरे की मृत्यु हुई उस दिन पहली बार गिरिधर ठक्कर को लगा कि वह रो भी सकते हैं और वह भी किसी दूसरे के लिए। सच तो यह है कि गिरिधर ठक्कर क्रमशः अपने में उदास होते हुए डूबते ही चले गये। साथ ही जब लगातार चार-पाँच वर्ष तक घन्टों सभी तरह की किताबें पढ़ी तो दुनिया का भूगोल और लोगों का इतिहास उनके सामने उजागर हुआ और यहीं से राजनीति ने आकर्षित भी किया। उनकी बस एक ही कठिनाई थी कि वह सबका सामना कर सकते थे परन्तु अपनी माँ का नहीं। गिरिधर ठक्कर कभी यह नहीं कह सकते कि माँ ने उन्हें कभी अलीफ से बे कहा हो पर लोग नहीं जानते कि माँ का यही कुछ न कहना ही उन्हें हमेशा असुविधा देता था। माँ अपने बेटे को केवल आँखों से बहुत ही बुझे हुए भाव से देखती। लड़का आया है। देर रात में आया है। शायद हाथ मुँह धोकर पाट बिछाकर चुपचाप अपना गिलास भर कर खाने के लिए बैठ गया है। बिना कुछ पूछे-ताछे कि क्या बना है; यह नही, वो क्यों नहीं के खाना खा लेता है। शायद दोनों माँ-बेटे एक दूसरे से बोलना ही नहीं, देखना भी चुराते होते हैं, लेकिन क्यों? इतने वर्ष हो गये होंगे गिरिधर ठक्कर नही कह सकते कि वह माँ के पास दो घड़ी बैठे होंगे। आदमी किसी दिन बीमार भी हो सकता है, किसी दिन दुःखी भी हो सकता है, किसी दिन कहीं जाना भी चाह सकता है। शहर में ही सिंहस्थ का इतना बड़ा मेला बारह बरस के बाद लगता है, साधु-संन्यासी आते हैं। उन्हें देखने, प्रवचन सुनने, देव-दर्शन करने जाने को इच्छा हो सकती है। सगे-सोइयो में छोटे-बड़े, अच्छे-

बुरे, काज-करियावर भी होते हैं, जाना चाहिए—पर कभी पुत्र ने पूछा नहीं होगा जबकि माँ प्रतीक्षा ही करती रही होगी कि लड़का कुछ पूछे, कुछ कहे। भला हठात कैसे कहा जाए ? घर-गृहस्थी है—कपड़े-लत्ते, दवा-दारू सभी तो चाहिए, पर कुछ नहीं। सबेरे जाते समय दरवाजा उढ़काते यही सुनती हैं—'माँ! दरवाजा लगा लेना' —सच, माँ तो केवल अपने बेटे के लिए ही नहीं अपने सम्पूर्ण जीवन के लिए भी दरवाजा बन्द करके ही तो बैठी हैं।—किसे क्या जवाब दें ? लोग सम्बन्ध लेकर दरवाजे की कुण्डी खटखटाते हैं। वह टुकुर-टुकुर सुनती रहती हैं। फोटो से लड़कियाँ उनकी ओर देखती भी हैं और साँस गहरा जाती है—बहू!!—क्या किसी दिन भगवान यह दिन भी दिखाएगा ? और इस चिन्ता में ऊपर माँ करवटें बदलती पड़ी रहतीं और गिरिधर ठक्कर नीचे के कमरे में लालटेन की रोशनी में विभिन्न राजनीतिक, क्रान्तियों, क्रान्तिकारियों की जीवनियों को पढ़ते रहते। वस्तुतः जीवन की इस दुः-दुराहट के भीतर न जाने कैसे किसी कोने में जलीय कोमलता, स्वप्नवत्ता पनप गयी थी कि वे क्रान्तियाँ पढ़ते नहीं थे बल्कि उनमें वे घटित होने लगी थीं। जब कभी वह अपने अन्दर की इस किताबियत से बाहर आते और अपने परिवेश की प्रतीती करते तो वह थरथरा उठते कि इस गड्ढे से बाहर वह कभी नहीं निकल पाएँगे जबकि सारी दुनिया और चारों ओर फैली यात्राएँ इस गड्ढे के उस ऊँचे मुँह से शुरू होती हैं जहाँ छोटा-सा एक नीले सेब की भाँति वह संसार दिख रहा है। निरन्तर डूबते जाने का भार गिरिधर ठक्कर की मानसिकता बन गयी थी, जिसे वह चुप रहकर साधे रहते थे।

गोविन्द जिस समय लाइब्रेरी के पास पहुँचा तो गिरिधर ठक्कर दो-एक लोगों के साथ पान वाले के दूकान पर खड़े बातें कर रहे थे। गोविन्द को देखते ही गिरिधर ठक्कर बोले,

— वासुदेव अभी आ रहा है, वह रावल जी के साथ अयाचित जी के यहाँ गया है… तुम इन्दौर से कब आये ?
— आज ही दोपहर में।
— क्या हाल हैं वहाँ के ? सुना प्रजा-मण्डल वाले इस बार गाँधी जयन्ती पर विदेशी कपड़ों की खूब बड़ी होली जलाने वाले हैं। हाँ, शहर भी बड़ा है।
— सुना तो मैंने भी है।
— इन्दौर का भी जवाब नहीं है यार ! जो साली बम्बई में होगा वह इन्दौर में जरूर होगा।

गोविन्द को हँसी आ गयी, बोला,

— एक समुद्र को छोड़कर।

तो गिरिधर ने भी मजा लेते हुए कहा,

— किसी का ध्यान ही नहीं गया पंडित ! वर्ना बहुत मुश्किल नहीं था यह ।

— ठक्कर भाई ! आपने यह नहीं सुना कि अंग्रेज पी. ए ने होल्कर महाराज पर दबाव डाला है कि यह विदेशी-कपड़ों की होली नहीं होगी ।

— यह हुई कुछ गरमा-गरमी की बात । अपने यहाँ तो किसी को कुछ व्यापता ही नहीं साला । देखना जिस दिन स्वतन्त्रता आ जाएगी उस दिन भी लोग एक-दूसरे का मुँह ताकेंगे कि यह क्या हुआ भैया ? अजीब भँगेड़ी हैं यहाँ के लोग ।

— ठक्कर भाई ! अपने ही शहर की बुराई कर रहे हैं ?

इस पर गिरिधर ठक्कर हँसे और बोले,

— अपना शहर है तभी तो बुराई कर पा रहे हैं, दूसरी जगह मार नहीं खा जाते अब तक ? गोविन्द ! यहाँ किसी के कानों पर जूँ ही नहीं रेंगती ।

— किसी के कान से मतलब सरकार के कानों से है ?

— यार, अपनी सरकार साली चार सौ मील दूर ग्वालियर में बैठी है । उसे इस जयंती की खबर अगले बरस तक होगी और वहाँ से हुकुम आते-आते फिर बरस भर लगेगा । इन्दौर को देखो, माणक-चौक में वन्दे मातरम का नारा लगाया तो लाल-बाग में एच. एच. को सुनायी पड़ता है ।—यह हुई न बात ।

— इन्दौर में जागृति भी ज्यादा है और उत्साह भी ।

— गोविन्द ! वहाँ प्रजा-मण्डल एक आन्दोलन है, समझे ? और अपने यहाँ तो यह सार्वजनिक-सभा अनाथालय वालों की बैंड पार्टी है । मैं कहता हूँ जिन स्कूलों में 'शिंदे कुल की विमल पताका दिशि-दिशि में फहरायें' गा-गाकर लड़के बड़े हुए हों वे क्रान्ति करेंगे ? आन्दोलन करेंगे ? क्रान्ति, धरमशाला में लड्डू खाना नहीं है, समझे ?

तभी एक नवयुवक जैसे व्यक्ति ने प्रवेश किया । उसका परिचय देते हुए गिरिधर ठक्कर बोले,

— गोविन्द ! इन्हें जानते हो ?

— नहीं तो ।

— ये हैं माणकलाल सर्राफ, मगर सराफे का नहीं कपड़ों का काम करते हैं । राम जी की गली के पहले लाल इमली की एजेन्सी है न, वह इनकी ही है...और माणक ! ये गोविन्द जोशी हैं ।

दोनों ने एक-दूसरे को नमस्कार किया । माणकलाल सर्राफ ने पान वाले से पान लेकर गोविन्द की ओर बढ़ाया तो बोला,

— मैं पान नहीं खाता—माणक बाबू ! आपकी यह लाल इमली की एजेन्सी.... गोविन्द की बात को लगभग काटते हुए माणक लाल सर्राफ बोला,

— भाई साहब ! वह एजेन्सी मेरी नहीं पिताजी की है....मैं तो अपना कोई स्वतन्त्र धंधा करना चाहता हूँ ।

गिरिधर ठक्कर बोले,

— गोविन्द ! कल यह माणकलाल सर्राफ शिकायत कर रहे थे कि गांधी जी के इन कार्यक्रमों से हजार साल तक स्वराज्य आने से रहा।""इसलिए ये लोग निश्चिन्त भाव से विदेशी कपड़ों और वस्तुओं के व्यापार में लगे हुए हैं।

इस पर माणकलाल सर्राफ ने पहले तो पीक थूकी और फिर बोला,

— देखिए ठक्कर भाई ! बात पूरी बताइए। मैंने हजार साल वाली बात कही जरूर है पर उसका सन्दर्भ भी दीजिए। आप भी ठक्कर भाई ! कमाल करते हैं। अदालत भी सजा देने के लिए प्रमाण माँगती है। मैंने गोविन्द जी ! यह कहा कि दुनियाँ में राजशक्ति और अर्थशक्ति एक होती जा रही है। आज कोई भी राजसत्ता बिना अर्थ-सत्ता के सहयोग से नहीं टिक सकती। और यह अर्थ-शक्ति बिना उत्पादन के बढ़ाये नहीं बढ़ेगी। सारी दुनिया अपनी अर्थ-शक्ति को बढ़ाने के लिए उद्योगों को उन्नत, विकसित और वृद्धि से बढ़ा रहे हैं। जबकि हमारे गांधी जी विदेशी कपड़ों को छोड़िये कल-कारखाने का ही विरोध कर रहे हैं। ये जो दो-चार आठ मिलें अहमदाबाद, नागपुर, कानपुर, इन्दौर में दिख रही हैं इन्हें भी ठप कर दीजिए—तब ? सारा देश चरखा लेकर बैठ जाए, है न ? भाई साहब ! अंग्रेज बेवकूफ नहीं है जो इस राजनीति को ढील दिये है। वह जानता है कि यह आत्मघाती रास्ता है। वह खूब समझ रहा है कि ये देशी मिलें बन्द हो जाएँ तो चरखे से तो काम चलना नहीं है तब झख मारकर सारा हिन्दुस्तान उनके लंकाशायर और मैंचेस्टर के कपड़े ही तो पहनेगा।

इस पर हँसते हुए गिरिधर ठक्कर ने कहा,

— लगता है अगर गांधी-जयन्ती पर तुम्हारा भाषण करवा दिया जाए तो ये राघव जी महाराज, अयाचित साहब सब बगलें झाँकने लगें, क्यों गोविन्द ?

तभी सामने से वासुदेव उपाध्याय आता दिखलायी दिया। आते ही बोला,

— स्त्रियों में जमकर काम हुआ है ठक्कर भाई।

वह फिर हँसे और बोले,

— लगता है श्रीमती अयाचित से भी मिलकर आ रहे हो।

वासुदेव कुछ हतप्रभ हुआ, पूछा,

— यह क्यों कह रहे हैं आप ?

हँसते हुए ही गिरिधर ठक्कर ने कहा,

— अजीब गावदू हो। कोई भी स्त्री काम करे तब भी हमारी श्रीमती अयाचित समझती हैं कि वही कर रही हैं, और जब वह काम करती हैं तो, वह काम तो बस काम ही होता है।

सब हँस पड़े। गिरिधर ठक्कर ने फिर कहा,

— वैसे सच तो यही है कि काम जितना ईमानदारी से स्त्रियाँ करती हैं उतना पुरुष नहीं करते। अब देखो, दो घंटे से हम सब बहस कर रहे हैं और एक माणकलाल

सर्राफ से चूजे के बराबर विलायती रूमाल तक तो निकलवा नहीं सके पर परसों झन्डा-वन्दन तो हम ही करेंगे ।— अच्छा बताओ, क्या इरादे है ?

इस पर वासुदेव बोला,

— इरादे क्या, आप तो अब अपनी उस सड़क गप्पाष्टक-समिति के अधिवेशन में जाएँगे ।

हँसते हुए गिरिधर ठक्कर ने कहा,

— यह तुमने किस समिति की बात कही ?—अपने देश मे चाहे और किसी चीज को प्रतिभा हो, या न हो लेकिन नामकरण इतना सटीक करते हैं कि बोतल में उतार देते हैं ।—लेकिन वासुदेव ! तुमको लोगों का यह थोड़ा सा भी हँसना-बोलना नहीं सुहाता ? बड़े सूम हो यार !

इस पर गोविन्द बोला,

— क्या आप इस चौराहे पर रोज बैठते है ?

— रोज ही समझ लो भाई ! चरखा चलाना सीखा पर तार निकालना नहीं आया तो अब बताओ खाली समय में क्या किया जाए ?—भाई मेरे, दुनिया में हम जैसे लोगों को दुनिया की ही तरह रहना पड़ता है, हम गांधी जी तो हैं नहीं ।—और जिन लोगों को हम बहुत साधारण समझते हैं वे भी मनुष्य हैं, विचार रखते हैं, झूठी-सच्ची बहसें करते हैं । बस, अन्तर केवल इतना ही है कि सब कुछ भोगने, झेलने और माथाफोड़ी के बाद भी ये अपने को कभी विशिष्ट समझने की भूल नहीं करते इसलिए इनका समर्थन, विरोध, राग, द्वेष, गाली-गलौज, प्रार्थना—सब कुछ जेनुइन होता है—न उस पर विदेशी कपड़ों का मुलम्मा होता है और न खादी का ।

वासुदेव ने गोविन्द से कहा,

— इन्हें जाने दो अब । आओ हम लोग चलें, सबेरे की प्रभातफेरी की तैयारी भी करनी है ।

— तुम तो यार ! ऐसे कह रहे हो जैसे प्रभातफेरी पर नहीं जाना है बल्कि हल लेकर खेत जोतने जाना है ।—अच्छा, चला जाए ।

और वे लोग विदा हुए ।

गोविन्द जी की गली और रामजी की गली वाले इस चौराहे का कोई नाम नहीं था और शायद किसी को इसके नामकरण की कोई आवश्यकता भी कभी अनुभव नहीं हुई। ग्यारह-बारह बजे रात तक इस चौराहे पर गहमागहमी रहती जबकि अधिकांश उज्जैन सो गयी होती। जब सारे लोग एक-एक, दो-दो करके चले जाते हैं तब भी इन दोनों हलवाइयों की दूकानों के लड़के, कारीगर दो बजे रात तक परातें, थालियाँ, कड़ाहियाँ माँजते रहते हैं। बर्तनों की धुलाई होती है। चूँकि अब ये दूकानें धीरे-धीरे होटल का रूप ले रही थी इसलिए टेबलों-कुर्सियों की सफाई होती। सींक की भाड़ू से रगड़-रगड़ कर फर्श धोना पड़ता और इसमें देर रात होना स्वाभाविक ही है। भट्टियों को सबेरे के लिए साफ किया जाता। लहकते कोयले बुझाते समय चूक हो जाए तो मुँह-हाथ ऐसे झुलसें कि झुलसे भले। गरम-गरम राख में से बिना जले कोयले छाँटने पड़ते। कई बार तो बर्तनो को माँजने के लिए राख की जरूरत के लिए इन्हें चालना तक पड़ जाता है। भट्टी के मुँह पर पोछा लगाना अगर भूल जाओ तो मालिक कान से उठाकर आपका वजन ही बतला दे। दूकान के बाहर रखे ड्रम में से दोनों-पत्तलों-कुल्हड़ों का ढेर दूर ले जाकर फेंकना भी एक काम है। गायें और कुत्ते इतनी रात में भी फेंकने के स्थान तक पीछा करते चलते हैं। कारीगर दही के कूँड़ों की भीतर-बाहर सफाई करते हैं। बची हुई मिठाइयाँ ताजी-बासी करनी पड़ती हैं। कुछ का मावा [खोवा] तो ऐसा हो जाता है कि रात ही में दुबारा न भूना जाए तो सबेरे कुत्तों को ही देना पड़े और कोई पैसों का पेड़ तो नहीं लगा है कि रोज-रोज इस तरह मिठाइयाँ फेंकी जा सकें। अरे उन्नीस-बीस तो करना ही पड़ता है व्यवसाय में। हाँ, इस बात का जरूर ध्यान रखना पड़ता है कि कोई टोके नहीं। सबेरे के लिए जलेबी का खमीर रात ही में फेंट कर देखना होता है। सबसे झंझट तो साफ-

पूड़ी की होती है। बच जाए तो क्या करो? झूठे-सकरे की अलग झंझट। और शाक-पूड़ी न रखो तो यात्री बिचारे क्या करें? सब को तो ढाबों का पता होता नहीं। और इतनी सारी बातों को करते-धरते जब लड़के और कारीगर पटरी वाली बेंचों पर या होटल की टेबलों पर पीठ टिकाते हैं तो उस समय भोपाल, इन्दौर, नागदा ट्रेन से जाने-आने वालों के तांगों के घुंघरू गली में कम लेकिन कंठाल वाली मेन सड़क पर बारहों महीने सुनायी पड़ते हैं। वो तो थकान इतनी होती है कि नींद झख मार कर आती है वर्ना ये आवाज और उस पर खटमल रात में जितना परेशान करते हैं उसका भगवान ही मालिक है। तभी तो किसी दिन लगता ही नहीं कि सोये, बस ऐसा ही लगता है कि जैसे बाल्टी के पानी में कपड़ा डाला और निकाला। गर्मियों में या कार्तिक के महीने में नहाने वाले लोगों की आवा-जावी के मारे सोना नहीं जीना हराम समझो। उसी समय ये लोग, खासकर स्त्रियां ऐसी चबर-चबर बातें करती जाएंगी कि आती हुई नींद उचट जाती है। पुरुषों की कुछ न पूछिए—यों दिन भर अल्लम-गल्लम करेंगे पर सबेरे के समय महिम्नपाठ, विष्णु सहस्रनाम, न जाने क्या-क्या इतनी जोर से पाठ करते जाएंगे कि भगवान के यहाँ अगर नाम नोट हो रहे हैं तो उसमे कोई भूल-चूक न हो जाए।

इस चौराहे पर आज तो हलवाइयों की दूकानें है या हो गयी हैं परन्तु हैं ये लोग एक ही परिवार के। पुराने लोग पूछने पर बता सकते हैं कि, एक तो यह कि यह दूकान कभी एक ही थी और उज्जैन की प्राचीन न सही तो पुरानी दूकानों में से एक रही है। कभी इस दूकान की मिठाइयाँ इन्दौर ही नहीं ग्वालियर तक महाराज के लिए जाया करती थी। लेकिन बँटवारे के बाद जब ये दूकानें दो हो गयी, तो फिर दो होने के तर्क-कुतर्क ने अपना काम शुरू किया। आपसी लाग-डाँट स्वाभाविक ही थी परन्तु कभी झगड़े-फसाद की नौबत नहीं आयी। दोनों ही अपने को पुराना और अपनी मिठाइयों को बढ़िया बताते थे, जो कि स्वाभाविक ही था।

रामजी की गली मे घुसते ही जो दूकान पड़ती है, वह हनुमानप्रसाद की है और उसके बाद जो दूकान पड़ती है वह माधोप्रसाद की है। इन दोनों भाइयों की कद-काठी, रंग-ढंग सब बहुत मिलता था। माधोप्रसाद की दूकान चूंकि भीतर पड़ती थी इसलिए चौराहे और सड़क की दोनो पट्टियों पर बैठे लोगों के लिए दूर पड़ती है। बहुत दिनो तक दोनो दूकानो के लड़के दोनो पट्टियो पर जा-जाकर आर्डर ले आते थे परन्तु तब भी माधोप्रसाद को लगता रहा कि बड़े भाई हनुमानप्रसाद से वह उन्नीस ही है। इसलिए उसने एक चालाकी बरती। रात में चूंकि सड़क की दूसरी दूकानें बन्द ही हो जाती हैं क्योंकि वे या तो एजेन्सियाँ हैं या आढ़तियों की गद्दियाँ हैं इसलिए उसने लाल-इमली की एजेन्सी के सामने वाले पटरी-सीढ़ियो पर अपनी एक उठाऊ दूकान भी कर ली। माधोप्रसाद को इस उठाऊ-दूकान से लाभ यह हुआ कि उस पट्टी में दूर-दूर तक बैठे लोगों को अब सिर्फ कहना पड़ता या आवाज लगानी पड़ती और चीजें हाजिर हो जाती। पहले, या तो उठकर जाना पड़ता था या इस दूकान

के लड़के को आर्डर दो तो दूसरी वाली का लड़का माल ले आता तो लोगों को मुसीबत होती। हनुमानप्रसाद भी जाने-पहचाने और माधोप्रसाद भी। फिर हनुमानप्रसाद की दूकान को लाँघ कर जाने में भी संकोच होता। कोई सरे आम कितनी आँख बचा कर जाए? खिसियाहट तो लगती ही थी। अतः माधोप्रसाद की उठाऊ-दूकान के हो जाने से ग्राहकों को भी आसानी हो गयी। लेकिन जब हनुमानप्रसाद ने देखा कि इस होड़ से छोटा भाई बाजी मारे ले जा रहा है तो वह क्यों चूकता? और सामने वाली पट्टी में तुर्की-बतुर्की उसकी भी एक उठाऊ-दूकान माधोप्रसाद से कहीं बड़ी और अधिक व्यवस्था के साथ खुल गयी। और जो आराम इस पट्टी वाले को माधोप्रसाद ने दिया था वैसा ही आराम अब उस पट्टी में हनुमानप्रसाद ने मुहैया करा दिया। नतीजा यह हुआ कि पट्टियाँ बँट गयीं और सामरथों की लाग-डाँट पहले से कहीं ज्यादा शुरू हो गयी। बड़ी अजीब स्थिति हो गयी कि अगर आप इस पट्टी में हैं तो उस पट्टी की दूकान से सामान मँगाते बार बार सोच रहे हैं कि मँगाएँ कि नहीं? बस गनीमत यही थी कि दोनों के यहाँ सभी चीजें रहतीं, चाहे वह आमपाक हो या खोपरा पाक, रबड़ी-बाँसूदी हो या मावाबाटी, गुलाब-जामुन हो या मलाई के लच्छे, कलाकन्द हो या गोकुल पेठा। नमकीन के शौकीनों के लिए भी रतलामी सेव की ज्यादा मिर्चों वाली सेव से लेकर लहसुन, कालीमिर्च की सेव तक मौजूद। सादी कचौरी लीजिए तो वह मिलेगी नहीं तो उस पर दही, नवरतन चटनी का ऐसा बढ़िया छिड़काव मिलेगा कि खाते समय आप भले ही सी-सी करते रहे पर स्वाद के मारे खाये चले जा रहे हैं। गुजराती गाँठिये भी मिलेंगे तो इधर दोनों के यहाँ आगरे की दालमोट भी मिलने लगी है। ये दोनों तो भाँग-बूटी का प्रबन्ध करने वाले थे परन्तु शिवाले वाले शंकर गुरू ने इस पर खुद भी आपत्ति की और लोगों से भी कहलवाया इसलिए सभी ने भाँग पर गुरू का ही एकाधिकार मान लिया। आरम्भ में कभी काली मिर्च की भाँग मिलती रही होगी परन्तु अब गोलियों के अलावा मौसम के हिसाब से ताजी घुटी-पिसी भाँग तैयार रहती। गर्मियों में नारंगी-सन्तरे के साथ मिलती या फिर आम के दिनों में अमरस में भाँग की बहार देखते ही बनती। बादाम-पिस्ते की भाँग तो बारहों महीने उपलब्ध थी और कहने पर रबड़ी-बासूंदी में भी भाँग सादी कहिए तो सादी नहीं तो केसर के साथ मिल सकती थी। इसी प्रकार सभी आयु और अवस्था, पेशे और धन्धे, रुचि और हैसियत के लोग अपने-अपने झुण्ड बनाकर शाम ढलने के बाद से आते और ठीया सम्हाल लेते। सबके अपने-अपने स्थान और सदस्य लगभग तय जैसे ही थे।

कहने को दो-चार पान की दूकानें थीं परन्तु जमनालाल चौरसिया के सामने भला किसकी हिम्मत थी जो पर भी मार सकता था। हनुमानप्रसाद हलवाई की दूकान के सामने कोने पर जमनालाल चौरसिया की दूकान ज्यादा तो प्रदर्शन की ही वस्तु लगती थी। पहले कभी मालवी या मद्रासी पान चलता रहा होगा पर अब बँगला पान के अलावा खास-खास शौकीनों के लिए महोबा का तथा बनारसी पान भी

रखता था। मघई या जगन्नाथी के भेद को शायद ही कोई जानता रहा होगा पर जहाँ पान सफेद हुआ कि ग्राहक के लिए वही बनारसी हो जाता। जमनालाल चौरसिया की दूकान क्या थी, गहना थी। सुनहरी फ्रेम का इतना बड़ा शीशा हालैण्ड के काँच का था कि सड़क पर खड़ा आदमी अपने को जूते से लेकर ऊँची से ऊँची टोपी, साफे या पगड़ी में देख सकता था। रोज चूने से इसकी सफाई होती थी। बरबस लोगों का हाथ इस शीशे के सामने पहुँच कर मूँछों पर चला जाता। न सही कुछ तो कुरता ही ठीक कर लिया जाता। साफे का पुछल्ला या पगड़ी के पेंच पर तो लोगों का हाथ निश्चित ही जाता था। इतने साफ शीशे में कुरते के सोने के बटन कैसे सुलगे दिखते थे। चौरसिया की दूकान माला-फूलों से इतनी सजी लगती जैसे सजा हुआ नन्दी हो। और सुगन्ध की कुछ न पूछिये। गर्मियों में बेला, खस, चमेली की सुगन्ध, भाँग-रबड़ी की बहार के बाद तो बस मजा ही दे जाती थी। चौरसिया पान भी जिस झटके-झोल से देता कि आपसे बस खाते ही बनता था। उज्जैन का कौन रईस या शौकीन होगा जिसे जमनालाल चौरसिया ने एक से एक गुलकंद, लखनऊ का किमाम, बनारस का जर्दा, सोने-चाँदी की भस्म तथा वर्क के साथ पान नहीं खिलाया होगा। प्रवाद तो यह भी है कि खास-खास लोगों को गुपचुप कोकीन भी पान में खिलाता है। वैसे कुछ दूसरों ने भी नकल में, प्रतिस्पर्धा में अपने यहाँ भी रौनक कर ली थी पर सब कुछ दूकान ही तो नहीं होती। जमनालाल चौरसिया के जैसा रंग-रूप तो छोड़िए, इस उमर में भी तनजेब और मलमल के कुरते में से बाँहों में जैसी मछलियाँ पड़ती हैं, बच्चू, वो कहाँ से लाओगे? जवानी के दिनों में नाथू गुरू के अखाड़े में जमनालाल चौरसिया ने बरसों इतने डण्ड रोज पेले हैं कि सामने जमीन पर पसीने का दूसरा जमनालाल बन जाता था—है किसी में यह कसबल? और खड़े-खड़े चार सेर बादाम डला दूध जब पी लेते थे तभी लँगोट खोलते थे। उसी की बदौलत आज यह है कि जब झटके-झोल से वह पान थमाता है तो हथेली पूरी रकाबी लगती है। अच्छा मान लो तुमने भी दूकान की वैसी सारी चीजें, तश्तरियाँ, पान की चौकी वगैरा सब चमचमा लिये पर जमनालाल चौरसिया का सा व्यक्तित्व कहाँ से लाओगे। दोनों हाथों को, पान लगाते हुए भी वह जिस ढंग से मुस्कराते हुए प्रणाम में उठा भर देता है कि आपको लगता है कि जैसे आपको उसने कोई खिताब दिया है। अपने यहाँ तुमने चूड़ी का बाजा भी रख लिया और उस पर काल्लू कव्वाल, अख्तरी बाई, मलिका पुखराज, यूथिका राय के गीत, भजन, कव्वालियाँ भी लगा ली, तो? पान तो वही टके का है। ठीक है, परदेसी कोई फँस जाए पर उज्जैनी तो फाँकने से रहा। लोग तो मजाक मे कहते भी थे कि, जमनालाल! जरूर तुमने किसी बाई जी के साथ सारंगी या तबला बजाया होगा—क्या तो जालीदार बनियाइन है और क्या चुन्नटदार कुरता है। और वह अपने साफ-घुले रंग, और नशे में डूबी, काजल अँजी आँखों के लाल डोरों में पान लगाने से ज्यादा वाद्य बजाता उस्ताद ही लगता था। अंग्रेजी में जिसे 'टाग-टोप' कहे जाते हैं, वे उसके खालिस सोने के थे। और मजा यह कि

वह पान बनाते समय नहीं बल्कि पान देते समय ही हल्के मुसकरा कर उनका प्रदर्शन करता था। उसके गले की सोने की पतली जंजीर और अँगूठियाँ ऐसी नहीं लगती थीं कि जैसे ये कुछ ज्यादा ही हो रही हैं। तभी तो वह पानवाले से ज्यादा तो गोविन्द जी की गली का कोई सेठ ही ज्यादा लगता था। कभी उसको किसी ने हँसने के अलावा न तो गंभीर, न उदास कुछ नहीं देखा। ब्राह्मणों को 'गुरू', बनियों को 'सरकार' और युवकों को 'बाबू साहब' ही सम्बोधन करता था। पान की तश्तरी की लकदक ही आपको बतला देती कि सुगन्ध तो सुगन्ध है ही पर तश्तरी भी किसी नाजनीन से कम नहीं है। त्योहारों पर ग्राहकों को इत्र का फाहा तीली में लगा कर देना या भेजना उसकी विशेषता थी। भला किस दूसरे पान वाले में यह दुनिया भर के रख-रखाव की हिम्मत थी? और त्योहारों पर कोई फाहा भी थमा दे पर रोज के लटके? कौन कितने पान खाता या खा गया है, किसने, कितने पैसे दिये इसका हिसाब भले ही चित्रगुप्त जी महाराज के यहाँ हो, तो हो, परन्तु जमनालाल चौरसिया का तो खुला दरबार था। ग्राहक तो राजा होता है और जमनालाल चौरसिया का काम है उस राजा की पान से सेवा करना। जब आपने 'बाबू साहब' के ओठ लाल कर दिये, सुगन्ध से मुँह भर दिया और तबीयत हिना कर दी तो उससे पैसे क्या माँगना? और मान लीजिए कि उसने दो-चार आने आपके मार भी दिये तो क्या आपके लाल हट गये? आप भी समझ लें कि पान की पीक थी, बस!! हो गया, जो होना था! मगर दो-चार आने के लिये आपका टोकना तो उससे भी गया-बीतापन है। तभी तो इन बीसियों बरस में अपने हाथों से कैसे-कैसे लोगों को पान थमाया होगा, पेश किया होगा, आगे किया होगा मगर क्या मजाल जो कुरते जैसे बुर्राक और महीन सफेद-झक जैसे अपने आचरण पर एक दाग क्या, छींटा तक नहीं पड़ने दिया होगा।...'बाबू साहब! अगर कुरते की सफेदी बनाये रखनी है तो वह पहले अपने में होनी चाहिये, नहीं तो ग्राहक की आँख में छींटा आने के पहले वह आपके कुरते पर दिखने लगेगा। —कुछ गलत कहा राजा भैया?—लें, पान लें।'

गिरिधर ठक्कर जब माणकलाल सर्राफ के साथ इस चौराहे की ओर बढ़े तो चौराहा रोज की ही भाँति अपनी बहार पर था। वैसे किसी भी हाट-बाजार का चरित्र नहीं, व्यक्तित्व होता है। इस चौराहे का व्यक्तित्व औत्सविक था परन्तु चरित्र इतना विविध था कि आप उसके केवल प्रत्यक्षदर्शी ही हो सकते थे। रौनक की न पूछिए! किसी बाई जी के कोठे पर क्या होगी, जो यहाँ रहती है। एक से एक रसिये, शौकीन,

बातूनी, भँगेड़ी, रंगबाज, लतियल, मसखरे, धन्धेवाले, कौन नहीं होता है ? सबके अपने-अपने गोल, मजमे ही नहीं बल्कि बातें और किस्से होते हैं। खासकर गर्मियों में मलमली कुरतों, केलीको धोतियों, तरह-तरह की टोपियों, रंग-बिरंगी पगड़ियों में ज्यादातर सेठ, साहूकार, आढतिये, दूकानदार, वकील, नौकरी पेशा सभी लोग मिल जाएँगे, पर थोड़ी बड़ी उमर के ही। मूँछों पर खिजाब और इत्र लगाये आपको यही आभास देंगे कि अभी ये पेटेन्ट लेदर के 'बो' लगे पम्प-शू पहन कर किसी कोठे की ओर तशरीफ़ ले जाएँगे। गले में पतली सोने की जंजीर, कुरते में सोने के बटन और अँगुली में एकाध हीरा-पन्ना या माणिक-मोती ही बोल रहा होगा कि चौराहे पर तो, बस आ गये हैं। दूकानों के सामने के चबूतरों पर, पटरों पर पलथियाँ लगाये बैठे हैं और बातों के पेंच लड़ाये जा रहे हैं। शंकर गुरू की भाँग के बाद खाना-पीना और पान-पत्ता तो कई किश्तों में चलता रहता है। दिन भर गद्दियों पर बैठे-बैठे ऊब गये साहूकार-महाजनों को चम्पी करनेवाले लड़कों से चम्पी करवाना बहुत अच्छा लगता है। ऊँट की खाल की छोटी-छोटी कुप्पियों में बेला, चमेली, ब्राह्मी के तैल रहते हैं पर शौकीनों को 'जुल्फे बँगाल' की महक से मिस कज्जन का मजा आ जाता है। कोई लड़का किसी की पिण्डलियों में तैल सूँत रहा होता है तो किसी की बाँह को कोई लड़का अपने कन्धे पर रख कर सजीव करने के लिए मींज रहा होता है। पर जो मजा कान साफ करवाने में आता है उसका तो आनन्द ही दूसरा है। आदमी का पूरा व्यक्तित्व उस समय कान बन गया होता है। कुछ के लिए यह दुनिया ताश के बावन पत्ते हैं। हाथ में आया एक-एक पत्ता कैसे धीरे-धीरे, सहेज-सहेज कर, चारों ओर भाँपते हुए खेला जा रहा है। तुरुप बोली जा रही है। हर पत्ते, हर हाथ के साथ 'कार्चटिंग' भी साथ में चल रही है और दोनों से उठा-उठा कर सोचते हुए गोकुल-पेठा भी खाया जा रहा है। कई बार पत्ते दो-दो दिखने लगते हैं।

जियो शंकर गुरू !! आज तो भाँग ने राजा वो समाँ बाँधा है कि साली अपनी यह फटीचर उज्जैन ही गोकुल-विन्द्रावन हो रही है।

— ऐ विन्द्रावन के बच्चे, पत्ता चलो पत्ता।

— ये ईंट का बाश्शा किसने चला ?

— किसी ने चला हो ! तुम अपना पत्ता चलो। दुनिया भर की पंचायत से तुमसे मतलब ?

— मतलब है प्यारे, तभी तो गोकुल-विन्द्रावन से भाग कर आना पड़ रहा है। अच्छा !!

— देख बे मोट्टू, ईंट काट रहा है, याद रखना। अगर ईंट तेरे पास निकली तो साले ईंट से ईंट न बजा दी तो फिर कहना !

— ठीक है, ठीक है। अगर निकल आए तो भैरोगढ़ जेल भिजवा देना मगर इस समय तो अपने चमड़े का यह हाथ उठाओ तो इस हाथ पर से....क्यों बे गोरधन, उठाता क्यों नहीं हाथ ?

और निरन्तर वही ताश । फिर ताश फेंटी जा रही है मगर उन्हें देखिए, किस मदकची से कम हैं ? शतरंज क्या बिछाये हैं, पूरी बादशाहत बिछाये बैठे हैं। दीन-दुनिया जिसकी हो वह खबर रखे इन्हें न दीन से मतलब और न दुनिया से कोई सरोकार। इनके बादशाह, वजीर और प्यादों को कोई नहीं छू सकता । दोने से रबड़ी गिरी चली जा रही है पर होश किसे है ? कमबख्त चाल ही नहीं सूझ रही है । जोरी का खेल इसीलिए बड़ा ही लतियल खेल है । अब बताओ, घोड़ा चलते हैं तो घुड़-गांठ तो टूटती ही है और ऊँट अलग कमजोर हो जाता है । वजीर हटाया नहीं कि अभी यह सेठ कालूराम का बच्चा 'या अली' 'या अली' करता वजीर लेकर चढ दौड़ेगा । बादशाह को शह अलग लगेगी और आपका किला टूटा सो अलग ।

— अरे यार, चलो भी । दो घंटे से सोच रहे हो । यहाँ साले घोड़े हिनहिनाये जा रहे हैं।

— बस, हमें यह बीच में बोलना ही जहर लगता है । तुम्हारा यह सट्टा-बाजार है जो 'लिया' और 'दिया' कह दिया और लाखों का वारा-न्यारा हो गया ?....भाई जान, यह सब्र का खेल है, गुल्ली डण्डा नहीं....यार, मगर क्या चला जाए ?

— लगता है प्रेमचंद की कहानी नही पढ़ी ।

— सेठ कालूराम ! तुमने तो उसके बारे में किसी से सुना भर ही होगा मगर मैंने तो पढ़ी भी है तभी तो मैं उन मिरजाओं की तरह तबाह नहीं होना चाहता। साले बेवकूफ थे ।

— बेवकूफ वो नहीं तुम हो । देर करोगे तो नतीजा वही होगा। बस फर्क सिर्फ इतना ही होगा उन्हें तो एक प्रेमचंद मिल भी गया था मगर हमें-तुम्हे प्रेमचंद क्या कोई लालचंद भी नहीं मिलेगा।

— तो यहाँ किस साले को लालचंद की जरूरत है—लीजिए, हम यह हाथी पीछे हटा लिये जाते हैं....देखा राज्जा, क्या छाँट कर चाल निकाली ?

लेकिन इन चौपड़वालों को क्या कहिएगा जो कौरवों के इन्द्रप्रस्थ वाले दरबार से लेकर कण्ठाल के इस चौराहे तक अनादि काल से कौड़ियाँ फेंकते रहे हैं ? पत्नी को किस करवट चैन आता है यह नही पता है पर कैसे झोल या झटके से कौड़ियाँ फेंक देने पर क्या आता है, सब पता है और घर तो, सात और तेरह मिलकर अपनी गोटी ऐसे निकाल कर ले जाते हैं कि ऊँट भी क्या फलाँग लगाएगा। दीन-दुनिया से भूले इन लोगों में वो भी हतभागे हैं जो अपनी-अपनी दूकानों के तालो को पचीसों बार हिला-हिलाकर देख आये होंगे और यहाँ कुछ भाँग-बूटी के मजे के ख्याल से आये थे पर उनके अन्दर जो एक दूकान हमेशा खुली रहती है उसका क्या करें ? शंकर गुरु की कैसी ही केवड़ा-गुलाब जल डाली भाँग इन लोगों की बातों से आती हींग की गन्ध को दूर नहीं कर पाती । इन्हे देखने पर ही मिर्चों की धाँस आती है ! कुछ आढ़तिये चौरसिया का पान चबाते हुए कपास मे ही माथा फोड़े जा रहे हैं । इस साल कपास की फसल में मन्दी है । देखना मालवे की सारी जीनें मुश्किल से दो महीने ही रूई साफ कर सकेंगी,

बाकी सारे साल ये अपने नाम को न रोयें, तो कहना। आजकल तो सारे धन्धे चौपट हुए जा रहे हैं। नीमाड़ की कपास का वह तार ही नहीं बनता तभी तो अहमदाबाद की मीलें भले ही उसे ले लें पर विलायत मे तो उसकी कहीं खपत ही नहीं।

— तूवर [अरहर] की दाल का क्या हाल है? कानपुर की दाल तो मँहगी चल रही है।

— अपने यहाँ तो नीमाड़ की आती है।

— मगर उसमें साला पुठ्ठा [छिलका] लगा ही रह जाता है।

— पर स्वाद में कानपुर से तुम जानो बढ़िया ही है। गलती भी जल्दी है।

—तुम इस साल गेहूँ भर रहे हो कि नहीं?

— पिछले साल का ही मालवी गेहूँ गोदामों मे सड़ रहा है और नया पंजाबी आना शुरु हो गया है।

— पंजाब में साली नहरों के कारण पूरी धरती में पानी ही पानी हो गया है। अपने यहाँ तो चौमासे का पानी है और फिर कुएँ-बावड़ियाँ हैं—चड़स से कोई कितना फसलों को पानी देगा यार!

— अच्छा, चावल कैसा चल रहा है?

— बढ़िया देहरादूनी बासमती मिल जाए तो भर लो मगर काला-नमक अपने यहाँ नहीं चलता। कानपुर की तरफ उसकी खपत है। कुछ नहीं यार, सब भेड़ चाल है....

कहीं सराफों की जमात में चाँदी-सोने को लेकर झाँउ-झाँउ हो रही होगी। बम्बई में चाँदी चढ़ी नहीं कि इन बनियों की पगड़ियों के पेंच ढीले होने लगे। चाँदी के जेवर, विक्टोरिया-एडवर्ड के कलादार रुपयों को गला-गलाकर सिलें तैयार होने लगतीं। पूरे सराफे में हवाइयाँ उड़ने लगतीं।

— सुना है हुकुमचंद जी ने बम्बई की सारी चाँदी खरीद ली? अब क्या होगा?

— चाँदी के बादशाह हैं वो। हमारी-तुम्हारी धोती खुलवाकर उसे भी चाँदी के भाव लन्दन अमरीका में बेंचकर सिल्लक खड़ी करनेवाला दिमाग है दानवीर, सर-सेठ हुकुमचंद का। अपनी कोठी के सामने ऐसे ही सोने के शेर खड़े कर लिये हैं?

— पर सरकार को कुछ तो करना चाहिए।

— क्या आज ज्यादा छान ली मूलचंद? अंग्रेज साला तो हुकुमचंद का बाल बाँका नहीं कर सकता तो तुम्हारे ये सींधिया-होल्कर उनके व्यापार पर हाथ लगाएँगे?

मतलब यह कि शंकर गुरु की भाँग, हनुमानप्रसाद की रबडी और चौरसिया का पान साला बेमजा हो गया और चिन्ता लगी सो ऊपर से। दूकानों की बड़ी-बड़ी थामियों का गुच्छा सम्हाले कुछ का तो नशा और मन ऐसा उखड़ जाता कि बस।

लेकिन गिलास की भाँग जब आँखों में उतर आयी हो और उस पर लच्छो, बासूँदी-मलाई की गुलाब केवड़े में बसी सुगंधित तहें लग गयी हों और तुरप के पत्ते की तरह चौरसिया का पान भी मुँह में घुला पड़ रहा हो तो भैया, लखनऊ-बनारस चारों

ओर घूमने लगता है। कानों में पानड़ी, खस, हिना, गुलाब का जब फाहा खुंसा हो और कुरते से खुशबुएँ उड़ रही हों और ऐसे में अगर किसी ने लच्छेदार बातों की रजाखानी गत बजा दी तो राजा, तबीयत वो-वो पेंगे लेने लगती है कि बनारस की गंगा में हिचकोले खाते बजरे भी मात हैं प्यारे! एक ख्याल को पकड़ो तो साला दूसरा हाथों से कबूतर की तरह उड़-उड़ जाता है।

— किस महफिल की तुम बात सुना रहे थे दामू? साले इस दामू नाम को लेकर किसी महफिल मे अगर गये तो न निकाल दिये जाओ तो मेरा नाम पलट देना। समझे!

— अबे जा खस्सी की औलाद, भाँग पी कर क्षिप्राजी की ही ओर मुँह रखना, समझे, किसी कोठे की ओर मुँह किया तो वो जयपुरी जूतियाँ पड़ेंगी कि, बस।

— यार दामू! कसम से, न हुए हम बाजबहादुर यार! साली मांडू को साथ-साथ लिये घूमते। अब बताओ, यह क्या बात हुई कि बाजबहादुर तो साला यहाँ कण्ठाल में ऐसी की तैसी करवाता बैठा है और रूपमती को कुछ नहीं सूझा तो, मर गयी। यह क्या बात हुई राजा!....साला वो जहाज-महल, धार-नालछा के पास पहाड़ियों में झख मार रहा है....तभी तो कहता हूँ प्यारे, दुनिया में न आदमी की इज्जत है, न उसकी कला की।

और लोग ठहाका मार उठते। कोई टीप भी लगा देता,

— वाह बूटी महरानी! तेरे भी जलवे हैं—बजरबट्टू भी अपने को बाजबहादुर समझ रहा है।

— क्या कहा बे? तौहीन करता है?

— हो होशियार यार! पी भाँग है, मगर मजा दारू का दे रहे हो। तबीयत बिल्कुल आलीजाह हो रही है।

मगर इन भँगेड़ियों-गँजेड़ियों से किसी कदर भी कम यह मजमा नहीं है जहाँ भाँग पर संगीत का नशा भी हावी है।

— अरे रहने भी दे तेरा पंजाबी अंग का दादरा। दादरे साले में क्या रखा है? कब से गाये जा रहा दादरे का मरसिया। कभी बनारस अंग की ठुमरी सुनी है—प्यारे, गायकी क्या है, झुमका है, झुमका!! और वह भी रसूलन की आवाज में सुन ले साले तो 'वहाँ' से बाहर आना भूल जाए।

और इस 'वहाँ' पर वो-वो, तू-तू, मैं-मैं होने लगती कि, बस।

— मगर कभी सिद्धेश्वरी को भी सुना है?

— भैया, ये सिद्धेश्वरी तो चुनार-मीरजापुर तक ही ठीक है। प्यारे, हिन्दुस्तान तो रसूलन का है।

— और अख्तरी?

— जोड़ नहीं है प्यारे, इस झुमके का भी। गाती क्या है, बताशा घुलाती है।

कोई भला क्यों चुप रहे? आवाज आ ही जाती,

— क्यों नहीं बनारस-लखनऊ के गुन गाओगे, वहाँ जो रह आये हो। खूब सुना होगा इन दोनों को।
— सुने भी सुनने की कही, अबे, अपना शेर तो इन दोनों के यहाँ ठेका भी लगाता रहा है—धा धिन्ना !! धा धिन्ना !! धा तिन्ना !! धा तिन्ना !!
— सुनने की मत कहो राजा ! अभी ग्योरस साल ही रसूलन इन्दौर आयी थी।
— बैलगाड़ी से ?
— कौन है ये बदतमीज ? बात सुनने का तो सहूर नहीं आया और बोलने चले हैं।
— छोड़ो इस साले को, तुम अपनी सुनाओ।
— क्या सुनाएँ, साली उतर गयी।
और शंकर गुरु को जोर से सन्तरे में एक गिलास के लिए आवाज दी जाती। और जब गिलास खाली हो जाता, दुपट्टे से हवा करके तबीयत थोडी हलकान कर ली जाती तो लंतरानी शुरु हो जाती,
— हाँ, तो वो रसूलन को कहाँ छोड़ा था ?
— वो रसूलन इन्दौर आयी थी....
— हाँ तो भैया, रसूलन इन्दौर आयी....
— धत् साले, एक बार आयी होगी और दस बार गा रहे हैं उसे।
— फिर बोला बीच में साले ?
— नहीं तो क्या उसे इन्दौर न उतार कर खण्डवा ले जाओगे ? ले जाओ साले, हमें क्या ?
— हद है यार, लोगों को किसी बात की तमीज ही नहीं।....आगे सुनाओ यार, रसूलन इन्दौर आयी तो फिर क्या हुआ ?
— अब मैं तभी सुनाऊँगा जब कोई बीच में टोकेगा नही।....वो किशनपुरे के पुल के पास जो भाजी मार्केट है न ? क्या नाम है ?... हाँ, चोफांकेट मार्केट, वहीं नन्दलालपुरे के थेटर में साहब, रसूलन का गाना हुआ। ऐसा गाना तो प्यारे जिन्दगी में किसी ने नहीं सुना होगा। अब साब, दीवान बाफना साहब के मुँह से जब रसूलन की तारीफ महाराज ने सुनी तो फिर क्या कहने। सरकार ने हुकुम दिया कि रसूलन का गाना लाल-बाग में होगा। और हुआ साहब। लाल बाग सजाया जाने लगा....
— मारे गये।
— क्यों ?
— अब सवेरे तक लाल-बाग का वर्णन होगा और रसूलन का गाना तो कल ही सुनने को मिलेगा।
— किया न साले सुनने का मजा किरकिरा। जाओ नहीं सुनाते।....पान भी साला खतम हो गया।

और पान से उन्हें मनाया गया। कहने वाले की लानत बरामद की गयी।
— हाँ साब ! सरकार बैठे हैं। इधर दीवान साहब हैं तो उस ओर सारे सेठ-साहूकार बैठे हैं।
— पहुँच गये 'ये' भी यहाँ ?
— बीच में यार मत टोको। सारा मजा किरकिरा हो जाता है। हाँ तो फिर ?
— देवास वाले उस्ताद रज्जब अली खाँ साहब और अपने इन्दौर वाले बीनकार उस्ताद बाबू खाँ साहेब भी तशरीफ रखे हुए हैं।
— रसूलन आयी थी कि नहीं ?
— इस हरामी को भगाओ, नहीं तो मैं नहीं सुनाऊँगा।
— यहाँ इनकी जागीरी है जो भगाएँगे ?
— अच्छा अब चुप करो, सुनने भी दो।
— अब साब ! जब रसूलन ने कान पर हाथ धर कर सुर साध कर छेड़ा—न छेड़ो हमका सैंया, मैं मर जाऊँगी—तो भगवान झूठ न बुलवाए कि वो वाह-वाह हुई कि बस। क्या तो आवाज, क्या दर्द और उस पर रसूलन की अदाकारी—ठुमरी क्या खत्म हुई कि उस्ताद रज्जब खाँ साहब, बाबू खाँ साहब ने वो-वो तारीफों के पुल बाँधे, वो-वो तारीफों के पुल बाँधे....
— तभी वो दो पैसे की चन्द्रभागा पर इतने सारे पुल बने हैं। मैं कहूँ कि इतने सारे पुल साले आये कहाँ से।
— यार ये कलुआ बाज नहीं आएगा।
— जाने दो यार, हाँ तो फिर ?
— जरा इस गप्पी से पूछो कि यह साला वहाँ क्या चिलम भर रहा था ?

और इस टीप के बाद तो ले-साले की, दे-साले की जैसी ही नौबत आ गयी, तो फिर किस्सा क्या होता। मगर आज रसूलन है तो कल कज्जन-बिब्बो है। एक कहता और दस उसमें जड़ने को तैयार रहते। अब आपमें ताब हो तो सुना ले जाइए नहीं तो कसमसाते रह जाइए। यहाँ खाने-पीने के अलावा सिर्फ ठहाका लगाने से सबको गरज थी। हमें आपके किस्से से कुछ नहीं लेना-देना। आपको अपना किस्सा बहुत प्यारा है तो घर जाकर बीवी को रबड़ी का दोना थमाइए और उसे गजरों से महँका दीजिए और तब जो चाहिए सुनाइए कि महाराज ने कैसे अपने गले का हार रसूलन को दिया। रसूलन तो किसी के गले का हार नहीं बनी पर आपकी इस गप्प से और रबड़ी-बेले की खुशबू में आपकी बीवी जरूर आपके गले का हार बन जाएगी—आप क्यों हमारी जान को आये हुए हैं ?

वकीलों वाले मजमे को कुर्की, बेदखली, गवाही, तारीख से ही फुर्सत नहीं। उन्हें सुनकर लगेगा कि दुनिया सिर्फ अदालत है और मुकदमें हो रहे हैं। वकील साहब का जाता भी क्या है हाँकने में ? मुवक्किल को गरज है ही—वकील साहब के सामने भोग भी धरेगा और उनके घर के लिए बँधवा कर भी देगा। कुछ इक्के-दुक्के भी मिल

जाएँगे जो धोती चढ़ाये, पैर हिलाते हुए बिना कहीं शरीक हुए भी हर स्वाद लेते होते हैं। आते-जाते पर बोलियाँ, फब्तियाँ भी कस देते हैं।
— जै जै गुरु ! धरमशाला से छक कर आ रहे हैं ?
— वाह राजा, आज तो ठाठ हैं। ये गजरा और ये दोना ?
— भैया, कायदे से ले जाओ। दुपट्टा ही रबड़ी खा रहा है, घर क्या खिलाओगे ?
गरज कि दोनों ओर पट्टियों को किसी से कोई मतलब नहीं होने पर भी हर कोई, हर किसी से किसी न किसी रूप में जुड़ा हुआ है। आँखों में भाँग, मुँह में मिठाई, ओठों पर पान-तो जीभ क्या ऐसे ही रह जाएगी ? वो-वो तराश जीभ की होती है कि हर रोज होली का मजा आता है।

हाँ, एक तरफ कुछ नवयुवक, कुछ पढ़े-लिखे किस्म के लोग भी बैठते हैं। किसी चीज के लतियल नहीं हैं—न भाँग के, न पान के। गाहे-बगाहे यह सब भी हो जाता है पर आते सिर्फ मिल-बैठने के लिए हैं। सभी तरह की बातें हो जाती हैं। लोगों के इस बाजारूपन में कभी शरीक तो नहीं होते पर सुनकर कभी रस भी ले लेते हैं। नशे के हर स्तर, हर रंग को देखने-सुनने पर कभी मजा भी आता है पर जब उचक्कापन होने लगता तो इन लोगों को वितृष्णा होने लगती। दिन भर धन्धे को लेकर पागुर की और अब इस समय गंदे-गंदे मजाक, खी-खी हँसी और दो-दो अर्थों वाली बातों के द्वारा अपनी भड़ास निकाल कर बेशर्मी से कलाई में बेले की माला लपेट कर दोने में रबड़ी-बासूँदी लेकर घर चल देंगे। और रात भर जानवरों की तरह फैल-पसर कर खर्राटे भरते हुए सोते रहेंगे।

वैसे तो इन नवयुवकों में भी व्यापारी वर्ग के ही लोग थे पर चूँकि नयी उमर के थे इसलिए देश की राजनीतिक, साहित्यिक आदि गतिविधियों के बारे में पढ़ते थे, बहस भी कर लिया करते थे। लाइब्रेरी में अखबारों-पत्रिकाओं और पुस्तकों को देखने-पढ़ने से विचारों और दृष्टि में विस्तार हुआ था। भले ही स्वयं कुछ न कर पाते हों परन्तु अपने चारों ओर घटित होनेवाली घटनाओं पर कम से कम सोचते तो थे और अपनी एक राय रखते थे।
जैसे ही गिरिधर ठक्कर और माणकलाल सर्राफ को देखा तो राजेन्द्र सोनी नामक युवक बोला,
— ठक्कर भाई भी आ गये।
और कई आवाजों ने 'आइए-आइए' से स्वागत किया तथा उन लोगों के लिए जगह भी बनायी। बैठते ही गिरिधर ठक्कर बोले,
— कहो राजेन्द्र ! क्या हाल है ?
— ठीक है !
— बातें तो आप लोग बड़ी समझदारी की करते हैं पर किसी दिन आप में से कोई भी प्रभात-फेरी में नहीं दिखलायी दिया। क्यों राजेन्द्र ?
राजेन्द्र सोनी वैसे था तो सर्राफ, पर उसने अपनी अलग से 'जनरल-स्टोर्स' नाम से

एक दूकान इसी कण्ठाल में खोल रखी है। उसके परिवार के सभी लोग पटनी-बाजार में चाँदी-सोने का ही धन्धा करते हैं। वह आगे पढ़ने के लिए बाहर जाना चाहता था परन्तु घर वालों के विरोध के कारण मेट्रिक करके पहले कुछ दिन तो उसी पटनी-बाजार की दूकान पर बैठा परन्तु जब से उसका विवाह हुआ तो उसने अपनी ससुराल वालों की सहायता से अपना व्यापार अलग कर लिया है। व्यापारी जरूर है परन्तु कुछ पढ़ने के शौक ने उसे बहुत सी नयी बातों में रुचि उत्पन्न की। गिरिधर ठक्कर के परिचय ने उसे राजनीति के प्रति जागरूक बनाया। इसका नतीजा यह हुआ कि राजेन्द्र कभी-कभी खादी भी पहनने लगता था। लाइब्रेरी से किताबें लाकर वह अक्सर पढ़ता। क्षितिज केवल देशगत स्तर तक ही उसके लिए नहीं खुलने लगा था बल्कि काल के परिपार्श्व में भी उसे चीजें समझ में आने लगी थीं।

गिरिधर ठक्कर की बात पर बोला,

— ठक्कर भाई ! वो फ्रीगंज से लौटने में देर हो जाती है तो देर से सोना होता है इसलिए सबेरे जल्दी जागना नहीं हो पाता।

— हाँ यार, वो तुम्हारा फ्रीगंज वाला मकान तैयार हो गया ?

— हो जाएगा तो क्या आपको पता नहीं चलेगा ?

— बच्चू, हम ब्राह्मणों का मुँह झूठा करवाये बिना तुम लोग एक पत्ता तक नहीं हिला सकते हो। हमारे पुरखों ने चारों कोनों में कीले गाड़ रखे हैं, समझे ?

और वह हँस दिये। राजेन्द्र ने पूछा,

— परसों गाँधी-जयन्ती का सब प्रबन्ध हो गया ?

— हाँ, लोगों में उत्साह तो आया है।

— बड़े ठण्डे मन से कह रहे हैं।

— असल में लोग नहीं हैं। इतने बड़े शहर में काम करने के लिए जितने लोग चाहिए उतने नहीं हैं इसलिए वे ही गिनती के लोग हैं जो दो-चार बाजारों में घूम लिये और यहाँ के आसपास के मुहल्लों में मिल-मिला लिये। इस काम के लिए घर-घर में चेतना जगाने के लिए कार्यकर्त्ता चाहिए। और वे कहाँ से आएँ ? कैसे आएँ ? छोड़ो भी, आप लोग अपनी सुनाएँ।

इन नवयुवकों में एक बाबूलाल था, जो मिल में काम करता था। रहनेवाला तो नागदा का था परन्तु नौकरी यहाँ विनोद मिल में करता था।

राजेन्द्र ने कहा,

— हाँ बाबूलाल ! अभी थोड़ी देर पहले जो तुम पूछ रहे थे यह अब ठक्कर भाई से पूछो।

इस पर गिरिधर ठक्कर बोले,

— पूछो यार, मगर मैं लाल बुझक्कड़ नहीं हूँ, समझे ?

इस पर बाबूलाल बोला,

— थोड़ी देर पहले सामान्य रूप से चर्चा हो रही थी कि विदेशी कपड़ों की होली

जलाने से स्वराज्य का क्या सम्बन्ध है ?
— तो आप लोगों की क्या राय रही ?
गिरिधर ने बाबूलाल से पूछा तो वह बोला,
— राय क्या, सब अपनी-अपनी कह रहे थे ।
— हम भी तो सुनें ।
— यही कि इस तरह की राजनीति से कुछ नहीं हो सकता है ।
— मगर कुछ कारण भी होंगे आप लोगों के पास ।
— हम लोगों को तो लगता है कि गांधी जी देश को भरमा रहे हैं ।
— जरा हम भी सुनें कि किस तरह भरमा रहे हैं गांधी जी ?
— अब आप तो हमें समझाने के बजाय खुद ही जिरह कर रहे हैं ।
— दवाई तभी लगायी जाती है जब अन्दर का सारा मवाद निकल जाता है । इसके लिए फोड़े को चारों ओर से दबाना पड़ता है ।
— देखिए ठक्कर भाई ! आप बच रहे हैं ।
— तो आप मुझे न बचने दीजिए । घेरिए न ?—दोस्तो, अगर हम सब आजादी के लिए तैयार नहीं होंगे तो आजादी मिल भी जाएगी तो उसका कोई अर्थ नहीं होगा । आज हम इस सरकार का हर बात में मुँह देखते हैं तो कल अपनी ही सरकार का मुँह देखेंगे । गांधी जी हमारे इस राष्ट्रीय आलस्य को दूर करने के लिए, स्वावलम्बी बनाने के लिए, अपने देश की परम्परा और चीजों पर गर्व करने का भाव सब लोगों के मन में भर देना चाहते हैं, इसलिए उनके ये सारे कार्यक्रम हैं ।
इस पर राजेन्द्र बोला,
— ठक्कर भाई ! कभी आप बम-पिस्तौल, रूसी क्रान्ति आदि की बातें करते हैं और आज आप गांधी जी को सपोर्ट कर रहे हैं ।
— इसमें बुराई क्या है ? मैं भी तो तुम लोगों की तरह बराबर सोचता हूँ, पढ़ता हूँ और सीखता रहता हूँ । गांधी मुझे कभी गलत लगते हैं जब मैं आवेश में होता हूँ पर जब ठण्डे दिमाग से सोचता हूँ तो लगता है कि गांधी का रास्ता दिखने में ही सीधा है पर इस पर संकल्पवान ही चल सकता है जबकि क्रान्ति का रास्ता दिखता मुश्किल है पर कठिन नहीं है । दुस्साहस चाहिए, बस ।
इस पर बाबूलाल बोला,
— सार्वजनिक-सभा के मन्त्री हो गये तब से क्या यह परिवर्तन आया है ? ऐसी ठण्डी भाषा तो आप नहीं बोलते रहे है ।
— हो सकता है, ऐसा हुआ हो । पर सच तो यह है कि मैंने अपनी वैचारिक खिड़कियाँ खुली रख छोड़ी है । इतिहास को तय और सिद्ध करना है कि गांधी सही है या गलत । गांधी ने हमें जगाया है, इतना सही है लेकिन हम कितने जागे हैं यह गांधी को नहीं हमें सिद्ध करना होगा । शायद, क्रान्तिकारी खुद ही

भाग जाते हैं और हम लोगों दुओं को सिर्फ उनके बम-पिस्तौल की आवाजें ही सुनायी देती हैं। हम आगे-आगे इसके पहले ही भगत सिंह जैसे लोग फाँसी पा जाते हैं।—चीजों को देखना सीखो। किसी के लिए कुछ भी कह देना बहुत आसान होता है, पर क्या कहना चाहिए, इसकी समझ मुश्किल से आती है।—चलो यार, बहुत देर हो गयी।—हाँ, मगर अपने भीतर आवश्यकता लेके परसों गांधी-जयन्ती में आना।—अच्छा, उठो सब।

और सब चुपचाप उठ पड़े।

कहने को तो 'गांधी-जयन्ती' का सारा कार्यक्रम बहुत सफल रहा। प्रभात-फेरी में आशा से अधिक ही लोग आये। 'गांधी-जयन्ती' के सिलसिले में एक सप्ताह पहले से जो प्रभात-फेरी निकलती थी उसमें सौ से अधिक व्यक्ति कभी नहीं आये होंगे। 'सार्वजनिक-सभा' के कार्यालय में चरखा कातने का कार्यक्रम प्रतिदिन रखा गया था उसमें भी बाहर के दो-चार के अलावा कोई नहीं आया होगा। हाँ, इस पूरे सप्ताह खादी खरीदने काफी लोग जरूर आये और शायद वे ही लोग 'गांधी-जयन्ती' के कार्यक्रम में भी आये। लाइब्रेरी के सामने के चौक में उस दिन 'सार्वजनिक-सभा' का तो अपना प्रबन्ध था ही परन्तु पुलिस आदि का भी सरकार की ओर से इन्तजाम था। सूबा साहब [कलेक्टर] ने रावल जी, अयाचित साहब, पुस्तके जी, भार्गव जी आदि नेताओं को विदेशी वस्त्रों-वस्तुओं की होली न जलाने के लिए कहा अवश्य पर उस कहने में धमकी का कोई भाव नहीं था इसलिए ये नेता और कार्यकर्त्ता सभी निश्चिन्त जैसे ही थे। विदेशी कपड़ों की होली के लिए जितने कपड़े आये उसे देखकर देखने वालों को ही नहीं बल्कि कई नेताओं तक को लगा कि इतने अच्छे वस्त्र और ऐसी मूल्यवान चीजें जलाकर क्या होगा?....सोचा तो यही था कि होली किसी महिला के हाथों ही जलवायी जाए क्योंकि विदेशी वस्त्र और वस्तुएँ जितनी महिलाओं के द्वारा एकत्र हुई थीं उसके मुकाबिले में पुरुषों का योग कुछ नहीं था। इसके लिए श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने रावल जी को कामिनी बेन का नाम सुझाया था और जब रावल जी महाराज कामिनी बेन से मिले तो उन्होंने इस सन्दर्भ में अपने नामोल्लेख तक के लिए मना कर दिया था। फलतः रावल जी ने श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय का नाम प्रस्तावित किया, लेकिन अयाचित वकील ने पुस्तके साहेब के द्वारा श्रीमती अयाचित का नाम रखवाया और दबाव डाला, और नतीजा यह हुआ कि होलिका-

दहन का कार्य श्रीमती अयाचित के हाथों सम्पन्न हुआ। कइयों को लगा कि यह महत्व तो श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय को मिलना चाहिए था, शायद तर्कपूर्ण भी यही था और उचित भी यही होता।

होली की जिस प्रकार पूजा, परिक्रमा होती है लगभग उसी प्रकार स्त्रियों ने इसे भी स्वरूप दे दिया। तरह-तरह के नारे लगे। उत्तेजना सारे कार्यक्रम के अन्त में उस समय ज्यादा थी जब रावल जी महाराज भाषण दे रहे थे और कुछ लोग जान-बूझकर नारों से उत्तेजना फैला रहे थे। वस्तुतः ये उत्तेजना फैलानेवाले मिलों के मजदूर थे जिन्हें 'कोई' इन्हें यहाँ लाया था पर गिरिधर ठक्कर तो नहीं ही उन्हें लाये थे। गिरिधर ठक्कर कई सौ मजदूरों को उनकी बस्तियों से लाये अवश्य थे पर वे नारेबाजी में नहीं थे, पर रावल जी और दूसरे नेताओं को यही समझाया गया था कि ये उत्तेजक तत्त्व गिरिधर ठक्कर के लाये हुए थे।

सच तो यह है कि गिरिधर ठक्कर मिलों से मजदूरों को लाये थे—और उनके इस काम में वासुदेव तो थे ही परन्तु पंचानन और उसके दो-एक साथी भी थे। इस प्रकार पाँच-छह लोगों ने मजदूर-बस्ती में घूम-घूम कर उनमें प्रचार किया था। उन्हें मुफ्त में टोपियाँ दी थीं। गांधी के बैज उन्हें दिये थे और छोटी-छोटी तिरंगी झंडियों के अलावा एक थोड़ा सा बड़ा झण्डा भी दिया गया था। मजदूर-बस्ती से इस दस्ते को एक जुलूस में लाने का काम पंचानन और उसके दोस्तों को दिया गया था। सारे समय इस दस्ते में शांति बनाये रखने के लिए पंचानन और उसके साथी बराबर साथ थे। तब वे उत्तेजक तत्व कौन थे, और उन्हें कौन लाया था?—बाद में जब सार्वजनिक-सभा की बैठक में इस बात की चर्चा आयी तो एक दल की ओर से संकेत में कहा गया कि गिरिधर ठक्कर की इस 'योजना' के पीछे पण्डित नागेश्वर उपाध्याय और श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय का हाथ है और जिन्हें रावल जी का प्रश्रय प्राप्त है। इस सारी ध्वनि से स्पष्ट हो गया कि धीरे-धीरे महाराष्ट्रीय और हिन्दी भाषी वही राजनीति सार्वजनिक-सभा में भी प्रविष्ट करना चाहते हैं जो ग्वालियर-राज्य में घोषित रूप से रही है।

गिरिधर ठक्कर 'गांधी-जयन्ती' कार्यक्रम के पूरे समय तनाव में बने रहे। उन्हें यह आशंका बनी रही कि सारा आयोजन शान्ति से सम्पन्न न हो इसकी चेष्टा सरकार की ओर से जो भी रही हो परन्तु स्वयं आयोजनकर्त्ताओं की ओर से भी हो तो उन्हें आश्चर्य नहीं होगा। गिरिधर ठक्कर क्या बल्कि कइयों की समझ में नहीं आ रहा था कि होलिका-दहन किये जाने पर यह सहसा—'श्रीमन्त सरकार की जय!' के नारे कैसे और किसके कहने पर लगे? और किसने लगाये? वह तो गिरिधर ठक्कर ने लोगों को हाथ से संकेत करके खुद भारत माता और गांधी की जय न लगवायी होती तो पता नहीं और किन-किन की जय लग जाती। विदेशी-कपड़ों के जलाये जाने पर सरकार उत्तेजित होती तो कोई बात भी थी परन्तु रावल जी महाराज के भाषण के समय, जिसमें कि वह केवल चरखा, खादी और अहिंसा पर बहुत शान्त भाव से बोल रहे थे,

कोई भी सरकार के विरुद्ध बात नहीं थी पर एक खास तरह से शोर और उत्तेजना की कोशिश की गयी थी ताकि उत्तेजना फैले तो भगदड़ मचे। और भगदड़ होने पर अव्यवस्था होगी तो कुछ लोगों को हिंसात्मक कार्यवाही का मौका मिल जाएगा। ऐसी स्थिति में प्रशासन को खुलकर खेलने का मौका मिलेगा। न जाने क्यों गिरिधर ठक्कर को इस सबकी प्रतीति हो रही थी और उन्होंने पण्डित नागेश्वर उपाध्याय, श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय, विजयवर्गीयजी, परीख जी और हरिजन सेवक संघ के मंत्री दत्तात्रय विष्णु जोशी को संकेत कर दिया कि पूरे आयोजन के समय सतर्क रहने की आवश्यकता है। फलतः गड़बड़ तो नहीं हुई पर जिस गरिमा के साथ गांधी-जयन्ती सम्पन्न होनी चाहिए थी, नहीं हुई। और जब सार्वजनिक-सभा में संकेत से गिरिधर ठक्कर पर आरोप जैसा लगाया गया तो उन्हें गुस्सा तो बहुत आया परन्तु उन्होंने खड़े होकर सभा के अध्यक्ष रावल जी से इतना ही कहा कि इस सारे काण्ड की जाँच होनी चाहिए और जो दोषी पाये जाएँ उन्हें सभा से निष्कासित कर दिया जाना चाहिए।

जिस उत्तेजना पूर्ण वातावरण में सभा की कार्यवाही हुई थी उसमें असुविधा अनुभव के बाद भी गिरिधर ठक्कर मन्त्री होने के नाते अन्त तक बने रहे वर्ना साधारण सदस्य होते तो वह निश्चित ही उठ गये होते। मीटिंग के बाद पण्डित नागेश्वर उपाध्याय और श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय गिरिधर ठक्कर को अपने घर जबरन ले आये। शायद गिरिधर ठक्कर औपचारिक या कार्यालय के काम से नेताओं के घर कभी-कभार गये होंगे पर इसके अलावा कभी किसी के घर नहीं गये होंगे। वह जिस प्रकार की बनावट के व्यक्ति थे उसमें आत्मीयता का व्यक्तिगत-सम्बन्ध या पारिवारिक ऊष्मा का कोई अर्थ नहीं था। उन्हें सहज कहना कठिन था क्योंकि उदासी इतने गहरे चली गयी थी या व्याप्त थी कि जिसके कारण गिरिधर ठक्कर न तो स्वयं ही किसी को आत्मीय मानते थे और न किसी के आत्मीय बनने की कोशिश ही करते थे। बोलने-बतियाने तक ही वह स्वयं को और दूसरों को साधे रहते थे। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वह किसी से आत्मीयता अनुभव नहीं करते थे लेकिन यह जरूर था कि वह उस आत्मीयता को न स्वयं को जानने देते थे और न उस व्यक्ति को ही जिसे मन से चाहने लगते थे। अपने सारे खुले व्यवहार के बावजूद वह छिटक कर ही व्यवहार करते थे। हमेशा यह भाव देते कि कहीं भी, कभी भी जाना पड़ जाए तो तत्काल चल पड़ेंगे, बल्कि हुआ तो इसे कुरते-पाजामे में ही चल देंगे। व्यसन के

माध्यम से लोग निकट आते हैं तो गिरिधर ठक्कर यदि पान खाते भी थे तो हर नहीं भी खाते थे इसलिए यह भी ऐब नहीं था। चाय जरूर पीते थे लेकिन जब बहस-मुहाबसा हो वर्ना चाय, चाय की जगह थी। हमेशा कुछ सोचता हुआ व्यक्ति था, इसलिए किसी की भी कैसी ही बात पर चौंकते जरूर थे। उस समय उनकी आँखें ही कान होती थीं परन्तु जवाब देते समय न कोई आश्चर्य या उत्तेजना कुछ न होती। यदि कोई बात उनसे सम्बन्धित नहीं है या उनके आने पर कोई प्रसंग चल रहा हो तो उसके प्रति कोई जिज्ञासा नहीं होती। जब बहुत मस्ती में होते तो कहते कि दोस्त, अपने हाथ से पंखा करके हाथ दुखाने से लाभ? हवा कभी न कभी चलेगी ही और तब वह आपको तो छोड़कर बहेगी नहीं—और हँस देते। आप हैं आपको यह नहीं लगने देंगे कि आपके प्रति कोई ऊष्मा नहीं है परन्तु आप कई दिनों नहीं हैं तो इसको लेकर बहुत आकुल या चिन्तातुर भी नहीं होंगे। इसलिए कभी किसी प्रकार का आग्रह भी आपसे नहीं करेंगे। आग्रह में जुड़ने का जो भाव होता है वह गिरिधर ठक्कर के लिए यह मुश्किल था। उनके इस ठण्डे, बुझे व्यक्तित्व से बहुत अधिक असुविधा नेताओं को होती है। प्रतिदिन वह चौराहे पर जाते हैं तो उसमें व्यक्त रूप से कोई भाव नहीं रहता, और यह सारे लोग जानते हैं। लेकिन अव्यक्त रूप शायद वह अपने व्यक्तिगत परिवेश से सम्भवतः ज्यादा से ज्यादा दूर रहना चाहते थे इसीलिए न वह किसी के यहाँ जाकर अपने को ऐसा भूलना चाहते हैं कि वह दिख उठें और न ही कभी किसी को अपने यहाँ से गये होंगे कि वह उन्हें बिना बनियाइन देख सके।

सच तो यह है कि गिरिधर ठक्कर अपनी माँ के मौन को कभी नहीं समझ पाये सम्भव है कि उनकी माँ श्रीमती सरोज बाला ठक्कर भी अपने पुत्र के साथ सहता नि आये इस मौन को समझ पायीं कि नहीं? कोई नहीं जानता था। शायद वह का परिभाषित भी नहीं कर पायी होगी कि वह पुत्र से वस्तुतः क्या चाहती रही? आर्थि दृष्टि से माँ बहुत अधिक विवश रही हो, सो भी नहीं था पर वह पुत्र को क्यों प्या नहीं दे पायीं या क्यों एक माँ की तरह लड़ नहीं पायीं, झगड़ नहीं पायीं, यह व समझती हैं कि नहीं, यह गिरिधर ठक्कर कभी नहीं समझ सके। बचपन से वह निरंकु थे, तो एक पितृहीन बालक इसके अलावा और हो भी क्या सकता था? लेकिन क माँ बरज नहीं सकती थीं? पर क्या गिरिधर ठक्कर मान जाते? न मानते, पर बरजकर तो उन्होंने पुत्र को और भी बेहाथ हो जाने दिया। लेकिन गिरिधर ठक्क कभी-कभी इस 'क्यों' के भारी पत्थर को हटाना चाहते थे जिसके नीचे अकार ही एक मानवीय सम्बन्ध, परम निकट का सम्बन्ध दबा-कुचला पड़ा है। वस्तुत गिरिधर ठक्कर अपने भीतर तो निरन्तर अकेले थे ही परन्तु वह बाहर से अकेले न द दिखना ही चाहते थे और न रहना ही चाहते थे। वह अपने को खूब जानते थे इसलि वह अपना ही विश्वास नहीं करते थे। जब कभी एकाध बार सिप्रा किनारे जाकर बै होंगे या वेधशाला पर जाकर अकेले बैठे होंगे तो कितनी अनैसर्गिक इच्छा मन में आय

होगी कि शिप्रा में कूद जाया जाए या वेधशाला के सामने की इस ऊँची कगार से नीचे की ओर छलाँग लगा दी जाए और अनाम समाप्त हो जाया जाए। पर अपने भीतर के इस हाहाकार, अकेलेपन को कभी किसी ने नहीं जाना होगा क्योंकि कभी-कभी वह अतिरिक्त पेनोसपन के साथ व्यवहार करते और उस समय बच्चे जैसे लगने लगते। और मजा यह कि इस ग्रायास पेलोसपन पर सब खुद ही हँसने लगते और सब कपड़े झाड़ कर खड़े होने की मुद्रा की तरह उस बालक को अपने स्व पर से झाड़ पोंछते।

वस्तुतः वह तेज विद्यार्थी थे परन्तु तब भी निरन्तर फेल होते रहे और बड़ी मुश्किल से इण्टर कर पाये। वह चाहते तो आगे पढ़ने इन्दौर जा सकते थे। माँ से कहा होता तो न बोलने पर भी वह जाने देतीं पर वह कोर्स की पढ़ाई के स्थान पर जिस प्रकार लाइब्रेरी की किताबों में डूबते चले गये उसमें वह ज्ञान से तो समृद्ध होते गये पर स्कूली शिक्षा के लायक नहीं रहे। इण्टर तक तो यह गठ-बन्धन किसी प्रकार रो-धोकर चला परन्तु गिरिधर ठक्कर ने जब आगे पढ़ने की कोई पारिवारिक बाध्यता नहीं अनुभव की तो वह कालेज की सीमाएँ लाँघकर सीधे सड़क पर आ गये। युवराज जनरल लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन वामन गणेश आइनापुरे किताबें निकाल-निकाल कर देते जाते और गिरिधर ठक्कर पढ़ते जाते। किताबों का यह सम्बोधन उनमें गहरा उतरता गया और वह उत्तरोत्तर अकेले होते चले गये। इस सारे समय जिस व्यक्ति से वैयक्तिक सम्पर्क हुआ वह इतना दीन-हीन, प्रताड़ित और आतंकित था कि गिरिधर ठक्कर आइनापुरे के लिए पहली बार आत्मीयता अनुभव करने लगे। आइनापुरे उन्हें कभी भी व्यक्ति नहीं लगा बल्कि एक ऐसी दुर्घटना लगा जो प्रत्येक क्षण घटित होने के बिन्दु से लौट-लौट आती है और जिस दिन आइनापुरे रेल से कटकर मरे उस दिन गिरिधर ठक्कर शायद पहली बार रोये होंगे। आइनापुरे के लिए तो वह रोना रहा ही होगा परन्तु उससे भी ज्यादा अपने अकेले हो उठने पर आया था। शायद उसी दिन वह पूरी तरह कछुए की भाँति अपने में सिकुड़ उठे। आइनापुरे की चिता जिस प्रकार उपेक्षित भाव से जल रही थी उसे देखकर उन्हें अपनी विवशता घिर उठी थी कि घर की असहाय स्थिति और प्रतिस्पर्धात्मक लौकिक जगत के बीच वह किसी ओर के तट की ओर नहीं जा सकते हैं, केवल जहाँ हैं, वहाँ सिर्फ डूब-उतरा सकते हैं। *क्यों सायुज्य, मूर्ख वामन गणेश आइनापुरे के रूप में ही व्यक्त होती है?*

गिरिधर ठक्कर को संकोच तो बहुत हुआ इस घर में, क्योंकि इस परिवार को वह कई तरह से जानते थे। सार्वजनिक-सभा के नाते, वासुदेव के नाते और यह भी कि ये लोग भी जाति के ही हैं, इसलिए डरते थे कि कहीं कोई सम्बन्ध न निकल आये। वह यह भी जानते थे कि उपाध्याय-परिवार के सारे सदस्य अत्यन्त सदाशयी हैं इसलिए वह इससे बचते रहते थे। वासुदेव, जिसे वह पसन्द करते थे, से भी वह एक सीमा तक ही सम्बन्ध रखे हुए थे। पर आज जब पण्डित नागेश्वर उपाध्याय और श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय अपने साथ घर ले आये तो उन्हें बहुत उलझन होने लगी। पहली बार उन्हें अपने हाथों-पैरों की प्रतीती हुई कि क्या किसी के घर इन्हें

भी लेकर बैठना होगा ?

पण्डित नागेश्वर उपाध्याय और गिरिधर ठक्कर दोनों बैठकई पर बैठ गये। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय सीधे रसोईघर में चली गयीं ताकि चाय-नाश्ते का प्रबन्ध कर सकें।

— मैं तुमसे बहुत बड़ा हूँ इसलिए 'गिरिधर' कहूँ तो बुरा मत मानना भाई !

— कैसी बात कहते हैं आप।

— मेरे लिए तो तुम वासुदेव के समान ही हो।

गिरिधर ठक्कर को इस प्रकार की आत्मीयता से उलझन होने लगी, अतः बात बदलने के ख्याल से पूछा,

— क्या बहन जी चाय बनाने लगीं ?

और तब तक श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय चाय लिये पहुँच गयीं। गिरिधर ठक्कर ने उन्हें 'बहन जी' कहा था, उसे यह सुन ले गयी थीं इसलिए चाय-नाश्ता सामने रखते हुए बड़े ही साधिकार भाव से बोलीं,

— तुमने मुझे 'बहन जी' कहा ? पगले, मैं तो तुम्हारी काकी होती हूँ। घर में यह बाजार का सम्बोधन नहीं चलेगा, समझे ?

मनुष्य मात्र में नेत्रों की भाषा से बड़ी स्पन्दनशील भाषा नहीं होती। नेत्र, सुनते हुए दीपक की भाँति एकाग्र-लौ में सुनते हैं; बोलते समय पक्षियों के कलरव की तरह आपको सम्पूर्ण घेर कर बोलने हैं और जब अपने को सौंपते हैं या आपको स्वीकार करते हैं उस समय स्वयं ही सुगन्धित नहीं होते परन्तु फूलों की तरह अपने स्पर्श से आपको भी आकण्ठ सुगन्धित कर देते हैं। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय अपने नेत्रों की खिलखिलाहट, सुगन्धमयता और आत्मीयता से गिरिधर ठक्कर तक व्यक्त हो रही थीं।

गिरिधर ठक्कर ने इस आत्मीयता से असुविधा अनुभव करते हुए बड़ा ही सौजन्य बरतते हुए कहा,

— आप ठीक कहती हैं।

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने इस कथन के पीछे गिरिधर ठक्कर के सोचने का आभास पाते हुए कहा,

— लेकिन, मैं हूँ कौन ?

गिरिधर ठक्कर घिर गये जैसे भाव से बोले,

— आप काकी हैं।

— तो, तुमने तो बिना सम्बोधन वाला वाक्य कहा था, जो किसी के लिए भी हो सकता था। गिरिधर ! यह सम्बोधन ही संसार है। सम्बोधन के अभाव में पेड़ों के संसार को जंगल कहा जाता है। मनुष्यों के जंगल में चूँकि यह सम्बोधन है इसलिए यह संसार है। तेरे पिता और 'ये' मौसेरे भाई थे पगले !

— काकी ! आपको देखकर लगता नहीं कि...

— मैं समझदार हूँ, है न ?

और जिस निर्दोष भाव से देखते हुए वह हँस दीं उसमें गिरिधर ठक्कर को लगा कि व्यक्ति जब सहज भाव से मनुष्य होता है तो वर्षा भीगा पेड़ होता है। आप उसके नीचे खड़े हुए नहीं कि जरा सी भी हवा चली तो आप नहा उठेंगे, ऐसे भीग उठना अच्छा भी लगता है और आपमें कँपकँपी भी छूटने लगती है।

प्रसंग बदलते हुए गिरिधर ठक्कर ने कहा,

— वासुदेव तो लाइब्रेरी में ही होगा ?

— औपचारिकता छोड़ो। यह बताओ कि सभा में यह दलबंदी क्यों की जा रही है ?

इस पर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बोले,

— गिरिधर से क्या पूछती हो ? क्या तुम नहीं देख रही हो कि यहाँ भी वही मनुष्य की आदिम भावना काम कर रही है कि महत्व के सारे पदों पर वे ही स्थापित हों, दिखलायी दें।

— तो इसके लिए गिरिधर पर प्रहार किये जाएँ ?

— गिरिधर ही क्यों ? और यह गिरिधर तो प्रसंग से है, वह कोई भी हो सकता है। कल तुम भी हो सकती हो। मतलब उस व्यक्ति से होगा जो मार्ग में बाधा होगा। छोटा व्यक्ति होगा तो इस तरह से घेरे जाने पर हट जाएगा और अगर बड़ा व्यक्ति होगा, तो उसकी बाधा भी बड़ी होगी, तब प्रयास भी बड़ा करना पड़ेगा।...मनुष्य की मूलभूत कमजोरी का कोई इलाज तुम्हारे गाँधी जी के पास भी नहीं है।

— पर इसका मतलब यह तो नहीं कि आप किसी पर कीचड़ उछालें ?

— देखो नाराज न होओ। यह राजनीति है, देश-भक्ति नहीं। देश-भक्ति झण्डा-वन्दन तक ही रहती है, मीटिंगों में तो राजनीति चलती है।

इस पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ही बोलीं,

— आजादी का अभी पता नहीं और जोड़-तोड़ अभी से शुरू हो गयी।

— साधारण लोगों की दृष्टि झण्डा-वन्दन तक ही रहती है पर नेताओं को तो इन फूलमालाओं में छुपी सत्ता दिख रही होती है।

— जब आप यह सब समझते हैं तो फिर मीटिंग में बोले क्यों नहीं कि उपद्रवी तत्व गिरिधर के लाये हुए नहीं थे।

— और कैसे कहता ? और जब उन्होंने गिरिधर का नाम नहीं लिया तो क्या मैं पागल था जो इसके नाम को उछाल कर उन्हें मौका देता ?

— रावल जी तो चुप बैठे रहे।

— सब अपने दामन को बचाकर काम करते हैं, वही उन्होंने भी किया।

— दामन बचाने से तो देश-सेवा हो चुकी।

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय की बात सुनकर तत्काल गिरिधर ठक्कर बोले,

— अगर यही हाल रहा तो कांग्रेसी राजनीति की प्रकृति दामन बचानेवाली ही बनेगी।

इस पर असहमत होते हुए पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बोले,
— गिरिधर ! कांग्रेस को गाँधी चला रहे हैं, ये लोग नहीं।
— पर गाँधी जी व्यक्ति ही तो हैं, सर्वेश तो नहीं।
— न हों सर्वेश, वह राजनीति नहीं, तप कर रहे हैं।
— वह तप कर रहे हैं इसलिए आजादी आ भी जाएगी पर ये लोग ?
— गिरिधर ! घबराओ नहीं, सही काम और सही व्यक्ति विजयी होकर रहते हैं।
इस पर गिरिधर ठवकर फीका हँसते हुए बोले,
— सभी तरह की राजनीति में ज्यादातर देश-भक्त ही होते हैं और उनकी देश-भक्ति पर कुछ लोग अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेकते हैं। देख नहीं रहे हैं बोल्शेविक क्रान्ति पर किसकी रोटियाँ सिक रही हैं ?
इस पर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बोले,
— कोई जरूरी नहीं कि जो कहीं हुआ हो वह हमारे यहाँ भी हो। हमारे देश, हमारे इतिहास की प्रकृति भिन्न है।
— लेकिन आग पर रोटियाँ सभी जगह सिकती हैं। रोटियों में फर्क हो सकता है।
श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,
— किसी दिन तुम्हारे साथ गिरिधर, सरोज भाभी से मिलने चलूँगी।
गिरिधर ठवकर हठात श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय की बात न तो सुन ही सके और न ही समझ सके। नीचे के आकाशों में उतरने के ढंग से बोले,
— जी ? कहाँ ?
— तुम्हारे घर, और कहाँ ?
— हाँ ऽ ऽ, जरूर, जरूर।....तो अब चला जाए।
और जिस समय गिरिधर ठवकर वहाँ से उठे, दिया-बत्ती जलने का समय हो गया था। वह एकदम अपने को कहाँ रखें, समझ नहीं पा रहे थे। व्यस्तताएँ व्यक्ति को वहन किये रहती हैं अन्यथा निपट होने पर स्वयं को न केवल अपने हाथ-पैरों का ही बल्कि स्वत्व के खालीपन का भी बोझ लगता है कि इसे उठाये-उठाये कहाँ फिरें ?
और वह लाइब्रेरी की ओर बढ़ने लगे।

॥ कौटुम्बिक-प्रकरण ॥

गणपति-मन्दिर के सामने चौकियों पर नफीरी-नगाड़े वाले सवेरे से ही नफीरी और नगाड़े बजाते बैठे थे। बैशाख लग चुका था। काफी गर्मी हो चली थी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल तो जाड़ों तक कुन्ती का विवाह टालना चाहते थे परन्तु पण्डित गोविन्द राम मेहता का स्वास्थ्य सहसा खराब रहने लगा था अतः वह अपने पुत्र माधव का विवाह जल्द से जल्द कर देना चाहते थे क्योंकि उनकी पत्नी का देहावसान तो कुछ वर्षों पूर्व ही हो चुका था। अतः घर-परिवार, घर के व्यक्ति के अभाव में अव्यवस्थित चल रहा था। घर-परिवार की व्यवस्था सम्हालने के लिए जो भी स्त्री, दूर-पास की कोई सम्बन्धी, आती वह चुपके-चुपके अपना ही घर भरने लगती थी, पर कुछ भी प्रतिकार करने की स्थिति में कोई था नहीं। उस पर स्वयं पण्डित गोविन्द राम मेहता की रुग्णता दिनों दिन बढ़ती जा रही थी। वह तो जाड़ों में ही माधव का विवाह कर देते परन्तु जब सहसा पण्डित नारायण जी पण्ड्या और श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या की लगभग साथ-साथ मृत्यु हो गयी तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल कुन्ती का विवाह कर ही नहीं सकते थे। सोचा यही था कि बुआ और फूफा की वर्षी हो जाएगी तो उसके बाद तत्काल किसी मुहूर्त में कुन्ती का विवाह कर देंगे परन्तु पण्डित गोविन्द राम मेहता की चिन्तनीय स्थिति देखकर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को बाध्य होकर गर्मियों में ही विवाह करने के लिए राजी होना पड़ा।

पण्डित नारायण जी पण्ड्या और श्रीमती यमुना देवी पण्ड्या का निधन हो चुका था परन्तु पण्डित गोवर्धन व्यास मन्दिर में सवेरे-सवेरे पैर फिसलने के कारण हड्डी टूट जाने से बिस्तरे में पड़े थे। पिछले महीने जब मामा का यह समाचार मिला तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल नाथद्वारा जाकर देख आये थे। उन्हें अपने साथ ले आने की स्थिति नहीं थी, अतः मामा भी नहीं थे। बड़ों में केवल मासा जी पण्डित नागेश्वर

उपाध्याय और मासी, श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ही थे। दुर्गा के फूफा, पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी और बुआ, श्रीमती श्यामादेवी त्रिपाठी वर्षों पूर्व उज्जैन से चले गये थे। उन दिनों राज्य के खजाने का काम ठेके पर दिया जाता था। यह ठेका वर्षों तक झालानी-परिवार के पास रहा, और पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी विश्वसनीय खजांची के रूप में काम करते रहे परन्तु किसी कारण वश झालानी परिवार ने यह काम छोड़ दिया। दूसरे सेठ ने पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी के स्थान पर अपना खजांची नियुक्त किया। पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी को झालानी सेठ अपनी किसी अन्य गद्दी पर लगा देना चाहते थे परन्तु उन्होंने अपनी पारिवारिक स्थितियों के कारण अपने बड़े लड़के यशोदानन्दन के पास जाना ही उचित समझा। अपनी बनी-बनायी, जमी-जमायी गृहस्थी को उखाड़ने में उन्हें अपार कष्ट हुआ, परन्तु और कुछ कर भी नहीं सकते थे। छोटे लड़के शिवनन्दन त्रिपाठी ने, जो कि देवास में ओवरसियर था, जाति के बाहर शादी कर ली थी जिसके कारण पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी जाति में किसी को मुँह दिखाने लायक नहीं रह गये थे। दूसरे, वसुन्धरा, लम्बी यातना झेलने के बाद आग लगाकर जब मर गयी तो पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी सदा के लिए ऐसे बुझ गये कि जब तक उज्जैन में रहे, एक तो सिर झुका कर रहे, दूसरे मुँह बन्द करके रहे। ये दोनों बातें उनके जैसे मुखर व्यक्ति के लिए असह्य थीं अतः जैसे ही अवसर मिला उन्होंने उज्जैन छोड़ने का निर्णय ले लिया और एक दिन बड़े ही अनुत्सवी ढंग से यशोदा के पास बड़ोदा चले गये। यशोदानन्दन त्रिपाठी वर्षों तक रतलाम में रहने के बाद बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे के बड़े स्टेशन बड़ोदा पहुँच गये। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने तो बहुत आग्रह किया कि पत्र के अलावा, न हो तो पंचानन को बड़ोदा भेजकर दुर्गा अपनी बुआ और फूफा को बुलवा ले। चूंकि त्र्यम्बक-दुर्गा का यह पहला काम है और कुटुम्ब के बड़ों में अब रह ही कौन गया है? परन्तु दुर्गा केवल पत्र देने के पक्ष में थी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को क्या अनुभव हो सकता था कि मनुष्य का मन से बुझ जाना क्या होता है तथा कितना हाहाकार भरा होता है। पुरुष विस्तार में तैरता है, पर स्त्री गोता लगाती है, इसीलिए पुरुष ज्ञान-सम्पन्न होता है, और स्त्री अनुभव-सम्पन्न होती है। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को दुर्गा से बातें या परामर्श करने में प्रायः उलझन होती है। वह बोलते ही चले जाते हैं और दुर्गा थिर नेत्रों से बस सुनती बैठी रहती है। पुरुष, परिधि की परिक्रमा करने लगता है, पर स्त्री केन्द्र थाम कर बैठ जाती है।

सवेरे का समय था। बाहर से नफीरी और नगाड़ों की आवाज आ रही थी। आज से कुन्ती को हल्दी चढ़नी थी। सवेरे से नाइन के लिए आदमी गया लेकिन आठ बजने को आ गया और न नाइन का पता था और न उस भले आदमी का ही जिसे बुलाने भेजा गया था। पता नहीं 'इन्होंने' किसे भेजा?
दुर्गा व्यस्त थी, अब इतनी सी बात पूछने के लिए ऊपर से नीचे दस बार चढ़ो-उतरो। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल पिता के जमाने की बही निकाल कर बैठे हुए सारे कारिन्दों का लेखा-जोखा देख रहे थे। पिता की तरह ही वह भी बही में 'श्रीगणेशाय नमः

लिखकर कुन्ती के विवाह का हिसाब-किताब लिखने बैठे ही थे कि पत्नी आयी,
— वो आपने किसे नाइन को बुलाने भेजा है ?
— क्या नाइन नहीं आयी ? वो ढोली तो आ गया ।
— कहिए तो आप ही को हल्दी चढ़ा दी जाए और ढोली ढोल बजा दे ।
— वैसे बुरा तो नहीं है ।
और वह हँस दिये, बोले,
— देखो, अभी तो विवाह शुरू ही हुआ और तुम इस तरह चिढ़ने लगोगी तो कन्यादान तक तो हम लोग आपस में या तो काटने लगेंगे या मार-पीट की नौबत आ जाएगी ।
पति की बात सुनकर दुर्गा उस व्यस्तता में भी हँसते हुए बोली,
— आप पर तो गुस्सा भी नहीं किया जा सकता ।
— पति से प्रेम किया जाता है कि उस पर गुस्सा किया जाता है ?
— अच्छा ये अपनी बेसिर-पैर की बातें रहने दीजिए । मैंने जो पूछा वह बताइए ।
— बताऊँ क्या, मन्या को भेजा था । नहीं आया क्या ? कहीं जाकर बैठ तो नहीं गया ?....आजकल के लड़कों की बड़ी बुरी आदत है कि धनिया लेने भी भेजो तो जाकर पटनी-बाजार में जब तक किसी दूकान के पटरे पर बैठकर पान न खा लें, दो-चार दोस्तों से चोंच न लड़ा लें तब तक क्या मजाल जो धनिया ले आयें । आप खाने के लिए थाली पर बैठे हैं कि चटनी पिस जाए तो खाकर अपने धन्धे से लगें पर ये लड़के...
तभी मन्या आया और उसके पीछे-पीछे नाइन आयी । नाइन को सब 'आतू-माँ' कहते थे । दुर्गा ने जैसे ही 'आतू-माँ' को देखा तो सिर से हाथ लगाते हुए कहा,
— वाह आतू-माँ, काम के समय इतनी देरी ? हल्दी चढ़ने का मुहूरत सिर्फ नौ बजे तक है और तुम चली-चली अब आ रही जब बुलवाया गया ?
— क्या करूँ बहू ! सीधे बड़ी दूकान से आ रही हूँ । बड़ी दूकान वाली जो छोटी बहू है न उसी का पेट मसलना था । रोज सवेरे जाना पड़ता है । आजकल की बहुओं को तो जब देखो तब पेट मसलवाना पड़ जाता है ।
— *अच्छा, अब तुम चलो । कुन्ती ऊपर है । सारा प्रबन्ध है ।....पण्डित जी अभी नहीं* आये ?
यह बात पति से पूछी थी । पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोलें, इसके पहले ही आतू-माँ बोलीं,
— अरे बहू ! यह औरतों का काम है हल्दी चढ़ाना । पूजा-पाठ बाद में भी हो जाएगा । चार जनी आ गयी हैं कि नहीं ?
— वो सब तो कब आकर बैठी हैं । तुम्हारा ही पता नहीं था ।
और थोड़ी देर में ऊपर से गीत गाती स्त्रियों के गाने की हल्की-हल्की आवाज जब सुनायी देने लगी तो सहसा पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल की आँखें छलछला आयीं । न जाने क्या-क्या घिरने लगा । इस तरह के कामों में कभी पिता थे, माँ थीं, काका लोग भी

होते थे, और आज, केवल यही अपने पिता के स्थान पर बैठे हैं।—बेटी, वधू बनकर किसी घर की स्त्री बनने के लिए पहला चरण रख रही थी या उससे रखवाया जा रहा था। कल तक जिस कुन्ती को कभी गोद में उठाकर जाड़ों में सवेरे-सवेरे उसके लिए जलेबी लेने जाते थे। कैसे निर्दोष भाव से कुन्ती उनकी गोदी में उन्हें देखती होती थी....वही कुन्ती अब चली जाएगी... हमेशा के लिए परायी हो जाएगी....फिर कभी वह इस घर की एक अंग नहीं हो सकेगी....पता नहीं वह वहाँ कैसे रहेगी? किसी दुःख के समय उसके पुकारने पर भी हम लोग वहाँ नहीं होंगे .. और वहीं पर एक आँसू टपक पड़ा। ...क्या प्रत्येक घर में बहन-बेटी के विवाह का श्रीगणेश आँसू टपकने के साथ ही होता है?...धोती की खूँट से उन्होंने नाक साफ की और लिखने लगे।

ढोली, ढोल बजा रहा था। स्त्रियाँ गा रही थीं। कुन्ती को हल्दी लगायी जा रही थी। तभी दुर्गा आयी,

— अपनी बेटी को हल्दी चढ़ते नहीं देखेंगे क्या?

कहकर जब उसने पति की ओर देखा, तो देखा कि उनकी नाक लाल थी और आँखें भरी हुई थीं।

— अपनी बेटी के लिए रोना आ गया न? मैं तो भूल भी गयी कि क्या कहने आयी थी।

गहरी साँस लेते हुए दुर्गा ही बोली,

— न जाने क्यों इस समय एक बात सहसा समझ में आ रही है कि हमारे मांगलिक कार्यों में गेहूँ नहीं चावल को क्यों महत्व प्राप्त है? संसार का प्रतीक, स्त्री है न? स्त्री को धान की भाँति पहले एक क्यारी में तैयार किया जाता है और तब उसे वहाँ से उखाड़कर दूसरे खेत में ले जाकर रोपा जाता है—क्या कीजिएगा, यह तो नियति है।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल, जो हठात भाव-विह्वल हो गये थे, स्वस्थ होते हुए बोले,

— तुम ठीक ही कहती हो।

तभी 'कल' की आवाज हुई तो उन्होंने कहा,

— शायद पंडित जी आ गये।

और सचमुच पंडित जी ही थे, आते ही बोले,

— थोड़ा विलम्ब हो गया महाराज! हिमाद्री में आज समय लग गया। पर अभी तो लाभ का ही चौघड़िया चल रहा है। पूजा का प्रबंध कहाँ ऊपर है?

— जी।

और दुर्गा पंडित जी को लेकर ऊपर चली। उसे याद आया कि वह भी तो इन्हीं पंडित जी को ही तो पूछने आयी थी।

आशा से कहीं अधिक विशद व्यवस्था तथा सुरुचि-सम्पन्नता के साथ कुन्ती का विवाह हुआ। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल का यह पहला करियावर था। माँ, श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल प्रायः कहा करती थीं कि त्र्यम्बक के विवाह के समय तो कुछ नहीं हो सका था परन्तु कुन्ती का विवाह तो वह इतनी धूमधाम से करेंगी कि पूरी उज्जैन के लोग याद करेंगे। माँ तो नहीं रहीं परन्तु पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के अवचेतन में माँ की यह इच्छा भी काम करती रही। दुर्गा, जो कि कल तक कुन्ती से केवल डाट-फटकार और काम का सम्बन्ध रखे हुए थी परन्तु ज्योंही कुन्ती को हल्दी चढ़ी कि वह भी अपनी माँ श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य की भाँति ही हो उठी। माँ ने भी तो दुर्गा से हल्दी चढ़ जाने पर कैसे मीठे-मीठे बोलना शुरू कर दिया था, नहीं तो—सारे दिन 'दुर्गा! यह कर लिया?' 'मिर्चें सूप में फैला कर धूप में रख दीं?' 'गाय के कुण्डे में पानी डाल दिया?' काम, काम और काम। जब तक लड़की बेटी होती है तब तक माँ उसकी कच्ची मिट्टी में से ऐसी मृण्मूर्ति घड़ने में लगी रहती है जो नेत्रों से पति को प्रिय हो परन्तु हाथों से सास-ससुर को प्रिय लगे। नेत्रों को सौन्दर्य तो आयु पर मिल ही जाएगा पर हाथ का सौन्दर्य तो काम होता है और बेटी को यह सौन्दर्य केवल माँ ही देती है। यह सौन्दर्य न होने पर बेटी को तो कम, लोग बेटी की माँ को हर समय ताने सुनाते हैं। इसीलिए बधूत्व की देहरी तक पहुँचते-पहुँचते तक माँ, कुम्हार की भाँति निर्मम, असंगता के साथ ठोक-बजाकर उस मिट्टी को दुर्गत्व दे देती है ताकि वह पराये घर में शोभा बन सके। परन्तु हल्दी चढ़ते ही प्रत्येक माँ अपने मन से बेटी को पराये घर की बहू का सा मान-सम्मान देने लगती है। वह ज्यादा कहीं आये-जाये नहीं, कुछ भारी उठाये-धरे नहीं, उसे अकेले-दुकेले, अँधेरे-कुचाले में न आना-जाना पड़े।—वही दुर्गा, वही कुन्ती कैसे अपनी माँ के द्वारा ही अन्तिम रूप से बताये पर चलायी जाती है कि जैसे उसे पति की पलकें बनना है जो सभी स्थितियों में निःशब्द रहती हैं, पर रहती सदा हैं।

घर के धूर्जटी, पंचानन, चन्द्रशेखर, विधुशेखर, शशिशेखर तो थे ही पर गोविन्द और वासुदेव ने क्या जनवासा, क्या धर्मशाला, क्या घर, क्या बाहर सभी के लिए दौड़-भाग में दिन-रात एक कर दिया। पण्डित नागेश्वर उपाध्याय और श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय के कारण गिरिधर ठक्कर ने जनवासे और वहाँ के शामियाने का सारा प्रबन्ध सम्हाला। पण्डित गोविन्दराम मेहता भी तो इन्दौर से पूरे गाजे-बाजे के साथ स्पेशल ट्रेन करके बरात लाये थे। उनके भी बड़े लड़के का विवाह था और उनका भी पहला करियावर था। विवाह क्या था, दो सम्पन्नताओं का प्रति-व्यवहार था अतः कौन किससे हेठा पड़ता? इतनी बड़ी बरात के लिए महाराज-वाड़ा स्कूल खाली करवाया गया था। स्कूल के सामने के मैदान में इन्दौर छावनी के उस टेन्ट वाले से शामियाना लाकर लगाया गया था जो अंग्रेजों और राजाओं के यहाँ शामियाने, तम्बू-कनात और छोलदारियाँ सप्लाई करता था। तम्बू-कनात का वह शामियाना देखते ही बनता था। 'बड़ी-दूकान' और बोरा जी सेठ के यहाँ से झाड़-फानूस और रंगीन

हण्डे लाकर लगाये गये थे, और कालीन तो एक से एक ऐसे थे कि जैसे पूरे शामियाने में अल्पना-राँगोली सजायी गयी हो। चारों ओर दूर-दूर तक खूब सफाई और छिड़काव किया गया था। झालानी परिवार ने सजावट का सारा सामान अपने यहाँ से भिजवाया था, साथ ही बीसियों नौकर-चाकर भी। बरात भी चार दिन रुकने आयी थी परन्तु गयी पाँचवें दिन ही। पण्डित गोविन्दराम मेहता को ऐसे भव्य आगत-स्वागत की कल्पना पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल से नहीं रही होगी। वैशाख का महीना था, तो क्या? किसी बराती ने यह नहीं शिकायत की होगी कि उसे गरम पानी पीना पड़ा। बालू में गले-गले तक मिट्टी के बीसियों बड़े-बड़े मटके गाड़ कर ठण्डे पानी का प्रबन्ध किया गया था। आगर के केवड़ा-स्वामी के केवड़े के भुट्टे रोज मँगवाये जाते थे और पानी, पीने पर क्या, देखने से ही सुगन्ध देता था। हर बराती को खस के गीले पंखे थमा दिये जाते या कमरों में बड़े-बड़े पंखे, पंखा-कुली हाँका करते थे। नहाने का पानी भी ऐसा खस से बसाया हुआ रहता कि नहाते ही चले जाओ। इत्रदान और गुलाब पाश तो इतने अधिक थे गोया हर बराती के लिए एक-एक हो। पान के लिए जमनालाल चौरसिया ने अपनी एक दूकान ही लगा दी थी। नाई, धोबी, जूतों पर पालिश वाले सबकी व्यवस्था थी। नाश्ते और चाय के लिए वहीं महाराज-वाड़े में पीछे की ओर भट्टियाँ खुदवा कर हलवाइयों और रसोइयों का प्रबन्ध था। सिर्फ जाति की रसोई के लिए धर्मशाला में प्रबन्ध था।

पण्डित मृत्युंजय भट्ट 'साहब' के आ जाने से पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लेन-देन आदि के व्यवहार में बड़ी सहायता मिली। 'साहब' के सौम्य व्यक्तित्व के सामने पण्डित गोविन्दराम मेहता ने यदि कोई त्रुटि अनुभव भी की होगी तो उसे कह न सके होंगे। शायद किसी ने कहने की चेष्टा की थी कि शुक्ल जी ने और तो सब प्रबन्ध किये पर रामजनी [वेश्या] के नाच-मुजरे की व्यवस्था नहीं। जब यह बात 'साहब' तक पहुँची तो 'साहब' की चढ़ी त्योरियाँ देख कर पण्डित गोविन्दराम मेहता को क्षमा माँगनी पड़ी कि सामन्तों-ठाकुरों की बरातों मे तो ये वेश्याओं के नाच-मुजरे होते हैं पर ब्राह्मणों के ब्याह-शादी में तो ऐसा होता नही। 'साहब' ने जिस प्रकार बाहर की अग्रजता सम्हाल रखी थी लगभग उसी प्रकार घर मे श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय और श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने पाठ-पूजन, रीति-रिवाज, दान-दहेज, लेन-देन सब सम्हाल लिया था नहीं तो दुर्गा इतने बड़े करियावर को कभी सम्भाल ही नही सकती थी।

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय की एक चिन्ता मामेरे की भी थी। मामेरा गोविन्द की ओर से आना था। उपयुक्त गहने-कपड़े, फल-फूल-मिठाइयों के लिए वासुदेव की तथा वासुदेव के मित्र गिरिधर ठक्कर की सहायता से सारा प्रबन्ध उन्हें ही करना पड़ा। गोविन्द को भी लग गया कि वह तो निमित्त है, वस्तुतः मासीमाँ ही सब कुछ कर रही हैं। विवाह चूँकि मुख्य रूप से कार्तिक-चौक वाली हवेली से हो रहा था अतः मगरमुँहे से कार्तिक चौक तक हर बार के आने-जाने के कारण सब की दौड़ लग

रही थी।

गोरज के लग्न थे। कन्यादान के बाद दूसरे दिन चँवरी [सतपदी] हो गयी तो तय पाया कि दातनपानी [वन-विहार] के लिए सारे बराती और घराती कालियादह जाएँगे। सामान्यतः तो इस रस्म में किसी जलाशय के किनारे देवस्थान पर दोनों पक्षों के लोग एकत्र होते हैं। आमोद-प्रमोद होता है। गुलाल-अबीर लगाये जाते हैं। नाश्ता-पानी होता है और इत्रपान होता है। विवाह के बाद वर-वधू का पति-पत्नी रूप में यह पहली बार उपस्थित होने जैसा होता है। काव्य, नृत्य-संगीत का भी कार्यक्रम हो जाता है। कभी-कभी स्त्रियाँ स्वतंत्र रूप से वन मे निकल कर थोड़े एकान्त में अपना स्वतंत्र रंग-अनुष्ठान मना लेती हैं और लोग लौट आते हैं। पर जब कालियादह में दातनपानी का सुना तो यही तय पाया कि वहीं के आसपास के रम्य वातावरण में भोजन भी होगा। नतीजा यह हुआ कि कालियादह पर एक दिन पहले से ही सारे भोजन-पानी के लिए प्रबन्ध होने लगा।—और जैसा अभूतपूर्व दातन-पानी हुआ उसकी कल्पना भी पण्डित गोविन्दराम मेहता को नहीं रही होगी।

चौथे दिन पूरी बरात और जाति के समस्त ब्राह्मणों को झालानी-परिवार ने अपने यहाँ आमन्त्रित किया। सबको मानना पड़ा कि इतने वैभवपूर्ण ढंग से आज तक ब्राह्मणों में तो किसी के यहाँ विवाह नहीं हुआ होगा।

विदा के दिन हवेली के भीतर तो तिल धरने की जगह थी ही नहीं परन्तु सामने के मैदान में जहाँ बैण्डवाले थे वहाँ खासकर लड़कों की भीड़ इतनी ज्यादा थी कि निकल पाना मुश्किल हो रहा था। आस-पास के झरोखों से झाँकती बहुओं, खिड़कियों से स्त्रियों, दरवाजों से लड़कियों और ओटलों पर खड़े आदमियों-बच्चों की इतनी भीड़ और शोर कि जैसे कोई तमाशा हो रहा हो। उस पर शहनाई तो कम ही सुनाई दे रही थी क्योंकि बैंडवाले भी थे। झालानी जी की सफेद घोड़ों वाली बग्घी को मालीपुरे के मालियों ने इतना सजा रखा था कि बग्घी फूलों की ही लग रही थी। बग्घी में पहले से ही ढेरों बच्चे चढ़कर बैठे हुए थे। केवल वर-वधू के लिए जो सीट थी उस पर सुनहरी बड़ा सा छत्र लिए एक चोबदार खड़ा था। यहाँ तो हवेली के सामने के वटवृक्ष के कारण धूप भी विशेष नहीं थी तथा हवा भी नम ही थी परन्तु सामने की सड़क पर धूप चिलचिलाने लगी थी। अभी यद्यपि दस से अधिक नहीं बजा था पर गर्मी खासी हो गयी थी। लोगों को गर्मी अपनी ही भीड़ के कारण लग रही थी। सड़क में मिलने वाली हर गली के मुहाने पर स्त्रियाँ बच्चों को कमर मे बैठाये, पुरुष कंधों पर उठाये खड़े थे। लोग पसीने से नहा रहे थे परन्तु कोई हटने का नाम नहीं ले रहा था।

जिस समय वर के दुपट्टे से अपने बँधे आँचल से बँधी-बँधी कुन्ती धीरे-धीरे हवेली के बाहर लायी जा रही थी उस समय स्त्रियों का रोना, हाहाकार अपने चरम रूप में था जिसे देखकर झरोखों से झाँकती बहुएँ अपनी नथों को काँटों को सहेजते हुए नाक साफ करते हुए रोती जा रही थीं। बाजों की आवाज, स्त्रियों का रोना, बड़ी-बूढ़ी महिलाओं की गीली आँखें, बच्चों का आश्चर्य, अबोध बच्चों का

बुक्का फाड़कर रोना और कुमारी कन्याओं की अवाक्, दहशत भरी सतर्कता—सब एक दूसरे में गुंथकर उत्सव हो रही थीं। दूर सड़क पर खड़े लोगों को बैण्ड की आवाज से जैसे ही लगने लगा कि अब विदा होकर वर-वधू चल दिये हैं तो सड़क से लेकर तीसरी मंजिल की खिड़कियों से झाँकते मुखों ने रास्ते को ध्यान से देखना शुरू कर दिया। लोगों ने अपने पैर बदल लिये। भीड़ में कहीं पीछे से धक्का न आ जाए इसलिए नाली के किसी पत्थर या ओट में अपने पैर फँसा लिये।

विदा, दूसरों के लिए थोड़ी देर की भावुकता, कौतूहल, उत्सव से अधिक क्या थी परन्तु अप्रतिम भूषा, अलंकार और प्रसाधन से युक्त कुन्ती अपने घूँघट में कितनी वेहाल हो रही थी यह केवल कान्ता और मणि ही थोड़ा बहुत जान पा रही थीं जो कि अपनी 'कुन्ती दीदी' को कन्धों से थामे पास बैठी थीं। 'कुन्ती दीदी' वस्तुतः थरथरा रही थीं। पूरी देह आँख बन कर रो रही थी परन्तु विवशता थी कि वह जोरों पर रो नहीं सकती थी। अपनी माँ से जब वह लिपट कर रो रही थी उस समय कोई नहीं कह सकता था कि माँ, बेटी के लिए या बेटी माँ के लिए रो रही थी। परन्तु जब कुन्ती को दुर्गा से अलग किया गया तो दुर्गा ऐसी ही मर्मान्तक चीखी थी जैसे बेटी उसकी देह का चर्म थी, जैसे वर्षों बाद भूखी बेटी को वह दूध पिला रही थी और बलात उनकी दूध पीती बच्ची को कोई छीने ले जा रहा था। कुन्ती के अलग होते ही वह अचेत होकर गिरी ही थीं कि स्त्रियों ने उन्हें सम्हाल लिया। कुन्ती भी तो आधे पिये दूध के बछड़े सी अपनी माँ की ओर लपकना चाहती रही पर स्त्रियों ने उसके नीचे गिर आये पल्लू को ठीक करते हुए उसे ठेला। वैसे अभी कुन्ती इस संसार को जानती ही कितना थी? कल तक ये ही मामियाँ, मासियाँ, भाभियाँ, गीत गा रही थीं और इस समय बिलख-बिलख कर रो रही थी। कैसे यह गुणात्मक अन्तर केवल स्त्री के ही जीवन में आता है कि एक क्षण में ही जन्म से प्राप्त सारी आत्मीयता, सम्बन्ध, परिवेश सब खण्डित यज्ञोपवीत से देह और मन पर से उतर जाते हैं और एक अनजान कुल-गोत्रता का नया जनेऊ उसकी देह और मन पर आ जाता है। स्त्री स्वत्व की यह शारीरिक द्विजता कालक्रम में धीरे-धीरे मन की द्विजता हो जाती है। यह संसार, स्त्री की विभाजित होती हुई द्विजता का ही तो दूसरा नाम है।

इनकी स्पेशल ट्रेन, इन्दौर गाड़ी वाले दूसरे नम्बर के प्लेटफार्म पर खड़ी थी। ओवरब्रिज पर आते-जाते लोगों की रेशमी, रंगीन कपड़ों की भीड़ थी। कुन्ती को और वर को लेकर स्त्रियाँ घेरे-घेरे प्लेटफार्म, ओवरब्रिज होते हुए दूसरे नम्बर के प्लेटफार्म के शेड में पहुँचीं। ट्रेन का अभी समय नहीं हुआ था अतः प्लेटफार्म पर ही बिछात बिछाकर लोगों के बैठने का प्रबन्ध था। कम से कम शेड के कारण छाया और शुनारन तो था। बीसियों लोग बरातियों को पंखा कर रहे थे। लोग अपने-अपने ढंग से गोल बनाये बातें कर रहे थे। वर, माधव के भाई या और कोई समान वय के सम्बन्धी आकर कुछ पूछने के बहाने मजाक भी कर जाते थे और माधव केवल हँस देते थे। बाल्टियों में लोग शर्बत लिये बरातियों को तथा औरों को भी पिला रहे थे। माधव

के परिचित जब माधव से कुछ कह सुन रहे होते उस समय कुन्ती के पास उसकी सहेलियाँ और मामी-मासी या बुआ उसके कान के पास जाकर कुछ फुसफुसा देती थीं। लड़कियाँ तो बात कह कर खुद ही खिलखिला पड़तीं। लड़कियों का ऐसा खिलखिलाना सुनकर जब माधव उन्हें देखने लगते तो वे लड़कियाँ एक-दूसरे को चुपके-चुपके कुहनियां मारते हुए झेंप उठतीं। वही स्त्रियों के खुसफुसाने में जैसे सीख की गन्ध आती। रातोंरात लड़की से स्त्री बनने की प्रक्रिया के जैसे वे अपने-अपने अनुभव कुन्ती को सौंपती जा रही थीं। पर थोड़ी ही देर बाद जब नाइन 'आतूमां' के अलावा और कोई इस प्रथम यात्रा में नहीं होगा, तब कैसा-कैसा सा लगेगा न ? पक्षी जब डाली से उड़ता है तो उसके उड़ने के समय, कुछ देर तक डाली हिलते हुए बतलाती है कि उसका अभी तत्काल उड़े पक्षी से एक सम्बन्ध था जिसके कारण वह थरथरा रही है। परन्तु कोई भी कब तक थरथरा सकता है ? एक सीमा के बाद डाली भी भूल जाती है कि कभी यहाँ एक पक्षी था और यहां बैठता था और पक्षी भी किसी दूसरी डाली पर बैठ जाने के बाद उस डाली को भूल जाता है कि कभी वह वहाँ बैठा करता था। न इसमें कुछ असंगतता है, न निर्ममता और न ही स्वार्थ—यह तो नितान्त प्राकृतिक है। स्थिर के लिए प्रकृति में कोई स्थान नहीं है।

कुन्ती जिस सिमटे, बँधे भाव से बैठने के लिए बाध्य थी उसमें वह सांस ही ले पा रही थी यही क्या कम था ? जिसे रोना कहते हैं, वह तो अब उसे असम्भव ही लग रहा था, हां वह सुबुक रही थी। बड़ी सी नथ के कारण नाक साफ करने में भी कठिनाई हो रही थी। कल तक इस घूंघट जैसी किसी चीज को कभी जाना ही नहीं था। पर आज यही घूंघट ही सब कुछ हो गया था। यदि लोगों ने उसे पकड़ न रखा होता तो इन भारी-भारी रेशमी कपड़ों, तोड़े-लच्छे वाले पैरों और उनकी अँगुलियों में ये मच्छियां [बिछियां] पहने वह चल सकती थी भला ? इन सब में तो वह स्वयं को भी नहीं पहचान पा रही थी। कल तक तो वह कैसे खुले-खुले सीढ़ियां चढ़ती-उतरती रही है। कैसा निर्बन्ध लगता था। वर्षा में फुहारों को अपनी अंजुली में भर कर मुँह धोने पर मन कैसा पक्षी-सा हँसने-बोलने लगता था। पूरा घर जैसे कुन्ती लगता था कि खिड़की को छुआ नहीं कि जैसे कुन्ती को छू लिया हो—पर अब ? रेशमी वस्त्र हैं, सिर से पैर तक अलंकार हैं। सुगन्ध ही सुगन्ध है—पर कुन्ती कहां है ? माँ के हाथों वह कैसे रोती हुई उनकी अँगुलियों से जैसे निचुड़ती हुई आयी थी, अब कभी वह फिर उन अँगुलियों से होते हुए वापस माँ में नहीं समा पाएगी ? क्या इसी को विवाह कहते हैं ? इस नये व्यक्ति, अनजान पुरुष के साथ माँ क्यों और कहाँ भेज रही हैं ?...कल तक तो खिड़की में खड़े होकर झांकने और आते-जाते लोगो को ताकने पर ऐसी आँखें तरेरती थीं कि बस। पटनी-बाजार में चलते हुए जरा भी सिर ऊँचा हुआ नहीं कि माँ ऐसा डाटती थीं कि, खबरदार, जो चबर-चबर आँखें किये बाजार में चली तो....पर आज यह छेड़ा-गाठन [वर-वधू के वस्त्रों में बँधी ग्रन्थी] बांध कर स्वयं माँ ने ही कैसे विदा कर दिया, लेकिन क्यों ? और सच तो यह था कि उसे ऐसी बाध्यता में चलना

क्या प्रिय था ? सम्भव होता तो वह सब तुड़ाकर फिर अपने घर के दरवाजे पहुँच कर हाँफते हुए 'कस' खोलती और धड़धड़ाते हुए सीढ़ियाँ चढ़ कर सीधे अपने बिस्तरे पर मुँह छुपा पड़ रहती। और जब माँ पूछतीं कि इस बेवक्त ऐसे क्यों लेटी है कुन्ती ?.... तो पीपल पात से काँपते मन से टूटे-टूटे बताती कि कैसे एक व्यक्ति उसके पल्लू को अपने दुपट्टे से बाँधकर ले जा रहा था जिजी ! तो वह किस मुश्किल से भाग आयी....!

और तभी उसे ध्यान आया कि माँ तो आयी ही नहीं। कान्ता से होले पूछा भी कि जिजी नहीं आयी ? पर वाक्य पूरा होते ही वह छलछला आयी थी। कान्ता ने भी अबोध, बड़ा सा सिर हिलाकर अस्वीकार कर दिया कि नहीं आयीं। तभी उसकी दृष्टि दूर उदास खड़े बाबा की ओर गयी। बाबा बड़े लोगों के बीच खड़े थे। इतनी दूर से देखने पर भी वह कह सकती है कि बाबा इस समय तिड़के शीशे के मर्तवान हो रहे हैं कि जरा सा छूने पर वह बिखर उठेंगे। तभी तो वह अपनी कुन्ती से दूर ही दूर रहना चाहते हैं। शायद कुन्ती भी माँ से अधिक अपने बाबा की बेटी है।....कैसे गोदी में लिटाकर थपकियाँ देते हुए गुनगुनाते थे और वह धीरे-धीरे सो जाती थी। बाबा को कभी किसी ने गाते नहीं सुना होगा। किसी को क्या, तीनों दादा और बहनें कोई नहीं जानते होंगे कि बाबा का गाना कितना मीठा है। बाबा सबको बहका सकते हैं पर अपनी कुन्ती को नहीं।....पर इन विधु और शशि को देखो। कैसे 'इनने' इन दोनों को बुलाया तो हँसते हुए बैठ गये। पूछने पर नाम बताया। जरा भी झिझके नहीं। किसी ने दोनों से पूछा कि ये कौन हैं ? तो दोनों ने एक-दूसरे को हँसते हुए देखा और फिर बोले—'हमारे जीजा जी !!'—सब लोग ऐसे हँस पड़े कि दोनों झेंप गये। खिसियाकर उन्होंने अपनी दीदी की ओर देखा और फिर भाग खड़े हुए।—'जीजा जी'—यह भी भला किसी का नाम होता है ? पर 'इनका' तो नाम है—अच्छा खासा ही नाम है—क्या नाम है ?....छिः छिः....सबने यही तो कहा कि अब इस व्यक्ति का नाम वह कभी नहीं उचारेगी ?....लेकिन क्यों ?.... कोई अपने का नाम नहीं लेता....लेकिन कोई दूसरा आपका अपना कैसे होता है ?....क्या तुम अपने को 'कुन्ती' पुकारती हो ?....लेकिन यह व्यक्ति तो कुन्ती नहीं है ?....उसके अलावा कोई दूसरा कुन्ती कैसे हो सकता है ?....होगा !!

और जब ट्रेन चलने को हुई तो एक बार लोगों में जैसे चेतना आ गयी। डिब्बे में, डिब्बे के बाहर लोग ही लोग थे। सब रो रहे थे। बाबा को तब कोई ठेल कर कुन्ती के पास लाया है यह, वह नीचे सिर में भी अनुभव कर सकी। पहले कैसे बाबा के पैर दिखे, फिर धोती और जब उन्हें देखने को हुई तो बाबा ने उसे अपने से सटा कर जब बिलखा तो और सब भी फूट पड़े। स्वयं माधव की आँखें भर आयीं। बाबा को जिस समय अलग किया जा रहा था तो उनका हाथ उसके सिर पर हाहाकार करता मन लग रहा था। ट्रेन ने सीटी दी तो सब लोग भरभरा कर उतरे। कान्ता, मणि, विधु और शशि ने चरण स्पर्श किया। प्लेटफार्म पर भीड़ थोड़ी छिटक कर खड़ी हो गयी। ट्रेन का चलना क्या हुआ कि जैसे सबने इस जाने को स्वीकार ही लिया

और रास्ता दे दिया। सब ने अपनी-अपनी बिलखती, क्रन्दन करती, आंसू पोंछती, निश्वास छोड़ती आत्मीयता समेट ली और अपनी सीमा स्वीकार कर ली। यथार्थ को भावना रास्ता देती खड़ी थी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल अपने दुपट्टे से आंसू पोंछते जाती ट्रेन को देखते रहे कि कुन्ती अब हमेशा के लिए चली गयी जबकि उन्हें बराबर लग रहा था कि जैसे कुन्ती उन्हें पुकार रही है कि—बाबा !...मुझे घर ले चलो न ?.... बेटी !...तू अपने घर ही तो जा रही है....अब तुझे बाबा गोदी में थोड़े ही ले जा सकते हैं ? तुझे चलना आ गया है बेटी ! ...तू जा...जाती क्यों नहीं कुन्ती ?.... और किसी ने पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को कन्धे से थाम कर, चलने के लिए कहा।

सारा हिसाब-किताब करते-धरते आठ-दस दिन लग गये। गत एक माह से कुन्ती के विवाह को लेकर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा जिस तरह फिरकनी से घर-बाहर व्यस्त रहे उसमें एक-दूसरे की ओर देखना जरूर हुआ होगा पर उस देखने में भी कोई न कोई काम ही कारण रहा होगा। एक-एक करके नाते-रिश्तेदार गये। सबके घर लौट जाने पर पतीलो में नीचे बची वस्तु से जब वे दोनों और बच्चे रह गये तो अजीब रिक्तता आ गयी। वैसे तो गयी केवल कुन्ती ही थी, पर जैसे सबके भीतर से कुछ बीता है और सब अभी तक जैसे थरथराते आंसू हैं तभी तो सब एक-दूसरे से बातें करते, काम के अलावा मिल-बैठने से कतरा रहे हैं। कुन्ती थी तब शायद उसकी उपस्थिति किसी को नहीं थी पर अब जब वह नहीं है तो दूसरों को क्या स्वयं दुर्गा को लगता है कि तार पर सूखते कपड़े अब कौन उठाएगा ? यह कान्ता ?...किसी काम की नहीं है। कुन्ती होती तो शाम तक ये कपड़े ऐसे ही तार पर रह सकते थे ? अब तक तो सबको तहा कर अलग-अलग करके रख देती—जिसका—उसको। यह नहीं कि बच्चों के कपड़ों में 'इनकी' बनियाइन घुसा दी। अब 'ये' अपनी बनियाइन के लिए पूरे घर में ढूंढ़ रहे हैं। कुन्ती क्या थी—लक्ष्मी थी, लक्ष्मी !! इस कान्ता को तो जितना कहो उतना कर दे तो यह भी गनीमत समझो। सहूर तो है ही नहीं। कुन्ती की किसी से क्या बराबरी हो सकती है ?....पर कभी-कभी दुर्गा को अपनी ही बात पर, सोचने पर हंसी आ जाती कि आज कुन्ती उन्हें गुणवती लग रही है पर जब थी तो कैसे उसी पर झींकती रहती थी कि दाल छौंकना भी नहीं आता। राई अभी तिड़तिड़ायी नहीं, घी अभी पूरी तरह गरम नहीं हुआ और दाल डाल दी।—राम, राम, ये लड़कियां ससुराल में अपनी मां की नाक नीची न करवाएं तो नाम पलट देना।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल सारा हिसाब-किताब पूरा करके बही को वापस रख दे ये कि दुर्गा आ गयी। रात के ग्यारह बज रहे होंगे। बच्चे सब सो गये थे। घर एकदम सुनसान था। गर्मियों में सारे लोग ऊपर छत पर सोते हैं। नीचे एकदम खाली-भंक लगने लगता है। बैठक में पहुँच कर दुर्गा पति के सामने जाकर खड़ी हो गयी,

— हो गया तुम्हारा सारा काम-धाम ?

— आप यहाँ गर्मी में क्या कर रहे हैं ?

— और तो सब हो गया, दो-एक देना-लेना बचा है। यही हिसाब देख रहा था।

दुर्गा सामने बैठते हुए बोली,

— बहुत बड़ा महाकाम निबटा।

महाकाम का भाव तो अनुभव किया दुर्गा ने और निश्वास पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने ली। पर दोनों की मानसिकता ऐसी थी जैसे कि जाड़े में हठात ठंडे जल में खड़े कर दिये गये हों। दोनों के पास कहने को बहुत-कुछ था पर भाषा में कैसे शुरू करें, ही समस्या थी। विवाह के सारे समय सिवाय काम के कभी घड़ी भर को भी बैठना नहीं हुआ। जब कुन्ती, रस्म-रिवाज, आये-गये सब बीत गये और सबका लेना-देना भी निबट गया तब कई दिनों के बाद होश आया कि अरे, अपने हाथ-पैर, आँख-कान सब अभी भी हैं। काम की व्यस्तता में—सामने वाला व्यक्ति, उसका सम्बन्ध सब तिरोहित हो जाते हैं पर जब अनेक दिनों बाद फिर व्यक्ति बनकर वही व्यक्ति सामने आ जाता है तो हमें कितना आश्चर्य होता है कि—लो, व्यक्ति तो ऐसा होता है, जबकि व्यक्ति को हम काम समझे थे।

— विवाह के महाकाम से तो छुट्टी हुई पर देखता हूँ कि तुम्हें काम से कभी छुट्टी नहीं मिलती।

दुर्गा हँसते हुए बोली,

— इस ब्याह ने आपको बहुत थका डाला न ?

— थका क्या डाला...

— आपकी लाड़ली चली गयी इसलिए...

— दुर्गा !....और कोई चर्चा करो...

और सहसा पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल की आँखें छलछला आयीं जिसमें सब तिर उठा, दुर्गा भी।

— यथार्थ से कभी मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। लड़कियाँ अपनी नहीं होतीं, बहुएँ होती हैं।

बेटी के परम 'विछोह' के क्षण में भी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को हँसी जैसी आ गयी, बोले,

— ठीक है, यह भी देख लेना। अब देरी ही कितनी है। तीन बेटियों के बदले पाँच बहुएँ आएँगी।

— आएँगी, तो आएँ। आज बेटियाँ सामने हैं तो वे आँखों की पुतलियाँ हैं, कब

बहुएँ आएँगी तो उन्हें भी आँखों का काजल बनाकर रखा जाएगा।
— पर अगर वे काजल की भाँति न रह कर आँसू बनें तो ?
— रो-धोकर आँखें पोंछ लेंगे।
— मैं जानता हूँ दुर्गा! तुम निर्मम नहीं हो। तुममें सबकी तरह आसक्ति है पर कभी व्यक्त नहीं होने देती।
— मैं आसक्त हूँ, स्त्री हूँ—तो, सब कुछ आपके लिए। लोग कहते हैं कि स्त्री अपनी सन्तान के सामने पति को भी कुछ नहीं समझती। हो सकता है, ऐसा होता हो पर मैं तो इतना जानती हूँ कि मेरी गति-मुक्ति सन्तानें नहीं, आप हैं। सन्तानों का क्या—लड़कियाँ हैं जो पराया धन हैं। लड़के हैं—तो, कौन कह सकता है कि कल इनकी महरानियाँ इन्हें क्या नहीं बना देंगी? साथ रहेंगे, ठीक है। नहीं रहेंगे, तो यह दुनिया पड़ी है। जहाँ चाहे जाओ-आओ। दुःखी मन से न तो किसी को रखा जा सकता है और न ही कोई रहा है।
— तुम यह विराग की बातें मुझे समझाने के लिए कह रही हो ?
— आप शायद सन्तानों से अतिरिक्त जुड़े हुए हैं।
— क्या तुम नहीं ?
— मेरा क्या, मैं तो साधारण स्त्री हूँ, माँ हूँ। बेटी जब तक अबोध थी, दूध पिला दिया। जब उसे चलना आ गया तो उसे उसके घर तक पहुँचा दिया। माँ हूँ, तो सन्तान के सुख में सुखी भी होऊँगी, दुःख में दुःखी भी होऊँगी पर ये सब ऋतुएँ हैं—कभी तपाएँगी, कभी झुलसाएँगी, कभी अपने जल से नहलाएँगी, और कभी आपके सारे पत्ते ले लेंगी तो कभी आपको फूलों से लाद देंगी—इनका क्या विश्वास? विश्वास तो उस धरती का है जिस पर आप खड़े रहते हैं। पति ही वह धरती है जिस पर स्त्री खड़ी रहती है—ऋतुओं का क्या, आज यह है, कल वह है।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल अवाक बने सुन रहे थे। वह सोच रहे थे कि पता नहीं कभी एकान्त में जब वह दुर्गा से मिलेंगे तो उसे ढाढ़स किस प्रकार देंगे जबकि कुन्ती को लेकर वह स्वयं ढाढ़स की अपेक्षा करते हैं। परन्तु दुर्गा तो सर्वथा भिन्न लग रही थी। थोड़ी देर पूर्व उनकी आँखें छलछला आयी थीं परन्तु अब ?....क्या सच ही दुर्गा इतनी असंग है? क्या ज्ञान से व्यक्ति अपने भीतर की आकुल पुकार को अनसुना कर सकता है ?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,
— तुम बहुत अविश्वसनीय हो।

दुर्गा चौंकी,
— क्या ?
— हाँ, विश्वास के साथ कोई नहीं कह सकता कि तुम कब क्या करोगी।
— दुनिया यह कहे तो मुझे कुछ नहीं, पर आप ऐसा कैसे कहते हैं ?

— दुनिया तुम्हें जानती ही कितना है, जो कहेगी ?....मैं जानता हूँ तुम ये सारे शान-ध्यान की बातें अपने को समझाने के लिए, छलने के लिए कर रही हो।

— मैं अपने को क्यों छलूँगी भला ?

— क्योंकि ये सन्तानें तुम्हें फोड़कर उपजी हैं...गाय भी अपने बछड़े के लिए रोती होती है।....तुम लाख कहो कि कुन्ती चली गयी परन्तु तुम अपने भीतर बिसुर रही हो...सन्तानें फोड़ा होती हैं पर लड़के और लड़की के फोड़ों में अन्तर होता है। लड़के का फोड़ा तो बाहरमुखी होता है—फूटता है और बह जाता है परन्तु लड़की का फोड़ा भीतरमुखी होता है—फूटता है पर अन्तर में....इसलिए बेटी ही ज्यादा सालती है....दुर्गा ! झूठ बोलो, पर ऐसा और इतना नहीं कि....

दुर्गा की आँखें सुनते हुए छलछलायीं और फिर तो वह फूट पड़ी। कुछ देर बाद बोली,

— रोऊँगी, क्यों नहीं रोऊँगी ? अपनी बेटी के लिए जन्म-जन्मान्तर भी रोना पड़े तो रोऊँगी...पर आपने यह कह क्यों दिया ?... नहीं; आपको यह कहना नहीं चाहिये था।....आपने यह कह क्यों दिया ?...कुन्ती !!

और इस बार वह फूट-फूट कर रो पड़ी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल उठे और रोती हुई दुर्गा को अपनी छलछलायी आँखें पोंछते हुए, अपने से सटा लिया। सच तो यह था कि कुन्ती का विवाह आज जाकर सम्पन्न और समाप्त दोनों हुआ क्योंकि 'माँ' 'बाबा' उसके लिए इस आधी रात में रो रहे थे।

पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट कुन्ती के विवाह में क्या आये गोविन्द के लिए साँसत हो गयी। वह सोच रहा था कि अब वह भी उज्जैन में रह कर वकालत करते हुए कुछ समाज-सेवा का काम भी करे। यद्यपि अभी यह बहुत स्पष्ट नहीं था क्योंकि राजनीति के साथ वह बहुत अधिक नहीं जुड़ पाता था। अपने गाँव-देहात में रहकर कुछ समाज-सेवा करने का भाव अब उसे अधिक नहीं मोहता था। इसी असमंजस की स्थिति में एक दिन श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के सामने 'साहब' ने यह प्रस्ताव रखा कि गोविन्द, धार में ही उनके साथ रहे। उनके प्रभाव के कारण गोविन्द की वकालत भी खूब चलेगी तथा उन्होंने जो आश्रम स्थापित किया है वहाँ उसका अपना विकास भी होगा तथा 'साहब' के बाद वह आश्रम की सारी व्यवस्था भी सम्हाल सकेगा। वह धार-आश्रम दो-एक बार हो भी आया था। स्थान उसे रमणीक ही नहीं बल्कि आकर्षित भी करता था परन्तु धार जैसी छोटी जगह में रहकर वह क्या वकालत कर सकता था परन्तु 'साहब' के आदेश की अवज्ञा भी सम्भव नहीं थी। वह लगातार सुनता रहा था। उसे कुछ नहीं बोलता देखकर 'साहब' ही बोले,

— ऐसा नहीं है कि तुम इस प्रस्ताव को मानो ही। यदि यहाँ रह कर ही कुछ करना तुम्हें अनुकूल लगता है तो वहाँ की कोई न कोई व्यवस्था हो ही जाएगी।....मनुष्य को अपनी इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिए।

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने कहा,

— क्यों गोविन्द! क्या सोच रहे हो?

— जी, कुछ खास तो नहीं।

इस पर 'साहब' पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट बोले,

— ऐसी कोई जल्दी भी नहीं है। सोच लो, समझ लो। न हो तो उज्जैन में प्रेक्टिस

सूर्यास्त के बाद तो एकदम सुहाना हो जाता है। तब भी धरती कुछ तो तपी लग ही रही थी।

गिरिधर ठक्कर बोले,

— यहाँ कभी आये थे पहले ?

— लगता तो नहीं।

इस पर गिरिधर ठक्कर खूब खुलकर हँसे और बोले,

— यार, तुम भी कमाल के आदमी हो। मेरा ख्याल है कि अगर तुम वकील बनने के बजाय गवाह बनने का पेशा करो तो कभी पकड़ाई में नहीं आ सकते।

गोविन्द कुछ खिसिया गया था। कुछ न समझने के भाव से कहा,

— पता नहीं आप यह क्यों कह रहे हैं ?

— इसलिए महाराज ! कि कभी तो, किसी बात पर निश्चयात्मक ढंग से कहा करो।

और दोनों हँस दिये। सूर्यास्त के कुछ बड़े-छोटे पक्षी, खासकर तोते उड़ते दिखायी दे रहे थे। वातावरण में सन्नाटे का भाव था। हवा विशेष तो नहीं थी पर कभी-कभी उसकी प्रतीति होती लगती थी। मालवे में गर्मियों का आकाश भी बड़ा निरभ्र होता है। तभी तो गर्मियों की रात्रि में भी तारों की केतकी, चमेली खूब खिल आती है। दूरी पर पशुओं की कोई रेवड़ माल [जंगल] से लौट रही थी यह उनके खुरों की धूल और गलघंटी से स्पष्ट लग रहा था।

— हाँ, अब बताओ तुम अभी थोड़ी देर पहले क्या पूछ रहे थे ?

— मनुष्य को क्या करना चाहिए ?

— ले आये तुम फिर एक सिर दुखाने वाला प्रश्न। हद है यार, यहाँ यों ही जीना मुश्किल है उस पर यह चक्रवर्ती ब्याज वाला सवाल पूछ बैठे।

— गिरिधर भाई !....

— तुम अपनी बात बाद में कहना, मुझे कह लेने दो पहले। देखो, यह न कहना कि मैं बड़ा रहस्य प्रधान आदमी हूँ।—यह सुनते-सुनते तो मेरे कान पक गये हैं यार ! पता नहीं लोग क्या देखना, क्या सुनना चाहते हैं ? सिवाय दो कुरते-पाजामें के और कुछ हो तो गो-हत्या का पाप लगे।

और वह पहले तो हँसे परन्तु तत्काल ही गम्भीर हो उठे। गोविन्द कुछ क्षण तो ठिठका फिर बोला,

— अच्छा हुआ आप पहले ही बोल उठे। शायद यह बहुत गलत भी नहीं है।

— देखो गोविन्द ! पहले तो यह हर बात में शायद लगाना बन्द करो। दूसरे, जो कहना हो उसे कहने में संकोच न करो।—अच्छा, तुम अपनी बात कहो। पर यार, बहुत तात्विक बात न करना और न पूछना। तुम जानते नहीं कि मैं निरन्तर फेल होते हुए पास हुआ हूँ। नींव तो पुख्ता है पर ज्ञान-ध्यान अपने पास नहीं है। मनुष्य को क्या करना चाहिए, इस चक्कर में तो पड़ो मत। हाँ, हमें-तुम्हें क्या करना चाहिए, इस पर सोचा जा सकता है।

करके देख लो। यदि तुम्हारा यहाँ सब ठीक चल निकले तो वह तो और अच्छा। केवल तुम्हारे सामने एक यह भी प्रस्ताव रख दिया गया है कि कभी आवश्यकता आ जाए तो तुम धार भी आ सकते हो।

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय बोलीं,

— कुछ संकल्प-विकल्प मन में चल रहा है, है न ?

— जब संकल्प ही कुछ खास नहीं है तो विकल्प भी विशेष नहीं है। सच तो यह है मासी-माँ ! कि अभी तक कुछ विशेष सोचा भी नहीं। अपनी दिशा के बारे में विशेष सोचने का अभी मौका ही नहीं आया, सो नहीं सोचा। चूँकि वकालत पास की है तो वकालत करनी चाहिए, लेकिन सोचता हूँ कि सिर्फ वकालत करने का क्या कुछ अर्थ है भी ?....तब ?....और मासी-माँ ! इस तब का ही उत्तर नहीं दिख रहा है।....धार जाकर 'साहब' का सान्निध्य प्राप्त करना तो सौभाग्य ही होगा... लेकिन आश्रम, अध्यात्म जैसी चीजें व्यक्ति से स्वत्व की जितनी बड़ी प्रतिश्रुति चाहती हैं वे क्या मुझमें हैं ? अभी मैं इसका विचार नहीं कर पाया हूँ।

— तुम तो इधर गिरिधर ठक्कर के कारण कुछ राजनीति में भी तो रुचि लेने लगे हो।

— राजनीति तो शायद नहीं, पर ऐसा लगता है कि क्या कुछ सेवा की जा सकती है समाज की ?....पर अभी तो कुछ भी साफ नहीं है।

इस पर 'साहब' पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट बोले,

— तुम स्वयं समझदार हो। भगवान की तुम पर कृपा रही है, यह तुम भी जानते हो। तुम खूब विचार कर लो। संकल्प से कुछ भी कठिन नहीं है परन्तु सब मनुष्य सब काम नहीं कर सकते हैं। अपनी रुचि और सामर्थ्य को जान कर यदि आगे बढ़ोगे तो हताश नहीं होओगे।

भर्तृहरि की गुफा के चारों ओर ऊँची टेकरियों का सिलसिला क्षिप्रा की कगार में फैला हुआ एक ओर मंगलनाथ होता हुआ भैरोगढ़ की ओर चला जाता है तो दूसरी ओर शहर की ओर। क्षिप्रा इन टेकरियों की कगारों के बीच सर्पाकार बहती हुई वेधशाला के आगे निकल जाती है। गर्मियाँ थीं इसलिए पानी बहुत कम हो गया था। कई जगह तो पेटे की काली मिट्टी तक निकल आयी थी और गर्मी के कारण दिखाई सी तिड़क भी उठी थी। गिरिधर ठक्कर और गोविन्द दोनों गुफा के ऊपर की टेकरी पर पहुँच कर सुस्ताने लगे। सूर्यास्त होने को था। यहाँ से मीलों दूर तक का दृश्य दिख रहा था। उतरता ज्येष्ठ था। मालवा में वैसे भी गर्मियाँ बहुत कष्टद नहीं होतीं।

सूर्यास्त के बाद तो एकदम सुहाना हो जाता है। तब भी धरती कुछ तो तपी लग ही रही थी।

गिरिधर ठक्कर बोले,

— यहाँ कभी आये थे पहले ?

— लगता तो नहीं।

इस पर गिरिधर ठक्कर खूब खुलकर हँसे और बोले,

— यार, तुम भी कमाल के आदमी हो। मेरा ख्याल है कि अगर तुम वकील बनने के बजाय गवाह बनने का पेशा करो तो कभी पकड़ाई में नहीं आ सकते।

गोविन्द कुछ खिसिया गया था। कुछ न समझने के भाव से कहा,

— पता नहीं आप यह क्यों कह रहे हैं ?

— इसलिए महाराज ! कि कभी तो, किसी बात पर निश्चयात्मक ढंग से कहा करो। और दोनों हँस दिये। सूर्यास्त के कुछ बड़े-छोटे पक्षी, खासकर तोते उड़ते दिखायी दे रहे थे। वातावरण में सन्नाटे का भाव था। हवा विशेष तो नहीं थी पर कभी-कभी उसकी प्रतीति होती लगती थी। मालवे में गर्मियों का आकाश भी बड़ा निरभ्र होता है। तभी तो गर्मियों की रात्रि में भी तारों की केतकी, चमेली खूब खिल आती है। दूरी पर पशुओं की कोई रेवड़ माल [जंगल] से लौट रही थी यह उनके खुरों की धूल और गलघंटों से स्पष्ट लग रहा था।

— हाँ, अब बताओ तुम अभी थोड़ी देर पहले क्या पूछ रहे थे ?

— मनुष्य को क्या करना चाहिए ?

— ले आये तुम फिर एक सिर दुखाने वाला प्रश्न। हद है यार, यहाँ यों ही जीना मुश्किल है उस पर यह चक्रवर्धी ब्याज वाला सवाल पूछ बैठे।

— गिरिधर भाई !....

— तुम अपनी बात बाद में कहना, मुझे कह लेने दो पहले। देखो, यह न कहना कि मैं बड़ा रहस्य प्रधान आदमी हूँ।—यह सुनते-सुनते तो मेरे कान पक गये हैं यार ! पता नहीं लोग क्या देखना, क्या सुनना चाहते हैं ? सिवाय दो कुरते-पाजामें के और कुछ हो तो गो-हत्या का पाप लगे।

और वह पहले तो हँसे परन्तु तत्काल ही गम्भीर हो उठे। गोविन्द कुछ क्षण तो ठिठका फिर बोला,

— अच्छा हुआ आप पहले ही बोल उठे। शायद यह बहुत गलत भी नहीं है।

— देखो गोविन्द ! पहले तो यह हर बात में शायद लगाना बन्द करो। दूसरे, जो कहना हो उसे कहने में संकोच न करो।—अच्छा, तुम अपनी बात कहो। पर यार, बहुत तात्विक बात न करना और न पूछना। तुम जानते नहीं कि मैं निरन्तर फेल होते हुए पास हुआ हूँ। नींव तो पुख्ता है पर ज्ञान-ध्यान अपने पास नहीं है। मनुष्य को क्या करना चाहिए, इस चक्कर में तो पड़ो मत। हाँ, हमें-तुम्हें क्या करना चाहिए, इस पर सोचा जा सकता है।

— अच्छा, यही सही।
— देखो गोविन्द ! जहाँ तक मेरा सवाल है, तो बस इतना मैं जानता हूँ कि जो कर रहा हूँ इसके अलावा शायद मैं कुछ कर भी नहीं सकता।
गोविन्द सहसा हँस पड़ा। गिरिधर ठक्कर पहले तो चौंके पर जब कुछ नहीं समझ में आया तो पूछा,
— क्यों ? तुम हँस क्यों रहे हो ?
— आपने भी 'शायद' का प्रयोग किया।
सुनकर गिरिधर ठक्कर भी हँस दिये, बोले,
— संसर्ग-दोष इसी को कहते हैं।—सच तो यह है गोविन्द ! कि मैं अपने से कोई बहुत अपेक्षा भी नहीं करता।
— लेकिन आपकी माँ की तो आपसे अपेक्षाएँ हो सकती हैं।
गोविन्द की बात सुनकर गिरिधर ठक्कर को उलझन हुई इसे गोविन्द भी बूझ ले गया, पर क्यों हुई, यह नहीं समझ सका।
गिरिधर ठक्कर ही बोले,
— गोविन्द ! तुम शायद पहले और अन्तिम आदमी होगे जिसके मुँह से मैं अपनी माँ के बारे में सुन रहा हूँ और जिसे अपनी माँ के बारे में कुछ कह भी रहा हूँ। मेरा ख्याल है कि तुम्हारा अपना कोई परिवार नहीं है, है न ?
— चलिए, ऐसा भी माना जा सकता है।
— यदि और कुछ माना जा सकता है, तो उसे ही क्यों न माना जाए, यह क्यों माना जाए ?
— कई बार परिवार होते हुए भी पारिवारिकता नहीं लगती और कई बार परिवार न होने पर पारिवारिकता लगती है।
— तो बस गोविन्द ! मैं पहले सिरे पर खड़ा हूँ और तुम दूसरे सिरे पर—पर यह याद रखना कि मैं इस बारे में कोई बात नहीं करना चाहता।
— चलिए यही सही। पर एक बात बताइए कि आपकी बात सुनकर यदि लोगों को लगे कि....
गिरिधर ठक्कर ने बहुत ताव में कहा,
— लोगों की ऐसी-तैसी। ये सबको पान की पीक समझते हैं। आपकी बात सुनेंगे और फिच्च से थूक देंगे। उन्हें किसी की वेदना, दुःख, यातना, मानसिकता से क्या लेना-देना ? और अगर ऐसे लोग, चाहे वो कोई हों, गिरिधर ठक्कर को कुछ भी समझते हों तो इससे मेरा क्या बनता-बिगड़ता है ? मैंने अपने को इतनी अहमियत ही नहीं दे रखी है कि उसकी चिन्ता हो।
— तो क्या इसीलिए घर-संसार नहीं बसा रहे हैं ?
— छोड़ो यार ! ये पिटी-पिटी बातें।—तुम यह बताओ कि कब से प्रैक्टिस शुरू करनेवाले हो ? धूर्जटी ने तो शुरू कर दी न ?

— हाँ, उसने तो लगभग तय ही कर लिया।
— और तुम ?
— क्या होगा ?
— क्या, क्या होगा ?
— प्रैक्टिस।
— बड़े प्रास्पेक्ट्स हैं। देख नहीं रहे हो वकीलों के ठाठ।
— मुझे न जाने क्यों यह धन्धा फरेब का लगता है।
— ऐसा क्यों ?
— क्या मुवक्किल आपको अपने विरुद्ध बताएगा ? और आप उस गलत को ही तो सिद्ध करेंगे न ? तो यह तो झूठ का पैसा खाना हुआ।
— देखो गोविन्द ! मैं जितना जानता हूँ तुम्हें उससे मुझे यही लगता है कि एक नेक आदमी की भाँति पेशे को पेशे की भाँति ही लो। इससे अधिक तुम कर नहीं पाओगे।
— और अगर यह भी करने को मन न करे, तो ?
— देखो भाई, बहुत ज्यादा पढ़ा-लिखा तो हूँ नहीं तुम्हारी तरह परन्तु यह तय है कि आदमी को स्वतः अपना मार्ग तय करना पड़ता है।
— अच्छा एक बात बताइए गिरिधर भाई ! कि क्या समाज-सेवा की जा सकती है ?
— तुम्हारा मतलब राजनीति से तो नहीं है न ?
— बिल्कुल नहीं।
— तुम्हारी बात पर से एक बात याद आ रही है कि गाँधी जी की राजनीति दुहरी है। राजनीति के लिए वह आन्दोलन करते हैं और समाज-सेवा के लिए कई रचनात्मक कार्यक्रम चलाये हुए हैं। वह शायद इस तथ्य को जानते हैं कि व्यक्ति अगर चौबीसों घण्टे राजनीति करेगा तो वह पतित हो जाएगा।
— गाँधी जी तो बहुत बड़े व्यक्ति हैं पर हम जैसे साधारण लोग भी थोड़ी-बहुत समाज-सेवा नहीं कर सकते ?
— यार, कुछ न कुछ करने के लिए ही तो यहाँ भेजा गया है वर्ना नरक क्या बुरा था। पड़े थे, पड़े रहने दिया होता।
— आपको क्या पता कि आप नरक में थे और स्वर्ग में नहीं ?
— जो आदमी एक बार भी स्वर्ग हो आता है फिर वह बहस नहीं करता। स्वर्ग में आप किस चीज को लेकर बहस करेंगे ?

और दोनों हँस दिये। तारे निकल आये थे। अंधेरा घिर आया था परन्तु चूँकि खुले में थे इसलिए सघनता नहीं थी।

गिरिधर टककर बोले,

— पर यह बताओ, तुम यह क्यों पूछ रहे हो ?
— इसलिए कि, पता चले कि, क्या करना चाहिए ?

— फिलहाल तो यहाँ से चलना चाहिए। वैसे इतना जानता हूँ कि तुम जो भी करोगे वह निष्ठा से ही करोगे।—पर एक बात है यार! लगता नहीं कि अपनी गांधी जी से बहुत दूर तक पटेगी।

गोविन्द चौंका, बोला,

— मैं समझा नहीं।

— समझ तो कुछ खास मैं भी नहीं रहा हूँ पर गांधी का यह हिंसा-अहिंसा वाला चक्कर कुछ समझ में नहीं आता। भगतसिंह की जान वह बचा सकते थे—लोगों का यह ख्याल है, जो हो, तब भी भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव देशभक्त तो थे ही। उनके लिए वाइसराय से कहने में कौन सा सिद्धान्त भ्रष्ट हो रहा था? क्या देशभक्ति से बड़ा है साला, कोई सिद्धान्त! दिन भर बैठकर चरखा कातो, तो यह देशभक्ति हुई और किसी अंग्रेज पर बम फेंक दो तो वह हिंसा हो गयी। भाई जान, अपनी समझ में गांधी जी का यह 'घापल्या' समझ में नहीं आता। देशभक्ति का एक ही प्रकार कैसे हो सकता है? और आप ही प्रामाणिक देशभक्ति कर रहे हैं, दूसरे नहीं, यह आप क्यों सिद्ध करना चाहते हैं?...गोविन्द! दिमाग पर तनाव उत्पन्न करते हैं गांधी जी!...खैर, चलो चला जाए।

गर्मियों के आकाश में तारे इतने अधिक और इतनी ऊँचाई पर थे कि ये दोनों चलते हुए नगण्य लग रहे थे।

सम्भवतः कई वर्षों बाद गोविन्द अपनी दुर्गा दीदी के सामने इतने सहज रूप में बैठा हुआ था। वर्षों पहले ऐसे सहज बैठना होता था। दीदी रसोई बना रही थीं। पंचानन, इन्दौर में होल्कर-कालेज में पढ़ने चला गया था। धूर्जटी ने अपनी प्रैक्टिस शुरू कर दी थी और अब वह कार्तिक-चौक वाली हवेली में ही लगभग रहने लगा था। बाकी के बच्चे अपने-अपने कमरों में पढ़ रहे थे। जीजा जी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल नियमतः घर में नहीं थे। चूल्हे के पास बैठी हुई दुर्गा दीदी आटा माँड़ती बैठी थीं। चूल्हे पर सब्जी चढ़ी थी। जब पहले आया करता था तो उन दिनों इस घर में बिजली नहीं थी। दीवाल पर एक चिमनी जलती रहती थी। चूल्हे की लकड़ियों का बिलबिलाता प्रकाश तब कितना प्रमुख लगता था। बिजली आ जाने से अब वही बिलबिलाता प्रकाश कैसा फीका-घुला हो गया है। सामने परेंडी [पानी रखने की जगह] पर पीतल के गगरे, मिट्टी के मटके अब इस रोशनी में बहुत स्पष्ट दिखते हैं पर उन दिनों चिमनी के मंद प्रकाश और चूल्हे की आँच कैसे गाँव-खेड़े के घरों की याद दिलाती

थी। दुर्गा दीदी को घर के काम-काज से ही फुर्सत नहीं मिलती कि ठाकुर जी की सेवा के लिए अलग से कोई समय निकालें। सासूमाँ जब तक थीं तो ठाकुर जी का पूजा-घर अलग से था पर सासूमाँ के न रहने पर ठाकुर जी अपने सिंहासन के साथ इस रसोई-घर में आ गये हैं, ताकि दुर्गा दीदी गृहस्थी के कामों के बीच भगवान् की सेवा, 'विष्णु सहस्रनाम' का पाठ, 'भक्तमाल' का कोई पद गुनगुनाती भी रहें और सोमती मैथी की भाजी भी चलाती रहें। पूजा-घर वैसे अब भी है, वहाँ जीजा जी और जनेऊ हो जाने के बाद से लड़के अपने-अपने ढंग से पूजा करते रहते हैं। और लोग पूजा-घर में पहुँचकर भी जल्दी में होते हैं जबकि पूरी तरह व्यस्त होने पर भी दुर्गा दीदी लीन भाव से पूजा भी करती होती हैं। गोविन्द को यह देखकर बहुत अजीब और अच्छा दोनों ही लगते हैं कि दुर्गा दीदी जो करती हैं वह तल्लीन भाव से ही करती हैं। जब वह कान्ता, मणि या विधु-शशि को किसी बात पर डाँट रही होती हैं तब भी वह पूर्ण समग्र लगती हैं। एक ओर कोने में खड़े-खड़े कई पाट टिके थे।

एक पाट लेकर गोविन्द दुर्गा दीदी के सामने जिस भाव से बैठा वह दुर्गा को बहुत अच्छा लगा। दुर्गा ने पलकें उठाकर उसे देखा तो गोविन्द को लगा कि क्या माँ अपने बेटे को ऐसे ही नहीं देखती होगी?

दुर्गा ने पूछा,

— कहाँ से आ रहे हो?

— लाइब्रेरी में किताब वापस करनी थी।

— चाय पियोगे न?

और गोविन्द कुछ जवाब दे इसके पूर्व ही दुर्गा उठी और स्टोव उठा लायी।

— वैसे मुझे चाय की कोई आवश्यकता नहीं है।

— तुम्हारे जीजा जी भी आते ही होंगे।

— तो यह कहिए न कि जीजा जी के लिए बनाना है, गोविन्द का तो बहाना है।

— हाँ, तुम्हारे लिए भला चाय क्यों बनाऊँगी, है न?—ठीक ही तो है। चाहे वह पति हो, पुत्र हो या भाई—सब एक न एक दिन ऐसी ही भाषा बोलने लगते हैं।

गोविन्द ने तो मजाक के ख्याल से बात कही थी पर लगा कि दुर्गा दीदी उससे मर्माहत हुईं या शायद पहले से ही मर्माहत थीं और उसकी बात से वह मनःस्थिति केवल उभर आयी है। स्टोव जल चुका था। दुर्गा दीदी ने चाय का पानी चढ़ा दिया और जब चीनी भी पानी में डाल दी तो गोविन्द बोला,

— क्या मेरी बात से....

— तुम लोग सब स्त्री से अपने स्वार्थ की पूर्ति ही तो चाहते हो। बातें बड़ी-बड़ी करेंगे पर आचरण के समय वही ढाक के तीन पात।

शायद आँखें छलछला आयी थीं जिसे पल्लू से उन्होंने पोंछ लिया और चाय के लिए भण्डारे में से दूध लाने के लिए उठ गयीं। गोविन्द को याद नहीं पड़ता कि दुर्गा दीदी

को कभी इस प्रकार आचरण करते देखा हो। अवश्य ही कुछ हुआ है जैसा कि इस घर में कभी नहीं होता। दुर्गा दीदी को सदा उसने हँसते हुए ही देखा है। बच्चों पर ही क्या बल्कि पति तक पर वह शासन करती हैं परन्तु उस शासन में ऐसी मार्दवता होती है कि सारा घर फुलवारी लगता है।

इस बीच चाय बन चुकी थी। चाय का कप दुर्गा दीदी ने उसकी ओर सरका दिया।

— क्या बात है दीदी?

— मैं तो कंद्रा [परेशान] गयी हूँ इस धूर्जटी से।

— क्यों! क्या हुआ?

— हुआ क्या। तुम लोगों के तो मिजाज ही नहीं मिलते।

दुर्गा दीदी ने 'तुम लोग' जिस तरह से कहा उससे गोविन्द को लगा कि दीदी किसी भी क्षण उस पर भी बरस सकती हैं। वह बोलीं,

— धूर्जटी की बात तो बाद में होगी, पहले यह बताओ कि तुमने भी तय कर लिया है न कि न खुद चैन से रहोगे न दूसरों को चैन से रहने दोगे?

गोविन्द अवाक तो नहीं हुआ परन्तु एकदम सीधे-सीधे पूछे जाकर घेरे जाने की आशा भी नहीं थी। चुप लगा जाने की स्थिति नहीं थी। इस प्रश्न में, इस आत्मीय व्यथा-कथन में कितनी बाँधने वाली ममता थी, यह वह जानता था पर यह नहीं जानता था कि इस उफनते दूध पर पानी के छींटे कैसे डाले जाएँ। बोला,

— क्या धूर्जटी ने कहा कुछ?

— वह छुछा क्या कहेगा। मैं तो तुमसे पूछती हूँ कि तुम इस तरह कुँवर [क्वाँरे] बने कब तक बैठे रहोगे?

गोविन्द इस खतरे को बूझ रहा था। बात को हल्का बनाने के ख्याल से वह किंचित जोर से हँस पड़ा कि तभी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल भी आ जाये। जीजा जी को देखकर गोविन्द को लगा कि आज बुरी तरह फँस गये।

पाट पर बैठते हुए पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— कहो पंडित! बहुत दिनों बाद ऐसे आराम से बैठा जा रहा है न?

— जी।

दुर्गा ने पति की चाय को गरमाने के लिए चूल्हे पर रख दिया था। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल दुर्गा से बोले,

— चलो अच्छा हुआ गोविन्द भी आ गया। अब सारी बात पक्की कर डालो।

दुर्गा जिस अबोले ढंग से छन्नी से कप में चाय उड़ेल रही थी उससे गोविन्द को भारी खतरे के संकेत मिलने लगे थे। पति को चाय थमायी जरूर परन्तु बोली नहीं। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को इस अबोलेपन को पढ़ ले जाने में कोई कष्ट नहीं हुआ। चाय के दो-एक घूँट लेने में समय भी कितना लगा होगा परन्तु खासकर गोविन्द को ऐसा लगा कि वह पानी में बहुत देर डुबकी लगाये हुए था और साँस लेने की आवश्यकता हो गयी थी। अतः जैसे ही वह हड़बड़ाकर ऊपर आया तो देखा कि जीजा जी और दीदी बैठे हैं।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल इस मौन से असुविधा अनुभव करते हुए बोले,
— तुम लोग चुप क्यों हो ? तुमने गोविन्द से बात की !
— मैं कौन होती हूँ बात करनेवाली ? आप जानें और यह जाने।
दुर्गा ने जिस भाव से अपने को अलग करते हुए कहा उसमें अनासक्ति नहीं थी बल्कि पूर्ण आसक्ति झलक रही थी।
पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने गोविन्द से पूछा,
— तुम क्यों अपनी दीदी को परेशान किये हो ?
गोविन्द की समझ में नहीं आया कि वह एकदम क्या कहे, बोला,
— दीदी को परेशान ?
— और क्या ? अपना काम-धन्धा ठीक करो, घर-संसार बसाओ तो इस बेचारी की जान छूटे तो यह अपने बाल-बच्चों को देखे-भाले। लॉ कर चुके हो तुम भी, तो क्यों नहीं अपनी प्रैक्टिस शुरू करते ?
— प्रैक्टिस क्या ऐसे चलते हुए शुरू की जाती है ?
— तो जनवासे की चाल से भी तो नहीं की जाती ? जिसके जूनियर बनना चाहो बनवा देते हैं। अब सब काम जल्दी से हो जाने चाहिए। तुम्हारी दीदी के पास कई जगह से तुम्हारे ब्याह के लिए कहा जा रहा है।
— अभी ब्याह कैसा ? अभी तो मैं कुछ कर भी नहीं रहा हूँ।
— तो क्या शहनाई वाले बुलवाएँ ? मुहूरत निकलवाएँ तभी शुरू करोगे ?
इस बात पर वातावरण थोड़ा हल्का हुआ। गोविन्द बोला,
— सोच तो मैं भी रहा हूँ कि कुछ करना चाहिए अब।
— वाह पंडित ! जब कहते हो तत्व की बात कहते हो। हाँ ऽऽ आखिर भाई भी किसके हो ?
दुर्गा बड़ी देर से यह सब सुन रही थी, बोली,
— आप इससे कहिए कि अपने काम-धन्धे की बात यह जाने। इसे वकालत करनी है या और कुछ इससे हमें कुछ नहीं, पर यह मालूम हो जाना चाहिए कि विवाह कब करेगा। यह नहीं कि हम कहीं बात पक्की करें और यह बाद में नट [इंकार] जाए।
इस पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,
— तुम सास भी हो गयीं पर तुम्हें बुद्धि नहीं आयी। अरे, यह गोविन्द कहे हमसे कि उसका विवाह हो जाना चाहिए ? तुमने इसे बता दिया, बस। बात पक्की तुम्हें करनी है इसको नहीं।—क्यों गोविन्द ! ठीक है न ?
— वो ऽऽ जीजा जी ! 'साहब' आये थे न, तो कह रहे थे कि न हो तो मैं धार जाकर उनका आश्रम आदि सम्हाल लूँ।
दुर्गा चूल्हे में आँच तेज करने के लिए लकड़ियों को चूल्हे में ऊँचा-नीचा कर रही थी, गोविन्द की बात सुनकर चौंकी।

— क्या ? तुमको भी बड़दा की तरह यह आश्रम का चक्कर लग गया है क्या ?
  हे राम ! !

और जिस तरह दीवाल से पीठ टिका कर दोनों हाथों में पल्लू थाम सिर पकड़ कर बैठ गयीं उसमें गोविन्द को लगा कि अब दीदी के रोने में देर नहीं है। वह भीतर से असुविधा अनुभव करने लगा।

— मासी माँ से आप नहीं मिली हैं इधर।

— मुझे किसी से नहीं मिलना पर यह तुम याद रखो कि तुम सीधे-सीधे अपना काम-धन्धा सम्हालोगे और घर-गृहस्थी मांडोगे [बसाओगे]—मैं यह सब दुनिया भर की पचायत न तो जानती ही हूँ और न सुनूंगी ही। समझे ?

और पता नहीं कोई चीज लाने के लिए या वितृष्णा के कारण दीदी उठ गयीं परन्तु उनके जाने में यह स्पष्ट लग रहा था कि वह शायद रोने को बचाने के ख्याल से ही उठकर गयी हैं। इसके बाद कुछ भी बात करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं था।

गोविन्द जिस प्रकार की सदाशयी मानसिकता का व्यक्ति था उसमें उसकी कठिनाई यह थी कि एक बार वह अपने मन, अपनी इच्छाओं को तो मार सकता था परन्तु दुर्गा दीदी और श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय 'मासीमाँ' की इच्छाओं और आज्ञाओं का उल्लंघन भी नहीं करना चाहता था। आज वह अपने विगत से बहुत दूर निकल आया था परन्तु वह उस विगत से समय की दृष्टि से भले ही दूर होता जा रहा हो परन्तु स्मृति में वह उत्तरोत्तर नजदीक होता जाता था। कभी किसी ने उससे किंचित भी परायेपन के भाव से व्यवहार नहीं किया परन्तु वह अपने में सदा एक ठण्डापन अनुभव करता। जब तक 'बड़दा' थे तो उसे लगता था कि वह भी अध्यात्म के क्षेत्र में आगे बढ़ेगा लेकिन उनके चले जाने पर वह निपट हो गया। उसी निपटता में पढ़ते हुए एल-एल. बी. भी कर लिया। वह सरकारी नौकरी में भी जा सकता है, प्रैक्टिस भी कर सकता है—पर 'क्या होगा ?' के बिन्दु पर जाकर वह अस्पष्ट हो जाता है। जहाँ तक 'साहब' पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट के धार-आश्रम के सम्हालने की बात है, उसे लेकर वह बहुत उत्साहित नहीं है। अपने भीतर वह ऐ[illegible] आध्यात्मिकता की पुकार भी नहीं पाता कि वह उसी भर को हो जाए। [illegible] बात है और सब कुछ छोड़-छाड़कर उसी भर [illegible] जाना। मासी माँ को यहाँ ऐसे अकेले छोड़[illegible] जाए ? गोविन्द की कोई विशेष आवश्यकता [illegible] है भी

से पूछना तो पड़ेगा ही। लेकिन जिस बात को वह सोचने से भी कतराता है, वह है—विवाह !!—न जाने क्यों उसे इसके बारे में कुछ भी सोचने से उलझन होने लगती है। वह जिस प्रकार आज है, बस वैसा ही रहना चाहता है। वह विवाह करके घर संसार बसा सकता है—यह उसे अपने सन्दर्भ में अप्रासंगिक, गैर जरूरी लगता है। परन्तु क्यों लगता है ? यह वह किसी भी दिन, किसी को भी क्या, स्वयं को ही नहीं स्पष्ट कर सकता। केवल वह नहीं कर सकता, बस। लेकिन यह तो तर्क नहीं हुआ, मात्र भावना है, जिसे दूसरा, चाहे वह दीदी हों या मासीमाँ, क्यों मानने लगेंगी। वे मानें इसके लिए कोई पुष्ट आधार, तर्क दिया जाना चाहिए। वह यह भी जानता है कि जिस क्षण वह दीदी से विवाह न करने के लिए कहेगा उस क्षण वह दीदी के सामने खड़ा नहीं रह सकेगा। वह घिर गये पक्षी सा कमरे की दीवालों से बारम्बार टकराता है और लौट कर उसी शहतीर पर लौट आता है कि मुक्ति का क्या कोई मार्ग नहीं है ? तब इस कमरे में यह प्रकाश का उजाला, हवा का यह बोध कहाँ से, किधर से होकर आया है ?—वस्तुतः वह कोई ऐसा काम नहीं करना चाहता जिससे दीदी को थोड़ी सी भी पीड़ा हो। यद्यपि यह भी जानता है कि कैसा ही निर्णय हो, एक न एक पक्ष को पीड़ा होती ही है। प्रायः लोग पर-पीड़ा की चिन्ता किये बिना अपनी पीड़ा से मुक्त हो जाते हैं। पर गोविन्द न इतना स्वार्थी ही होना चाहता था और न पर-पीड़ा के सामने अपनी इच्छाओं को पूरी तरह होम ही करना चाहता था। ऐसा कोई अतिवादी निर्णय वह ले सकता था यदि उसे सहज जीवन मिला होता। वह प्रायः अपने से जूझता था कि और सहज जीवन या सम्बन्ध क्या होता है ? क्या दीदी के व्यवहार में कभी भी परायेपन का भाव दिखा ? क्या आचार्य-कुल की सम्पत्ति का वह मालिक उसी साधिकार भाव से नहीं बना जैसा कि उस कुल में पैदा होने पर होता ? तब सहजता किसे कहते हैं ? वह हर बार टकराता है, अपने को धिक्कारता भी है कि वह दीदी के सहज स्नेह, आत्मीयता के योग्य नहीं है। यदि वह सोचता है कि वह खुलकर व्यवहार क्यों नहीं कर पाता है ? तो, उसका यह भी तो कारण हो सकता है कि जिस प्रकार माँ की यातना को उसने बचपन में देखा है, पिता को जिस विवश भाव से आचरण करते देखा है उसके कारण उसमें जीवन के प्रति ललक या लालसा रह ही नहीं गयी है। यदि सगी दीदी होती तो भी वह इसी प्रकार भाषाहीन व्यवहार करता होता। वह तो दुर्गा दीदी ने जिस आत्मीयता से उसे लिया वैसा तो सगी दीदी भी नहीं कर सकती थी। बड़दा जिस प्रकार सारी सम्पत्ति उसे दे गये उस पर भी दुर्गा दीदी ने विरोध क्या उत्साह ही दिखाया। परन्तु तब भी उसे लगता कि आद्यन्त सदाशयता भी अनैसर्गिक है। वह आज तक किसी के सामने न तो खुलकर हँस सका, न क्रोध कर सका फलतः न वह कभी रो सका और न प्रसन्न ही हो सका। एक सम्यक मौन, भाषाहीनता के शून्य में भारहीन होकर चलता चला आया। इस प्रकार वह चाहे तो शेष जीवन भर निर्वाक बना जी सकता है और कभी किसी को प्रतीती भी नहीं हो सकती कि गोविन्द जोशी नाम का कोई व्यक्ति भी था। यह एक प्रकार की जड़ता

ही है। चेतन, अपने से तथा परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया करता है, ठण्डापन नहीं अनुभव करता। असंग हो जाने के बाद के ठण्डेपन में और अपने को मार कर ठण्डे हो जाने में गुणात्मक अन्तर है। पहले में विकास की उच्चावस्था है जबकि दूसरे में निषेध से उत्पन्न अनुति है। बड़दा में उच्चावस्था वाला ठण्डापन था जबकि उसमें?—और यह सब सोचते हुए उसे आज पहली बार एक ऐसे कन्धे की आवश्यकता लगी जिस पर सिर रखकर वह रो सके। रोना, जीवन की कितनी बड़ी आवश्यकता, अनिवार्यता है, उसे आज तीव्रता से अनुभव हो रही थी। यद्यपि ऐसी स्थिति उत्पन्न भी हो जाए तो वह शायद ऐसा नहीं कर पाएगा परन्तु उसे अपने भीतर एक झकझोरता अनुभव हो रही थी। गोविन्द ने कभी अपने को अपनी नितान्तता में भी ढीला नहीं छोड़ा होगा। सदा सन्तुलित रहना आज उसे नितान्त अप्राकृतिक, अनैसर्गिक लग रहा था। चौबीसों घण्टे पूरे जीवन वस्त्र-कसे व्यक्तित्व में कैसे एक प्रकार की असहजता, भले ही प्रिय लगने वाली क्यों न हो, आ जाती है जैसे आप किसी व्यक्ति से नहीं पुतले से व्यवहार कर रहे हैं। वह तीव्रता से अनुभव करना चाह रहा था कि एक सहज मनुष्य, व्यक्ति के रूप में धूप, हवा की देह पर सीधे-सीधे झेले। पैरों की राह धरती की सर्दी और गर्मी अनुभव करते हुए फेफड़ों में हवा का भरना, निकलना अनुभव करे जबकि उसे कैसे पहले रोने पर ही नयी बोतल में दूध भर कर उसके मुँह में लगा दी गयी और वह बिना किसी व्यवधान के आज तक चबर-चबर पीता रहा—नहीं, यह गलत है।

सामान्यतः श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय कभी नीचे के कमरों में नहीं आतीं। नीचे जो कुछ भी होता है उसके लिए उनका आदेश और गोविन्द की उपस्थिति ही काफी है। और गोविन्द के कमरे में तो वह शायद ही कभी गयी होंगी। यों तो गोविन्द मासीमाँ के पास बुलाये जाने पर ही जाता है पर अपने से वह प्रायः रात में उस दिन अवश्य जाता है जिस दिन वह दिन भर नहीं गया होता है। इधर जब से वह इन्दौर चला गया था तब से यह क्रम बदल गया था। पहले वह या तो अपने कमरे में पढ़ता रहता था या कभी-कभी ध्यान-पूजन भी किया करता था। जब कभी उसे कुछ हँसने-बोलने की आवश्यकता अनुभव होती तो दीदी के यहाँ चला जाता था। वहाँ बच्चों से बातें करते हुए या दीदी-जीजाजी से बातें करके लौट आता। मासीमाँ के सामने वह सदा ऐसे ही पहुँचता जैसे किसी देव-प्रतिमा के सामने पहुँचा है। बोलने से अधिक तो सुनना होता था। बोलना तो तभी होता जब बहुत घेर लिया जाता। यद्यपि मासीमाँ ने अपनी ओर से सदाशयता के साथ-साथ सौम्य सहजता भी बरती होगी परन्तु न जाने क्यों उसे ऐसा लगता कि जिस सीढ़ी पर वह खड़ा है और जिस सीढ़ी पर मासीमाँ खड़ी हैं, इन दोनों के बीच में कोई सीढ़ी नहीं है—केवल सदाशयता है। जिसे सौम्य—सहजता कहते हैं; वह भी सौम्य अधिक है। और सदाशयता का जहाँ तक प्रश्न है; वह व्यवहार के लिए नहीं होती, शोभा वस्तु होती है।

गोविन्द अपने कमरे में लेटा था। आज वह जिस प्रकार बिस्तरे पर लेटा था वह सामान्य दृष्टि से सहज भले ही हो परन्तु उसके अपने सन्दर्भ में अनैसर्गिक था।

कभी वह रात के अलावा बिस्तरे पर नहीं लेटा होगा। उसे याद नहीं कि कभी उसने खिड़की खोलकर हवा, विस्तार, आकाश खड़े होकर देखे हों। खिड़की के पास ही झूम रही लता में से कभी कोई फूल तोड़कर हथेलियों में उसे भर कर सूंघा हो। वह जानता है कि फूलों में गन्ध होती है, लोग उन्हे सूंघते हैं—पर उसने कभी नही किया होगा। किसी दिन वह पीछे के बाग में नंगे पैरों जाकर भी किसी पक्षी का पीछा करते हुए नही भागा होगा और तब भला जोरों से खिलखिलाया भी नही होगा। एक सम्यक आचरण में नैसर्गिकता के सारे ऊँचे-नीचे कगार, कछार दबे-मुंदे रहे। लेकिन आज उसे लगा कि जैसे वह खूब हँसना चाहता है। किसी को जोरो पर डाटना चाहता है ताकि वह भी है इसे दूसरे तो जानें ही, साथ ही उसे भी लगे कि वह भी उसी तरह है जैसे कि अँगुलियों में शाक-भाजी के झोले के बोझ को अनुभव करता हुआ कोई होता है। सहज होने की यह पुकार उसे अपने भीतर इतनी तीव्रता से अनुभव हो रही थी कि वह बिस्तरे पर औंधे पड़े तकिये को सीने से दबाये पड़ा था। उसे शायद लगा कि यही सबसे अधिक सहज होना होता है और वह उसी तरह पड़ा रहा। आंखें मूंदने पर आँखें कितनी अधिक देखने लगती हैं इसकी प्रतीति उसे खुली आंख से भी नही हो पायी थी। एक-एक बात किलकारी मारती हुई उसके सामने ऐसे घटित होती लग रही थी जैसे वह उस घटना के हर शब्द, गंध को अनुभव कर रहा है। न जाने कब वर्षों पूर्व आम की डाली से उड़ते तोते को देखा होगा। पर आज सहसा इसकी याद आने पर वह हिलती आम की डाली कैसे सजीव ढंग से इस समय हिल रही थी। इस बीच इसकी कोई प्रतीति नही थी तो शायद हिलती भी नही रही होगी, पर अब इस समय उस डाली का हिलना, धूप के विस्तार में डाली का वह हिलना कैसा उभर-उभर आता है। जिजी [दीदी की माँ को वह भी जिजी ही कहा करता था] द्वारा धूप में सुखायी गयी चटख लाल मिरचें कैसे वाचाली वाक्यों सी लगती थीं कि आप उन्हें सुनेंगे कैसे नहीं। बड़दा का खास ढंग से नहाकर गोल-गोल घुमाते हुए अपनी धोती से रगड़ कर जनेऊ सुखाना कितना स्पष्ट दिखलायी दे रहा था। जिजी जब उसे देखती थीं तो लगता था न कि उसे पढ़ रही हैं—वह गोविन्द न होकर रेल पर रखी रामायण है जिसे वह टटोल-टटोल कर पढ़ रही हैं। जिजी का व्यक्तित्व भी कैसा उसे अपने आकुल नदी-व्यक्तित्व के लिए सागरवत प्रशान्त लगता था। यदि ये सब न मिले होते तो ?....वह उसी बड़नगर वाले मकान मे, उसी कमरे में सटे-सटे न जाने कब का पूरा पागल हो गया होता, जिसमें माँ चीखती-चिल्लाती रहती थीं। वह कौन सी बात भूल पाया है ? बीत कर प्रत्येक घटना कितनी अधिक उजागर होती जाती है इसका अनुभव उसे आज जितनी उत्कटता से हो रहा था, वैसा कभी नहीं हुआ। आज तो उसे लग रहा था कि उसके सारे संयम के बाँध अप्राकृतिक थे। कभी वह इस प्रकार हाथ-पैर फैलाकर नहीं सोया होगा। इस समय वह स्मृतियों की बाढ़ में पड़ गया असहाय व्यक्ति था, जो वस्तु बन गया था। उसकी अपनी कार्य-शक्ति का कोई अर्थ नहीं रह गया था—वह तो बस बह रहा था, अबाध गति उसे बहाये ले जा रही थी।

न जाने कैसे उसे सहसा गिरिधर ठक्कर की याद आ गयी । क्या यह गलत है कि लोग समाज में अपने आचरण और भाषा के मुखौश में अपने को निरन्तर प्रस्तुत करने का भाव बनाये रखते हैं ? कोई अपने भीतर किसी को नहीं झाँकने देता । प्रकृति भी कछुए की पीठ कड़ी बनाती है क्योंकि झेलने के लिए कड़ापन चाहिए जबकि वहन करने के लिए कोमलता । पेट सब का कोमल होता है, क्योंकि उसे हमें ही वहन करना होता है । समाज में भी हम एक दूसरे को झेलते ही तो हैं । सफल वही होता है जो जितना कड़ा सिद्ध होता है । गिरिधर ठक्कर भी तो जैसे फूंक-फूंक कर कदम रखने जैसा ही तो बोलते हैं । पर, ठीक भी तो है । किसी को किसी से कोई सरोकार भी तो नहीं है। जब सबको पानी पर ही चलना है तो कौन किसका हाथ थामे ? डूबने के बिन्दु पर ही जब सब खड़े हुए हों, जब सब विभाजित भूमि की दरार पर खड़े हों तो कौन-किसको क्या आश्वस्ति दे सकता है ? और उस आश्वस्ति का क्या अर्थ ही है ? केवल अन-पेक्षित होकर ही रहा जा सकता है । स्वयं गिरिधर ठक्कर क्या वैयक्तिक जीवन के हाहाकार पर नहीं खड़े हैं ? हमे यह भले ही लगे कि वह हमसे अपेक्षाकृत सुखी हैं, सुरक्षित हैं परन्तु किसी दिन उस सामनेवाली की आँख से देखो कि वह आपकी आँखों में क्या पाने के लिए देख रहा है ? कैसी लालसा की यह दौड़ है—संसार, कि सब दु:खी, अपने अतिरिक्त सब को सुखी मानकर लोगों को दु:खी बनाने की चेष्टा में रत हैं । न निरपेक्ष मिलते हैं, न होते हैं—लेकिन उसे लगा कि वह बहुत-कुछ कटु सोच गया, जबकि क्या दीदी ऐसी हैं जीजाजी ऐसे हैं ? मासीमाँ ऐसी हैं ? संभव है ये या इन जैसे लोग अपवाद हों पर सामान्यत: तो ऐसा नहीं है । नहीं तो क्या ऐसा होता कि गर्मी से परेशान हम खस के भीगे पर्दे से अपने को हवा करते हुए घर के भीतर भी बेचैन हैं परन्तु तपती सड़क पर लू में झुलसती लकड़ी का भार ढोती स्त्री को देखकर कभी हमारे मन में यह नहीं आता कि इसे कहें कि लाओ हमें दे दो यह बोझा। हमें अपनी बेचैनी भी स्वाभाविक लगती है और उसका तपती सड़क पर झुलसे पैरों चलना भी नैसर्गिक लगता है—और मजा यह है कि हम संसार के लिए ये या इस प्रकार की सभी विरोधी बातों को अनिवार्य मानते हैं । अमानवीयता का यह दर्शन हमें अनुचित भी नहीं लगता ।

गोविन्द शायद यही सब सोचते-सोचते हल्के से झपक गया था कि तभी उसे सुनायी दिया,

— गोविन्द !!

नींद के वह पतले जल में ही था तभी तो आवाज का स्पर्श उसने अनुभव किया और चौंका कि इस तरह किसने पुकारा क्योंकि स्पर्श जैसे सम्बोधन से तो केवल मासीमाँ ही पुकारती हैं । और वह तो अपने कमरे में था, तब भला यहाँ उनका पुकारना कैसे सुनायी पड़ सकता था ? कमरे मे लाइट जल रही थी । खिड़की से रात का खुला आकाश दिखलायी दे रहा था । जिस समय वह लेटा था उस समय आकाश निरभ्र था । दो-ही चार तारे उगे हुए थे, खुली खिड़की के कारण जो हवा थी वह ठण्डी थी

अतः बहुत सुखद लग रहा था।

जैसे ही उसने आवाज सुनी और समझी तो वह हड़बड़ा कर उठ बैठा। वह जिस अस्त-व्यस्त तरीके से बिस्तरे पर पड़ा था उसके कारण स्वयं उसे भी असुविधा हुई, खासकर तब अधिक जब कमरे के दरवाजे में मासीमाँ खड़ी थीं। उसे विश्वास भी नहीं हो रहा था कि—मासीमाँ उसके कमरे तक भी आ सकती हैं। तो, क्या कोई खास बात है ?

वह स्वस्थ होने के लिए पलँग से उतरते हुए बिखरी भाषा को बटोरते हुए भाव से बोला,

— जी ?....आप ?

उसकी आँखें, अपने देखे हुए को ठीक से पहचान पाने में लगी लग रही थीं। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने कमरे में प्रवेश करते हुए कहा,

—क्या बात है ? इतने जल्द तो तुम नहीं सोते, क्या तबीयत ठीक नहीं है ?

— नहीं तो, बस, ऐसे ही।

गोविन्द की समस्या थी कि मासीमाँ को न बैठने के लिए कहा जा सकता था और न ही बराबर खड़े रहकर बातचीत की जा सकती थी। शायद वह गोविन्द की अड़चन समझ ले गयी थीं इसलिए बोलीं,

— मैंने पुछवाया, तो मालूम हुआ कि....

— कोई बात थी क्या ?

— क्या बिना किसी बात के घर के व्यक्ति की याद नहीं आती ?—आओ, ऊपर चलो।

और वह कमरे से निकल गयीं। गोविन्द भी लगभग उनके पीछे-पीछे ही ऊपर पहुँचा। जिन दिनों वह यहाँ आया था तब बिजली नहीं थी। बड़ा सा लैम्प जलता था। अंधकार ज्यादा और प्रकाश कम का ऐसा रहस्य लगा करता था जैसे आप मध्यकाल में पहुँच गये हो। उस सारे वातावरण और परिवेश को मध्ययुगीन भाषा देता सा मासीमाँ का उत्कीर्णित व्यक्तित्व ऐसा लगता था जैसे हाथी दाँत की किसी ने प्रतिमा उस बड़े से दीवान पर प्रतिष्ठित कर दी है। पहले दिन से ही गोविन्द को लगने लगा था कि अधिक बोलना, अधिक छूने जैसा होगा और ऐसे धुले स्नानित व्यक्तित्व को यदि आप अधिक उजला नहीं सकते तो कम से कम छूकर गन्दा तो नहीं ही करें। उन दिनों के प्रकाश में छत अपनी विशालता समेट और ऊँची हो जाया करती थी परन्तु जब से बिजली आ गयी थी तब से दीवालों, छतों की सही-सही ऊँचाई दिखायी देती रहती। उन दिनों की मासीमाँ का प्रतिमात्व अब मानवीय रूप में सुनायी भी पड़ता था। ऐसा नहीं कि तब वह नहीं बोलतीं थीं, पर तब ऐसा लगता था कि जैसे आकाशवाणी हो रही है और अब क्रमशः सम्बोधन जैसा भी लगता था। पहले के देखने पर आप केवल बीच के पड़ाव लगते थे पर अब उनका देखना आप ही के लिए होकर आप तक ही रहता भी था इसलिए उनकी उपस्थिति भी अनुभव होती

जबकि पहले आप अपने को उनके सामने उपस्थित करते होते थे, क्योंकि वह तो वहाँ सनातन से जैसे थीं ही।

सामान्यतः गोविन्द दो-चार बातें करके लौट जाता रहा है इसलिए बैठने के बारे में कभी याद नहीं पड़ता। हो सकता है और लोगों के साथ वह भी एक श्रोता के रूप में रहा हो।

— आओ, बैठो।

अपने पास दीवान पर जगह बनाते हुए ऐसे कहा जैसे वहाँ जगह नहीं थी परन्तु उन्होंने जगह बना दी। जब वह यहाँ सात-आठ वर्ष पूर्व आया था तब मासीमाँ में वार्धक्य की नहीं वैधव्य की प्रतीति थी पर अब वार्धक्य के भी आगे की दूरागत ध्वनि, आभास मिलने लगा था। गाल किंचित लटकने जैसे लगने लगे थे। आँखों के नीचे चमड़ी थोड़ी झूलने लगी थी तथा पतली सी झाँई भी दिखने लगी थी। बड़ी आँखों में निश्चित ही बड़ी मापा थी परन्तु आँखों में डूबापन पहले से ज्यादा आ चला था। लेकिन पतले ओठ अभी भी पहले की ही भाँति, होने से अधिक पहने से लगते थे। लेकिन वृद्ध होने की प्रतीती कलाइयों के एकदम गोल हो जाने से मांस में एक प्रकार से जल के भरेपन से ज्यादा होने लगी थी। कुहनी के वहाँ मांस की गुठलियाँ दिखने लगी थी जिससे कुल मिलाकर गरिमापूर्ण वार्धक्य का ही भाव मिलता था। शायद स्त्री मात्र के व्यक्तित्व का छन्द उसका वह हाथ होता है जो रह-रह कर सिर का आँचल ठीक करता चलता है। बिना इस छन्द के स्त्री, स्त्री नहीं होती।

गोविन्द को असमंजस जो भी रहा हो पर जिस मातृभाव से मासीमाँ ने दीवान की चादर की सलवटें लीपने की शैली में साफ करते हुए जगह बनायी थी उस पर न बैठने का प्रश्न ही नहीं था। उस स्थान पर रखा उनका हाथ गोविन्द को जैसे देख रहा था कि, बैठते क्यों नहीं? अपने को रखने के रूप में वह बैठ गया।

— गोविन्द! किसी निर्णय पर पहुँचे?

— प्रैक्टिस के बारे में?

— हाँ, प्रैक्टिस है, और सब चाहते हैं कि तुम्हारा विवाह जल्द से जल्द हो जाना चाहिए। ठीक भी है। काम अपने समय पर ही होना चाहिए।

— मैं तो अभी प्रैक्टिस के बारे में भी ठीक से नहीं सोच पा रहा हूँ।

— क्यों? क्या कठिनाई है?

— नहीं कठिनाई की बात नहीं है....दर असल मासी माँ! मुझे उसकी उपयोगिता कुछ नहीं दिखलायी देती।

— तो और किसी बात में दिखती है? जब लॉ किया है तो फिर मजिस्ट्रेटी में चले जाओ।

— हाँ ऽऽ जाया जा सकता है।

— तो, ऐसे बुझे मन से क्यों कह रहे हो? ये सारे निर्णय तो तुम्हें स्वयं करने होंगे। मैं चाहती हूँ इस वर्ष जाड़ों में नहीं तो अगले वर्ष तक तुम्हारा लग्न भी हो जाए,

तो फिर आगे के बारे में रास्ता निकले।

— मैं शायद बाधा हूँ....

— देखो, बुरा मत मानना। अभी तुम्हें जीवन का कोई अनुभव नहीं है। हमारे लिए तो तुम वैसे भी हमेशा बच्चे ही रहोगे। हम लोगों के सामने तुम्हारा घर बस जाए तो हमें प्रसन्नता नहीं होगी ?

— मासी माँ ! आपके सामने मैं कभी इतना नहीं बोला हूँगा....

— बेटे को माँ के सामने बोलना चाहिए, यह मैंने कितना चाहा होगा परन्तु मैं जानती हूँ कि तुम्हारे व्यक्तित्व में ठण्डापन इतना भिदा हुआ है कि बिना उसके दूर हुए तुम कभी एक व्यक्ति, सहज पुरुष के रूप में नहीं व्यवहार कर सकते। मैं तुम्हारी उस आरम्भिक मानसिक संरचना को समझ सकती हूँ गोविन्द !....यह तो ठीक है कि माँ का स्थान कोई अन्य सम्बन्ध, कोई अन्य स्त्री नहीं ग्रहण कर सकती क्योंकि सन्तान को अपने में से अवतरित करना पड़ता है परन्तु तब भी तुमने अपने सुशील व्यवहार से मेरे मन में ममता जगायी है, इसमें तुम्हारे 'बड़दा' का भी हाथ रहा है तथा तुम्हारी दुर्गा दीदी का भी योग है।... मैं उस सब की कल्पना कर सकती हूँ जो तुम्हारे साथ घटित हुआ है। भोक्ता तो नहीं हूँ पर जो व्यक्ति उन स्थितियों को अनुभव कर सकता है वह सहभोक्ता जैसा तो होता ही है। तुम उन दिनों अबोध तो नहीं थे जब अपनी माँ की विभीषिका को देखा था, पिता की विवशता और उसके बाद पितृहीन मनःस्थिति में तुमने जिस शून्य को अनुभव किया होगा उसे भोगना चाहे कठिन रहा हो पर उसे सोचना कठिन नहीं है। परन्तु एक अर्थ में तुम अत्यन्त भाग्यशाली भी रहे हो कि जो तुम्हें खोना पड़ा उससे कहीं अधिक तुम्हें भगवान ने दिया और यह भी सबके सन्तोष की बात है कि तुम सर्वथा योग्य भी निकले। मैं समझती हूँ कि आज तुम्हारे बड़दा होते तो वह प्रसन्न तो होते ही साथ ही तुम्हें आदेश दे सकते थे कि तुम्हें क्या करना है।

गोविन्द ने आज पहली बार मासीमाँ को अपने बारे में इतने विस्तार में और पूरी भावामयता के साथ बोलते सुना तो उसे लगा कि भाषा किस प्रकार व्यक्ति को व्यक्ति के निकट पहुँचाती है। मासीमाँ एक औपचारिक व्यक्ति या सम्बोधन न लग कर वह स्त्री लग रही थीं जिसकी साड़ी घर-आँगन के तार पर सूखती होती है और जो हवा मे उड़ते हुए आते-जाते में आपके मुँह पर आ-आ जाती है।

गोविन्द ने शायद पहली बार मासीमाँ को इस तरह भर आँख देखा जैसा कि किसी को देखना चाहिए। वैसे मासीमाँ को वर्षों से वह देखता आ रहा है परन्तु आज वही मासीमाँ, शैशव के दिनों का वह चम्पावृक्ष लग रही थीं जिसकी नंगी झुकी डालियों पर बच्चे होने पर भी सपाटे से चढ़ जाते थे और कूदा करते थे। ऐसे कूदने में धमाका जरूर लगता था पर चोट कभी नहीं लगती थी। मासीमाँ भी बाँहें पसारे चम्पावृक्ष लग रही थीं। उसके देखने में एक वाक्य था जिसे केवल स्त्री का मातृत्व ही पढ़ता है।

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने पहली बार गोविन्द का हाथ इतनी आत्मीयता से गहा कि गोविन्द के मन की रही सही गाँठ भी गल गयी। शायद दोनों की ही आँखें छल-छला आयीं।

— मासीमाँ !

आँखों से भी सुना जाता है यह गोविन्द ने पहलीबार देखा।

— शायद मैं अब निर्णय कर सकने की मनःस्थिति में आ सकूँगा।

— हाँ, गोविन्द ! मनुष्य को केवल आयु से ही नहीं अपने संकल्प से भी पुरुष बनना चाहिए। तुम्हें याद है जब दादा [साहब, पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट] ने तुम्हें बाहर रहने के लिए कहा था तब मैंने कुछ नहीं कहा था क्योंकि मैं जानती हूँ कि मनुष्य को जीवन, वैराग्य से नहीं आरम्भ करना चाहिए वर्ना अन्त उसका बहुत बुरे तरह की सांसारिकता में होता है। वैराग्य परिणति तो है पर आरम्भ नहीं। वे विरल ही होते हैं, तुम्हारे बड़दा की भाँति कि जिनके लिए कोई परिभाषा कोई प्रतिमान कुछ नहीं होता क्योंकि ऐसे लोग स्वयं अपना ही उदाहरण होते हैं।.... मैं चाहती हूँ कि तुम एक निर्णय लो और अपने बड़दा की जो भी तुमसे अपेक्षाएँ रही हों उन्हें पूर्ण करो।

और दोनों जिस आत्मीय भाव से अलग हुए वैसी निकटता पहले कभी नहीं थी, कहना तो गलत होगा पर अनुभव शायद गोविन्द को और मासीमाँ को भी, आज ही हुई। जब आत्मीयता भाषा में अभिव्यक्त हो जाती है तब वह देह से भी, इन्द्रियों से भी व्यक्त होने लगती है। कल तक हम यहीं चलना करते थे पर आज हमें अपना ही चलना ऐसा लगने लगता है कि हम घर चल रहे हैं, घर की आत्मीयता चल रहे हैं, सम्बन्ध की ऊष्मा चल रहे हैं। जाते हुए गोविन्द को टोकते हुए श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय बोलीं,

— सुनो, दुर्गा कुछ बता रही थी कि वह तुम्हारे लिए कहीं बातें चला रही है....तो...

गोविन्द सुनने को जो रुका था वह साधिकार भाव से मासीमाँ की बात को अधूरा ही छोड़कर जिस प्रकार गया उसमें पुत्रवत भाव था, अवज्ञा नहीं थी। गोविन्द की शायद पीठ को सुनाते हुए वह स्वतः से ही बोलीं,

— पगला, कहीं का। लड़के सब ऐसे ही होते हैं।

वैसे तो धूर्जटी के विवाह की बात कई दिनों से कई जगह चल रही थी परन्तु अनायास देवास के पास नेवरी गाँव के मालगुजार (जमींदार) पण्डित भानुशंकर द्विवेदी की पुत्री शारदा के साथ तय हुई। पण्डित भानुशंकर द्विवेदी, बसन्त-पंचमी पर उज्जैन आये और आशीर्वाद (तिलक) की रस्म ही नहीं कर गये बल्कि वैशाख के लग्न भी तय हो गये। हालाँकि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा दोनों को ही बहुत संकोच था कि अभी गोविन्द का सम्बन्ध कहीं तय नहीं हुआ था। मामा कुँआरा ही बैठा रहे और भानजे का विवाह हो जाय तो दुनिया क्या कहेगी? दुर्गा बहुत खिसियायी थी, परन्तु गोविन्द बस टालमटूल ही करता रहा। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने भी चाहा कि गोविन्द का सम्बन्ध कहीं जल्दी से तय हो जाए पर उन्हें लगा कि अब जब गोविन्द ने प्रैक्टिस करना शुरू कर दिया है तो आगे-पीछे विवाह भी कर लेगा। ज्यादा जोर देने से कोई लाभ नहीं था।

धूर्जटी के भावी ससुर पण्डित भानुशंकर द्विवेदी को भगवान ने बहुत कुछ दिया था तो बहुत-कुछ ले भी लिया था। द्विवेदी परिवार सम्पन्न परिवारों में से था। पण्डित भानुशंकर द्विवेदी के पिता, पण्डित उमाशंकर द्विवेदी किसी जमाने में इन्दौर के सेठ हाल्या-काल्या के पुरोहित भी थे और मुनीम भी थे। जब सेठ के बुरे दिन आये तो उन्होंने पण्डित उमाशंकर द्विवेदी को उनकी सेवाओं के बदले नेवरी की काश्त और जमींदारी नाममात्र की कीमत पर दे दी और इस प्रकार पण्डित उमाशंकर द्विवेदी एक बड़े काश्त-कार के साथ-साथ जमींदार भी हो गये। धीरे-धीरे अपने पुरुषार्थ से समृद्धि और सम्पन्नता भी अर्जित की। उन्होंने अपने तीनों लड़कों—विष्णुशंकर, भानुशंकर और करुणाशंकर को अपने सामने ही सारी सम्पत्ति का हिस्सा-बाँट कर दिया ताकि उनके बाद आपस में कोई कोर्ट-कचहरी न हो। परन्तु जब मनुष्य सबसे अधिक सुरक्षा,

सुविधा और सुख का प्रबन्ध करने लगता है तब उसकी चेष्टा में से ही असुरक्षा के
दुःख जन्म लेते हैं। उनके बड़े लड़के पण्डित विष्णुशंकर का विवाह हुशंगाबाद
पण्डित मणिभाई त्रिवेदी की एकमात्र लड़की सरयू से हुआ था। पण्डित मणिभाई त्रिवेदी
रेलवे की ठेकेदारी भी करते थे और विन्ध्या-सतपुड़ा के जंगलों में लकड़ी का अच्छा-
खासा कारोबार था। चूँकि पण्डित मणिभाई त्रिवेदी की पत्नी तो नहीं ही थीं साथ ही
सन्तान के नाम पर एकमात्र सरयू ही थी, अतः श्रीमती सरयू देवी द्विवेदी ने अपने पति
पण्डित विष्णुशंकर द्विवेदी को घर-जमाई बनकर हुशंगाबाद में ही बसने के लिए राज़ी
कर लिया। पण्डित विष्णुशंकर द्विवेदी जानते थे कि पिता कभी इस बात पर राज़ी नहीं
होंगे इसलिए अपने ससुर की सहायता से पण्डित विष्णुशंकर द्विवेदी ने नेवरी की अपनी
सारी सम्पत्ति गुपचुप बेच दी और एक दिन हमेशा के लिए हुशंगाबाद चले गये। पिता
पण्डित उमाशंकर द्विवेदी को जब इसके बारे में मालूम हुआ तो, बिगड़े तो बहुत, पर
कर क्या सकते थे? बस, कसमसा कर रह गये। छोटा लड़का करुणाशंकर जन्म से ही
आवारा था परन्तु सन्तोष इतना ही था कि उसकी पत्नी सुशीला बहुत ही सुशील थी।
पति जितना उद्दण्ड, दुष्ट और चरित्रहीन था, पत्नी इसके विपरीत थी परन्तु अपने पति
के कारण वह घोर दुःखी रहती थी। गनीमत यही थी कि उसने अपने एकमात्र पुत्र
कृष्णशंकर को अपने मायके रतलाम भेज दिया था, जहाँ कि वह पढ़ रहा था। अपने
पति पर अंकुश लगा सकना श्रीमती सुशीला देवी द्विवेदी के बूते में नहीं था। पण्डित
करुणाशंकर द्विवेदी की यह उच्छृंखल चरित्रहीनता एक दिन रंग लाकर रही। पण्डित
उमाशंकर द्विवेदी सवेरे-सवेरे खेतों से लौटकर कुएँ की जगत पर बैठे हुए दतौन कर ही
रहे थे कि गाँव के नम्बरदार ने हाँफते हुए उन्हें समाचार दिया कि नेवरी-सोनकच्छ
के बीच के नाले के पास करुणाशंकर की लाश पड़ी हुई है। सुनकर उनके होश उड़ गये।
वह जानते थे कि करुणाशंकर चरित्रहीन है पर एक चमारिन के साथ रंगे हाथों पकड़ा
जाएगा और मार डाला जाएगा इसकी कल्पना ही नहीं थी। पिता को तो इतना सदमा
पहुँचा कि वह भी एक महीने में चलते बने। पत्नी श्रीमती सुशीला देवी द्विवेदी को जब
ससुर की भी छाया नहीं रही तो जेठानी श्रीमती अन्नपूर्णा देवी द्विवेदी की 'कृपा' से वह
मायके जाने के लिए विवश हो गयीं। दो-एक वर्ष तक तो अपनी खेती-बाड़ी और
जमींदारी कभी खुद आकर तो कभी अपने भाइयों को भेजकर देखती-सम्हालती रहीं
परन्तु संदेसे से तो खेती होती नहीं अतः श्रीमती सुशीला देवी द्विवेदी अन्त में सब कुछ
बेच-बाच कर रतलाम में ही बस गयीं।

नेवरी में द्विवेदी-परिवार के नाम पर अब पण्डित भानुशंकर द्विवेदी ही बच रहे
थे। पिता के सहसा उठ जाने और भाइयों के न रहने पर वह दुःखी तो बहुत हुए पर
कर ही क्या सकते थे? उनका वैसे तो सब ठीक ही चल रहा था। खेती-बाड़ी, कारो-
बार, पैदावार सब ठीक थे। सन्तानें तो कई हुईं परन्तु केवल एक लड़की, शारदा ही बची,
जो कि आकृति से पिता पर थी, पर गुणों में वह सौ प्रतिशत माँ पर थी। उनकी पत्नी
श्रीमती अन्नपूर्णा देवी द्विवेदी और उनमें जमीन-आसमान का फ़र्क था। वे दोनों बिल्कुल

के भी विपरीत थे। वह जितने मृदुभाषी, शान्त और गम्भीर थे, पत्नी सर्वथा विपरीत थी। यदि श्रीमती अन्नपूर्णा देवी द्विवेदी ने अपनी देवरानी के साथ थोड़ी सी भी मान-वीयता, आत्मीयता बरती होती तो देवरानी कभी यहाँ से नहीं जाती। जब तक देवर पण्डित करुणाशंकर द्विवेदी थे तो भाभी की देवर के सामने ज्यादा नहीं चल पाती थी परन्तु पति की मृत्यु के बाद श्रीमती सुशीला देवी द्विवेदी एकदम निरीह पड़ गयीं तो जेठानी श्रीमती अन्नपूर्णा देवी द्विवेदी ने उनका जीना हराम कर दिया।

जब केवल श्रीमती अन्नपूर्णा देवी द्विवेदी अकेली रह गयीं तो उनका ध्यान गया ... शारदा तो बड़ी हो गयी है, इसके लिए वर खोजना चाहिए। वह दमे की असाध्य ...ी थी और कभी-कभी ऐसा लगता था कि अबकी बार उखड़ी साँस नहीं लौटेगी। उन्हे ... चिन्ता थी कि उनके सामने शारदा का विवाह नहीं हुआ तो क्या होगा? और पत्नी के हाय-हाय मचाने का नतीजा यह हुआ कि चारों ओर दौड़-भाग करने के बाद पण्डित भानुशंकर द्विवेदी वसन्त-पंचमी पर तिलक के साथ-साथ विवाह को भी तय कर आये। कल तक श्रीमती अन्नपूर्णा देवी द्विवेदी को बराबर लगता था, जब तक शारदा की बात पक्की नहीं हुई, कि शारदा की बात पक्की इसलिए नहीं हो पा रही है कि हुशंगाबाद वाली जेठानी और रतलाम वाली देवरानी जाति में उन्हें चारों ओर बदनाम करती फिरती हैं, लेकिन जब उज्जैन के शुक्ल परिवार के बड़े लड़के धूर्जटी शुक्ल से बात पक्की हो गयी तो उनके पैर धरती पर नहीं पड़ने लगे।

वैसे तो शुक्ल-परिवार में एक वर्ष में यह दूसरा विवाह था परन्तु लड़के का तो पहला विवाह था, जिसमें पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को बरात लेकर किसी के द्वार जाना था। बरात दो हिस्सों में जानी थी। देवास तक बस से जाना था और देवास से नेवरी, जो कि दस-बारह मील का कच्चा रास्ता था, बैलगाड़ियों में जाना था, जिसका प्रबन्ध द्विवेदी जी महाराज को करना था।

कुन्ती के विवाह के समय दूसरे तरह की व्यस्तता थी। दान-दहेज के सामान के लिए भाग-दौड़ हुई थी उसमें और धूर्जटी के विवाह के समय होने वाली भाग-दौड़ में अन्तर था। दामाद, डाक्टर माधव मेहता का आग्रह था कि वर की भूषा के लिए ...ने ही कुरता-धोती रहे परन्तु, बड़दा [चूँकि धूर्जटी को कुन्ती यही कहती थी इसलिए माधव भी उन्हें यही कहते थे] को बदलते हुए युग के अनुसार कपड़े पहनने चाहिए।

इन्दौर छावनी के जिस 'मैकेंजी-टेलर्स' से सारे बड़े लोग सूट सिलवाते थे उससे घूर्जटी का सूट सिलवाया गया। लोगों ने कहा भी कि गर्मियों में सूट का क्या होगा तो माधव ने फतवा दे दिया कि सूट पहना दो, पंखा हम लोग करते चलेंगे। घर भर के बड़े-छोटे सब के एक से एक कपड़े बने और कीमती से कीमती जूते पहने गये। वर-वेष के लिए सूरत की सिल्क के कुरते बने और चौड़े किनारे की धोतियाँ खरीदी गयीं। लड़कों की जिद और 'जीजाजी' की शह पर लड़कों के 'अंग्रेजी फैशन' के बाल पहली बार कटवाये गये। वैसे तो विवाह पारिवारिक और जाति का ही आयोजन होता है परन्तु पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के अपने सामाजिक व्यवहार, घूर्जटी के अपने पेशे के लोग भी बरात में जाने को तैयार थे। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के सामने समस्या थी कि किसे ले जाएँ और किसे नहीं ? समझौता इसी बात पर हुआ कि घूर्जटी के जो आत्मीय मित्र हों उनमें से कुछ चले चलें बाकी विवाह के बाद एक स्वागत-समारोह में सबको बुलाकर भोज दे दिया जाएगा। सबको ले जाने का मतलब तो चार सौ-पाँच सौ आदमियों की बरात हो जाती। बाहर से आने वाले कुछ सगा-सोइयों को लिख दिया गया कि वे सीधे देवास ही पहुँचें और इस तरह जब बरात उज्जैन से चली तब भी करीब सौ आदमी तो हो ही गये।

देवास में पण्डित भानुशंकर द्विवेदी की ओर से उनके बड़े भाई पण्डित विष्णुशंकर द्विवेदी ने बरात का स्वागत किया। देवास में बाहर के आये नाते-रिश्तेदारों, सगा-सोइयों के कारण न चाहते हुए भी बरात लगभग दो सौ आदमियों की तो हो ही गयी। पण्डित विष्णुशंकर के दोनों पुत्र यमुनाशंकर और किरणशंकर बरात के आगत-स्वागत में लगे थे तो स्वर्गीय पण्डित करुणाशंकर का एकमात्र पुत्र कृष्णशंकर देवास से बाजे वालों, गैस वालों, शामियाने वालों को नेवरी भेजने में लगा था। वैसे तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने कह दिया था कि इस विवाह में वेश्याओं का नाच-मुजरा नहीं होगा और पण्डित भानुशंकर द्विवेदी भी नहीं चाहते थे परन्तु श्रीमती अन्नपूर्णा देवी इस बात पर अड़ी थीं कि कौन उनके दरवाजे दस-पाँच बरातें आनी हैं या विवाह होने हैं ? दूसरे, ब्राह्मण हैं तो क्या, कहीं जमींदार भी तो हैं। जमींदारों के घर का विवाह जमींदारों के ठस्के से होना चाहिए। शुक्ल जी महाराज शुद्ध पण्डे हैं तो हुआ करें। उन्होंने अपनी लड़की के विवाह में नहीं किया तो हम क्या करें ? हमारे दरवाजे जब आस-पास के ठाकुर, मालगुजार, पटेल, अफसर आएँगे और नाच-मुजरा भी न होगा तो क्या कहेंगे ? एक ही एक लड़की का विवाह—और उसमें भी कोई राग-रंग न हो तो फिर किस दिन के लिए यह सम्पत्ति जमा की ?—और श्रीमती अन्नपूर्णा देवी द्विवेदी ने अपने एक भाई को भोपाल भेजकर वहाँ से चार रण्डियाँ बुलवायीं। चूँकि गाँव में इतनी बड़ी बरात ठहरने के लिए कोई इतना बड़ा स्थान हो ही नहीं सकता था इसलिए गाँव के बाहर की अमराई में कनातें, छोलदारियाँ, तम्बू आदि से बरातियों के ठहरने का बहुत बढ़िया प्रबन्ध किया गया। पचासों गैसों का भी प्रबन्ध था, साथ ही बीसियों मशालची भी थे। अमराई से दूर बाजेवालों, रण्डियों, नौकरों-चाकरों को

ठहराया जाना था। खाने-पीने का सारा प्रबन्ध द्विवेदी-परिवार की हवेली जैसे बड़े से मकान से सटे मैदान में टीन का घेरा बनाकर भट्ठियां खोदकर किया गया था। अपने रसूख के कारण देवास से पानी छींटने वाली गाड़ियाँ मँगवा ली गयी थीं। पण्डित भानुशंकर द्विवेदी से कहीं ज्यादा चिन्ता और उत्सुकता श्रीमती अन्नपूर्णा देवी द्विवेदी को थी कि समधी, समधियाने के लोग, बराती तथा स्वयं उनके जेठ-जेठानी और दूसरे सारे नाते-रिश्तेदार देखें कि नेवरी जैसे गांव-खेड़े से भी कैसी शान से विवाह किया गया। लग रहा था कि जैसे अपनी सारी जमा-जथा लुटा देने पर तुली हैं।

घरातियों की ओर से पण्डित विष्णुशंकर द्विवेदी ने पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल से पूछ लिया कि वह देवास से किस समय चलना चाहेंगे। चूंकि गर्मियां थी अतः सोचा गया कि सवेरे-सवेरे अगर चल पड़ें तो दस ग्यारह तक नेवरी पहुँच जाएंगे तो लोग गर्मी से बच जाएंगे। कुछ की राय तो हुई कि देवास से ही खा-पीकर चला जाए, नेवरी दूर ही कितनी है? परन्तु यही उचित समझा गया कि इतनी बड़ी बरात समय से थोड़े पहले ही पहुँच जाए तो सबको सुविधा होगी। बरात के बड़े होने पर किसी ने मजाक भी कर दिया कि बरात की पहली गाड़ी नेवरी भी पहुँच जाएगी और अन्तिम गाड़ी की देवास से चलने की नौबत भी नहीं आएगी। और सच मे जब बीसियों दम-नियों-गाड़ियों में बरात जब चली तो राह चलने वालों को लगा कि यह कोई बरात नहीं बल्कि कोई फौज फाटा है। किसी भी बरात में सबसे अधिक उत्साह बच्चों में होता है। वर के मित्रों और साथियों को अच्छे कपड़ो, शान-शौकत, ताश और गाने-बजाने से ही फुर्सत नहीं होती। कौन उनके बारे में क्या सोचता है इसकी उन्हें चिन्ता नहीं होती। नाते-रिश्तेदारों को सम्बन्ध की निकटता और दूरी के अनुरूप अपनी सामाजिकता का ध्यान रखना पड़ता है। जो बहुत निकट के मामा, मासा, फूफा, दामाद या बहनोई होते हैं उनके मिजाज, तेवर का ध्यान वर-पक्ष के लोगों को तो रखना ही पड़ता है परन्तु वधु-पक्ष को भी इनसे व्यवहार, आगत-स्वागत, बिदा के समय के लेन-देन में खास ध्यान रखना पड़ता है। यदि किसी कारण वश कोई अनजाने में भी अवमानना हो गयी, तो बस समझिए प्रलय ही आ गया। पर गनीमत यही हुई कि रास्ते में सब ठीक-ठाक ही रहा। नेवरी के रास्ते में जब भी कोई अमराई पड़ती तो जवान लड़के गाड़ियों से कूद-कूद कर नीचे पड़ी सागें, केरियाँ बीनने लगते। कुछ पत्थर चला कर आम भी तोड़ने लगते। और दांतों में खट्टा-मिट्ठापन अनुभव करते आखिरकार बरात नेवरी पहुँच ही गयी।

वैसे किसी को इतने अच्छे प्रबन्ध की आशा नहीं थी कि गाँव-खेड़े में ऐसा आतिथ्य होगा। प्रायः बरातों में लोगों को एक न एक बात की शिकायत रहती ही है परन्तु पण्डित भानुशंकर द्विवेदी ने अपनी ओर से हर बात का प्रबन्ध कर रखा था। लोग चाहें तो पास की ही बावड़ी में तैर कर नहायें या चलती चड़स [मोठ] के पानी से नहायें। भला इतनी पक्की बावड़ी में कौन नहीं तैरना चाहेगा? और जितने भी युवक थे उन्होंने जो तीसरे प्रहर से नहाना शुरू किया तो जब तक टोका नहीं गया कि

बरात का टाइम हो गया है, लोग नहाते ही रहे। बूढ़े लोग बरात के पूर्व की रस्म में लगे रहे। बच्चों को इतने खुले में तरह-तरह के खेलों से ही फुर्सत नहीं थी।

उस गाँव-खेड़े में वर की शोभा यात्रा क्या निकलनी थी, केवल रस्म पूरी करनी थी। गोरज के लग्न के बाद पूरे शास्त्रोक्त तरीके से जाति गोत्र भी—नमः पार्वतीपते हर हर महादेव !! मोर-मुकुट वंशी वाले की जय !! सीताकान्तस्मरण जय जय राम !! की जय कार के साथ आरम्भ हुआ। रँगोली, अगरवत्तियों की सुगन्ध, पान-सुपारी व दक्षिणा, भाल पर चन्दन का तिलक, ब्रह्मार्पण—किसी चीज की कोई कमी नहीं थी। भोजन के बाद जब लोग लौटे तो फिर पूरी रात वेश्याओं का नाच-मुजरा चलता रहा। गैस की रोशनी में वेश्याओं की महफिली भूषा, आमंत्रण देते हाव भाव, सारंगियों की अदाकारी और पिशवाज पर बँधे घुंघरुओं में बराती रात भर ऐसे डूबे रहे कि कब भोर का तारा उग आया पता ही नहीं चला। यद्यपि कुछ लोगों को इस सबसे घोर वितृष्णा हुई कि ब्राह्मणों के विवाह में ठाकुरों वाली छौंक सब कुछ अस्पृश्य कर गयी।

तीन दिन बरात रुकी। बहुत अच्छे प्रबन्ध के बावजूद, खाने-पीने-राग-रंग के सारे प्रबन्ध के होते हुए भी युवक लोग उकता गये। कोई कितना नहाये ? कितना शरबत-भाँग पिये ? मुजरे के समय 'बाई जी' पर कितने कोई फिकरे कसे ? भोजन के समय धूर्जटी के चचेरे सालों को कोई कितनी बार कभी नमक के लिए, तो कभी पापड़ के लिए दौड़ाये ? डेरों से निकल कर मील, दो मील का चक्कर लगाने में भी तो युवकों का मन नहीं लगता था। अरे, यही विवाह इन्दौर में हुआ होता तो घूमने-फिरने के मजे थे। यहाँ आप एक से एक कपड़े पहनें तो क्या ? और सिर्फ धोती पहन कर घूमें तो कोई कुछ कहने वाला नहीं। किसी भी प्रकार की निष्क्रियता मनुष्य को उबा देती है।

लेकिन इस तरह के विवाहों में ही नये-नये सम्बन्धों की तलाश भी होती है। गोविन्द, पंचानन आदि जहाँ थे वहाँ भला लड़कियों के माता-पिता कैसे चुप रह सकते थे ? जब पण्डित विष्णुशंकर द्विवेदी ने देखा कि उनके छोटे भाई भानुशंकर ने अपनी लड़की के लिए इतना अच्छा सम्बन्ध ढूँढ़ निकाला तो उन्हें अपनी रेवा की चिन्ता स्वाभाविक थी। उनकी रेवा, भानुशंकर की शारदा से बीस ही थी। अगर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल पंचानन के लिए रेवा का सम्बन्ध स्वीकार लें तो शुक्लजी महाराज को पता चले कि विवाह क्या होता है ? ठीक है भानुशंकर ने अच्छा ही प्रबन्ध किया है, दान-दायजा भी मजे का ही दे रहा है। शायद पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल महाराज को यह लालच दिया होगा कि आगे-पीछे अपने ससुर की सारी सम्पत्ति धूर्जटी को ही तो मिलनी है पर अगर रेवा का सम्बन्ध शुक्लजी महाराज पंचानन के लिए मंजूर कर लें तो वह खड़े-खड़े भानुशंकर जैसी दुगुनी सम्पत्ति अपनी रेवा को न दे दें तो नाम बदल देना। और जब पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के कानों तक ये सारी बातें पहुँचायी गयी तो वह बोले तो विशेष नहीं पर पण्डित विष्णुशंकर द्विवेदी को लगा कि वह एक ही परिवार की दो बहनें अपने घर में नहीं चाहते। ठीक है, तो अपने साले गोविन्द से सम्बन्ध तय

कर दें। पर जब किसी तरह कोई बात पक्की होती नहीं दिखी तो उन्हें लगा कि भानुशंकर तो शायद नहीं पर उसकी बहू अन्नपूर्णा ही शायद यह खेल खेल रही है कि रेवा का सम्बन्ध शुक्ल-परिवार में या गोविन्द से न हो। जब माध्यम से काम बनते नहीं देखा तो बरात विदा के थोड़े पूर्व पण्डित विष्णुशंकर द्विवेदी ने स्वयं शुक्लजी महाराज से बातें करना ही उचित समझा।

— महाराज ! हमारी तो यही इच्छा है कि शारदा और रेवा दोनों ही एक घर की एक ही घर में जाएँ। पंचानन से यदि रेवा का ...

— पंडितजी ! अभी तो धूर्जटी की बरात वापस घर भी नहीं पहुँची है। दूसरे पंचानन अभी बी० ए० कर रहा है। और सही बात तो यह है महाराज ! कि मैं तो इस धूर्जटी का विवाह अभी नहीं करना चाहता था क्योंकि गोविन्द का विवाह बाकी है। और आप यह समझिए कि जब भी एक ही घर की दो लड़कियाँ पहुँचती हैं तो बाद में उलझनें ही होती देखी गयी हैं।

— ठीक है महाराज ! तो गोविन्द के लिए रेवा की बात पक्की कर लें।

— द्विवेदी जी ! गोविन्द की बात एक तो गोविन्द से बिना पूछे तय नहीं होगी। दूसरे गोविन्द की दीदी से बिना परामर्श किये मैं कोई बात कर भी नहीं सकता। गोविन्द के मामले में मेरा तो बहुत बाद में नम्बर आता है....हाँ, आपसे जो मैं एक परामर्श करना चाहता था, वह यह कि आपके घर से जब हम एक लड़की ले जा रहे हैं तो क्या यह अच्छा नहीं होगा कि आप हमारी एक लड़की स्वीकारें भी ?

— अरे महाराज ! ऐसा भी हो जाएगा। यह तो हमारा सौभाग्य होगा—भगवान की कृपा से यमुनाशंकर, किरणशंकर दोनों होशियार हैं आप जिससे चाहें सम्बन्ध तय कर लें। हमारे लिए तो गौरव की ही बात होगी।

— नहीं, इसमें गौरव की क्या बात है द्विवेदी जी ! यह तो हमारा ही सौभाग्य होगा....मैं आपके....कृष्णशंकर के बारे में पूछ रहा था।

— कृष्णशंकर ? करुणा का लड़का ? हाँ ऽ ऽ....पर पता नहीं क्या कर रहा है वह। मैंने तो इन दोनों माँ-बेटों से कहा कि आओ, अपने घर में रहो दुर्गाबाद में, क्या भाइयों के यहाँ पड़ी हो। जैसे मेरे दो हैं वैसे ही तीसरा यह भी है....पर पण्डित जी ! अपनी-अपनी बुद्धि है।....नागेश्वर जी तो आपके मामा जी हैं न ?

— जी हाँ।

— मैंने उनसे भी चर्चा की थी।

— अवश्य की होगी।

— उनकी भी राय थी कि ऐसा कुछ सम्बन्ध हो जाए तो अच्छा है।

— जरूर कुछ होना चाहिए महाराज ? पर अभी घर तो पहुँचें। धूर्जटी के विवाह की थकान तो मिटे, तभी कुछ सोचा जा सकता है।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल जिस ढंग से बातें कर रहे थे उसमें उनकी ओर से तो पिण्ड

छुड़ाने का ही भाव था कि अब चला जाए जब कि पण्डित विष्णुशंकर द्विवेदी को लग गया कि रेवा का तो सम्बन्ध नहीं ही स्वीकार है पर वह ज्यादा इस बात से दुःखी है कि उन्होंने मुँह खोलकर शुक्ल जी से उनकी लड़की का सम्बन्ध अपने दोनों पुत्रों में से किसी एक के लिए मांगा और वह तरह ही नहीं दे गये बल्कि वह कृष्णशंकर के लिए सोच रहे हैं। बस, एक तरह से वह खून का घूंट पी कर ही रह गये। उन्हें लगा कि इस भानुशंकर ने अपनी शारदा का सम्बन्ध तय करते समय उनके बारे में शुक्ल जी को ऊँचा-नीचा कहा-सुना होगा इसीलिए शुक्ल जी किसी तरह का भी सम्बन्ध उनके घर में नहीं करना चाहते वर्ना रेवा के सामने शारदा है ही क्या ? जहाँ तक देन-लेन की बात है अगर वह खड़े-खड़े सौ तोले सोने से रेवा को उनके सामने लाद कर न खड़ी कर दें तो पण्डित विष्णुशंकर द्विवेदी नाम नहीं....पर चूँकि वह मालवा से थोड़ी दूर होशंगाबाद में पड़ गये हैं इसलिए वर खोजने में कठिनाई हो रही है, वर्ना जितना वह देने को तैयार हैं उसमें पंचानन जैसे दस खड़े हो जाएँ—यह पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल अपने को समझते क्या हैं ? दो-चार मकान-दूकान क्या हो गये हैं अपने को लाट-गवर्नर समझने लगे हैं। अरे देखना, आपके लड़के से ज्यादा अच्छा लड़का खोज कर न वह दिखा दें, तो कहना। और रही बात आपकी लड़की की—तो पूरा घर भी हमारे नाम लिख दें तब भी आपके कुल-कुटुम्ब की लड़की हमारे घर में आ जाए तो जनेऊ नर्मदा में फेंक कर परिक्रमा पर निकल जाऊँगा। आपको पता नहीं होगा महाराज, एक दिन की कमाई से बड़े से बड़ा जमाई खरीद सकता हूँ। तिरस्कार करते हैं ?—ठीक है तो फिर !! आवारा बाप के अनाथ लड़के से ही आप अपनी लड़की ब्याहें .. आपके दबदबे में वह और उसकी माँ दोनों ही रहेंगे।

अपने पर जब्त करते हुए वह बोले,

— ठीक है, हम लोग भी आपके प्रस्ताव पर सोचेंगे क्योंकि कृष्णशंकर से बड़ा तो अभी उसका भाई यमुनाशंकर बैठा ही है, और यह कैसे हो सकता है कि छोटे भाई का विवाह पहले हो जाए।....लोगों को भले ही लगे कि द्विवेदी-परिवार आज तीन हिस्सों में है तो जिसकी जो मर्जी आए वह करे, ऐसा तो नहीं हो सकेगा।

— नहीं महाराज ! ऐसा होना भी नहीं चाहिए।

और दोनों ने हवेली की ओर से स्त्रियों का रोना सुना तो लगा कि शारदा विदा हो रही है।

संयोग से शारदा को रस्म के अनुसार तीसरे-चौथे दिन वापस ले जाने के लिए कृष्णशंकर आया तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने संकेत से दुर्गा को बता दिया कि इस लड़के को जरा ध्यान से ही देख लो कि कान्ता के लिए कैसा रहेगा ? जब शारदा चली गयी तो रात में दोनों पति-पत्नी बैठक में बैठे हुए निश्चिन्त मन से बातें कर रहे थे। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने दुर्गा को द्विवेदी-परिवार की सारी पृष्ठभूमि से अवगत कराते हुए पण्डित विष्णुशंकर द्विवेदी से हुई उनकी सारी बातचीत भी बता दी, तो वह बोली,

— दुनिया में भी कैसे-कैसे महापुरुष होते हैं ?

— क्या करोगी। वैसे मुझे पण्डित भानुशंकर जी तो आदमी भले ही लगे।....मेरा ख्याल है बहू भी ठीक ही होगी।....तुम्हें कैसा लगता है ?

— अलंकार पहना हुआ तो कोई भी अच्छा लगता है। उठने-बैठने पर ही पता चलेगा कि कौन कितने पानी में है। यहीं मागसीपुरे में बहू की कोई दूर की मासी रहती हैं। वही एक दिन तेड़े [निमंत्रण] में आयी थी तो कुछ बता रही थी।

- होगा, दुनिया भर की पंचायत से हमें क्या लेना-देना। ...मैं तो तुमसे बहू के इस चचेरे भाई के बारे मे पूछना चाह रहा था कि बात आगे बढ़ायी जाए या नहीं ? ...और वो गोविन्द के लिए जो विष्णुशंकर जी अपनी लड़की का सम्बन्ध चाहते हैं...

– जहाँ तक गोविन्द की बात है तो आप यह समझ लें कि वह मेरी तो सुनता नहीं, अब आप जैसा चाहे उससे कहें पर इस साल जाड़ों तक उसका विवाह हो ही जाना चाहिए।

- मैं तो तुम्हारे दोनों भाइयों से परेशान हूँ।

· अच्छा अब इस समय आप मजाक न करें।—जहाँ तक शारदा केइ स चचेरे भाई की बात है कृष्णशंकर नाम है न ? शायद।

· लड़का तो बहुत सुशील है।

— लेकिन लड़के के पिता ...

— एक तो वह अब रहे नहीं, दूसरे, चरित्र स्त्रियों का होता है कि पुरुष का ?

— वाह, यह हुई न बात। एकदम लाख टके की तात्विक बात है यह।....तो तुम मुझे भी छूट दे रही हो ?

— क्या किसी दिन आपका हाथ रोका ?—

— सच तो यह है दुर्गा ! कि तुमने भी मेरे मन की ही बात कही। लड़का सुशील और होनहार भी है। वहाँ भी लोगों से जितना कुछ मालूम कर सकता था उससे यही पता चला कि लड़के के पिता जो कुछ भी रहे हों परन्तु इसकी माँ भी बड़ी ही सुशील हैं। मैंने लड़के से पूछा भी कि आगे क्या करने वाले हो तो बतला रहा था कि वह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से इन्जीनियरिंग करना चाहता है।

— मैं तो समझती हूँ कि आप और गोविन्द चले जाएँ और सब देख-परख कर हो सके तो बात पक्की कर लें।

— वो, पण्डित विष्णुशंकर द्विवेदी से भी तो पूछना पड़ेगा।

— मुझे तो ऐसा नहीं लगता कि इसकी जरूरत पड़ेगी।

— क्यों ?

— आप पता नहीं कैसे अपना सारा कारोबार चलाते होंगे।

— फिर कोई तात्विक बात निकली, है न ?

— आप इतना भी नहीं जानते कि जब तीनों भाई हर दृष्टि से तीन परिवार हो गये हैं सिवाय करियावरों में एक-दूसरे के यहाँ आने-जाने के और किस बात का सम्बन्ध रह गया ? अगर विष्णुशंकर जी को अपने छोटे भाई की बहू और लड़के से इतना ही प्रेम था तो ले जाते हाथ पकड़कर अपने साथ, मायके में रहने की क्या जरूरत थी ? पर उस समय तो कोई नहीं आया ? उल्टे भानुशंकर जी की पत्नी ने तो बिचारी का वहाँ रहना हराम कर दिया।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल चकित भाव से सुन रहे थे कि स्त्रियों को दुनिया भर की खबरें उन्हें चूल्हे-चौके के पास कौन आकर सुना-बता जाता है ? बोले,

— अब की बार मैं भगवान से प्रार्थना करूँगा कि स्त्रियों की एक चीज अवश्य मुझे दे।

दुर्गा हँसते हुए बोली,

— क्या ?

— घ्राण शक्ति। स्त्रियाँ सचमुच में व्याघ्र होती हैं। नेवरी की खबरें तुम्हें मगर-मुँहे मे बैठे-बैठे हो जाती हैं—कमाल है।—ठीक है मगर एक बात तुम भी सुन लो कि कृष्णशंकर के लिए मैं गोविन्द को नहीं तुम्हें साथ ले जाऊँगा।

— बड़ा अच्छा लगेगा कि दोनों के दोनों भागे चले जा रहे हैं। लोग क्या कहेंगे ? वे लोग क्या सोचेंगे कि हमारी नाक चुई जा रही है तभी तो दोनों पहुँच गये।

— तो फिर तुम्हीं चली जाओ गोविन्द को लेकर। न हो तो धूर्जटी को ले जाओ।

— धूर्जटी ? पहले ही वह नाक पर मक्खी बैठने देता था।

— ठीक है, तो फिर हम-तुम ही चलें और जो भी निर्णय करना हो चटपट वहीं कर डालें।

— यह भी ठीक है।

— हाँ, यह बताओ, नेवरी से आया सारा दान-दायजा...

— सीधा कार्तिक चौक में ही रखवा दिया है।

— क्यों ?

— आपको किसी दिन लोक-बुद्धि नहीं आएगी। हमारी दो लड़कियाँ अभी और हैं। हमें भी दान-दायजा देना होगा। कल से बहू को यह भी तो लग सकता है कि उसी की चीजों मे से हमने लिया-दिया है। और आप नहीं जानते कि दुनिया में कुछ पुरुष ऐसे हैं जो स्त्रियों की आँखों से ही देखते हैं। यदि वे आँखें सदगात्र हुईं तब तो ठीक और अगर महामाया निकलीं तो फिर पूछिए नहीं। हमेशा देखा-सुना है कि बहुओं की बात बेटों की भाषा बनकर माँ-बाप को सुननी होती है।

— तो क्या मैं भी तुम्हारी ही बात जिजी को, बाबा को कहा करता था ?
— आप कोई दुनिया से न्यारे हैं क्या ?
— मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम हवा से भी लड़ सकती हो।
— अच्छा जी !!
— और नहीं तो क्या। अभी बहू ठीक तरह से आयी है नहीं और तुमने इसका-उसका शुरू कर दिया, तब भला वह क्यों नहीं करेगी ?
— जी, इसको नहीं कहते इसका-उसका। वह मय दान-दायजे के अपने पति के पास आयी है, आप बीच में कौन हैं ?
— क्यों हम माता-पिता नहीं हैं ?
— होंगे, तो बहू इसके लिए क्या करे ?
— तो क्या इसी सबके लिए तुम जिजी से झगड़ती थीं ?
— आपका अच्छा है। कोई बात कहो-सुनो मुझे जरूर उसमें घसीटेंगे।
— तब तो तुम इसी हिसाबी-किताबी ढंग की भाषा में अपनी बेटियों से भी बातें करोगी।
— मैं तो सिर्फ एक बात जानती हूँ कि कोई आपकी सन्तान है तो उसे हमेशा यह कहना कि आप उसके माता-पिता हैं—यह कहना एक प्रकार से दण्ड ही है। यदि आप अनुभव करते हैं कि वह आपकी सन्तान है तो उसे भी अनुभव करने दीजिए कि आप उसके माता-पिता हैं। परन्तु हम उसे यह मौका ही नहीं देते कि वह अपने अनुभवों से सीखे, समझे कि आप उसके माता-पिता हैं। कई बार तो हमारी यह आत्मीयता, जिसे बड़दा कहा करते थे, 'वाचाली-आत्मीयता' उसे वितृष्णा उत्पन्न करती है। एक सीमा के बाद माता-पिता को सन्तान से इतनी दूर चला जाना चाहिए कि किसी संकट की स्थिति में आप पहुँच सकें बाकी उसे अपना चलना, देखना करने देना चाहिए। कोई उधार की आँखें, उधार के कान लेकर जीना पसन्द नहीं करता। खासकर कोई स्त्री नहीं चाहती कि उसके आदमी को उधार का जीवन जीना पड़े।
— इसलिए कि पति उसका शिकार है जिसे उसके माँ बाप....
— ठीक है, आप की तो हँसते-गाते कट गयी परन्तु बच्चों के बारे में तो....
— मजाक नहीं। तुम बड़ा अच्छा कर रही हो। दो-चार साल में सब चले जाएँगे तब हम और तुम बदरीनाथ चलेंगे।
— लो, मैं भी कैसी हूँ। आपको बताना ही भूल गयी।
— क्या ?
— आज सवेरे बदरीनाथ का एक पण्डा आया था। कल वह सवेरे फिर आएगा।
— बड़दा की कुछ खबर लाया क्या ?
— मैं तो ऊपर थी। मैं नीचे आयी तब तक तो बच्चों से वह कल आने की कह कर चला गया।

सवेरे का समय था। बैठक में ही पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बैठे हुए थे कि बदरीनाथ का पण्डा आया था। प्रायः प्रतिवर्ष ये पण्डे कभी उगाही के लिए तो कभी प्रसाद लेकर आते ही रहते हैं। किसी न किसी घर का कोई न कोई चारों धाम की न सही तो एक न एक धाम की यात्रा करता ही है। बदरीनाथ की यात्रा का सबसे अधिक महत्व है क्योंकि बदरी-केदार की यात्रा आदमी उस आयु में करता था जब वह यह सोचकर ही जाता था कि लौटे तो घर वालों का भाग्य, नहीं तो उस दुर्गम यात्रा से कौन लौटता है? उस यात्रा में व्यक्ति यह सोचकर ही जाता है कि वह लौटने के लिए नहीं जा रहा है। उस दूरस्थ, दुर्गम यात्रा-मार्ग में कभी लोगों को किसी विषम स्थिति में पैसों की आवश्यकता पड़ जाती है तब ये ही पण्डे वहाँ काम आते हैं। उसी पैसे की उगाही के सिलसिले में ये पण्डे आते हैं। यदि वह व्यक्ति उस यात्रा में ही समाप्त हो गया होता है तो उस व्यक्ति के परिवार के लोगों को पुर्जा दिखाकर ये अपना पैसा ले लेते हैं। विश्वास पर चलता पण्डों का यह साहूकारा न जाने कितनी शताब्दियों से अनगिनत जीर्ण-शीर्ण बहियों से होता हुआ आज भी अक्षुण्ण है। आपको भी कैसा आश्चर्य होता है जब उस सुदूर देश में आप अपने किसी स्वर्गीय पूर्वज के हस्ताक्षर उन जीर्ण बहियों में देखते हैं।

बदरीनाथ का प्रसाद भी सामने रखा था और एक पत्र भी। दुर्गा को जब ऊपर खबर भिजवायी तो वह लपक कर नीचे पहुँची थी। बड़दा के हाथ का पत्र था जिसकी तारीख वह मुश्किल से पढ़ पायी पर स्पष्ट था कि पिछले जाड़ों का था। गत वर्षों में अपने जाने के बाद पण्डित शिवशंकर आचार्य ने यदा-कदा जो पत्र लिखे वे लगभग ऐसा ही था। कुशल-क्षेम के साथ थोड़ा सा पर्वतीय प्रदेश का चित्रण और सबके लिए मंगल कामना से पत्र समाप्त होते रहे हैं। यह पत्र भी लगभग वैसा ही था। अपने

लौटने के बारे में कोई सूचना न कभी दी होगी और न ही अपना कभी कोई पता ही दिया होगा कि कोई उन्हें उत्तर लिख सकता होता। पत्र पढ़ने के बाद अब दुर्गा ने अपने बड़दा के बारे में पूछा कि उनका स्वास्थ्य कैसा है ? उन्हें किसी चीज की जरूरत तो नहीं है ? कभी वह लौटने की बात कहते हैं कि नहीं ?—तो बहुत देर तक तो वह टालमटूल करता रहा पर अन्त में उसे इतना तो कहना ही पड़ा,

— देखिए, वहाँ उन्हें सब स्वामीजी कहते थे—तो, स्वामीजी जैसे पुण्यात्मा लोग बहुत कम होते हैं।

इस पर दुर्गा बोलीं,

— बड़दा के नाम आपका कुछ पैसा....

— कैसी बातें करती हैं बहन जी ! सच तो यह है कि मैं और मेरा परिवार तो उनका चिर ऋणी है। उन्होंने जो कृपा की उसके कारण ही मैं आज फिर अपने परिवार को पालने के योग्य हो सका हूँ। हमने उनसे कितना आग्रह किया था कि मन्दिर के पट बन्द हो रहे हैं आप हमारे ही साथ नीचे जोशीमठ चले चलें। जोशीमठ यदि प्रिय न हो तो ऊखीमठ में प्रबन्ध करवा देते हैं। जितना एकान्त चाहिए, हम वह उपलब्ध करवा देंगे...परन्तु भवितव्य !!....उन्होंने हमारे चलते समय आश्वासन भी दिया था कि दो-चार दिन बाद वह भी नीचे आ जाएँगे पर बहन जी ! होनी को कौन टाल सकता है ?

और जब बहुत-कुछ स्पष्ट शब्दों में पण्डे ने बताया कि स्वामीजी नहीं रहे तो दुर्गा सन्नाटे में आ गयी। उसे लगा कि गरम-गरम शब्दों का कैसा पिघला सीसा होता है कि जिसके बाद कान कुछ नहीं सुनते। आँखें अपना देखना बाहर ही छोड़कर न जाने कहाँ चली जाती हैं। उसे किसी भी चीज की प्रतीति नहीं हो रही थी। वह अपने बड़दा को जैसे पुकारती नंगे पैरों भागी चली जा रही है, भागी चली जा रही है। वह न गंगा को जानती है, न हिमालय को। वह किस सपाटे से गंगा और पर्वतीय नदियाँ फलाँगती दौड़ी जा रही है। वह नहीं जानती कि वह कहाँ जा पहुँची है पर जैसे चारों ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं। कोई पहाड़ी मार्ग है जिस पर एक आदमी, जिसकी पीठ दिखलायी दे रही है, बिल्कुल बड़दा की भाँति ही चला जा रहा है। वह और तेज भागती है और उस आदमी को पुकारती जाती है—बड़दा ! बड़दा !!....और जैसे ही वह उस आदमी के कंधे पर हाथ धरना चाहती है कि, बड़दा ! आप बोलते क्यों नहीं ! कब से, कितनी दूर से पुकारती आ रही हूँ....कि चौंक उठती है कि....कहाँ ! कहीं कुछ भी तो नहीं है ? और वह फूट पड़ती है...बड़दा !! तभी उसके कान वापस सुनने लगते हैं, आँखें देखना शुरू करती हैं....कि अरे, यह तो अपने ही घर में बैठी है....तो सब कहाँ गया ?

वह अपने आँचल में फफक पड़ती है। उसे रोता देखकर पण्डे की भी आँखें भर आती हैं। रोते हुए दुर्गा के कान में इतना ही सुनायी पड़ता है कि पण्डा शायद कल के यहाँ भी गया था। बड़दा ने उन्हें कुछ भेजा है—क्या ? पत्र ही होगा।

नहीं, केवल पत्र ही नहीं था।
पण्डे के मुंह से जब पण्डित शिवशंकर आचार्य के न रहने की बात सुनी तो श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय एकदम ठगी-सी रह गयीं। वह अपने अन्तर के तूफान को दांत भींचकर रोके हुए थी, तब भी आँखें निचुड़ी पड़ रही थीं। पण्डे ने अपने झोले में से एक मोटी सी डायरी निकाल कर देते हुए कहा;
— यह भी आपको पहुँचा दी जाए यह स्वामीजी की इच्छा थी।
वह जिस भाव से सुन रही थीं उसमें किसी बात का कोई अर्थ नहीं था। वह केवल स्वतः होना चाहती थीं। पण्डे को लेकर गोविन्द ही ऊपर आया था। वह जिस ठण्डे भाव से सब कुछ सुनता बैठा था उसमें लग रहा था कि जैसे उसे किसी ने कीलों से जड़ दिया था। वह शायद पलकें झपकाना तक भूला हुआ था। पण्डे का एक-एक शब्द उसमें किस प्रकार रेंगते हुए अन्दर गया और अन्त में उसे सीने के पास जलन होने लगी। वह जैसे अपने सम्पूर्ण को उतार कर बैठा हुआ लग रहा था। बड़दा का उसके नाम का पत्र उसकी मुट्ठियों में कसा पड़ा था जिसे वह चेष्टा के बाद भी छुड़ा नहीं पा रहा था। बड़दा अब नहीं हैं, बड़दा अब कभी नही होंगे, बड़दा न जाने किस पर्वतीय प्रदेश में आँधी, तूफान, बर्फ के बीच तिरोहित हो गये यह कल्पना ही उसे काटे दे रही थी। वह बदरीधाम की यात्रा पर गये यह तो विश्वसनीय था परन्तु अब कभी नहीं होंगे—यह बात उसे मैंथे दे रही थी।...वह जोरों पर चीख पड़ना चाहता था.... तभी उसने मासीमाँ को कहते सुना,
— पण्डा जी को सौ रुपये दे देना।
और वह पत्र, डायरी लेकर उठ गयीं। गोविन्द ने विषाद चाहे जितना भोगा होगा परन्तु विषाद का चलना और नितान्त भाषाहीन बने रहना क्या होता है यह मासीमाँ को देखकर ही समझ पा रहा था।

ऐसा कभी नहीं हुआ होगा कि दस बजे के बाद रात में श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय जागती मिलें। गोविन्द ने बराबर मासीमाँ को एक ही लय-ताल में जीवन जीते देखा है। उसे तो लगता है कि किसी दिन एक कदम भी ज्यादा नहीं रखती होगीं। अपने को करते हुए एक याद की भाँति असंग भाव से वहन करते हुए भी सबके प्रति आत्मीय बना रहना कितना कठिन है। यह भी गोविन्द ने मासीमाँ से ही जाना होगा। बड़दा भी असंग थे, परन्तु पुरुष की असंगता और स्त्री की असंगता में क्या तात्विक अन्तर होता है इसे विगत वर्षों में गोविन्द ने बहुत निकट से अनुभव

किया है। पर आज जब रोज की भाँति वह शाम को हॉल में अपने दीवान पर आकर नहीं बैठीं तो उसे थोड़ा आश्चर्य अवश्य हुआ। किसी और के सन्दर्भ में यह हुआ होता तो वह ज्यादा सोचता ही नहीं परन्तु मासीमाँ के सन्दर्भ में उसे यह उपेक्षणीय नहीं लगा। तब भी वह लौट गया। वह स्वयं दुःखी था। मासीमाँ से शायद कुछ देर बैठ कर बातें ही करता। प्रायः तो वह भी नीचे अपने मुकदमों की फाइलें देखता होता है, या दूसरे दिन का केस तैयार कर रहा होता है। अभी वह सरवटे वकील साहब के जूनियर की हैसियत से काम करने लगा है पर आज उसका मन बिल्कुल ही नहीं लग रहा था वह जानता है कि उसे दीदी के यहाँ जाना चाहिए पर उसका साहस ही नहीं हो रहा था। पूरे दिन वह लेटा रहा। शाम को उसका विचार था कि शायद मासीमाँ भी दीदी के यहाँ जाना चाहें तो वह साथ ही चला जाएगा। वह स्वयं अकेले में दीदी का साक्षात नहीं करना चाहता था। लेकिन मासीमाँ तो अपने कमरे में ही बन्द थीं। एक बार सोचा कि क्या उनके दरवाजे पर दस्तक दी जाए ? पर जो कभी नहीं किया उसे वह आज ही कैसे कर सकता था ?....तब ? और वह दीदी के यहाँ जाने के लिए चल पड़ा।

ऐसा नहीं कि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय रोज की हीं भाँति तैयार होकर हॉल में नहीं जाना चाहती थीं परन्तु आज उन्होंने वर्षों बाद, शायद जिस दिन विधवा हुई थी उससे भी अधिक तीव्रता से अनुभव किया कि वर्षों से जो झाड़-फानूस अपनी शीशई सुषमा, सौन्दर्य के साथ टँगा हुआ था वह झन्न की आवाज करते हुए चूर-चूर बिखर उठा। जो एक था, वह खण्ड-खण्ड होकर शत्-शत् हो उठा।....पूरे स्वत्व में बिखर उठे उस खण्डित झाड़-फानूस के टुकड़े-टुकड़े से कौन उन्हें देख रहा है ? कैसी पुकार आ रही है न ? चारों ओर से यह किसकी खिलखिलाहट घेरे ले रही है ? ऐसा माधव-राग तो किसी दिन इस देह में नहीं बजा था....क्या आज उस 'मिठबोले' को पुकारना ही पड़ेगा ?....क्यों ? जिसे कभी नहीं पुकारा, जिसे कभी भर आँख नहीं देखा, जिसे सम्पूर्ण गहना चाहा उसे सिवाय कंधे के स्पर्श से अधिक नहीं जाना....वह रोम-रोम से पुकार रहा है क्या ? कौन है वह ? क्या था वह तुम्हारा गायत्री ? बोलती क्यों नहीं ? ऐसे निढाल होकर हथेली के संकल्प-जल को गिरा देने से अँगुलियों का गीलापन तो नहीं चला जाएगा।....उसे पुकारती क्यों नहीं ? नारी की सामाजिक विवशताएँ हैं तो नारी की सहज आर्तता भी तो उतनी ही यथार्थ है....भूषा को सब देखते हैं परन्तु नारी की देह को केवल एक ही पुरुष देखता है परन्तु उस देह के भीतर भी जो एक आकुल नारी होती है उसे देखने वाला किसी बिरल स्त्री को ही प्राप्त होता है ...वही विरल ही तुम्हें पुकार रहा है गायत्री !....कई बार पत्र भी व्यक्ति होता है, जिसके बोलने की आवाज भी सुनायी देती है और कई बार व्यक्ति भी पत्र की भाँति हो जाते हैं कि लिपि ही नहीं पढ़ी जाती है। बिस्तरे पर गाव तकिये पर कुहनी टिकाये वह कुछ ढूँढ़ने के भाव से पत्र पढ़ रही थीं,

बदरीनाथ।

गायत्री !

तुम्हें 'प्रिय' का अतिरिक्त विशेषण लगा कर सम्बोधित करना, समुद्र को 'प्रिय समुद्र !' या नदी को 'प्रिय नदी !' कह कर सम्बोधित करना जैसा ही होगा। तत्त्व सम्बोधन के लिए नहीं बना है, उसे तो स्वीकारना ही होता है। अग्नि है, आकाश है, पृथ्वी है, वैसे ही गायत्री है—मन्त्र भी और व्यक्ति भी। तुम हो, इस स्वीकृति से बड़ा सम्बोधन और क्या हो सकता है ? सच तो यह है गायत्री ! कि तुम्हारा स्मरण ही कृतार्थता लगता है। आज के पूर्व तक केवल औपचारिक सूचनाएँ देता रहा परन्तु किसी दिन पत्र देना न हो सका। बराबर यह लगता रहा कि जिस दिन अपने को सम्पूर्ण दे सकने की मानसिकता में हूँगा उस दिन पत्र अवश्य दूँगा। फूल, वृक्ष के सर्वस्व की अभिव्यक्ति होता है, उसके बाद वह अपने वृक्ष में वापस नहीं लौटता। और आज शाम से ही ऐसा लगने लगा कि वह दिन आज आ गया लगता है।

पता नहीं इस समय कितना बज रहा है। इतनी ऊँचाई पर ऐसा लगता है कि आप चाहें तो आकाश को न केवल छू ही सकते हैं बल्कि तारों को अँगुलियों से इधर-उधर सरका भी सकते हैं। ऐसे में सम्भव है कि मीन राशि के नक्षत्र वृश्चिक राशि में पहुँच जाएँ, तो पता नहीं कितने ही जातकों का जीवन-चक्र ही क्या हो जाए। गायत्री ! आकाश में रात और नक्षत्र सबके चलने का शब्द तक सुनायी देता है। जरूर ही आधी रात हो चुकी होगी क्योंकि लगभग दो घंटे पूर्व मन्दिर के सामने वाले तप्त-कुण्ड के ठीक नीचे के घाट से जब लौटा था तो उस समय अलकनन्दा के उफनाते जल को देखकर ही नेत्रों को भी कैसी ठण्ड अनुभव होने लगी थी। मन्दिर के पट तो परसों ही बन्द हो चुके हैं। बदरीनाथ एकदम निर्जन हो चुका है। पत्र वाहक सिद्धेश्वर जोशी, केवल पण्डे ही नहीं आत्मीय भी हैं। यह इस आग्रह के साथ यहाँ रुके रहे कि मैं भी नीचे इनके साथ जोशीमठ या ऊखीमठ लौट जाऊँ, तब मुझे आज अपने इस संकल्प से उन्हें अवगत कराना पड़ा कि मैं तो नीचे नहीं जा सकूँगा। कल यह नीचे चले जाएँगे और मैं ? .. शायद वसुधारा होते हुए मानसरोवर निकल जाना चाहता हूँ... पता नहीं... खैर। खासकर तुम्हारे पत्र के लिए सिद्धेश्वर को कह दिया है कि यदि किसी कारण तुम्हें न दिया जा सके तो इसे लौटते में गंगा में प्रवाहित कर दे। विराट को विसर्जित कर देने पर व्यक्ति को कभी न कभी वह सम्बोधन पहुँच ही जाता है।

वैसे आज इस समय बादल तो नहीं हैं पर जिस प्रकार की तेज हवा है वह थोड़ी ही देर में हिमांधी का रूप ले सकती है। कल तक निश्चय ही बर्फ की अच्छी-खासी मोटी चादर बिछ जाएगी। कल के बाद यहाँ से कोई लौट पायेगा, यह दुष्कर लगता है। गौरा पहले पार्वती प्रकृति बनकर तपस्या भाव से सबको अभिभूत कर देगी और उसके उपरान्त प्रचण्ड हवाओं के डमरुओं के निनाद के साथ शिव के ताण्डव के अवधूतत्त्व में भगवान बदरिकाश्रम भी अपनी शिव-शक्ति के साथ हिमशायी हो जाएँगे। केवल प्रकृति और पुरुष की उस महासत्ता का न कोई साक्षी होगा और न कोई प्रत्यक्ष

द्रष्टा। पर इस समय गायत्री! आकाश निरभ्र है इसलिए अत्यन्त निर्मल, धुली, ठण्डी चाँदनी हिममण्डित शिखरों से लेकर निर्जन द्रोणी की समतलता पर, अलकनन्दा के तेज प्रवाह पर उतर आयी है। गायत्री! यहाँ प्रत्येक क्षण कोई उपस्थित लगता है—एक अद्वैत !!

गायत्री! निश्चय ही तुम उत्सुक रही होगी कि गत सात-आठ वर्षों में मैं क्या करता रहा? सच तो यह है कि अपना कर्त्ता-व्यक्तित्व उस दिन चलते हुए उज्जैन के प्लेटफार्म पर ही छोड़ आया था क्योंकि यहाँ कुछ करने नहीं बल्कि होने के लिए आया जाता है। यहाँ की कर्त्ता, केवल प्रकृति है। इस होने के लिए यात्रा करना आवश्यक होता है, सो की। इस महादेवालय की सीढ़ियाँ हरिद्वार-ऋषिकेश से ही आरम्भ हो जाती हैं। बदरी-केदार का एक बँधा-बँधाया चट्टियोंवाला मार्ग है। जिस पर यात्री जाते-आते हैं परन्तु मेरा प्रयोजन लौट जाने का तो नहीं था बल्कि केवल आरम्भ करने का ही था अतः मैंने यमुनोत्री का ही मार्ग चुना।

यमुना-घाटी, हिमालय का प्राचीनतम भाग है इसलिए यमुना भले ही महात्म्य में गंगा से बड़ी न हो परन्तु आयु की दृष्टि से वह अग्रजा है। कितना अजीब संयोग है कि यह एक नदी है, यमुना—जो सूर्यतनया है; एक मन्त्र है, गायत्री—जो सूर्य-सम्बोधन है और...और एक व्यक्ति है, गायत्री—जो सूर्य-सुगन्ध है। गायत्री! मैंने अजीब संयोग इसलिए कहा क्योंकि वस्तुतः हमें प्रकृति की उस विशाल, विराट प्रयोजन दृष्टि के बारे में कुछ भी पता नहीं। समुद्र-जलों का यह विशाल आत्म-मन्थन, शताब्दियों से आकाश छेदते इन संन्यासी शिखरों का निर्निमेष ब्रह्माण्ड में बिना पलक झपकाये देखते रहना, मेघ बनकर दिशा-दिशा में जल का भटकना, बिजली-आँधियों का कोड़े खाये अश्वों सा हिनहिनाते हुए आकाश रौंदते हुए पृथ्वी पर टूट-टूट पड़ना या फूलों की सज्जा के साथ अलभ्य रूपवती वेश में खड़े रहना—ऐसे कोटि-कोटि व्यापार क्या निष्प्रयोजन हैं? मुझे लगता है गायत्री! कि हमारे सबके स्वत्व, भाषाएँ, समस्त जीव, पृथ्वी की नाभि में सोये हुए पदार्थ और तत्व सबके भीतर से प्रकृति, धर्म, आयु और क्रिया रूप में अखण्ड भाव से अत्यन्त आकुल निर्ममता के साथ किसी को तलाश रही है। समुद्र हाँफने लगते हैं, हवाएँ पछाड़ती रह जाती हैं, पहाड़ों के टुकड़े-टुकड़े उड़ जाते हैं पर प्रकृति है कि उसे किसी की तलाश है और वह तलाश है उस पुरुष की जो विश्वात्मन है। प्रकृति के लिए हम सब इस तलाश में केवल उपादान हैं। इतिहासों, सभ्यताओं के बीच से गुजरते हुए प्रकृति योद्धाओं, महापुरुषों, अवतारों, सिद्धों, सन्तों सबको प्रयुक्त करती हुई बीत रही है। इन विभिन्न उपादानों के उस संयोग की उसे तलाश है—जो विश्वात्मन है। जिस तरह प्रकृति सत्य भाव से अदम्य हमारे बीच कार्यरता है, गायत्री! उसी तरह ब्रह्माण्ड में काल, ऋतु रूप में ग्रहों-नक्षत्रों की अगणनीय संख्या और दूरियों को मथ रहा है। विश्वात्मन को सम्बोधित करते हुए काल और प्रकृति इस धरती और आकाश में यह महायज्ञ सम्पन्न कर रहे हैं और वह विश्वात्मन जो सर्व-उपस्थित है, हमें इसलिए उसकी बाहर तलाश है क्योंकि हम ही अनुपस्थित हैं। उस विश्वात्मन को तलाशा नहीं जा

सकता, उसे तो केवल पाया जा सकता है ।

गायत्री ! सच तो यह है कि यह पत्र नहीं लिख रहा हूँ, तुमसे बातें कर रह
हूँ । देख रहा हूँ कि तुम भागवत बाँच रही हो । यह हिमालय तो मूर्त भागवत है।
इसके पर्वत-प्रसंगों में कैसी-कैसी माधवी रास-लीलाएँ सम्पन्न हो रही हैं । प्रकृति
जिस प्रकार रंग और गन्ध से प्रसाधित होकर कृष्णा-भाव से द्रोणियों, घाटियों, उपत्य-
काओं में घूम रही है तो क्या बिना कृष्ण के यह सब है ?— हाँ, आप जब एक-एक पग
रखकर नदियों, घाटियों की वलय देह से लगे-लगे गुजरते हैं तो ऐसा लगता है कि इस
भागवत की नदी-पंक्ति पर अंगुली रखकर कोई पाठकर्ता, पाठ कर रहा है और वह
अँगुली आप हैं । और गायत्री ! उसी क्षण आप पूर्ण सार्थक हो जाते हैं ।

इन विगत वर्षों में रौद्र और रासलीलाओं के जल से जितना भी थोड़ा अभिषेक
और अवगाहन हुआ उसके बाद अब सिवाय अपनी नाम-संज्ञा के शायद कोई अन्य
पहचान नहीं रह गयी । गायत्री ! कभी आकर देखो कि यहाँ कैसी माधवी होड़ लगी
है । सब अपनी अपनी नाम संज्ञाएँ उतार फेंकने के लिये पिघल रहे हैं, बह रहे हैं, दौड़
रहे हैं, खिल रहे हैं । पहाड़ों का टूटना, हिमनदों का पिघलना, मेघों का अटूट बरसना,
फूलों का खिलखिलाकर खिलना—यह सब, स्वत्व की वह आकुलता है कि—हमें स्वीकार
लो । अब हमसे नहीं उठायी जाती यह नाम-संज्ञा । और सारे जड़-चेतन के नामसंज्ञाओं
वाले द्वैतता के उतरे जनेऊ धार किये वह 'पुरुष'—अद्वैत है ।

बताओ गायत्री ! तुम्हे कब पत्र लिखता ? और क्या लिखता ?जब एक ही क्रिया
में सृष्टि की समस्त क्रियाओं की ध्वनि और अर्थ निहित हों तब किस शब्द, किस भाषा
में व्यक्त किया जाए ? आँखों ने जो देखा तो उसे भाषा पर्वत कहती है, कानों ने जो सुना
उसे भाषा टूटना कहती है और त्वचा ने जो अनुभव किया उसे भाषा हवा कहती है पर ये
सारे द्वैत, जब अद्वैत रूप में आप में अनुभव हों तो उसके लिए कहाँ है भाषा ? शायद
इसीलिए भाषा को काव्य बनना पड़ता है जिसमें पर्वत के खाँसने को व्यक्त किया जा
सकता है, नदी किसी के हाथों से छूट गिरी बाँसुरी लग सकती है, फूल अपने नेत्रों के
आँसू पोछते लग सकते हैं पर गायत्री ! जिस क्षण आप यह कहने को उद्यत होते हैं उस
क्षण उससे भी अधिक महत्वपूर्ण, अप्रतिम घट गया होता है और आप उससे वंचित हो
जाते हैं—हिमनद कितनी शताब्दियों बाद तो इस क्षण पलक भर के लिए जागा था
और आप उस मुहूर्त से वंचित हो गये । इसीलिए गायत्री ! भाषा के बाद यह कविता
भी उतार फेंकनी पड़ती है कि नहीं, केवल धर्मभाव से ही अनुभव तो किया जा सकता
है, अभिव्यक्त नहीं । क्योंकि यह अभिव्यक्ति के लिए बना ही नहीं है । तर्क के लिए
भाषा होती है, स्वीकृति के लिए नहीं । भाषाहीन, अभिव्यक्तिहीन हो जाने पर गायत्री!
ये नदियाँ अपना जल उतार कर शक्तियाँ बनकर गंगा, यमुना, अलकनन्दा रूप पीवर
में प्रत्यक्ष हो जाएँगी । पर्वत अपने योगी के रूप में, देवदार और भोजपत्र अपने ऋषि
रूप में स्पष्ट दिखायी देंगे पर तभी, जब आप पूर्ण विसर्जित हों । अस्तु—

गायत्री ! तुम्हें प्रत्येक क्षण स्मरण किया है परन्तु अपने लिए नहीं, तुम्हारे ही

लिए। अपने लिए स्मरण करके तुम्हें च्युत ही करता जबकि तुम्हें अच्युत होना है और इसमे मेरा इतना तो सहयोग हो ही सकता था कि स्मरण के माध्यम से तुम्हें भी इस लीलाभूमि में उपस्थित किये रहूँ। और आश्चर्य तो यह गायत्री ! कि तुम नित्य उपस्थित भी रही।

दुर्गा और गोविन्द को भी पत्र दिये हैं। यह सबसे सन्तोषजनक बात है कि दुर्गा अपने संसार के साथ सुखी है। जिस पर भगवान की अनुकम्पा हो उसे किसी दूसरे के आशीर्वाद की क्यों अपेक्षा होनी चाहिए ? फिर भी। गोविन्द तुम्हारे और दुर्गा के संरक्षण में है इसीलिए पूर्ण आश्वस्त हूँ। शेष शुभ,

तुम्हारा
—शिवशंकर

पत्र ने श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को पूर्ण मँथ कर रख दिया था। वह बारम्बार पढ़ती रहीं और हर बार उन्हे कमरे में पण्डित शिवशंकर आचार्य उपस्थित लगे। उन्हें लगा कि जैसे पीछे से आकर उन्होंने उनके दोनों कंधे थाम लिये हैं और उनका मन हुआ कि उन हाथों की पुष्ट अँगुलियों पर, जिन्होंने कि उनके कंधे थाम लिये हैं, अपने गाल रखकर खूब रो उठें, कि क्या इतनी प्रतीक्षा करायी जाती है ? असंग हो जाइए, पर आँखों से ओझल तो न हों। कमरे में कैसी चन्दन-गन्ध आ रही है, ऐसी ही तो उनके आने पर आया करती थी ? जब वह हँसते थे तो लगता था कि ताल का पूरा जल खिलखिला रहा है—एकदम निर्दोष हँसी। पर जैसे ही कल्पित को देखने को मुड़ीं तो कहीं कुछ नहीं था। अपने इस शयन-कक्ष में वह अकेली बिस्तरे पर तकिये को सीने से लगाये हुए हैं—बस। पास में उनकी भेजी डायरी....और वह पढ़ने को उत्सुक हो उठीं।

हरिद्वार।

उज्जैन से होते हुए कल सवेरे यहाँ पहुँचा। उज्जैन स्टेशन पर दुर्गा, त्र्यम्बक, गोविन्द तथा बच्चे आदि थे। गायत्री नहीं आयी। अच्छा ही हुआ। वह आती तो उसकी

उपस्थिति को अनुपस्थित रूप में लेना कठिन होता। कल दिन भर कनखल, ज्वालापुर, हर की पैड़ी घूमता रहा। आज भीमगोड़ा की ओर निकल गया था। कल सवेरे पैदल ही ऋषिकेश निकल जाना है। हरिद्वार तक तो साधन से यात्रा करनी पड़ी अब तो अपनी यात्रा में स्वयं को ही साधन बनना है। गंगा के प्रथम दर्शन यहीं हुए। केवल नदी कभी इतनी सुन्दर नहीं हो सकती। भगवती रूप है न तभी तो—गंगे! तव दर्शनात् मुक्तिः। यह प्रभु की कृपा है कि आरम्भ में ही मुक्तिभाव अनुभव हो रहा है।

ऋषिकेश।

परसों सवेरे हरिद्वार से भगवती गंगा के किनारे-किनारे चलकर दोपहर में यहाँ पहुँचा। काली कमली वाले की धरमशाला में स्थान मिल गया। बदरी-केदार की ओर जाने वाले यात्रियों की अभी यहाँ भीड़ नहीं थी। कुछ लोगों से इस यात्रा के बारे में सारी जानकारी ली। गुजरात, मारवाड़ की ओर से आनेवाले सेठों की यहाँ के कुलियों, झपेवालों, कंडी वालों के बीच बड़ी पूछ होती है। अभी मौसम शुरू ही हुआ है।—कल दिन भर मुनी की रेती होते हुए लक्ष्मण-झूला तक निकल गया था। यहाँ गंगा पार करने पर बाँयें हाथ का रास्ता बदरी-केदार के लिए जाता है तथा दाहिने हाथ जाने पर स्वर्गाश्रम पड़ता है जहाँ कुछ साधू-संन्यासी कुटिया बनाकर रहते हैं। आज एक लाठी अवश्य खरीदी। पर्वतीय यात्रा में लाठी एक सहचर भी होती है और आपका भार भी सुस्ताते समय उठाती है। वैसे तो पास में एक दोहर है ही पर लोगों का कहना है कि—महाराज! आप हिमालय जा रहे हैं, कोई मजाक नहीं है, एक कम्बल तो पास में होना ही चाहिए। साधू हो जाने से क्या देह, देह नहीं रह जाती?—कैसी विषमता है कि लोग आपको साधू समझते हैं।—लेकिन पंचकेशी में लोग और समझें भी क्या?

यमुना घाटी-मार्ग

पिछले पन्द्रह दिन कुछ नहीं लिख पाया। सच तो यह है कि कब लिखता? क्यों लिखता? और क्या लिखता? लिखने से भी अधिक सार्थक आपके चारों ओर फूल, नदी, पर्वत और हवाओं के रूप में जब घटित हो रहा हो तब आदमी क्या लिखे। जिस दृश्य, जिस माधुरी को प्रकृति इतने विशाल फलक पर विभिन्न संयोजनों के साथ अनुक्षण लिख रही हो उसे सीमित भाषा में कैसे लिखोगे? किसके लिए लिखना चाहते हो, अपने लिए? तो तुम्हारे लिए तो धूप, पहाड़ों पर कहीं चाँदी लिख रही है, तो कहीं स्वर्ण लिख रही है। नदी जो एकान्त में स्वगत बोलती हुई, पत्थरों पर से बिछलाते हुए गुनगुना रही है उसे लिख सकोगे? लिखना व्यर्थ है—बस, देखो; निरन्तर देखो, अनवरत सुनो।

यमुना, देहरादून के पास मैदान में उतरती है। वह अपने नील, कोमल चरण धर कर मैदान पर चलने लगती है और आप इसके इस मुहाने से ही यमुना-घाटी में प्रवेश करते हैं। प्राचीनता की भी कोई गन्ध होती है यह उस दिन ही जाना। इस घाटी के मुहाने पर शायद चूने के पहाड़ हैं तभी घाटी में प्रवेश करते ही चूने की गन्ध आने लगती है। इधर के पर्वतों को देखकर ही लगता है कि ये पहाड़ बूढ़े हो चुके हैं। यमुना-घाटी बहुत गहरी है इसलिए यमुना के किनारे-किनारे चलते हुए पूरे समय कुए में चलने का भाव लगता है। भौगोलिक प्राचीनता तो आप देख रहे होते हैं पर इस कालक्रम में इसकी इतिहास वृद्धता कहाँ चली गयी? उसे कैसे जाना जाए? पीछे छूट गये इस भूगोल पर इतिहास के क्या कोई पद चिह्न कहीं हैं? हाँ हैं, जौनसार-बावर के इलाके में सर्वथा भिन्न नाक-नक्शे तथा गौरवर्ण की जातियाँ आज भी इन अगम्य जंगलो में हैं जो अपने को महाभारत कालीन पांडवों की सन्तानें कहते हैं। ये लोग इधर के पहाड़ी मार्गों पर, हाटों में भिन्न भूषा-अलंकारों में दिख जाते हैं। कई पहाड़ों पर इतनी अधिक पगडंडियाँ ऊपर से नीचे तक दिखायी देती हैं कि जैसे पगडडियों के जाल में पहाड़ों को गट्ठर के रूप में बाँध दिया गया है कि ये खसके नहीं। मनुष्य ने उत्तरोत्तर कैसे सरल और सुगम मार्ग की तलाश में पुराने रास्ते छोड़े और नये मार्ग अपनाये यह पहाड़ों पर बहुत साफ दिखलायी देता है। वह पहला दिन और प्रथम यक्ति कौन होगा जिसने मार्ग हीन इन पर्वतों में अपने पग और दण्डी से पहली पग-ण्डी का श्रीगणेश किया होगा? आज भी इन सँकरी पगडण्डियों पर चलना कितना संकटपूर्ण है कि जरा सा चूकने पर सैकड़ों फीट नीचे, सीधे यमुना में सदा के लिए विलीन हो जाएँगे। इस यमुना-घाटी में आपके गिरने की एक हल्की सी छपाक की प्रतिध्वनि थरथरा कर नीचे ही रह जाएगी और फिर कहीं-कुछ नहीं। अवश्य ऐसा अनेक बार होता रहा होगा और तब जाकर इन पहाड़ों पर पगडण्डियाँ लिखी जा सकी होंगी।

यमुना का प्रवाह पर्वतीय अवश्य है पर उद्दाम नहीं। शताब्दियों तक घिसते-घिसते इसका पेटा अपेक्षाकृत समतल हो गया है। यमुना न तो एकदम नील है और न हरी—बीच का वर्ण है। पहाड़ों पर बड़ी ऊँचाइयों तक भी भेड़ें चरती हुई दिख जाएँगी। यहाँ के ग्रामीण प्रायः चरखियों पर ऊन बँटते देखे जा सकते हैं। पहाड़ों में जिस समय शाम होती है उस समय बड़ी ही उलझन होती है, जैसे अब आप इन पहाड़ों बीच निरीह, अकेले पड़ जाएँगे। यहाँ यात्रियों को रुकने या रात बिताने के लिए देहाती दूकानों की शरण लेनी पड़ती है। चट्टियों पर पण्डों के अपने तल्ले-दुतल्ले के पड़साल जैसे नीची छतों के मकान होंगे, जहाँ वे यात्रियों को टिकाते हैं। ऊँचाई पर तो इन दूकानों और चट्टियों के फर्श प्रायः गीले होते हैं जिन पर कई-कई चटाइयाँ बिछा दी जाती हैं। अजीब भीगा-भीगापन इन दूकानों-घरों में बना रहता है। पहाड़ी मार्ग का मतलब ही है नदी का मार्ग, जो कि पहाड़ों के आकार-प्रकार से टेढ़ा-मेढ़ा निर्मित होता चलता है। पहाड़ों में मोड़ बहुत धोखा देते हैं। आपको लगता है कि

इसके बाद खुलापन होगा और आप मुड़े नहीं कि फिर एक पहाड़ सामने आ जाता है। कई बार बड़ा अजीब लगता है कि पहाड़ तो इतने हैं पर लोग, नहीं के बराबर। पहाड़ी गाँव भी मधुमक्खी के छत्ते जैसे पहाड़ों की ढलानों पर बड़े गिरे-गिरे ढंग से दिखलायी देते हैं, जिनकी पगडंडियाँ दूर से रस्सी की डोर लगती हैं।

पिछले दिनों लगातार चलते रहने से काफी थकान आ गयी है। बड़कोट, गाँव नहीं कस्बा है। एक पण्डे के यहाँ रुकने की जगह मिल गयी। कई दिनों बाद थोड़ी निश्चिन्तता अनुभव हो रही है। यमुना में स्नान करके ताजगी अनुभव हुई। लोगों से मालूम हुआ कि अगली बड़ी चट्टी स्याना-चट्टी मिलेगी। पता नहीं फिर कब डायरी लिखने का मौका मिले।

यमुनोत्री।

यमुना-घाटी रम्य नहीं कही जा सकती पर अपने सीढ़ियों दार खेतों में उगने वाले चावलों के लिए प्रसिद्ध है। बड़कोट से ही यमुनोत्री का बर्फीला शिखर दिखने लगता है। इस पूरे रास्ते यमुना प्रायः आपके बायें हाथ ही रहती है। और दाहिने हाथ पर्वत। यही पर्वत स्याना-चट्टी से घूम कर अगला यमुनोत्री का शिखर बन जाता है। इस पर्वत के पीछे की ओर गंगा-घाटी है। यमुनोत्री वाला हिमनद, स्वतन्त्र हिमानी या हिमनद [ग्लेशियर] है जिसका गंगा-हिमनद से कोई सम्बन्ध नहीं है। यमुनाघाटी से भीतरी हिमालय के दर्शन नहीं होते।

स्याना-चट्टी पर रात रुका। वहाँ एक साधू से भेंट हुई, जो यमुनोत्री तक साथ बना रहा। हरिद्वार में जो लाठी खरीदी थी उसे उस साधू ने बहुत आग्रह से फेंक देने के लिए कहा और बदले में एक दूसरी लाठी दी, जिसे उसने 'पद्मकाष्ठ' बताया, जो पवित्र तो होती ही है पर अर्थवान भी। मैं उसके इस आचरण को नहीं समझ पा रहा था। उसका मुझमें अनावश्यक रुचि लेना इसलिए भी प्रिय नहीं लग रहा था कि उसका समस्त व्यक्तित्व औघड़ जैसा था। लाल-लाल नशीली आँखें, लिये हुए ताँबे जैसा उसका रंग—जैसे वह आदमी न होकर जंग खायी अष्टधातु की कोई प्रतिमा हो।

स्याना-चट्टी के बाद जानकी-चट्टी पहुँचने के पूर्व अभ्रक का पूरा पहाड़ ही भरभरा कर गिरा हुआ था, जिस पर चलने पर गीला, लचीलापन लग रहा था। दो एक दिन पूर्व ही यह दुर्घटना घटी होगी क्योंकि इस पर बनी पगडण्डी ताजी-ताजी ही लग रही थी। जानकी-चट्टी से यमुनोत्री की अन्तिम और खड़ी चढ़ाई शुरू हो जाती है। इधर अखरोट के काफी पेड़ मिलते हैं। रामदाने की खेती तो आम बात है। रामदाने के लाल खेत किसी फुलवारी से कम नहीं लगते। धूप में इनके चटख लाल रंग ने अन्तिम चढ़ाई के समय बड़े आश्चर्य में डाल दिया था। खड़ी चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते पैर एकदम भर आये थे। मारे थकान के एक पत्थर पर बैठ गया। वही सहयात्री साधू भी पास ही के दूसरे पत्थर पर हँसते हुए बैठ गया। उसकी हँसी में व्यंजना थी

कि—'बस ?'—यमुना सामने के पहाड़ों में नीचे कहीं बह रही थी, जिसका स्वर आ रहा था। पहाड़ों की यह दरार नीचे उतरती गहरे चली गयी थी, जैसे सुरंग हो। तीसरे प्रहर के आसपास आठ हजार फीट की ऊँचाई पर रोज ही वर्षा हो जाती है भले ही थोड़ी देर को बादल घिर आये थे पर नीचे जहाँ सुरंग जैसी दरार का मुहाना था वहाँ धूप खिली हुई थी। और उस धूप में रामदाने का केवल एक लाल खेत ही चटख रंग में दिख रहा था। मैं यह भूल गया कि यह रामदाने का खेत दिख रहा है। मुझे लगा जैसे किसी बड़े से कड़ाहे मे लाल-लाल अंगारे भरे हुए हों। मैं न जाने क्या-क्या सोच गया। ऐसा मोहक दृश्य देख कर स्तब्ध रह गया।

यमुनोत्री में पहाड़ एक दम सिर पर खड़े लगते हैं। एक पहाड़ी मोखे में से यमुना आ रही थी। यहाँ यमुना जी का एक मन्दिर है तथा दो तप्तकुण्ड हैं। एक में तो इतना गर्म जल है कि लोग भात बनाने के लिए चावल की पोटली नीचे लटका देते हैं और चावल पक जाते हैं। मन्दिर से लगे हुए ही एक महात्मा रहते हैं जो इक्के-दुक्के यात्री को ठहरा भी लेते हैं। साथ आया साधू भी महात्मा जी के स्थान पर साथ ही रुका। वस्तुतः मैं चाहता रहा कि इन महाशय से किसी प्रकार पिण्ड छूटता।

थकान तो थी परन्तु महात्मा जी इस स्थान का महात्म्य बताते रहे। साथ आया साधू पूरे समय चिलम फूंकता रहा। महात्मा जी ही बता रहे थे कि यमुनोत्री वाले हिमनद के दूसरी ओर गंगा-घाटी है, जहाँ कि हरसिल स्थान पड़ता है। कुछ विकट ढंग के सिद्ध लोग इसी हिमनद से होकर ऊपर ही ऊपर चलकर गंगोत्री निकल जाते हैं पर यह अत्यन्त दुर्वह मार्ग है। मैंने अपने साथ आये साधू से पूछा कि क्या आप भी गंगोत्री जाएँगे? और जाने वाले हों तो इस दुर्गम मार्ग से चलने का विचार है?—उसने किसी बात का कोई उत्तर नही दिया। महात्मा जी ने तब एक दूसरा मार्ग सुझाया कि जानकी-चट्टी से यमुना पार करके जाने पर उस पार गंगनानी पहुँचा जा सकता है। जो आसान तो नहीं है पर दुर्गम भी नही।

मुझे लगा कि इस मार्ग से जाया जा सकता है। रात काफी हो चुकी थी।

यमुनोत्री में दो दिन रुकने के बाद चलना हुआ।

गोमुख।

कई दिनो बाद नया बल्कि कई महीनों बाद डायरी लिखने का मन हुआ। जीवन और मृत्यु के बीच कितना कम फासला है इसका अनुभव वैसे तो हिमालय में पग-पग पर होता है पर दो-एक बार तो प्रकृति की प्रचण्डता के सामने जब पर्वतों के टुकड़े उड़ते देखा तो लगा कि मनुष्य कितना नगण्य है, जबकि दम्भी यह सबसे अधिक है, शायद इसलिए कि सबसे अधिक कायर भी यही है। हिमालय में निरापद कुछ नहीं है।

यमुनोत्री से महात्मा जी द्वारा बताये गये रास्ते से जब चला तो पहली बात

यह हुई कि साथ आया साधू पहली रात के बाद ही वह कब, कहाँ चला गया यह महात्मा जी को भी नहीं मालूम था। मुझे उसके न होने पर शायद अच्छा ही लगा कि चलो उससे फंदा कटा। परन्तु यह भी लगा कि पहाड़ी निर्जन मार्ग में किसी के साथ होने पर अकेलापन नहीं लगता। उस दिन, लेकिन पद्मकाष्ठ वाली लाठी, एक सहयात्री जैसी लगी और भगवत् स्मरण करते हुए चल पड़ा था। महात्मा जी ने बताया था कि इस मार्ग पर एक बहुत बड़ा ताल मिलेगा और उस ताल से ही एक झरना निकलता है जो गंगनानी की ओर प्रपात बनकर गिरता है। पहाड़ों में इससे अधिक मार्ग की और क्या पहचान बतायी ही जा सकती है?

यह पहाड़, यमुनोत्री की एक बाँह जैसा ही है परन्तु इसकी ऊँचाई उतनी नहीं है जितनी कि यमुनोत्री की, इसलिए इस पर सर्वत्र बर्फ भी, सभी मौसम में नहीं रहती, पर इन दिनों इस पर वर्फ थी। बर्फ पर चलने का यह पहला अनुभव होगा, सोचकर अच्छा भी लग रहा था। ज्यों-ज्यों पहाड़ ऊँचा होता जा रहा था, वनस्पति विरल होती जा रही थी। चढ़ाई सच में बड़ी विकट थी। एक-एक पैर चढ़ने में दम फूला पड़ रहा था। अपनी एक भूल का पश्चाताप हो रहा था कि महात्माजी से यह नहीं पूछा था कि यह मार्ग कितने घंटों का है या दिनों का? पर अब पछताने से लाभ ही क्या था। चूँकि ऊँचाई काफी हो गयी थी इसलिए हवा भी शीत न रहकर बर्फीली हो गयी थी। अभी दो प्रहर ही हुए होंगे कि बादल हठात तेजी से घिरने लगे और देखते-देखते बादल एकदम काले हो आये। चारों ओर अँधेरा हो आया और रह-रह कर बिजलियाँ इतने निकट चमक रही थीं कि जैसे वे आँखें खोलकर आपके यहाँ चले आने पर क्रुद्ध हैं। हवा का प्रकोप इतना तीव्र था कि आप अगर किसी चट्टान को कसकर पकड़े हुए लेटे न हों तो हवा आपको उछाल कर सैकड़ों फीट नीचे किसी गड्ढे में फेंक दे। शायद इसी हवा में पेड़ों का जड़-मूल से हिला देने की क्षमता होती है। यहाँ के ये कद्दावर चीड़, देवदार, बलूत के वृक्ष अगर अपनी जड़ों को ठीक से न गड़ाये रहें तो ये हवा, आंधी, तूफान और वर्षा जंगल के जंगल साफ कर दें। वर्षा या मूसलाधार वर्षा की भी कल्पना की जा सकती है परन्तु प्रलंयकारी वर्षा कितनी दुर्दान्त होती होगी इसका अनुभव उस दिन पहली बार हुआ। इस प्रचण्ड मौसम में कौन चिंघाड़ रहा था, कौन चीख रहा था, कहना कठिन था। जंगलों से गुजरती हवा लपलपाती कोड़ा लगा रही थी। वर्षा पहाड़ों को थपेड़े मारे जा रही थी। चट्टानों से पानी टकराता हुआ फुंफकारता लग रहा था। रह-रहकर काँपती बिजली में यमुनोत्री का शिखर और हिमनद लपक उठते थे, इसके बाद पूरे आकाश में गर्जना जैसे ऐंठी पड़ती थी। घोड़ों की- आवाज जैसे इस पर्वत से

जैसे दौड़ते में वह अनजाने में पहाड़ से टकरा गयी हो। मुझे वह अपनी ओर लपकती आती जैसी लगी। पता नहीं क्यों ऐसा लगा कि....शायद....पर उस प्रकाश में यह भी दिखा था कि मैं किसी गुफा जैसी चीज के मुहाने के बहुत पास हूँ। पैरों के नीचे से पानी इतनी तेजी से बह रहा था कि रपटने का संकट था। उस अँधेरे में एक पैर बढ़ाना भी संकटपूर्ण हो सकता था पर वह संकट, भीगने के संकट से बड़ा नहीं था।

आश्चर्य तो यह था कि उस गुफा में निश्चिन्त भाव से चिलम पीता वही साधु बैठा था, जिसने हँसते हुए स्वागत किया,

— तुम तो हिमनद वाले रास्ते से हरसिल जाना चाह रहे थे।

मैं जवाब देने की स्थिति में ही नहीं था। वर्षा और ठण्ड के मारे कँपकँपी छूट रही थी। मैं तरबतर कपड़े गुफा के मुहाने पर ही निचोते खड़ा था। वह बोला,

— लो थोड़ी सी आँच है, ताप लो।

मुझे इस संयोग पर आश्चर्य था कि यह व्यक्ति सहसा यहाँ कैसे फिर मिल गया? निश्चय ही यह साधू इस मार्ग से अवगत होगा। मुझे कुछ भी पूछना उचित नहीं लग रहा था। इस छोटी सी गुफा में उसकी चिलम से पता नहीं तमाखू या गाँजे, या किस चीज की अप्रिय गन्ध भी थी, जिससे मुझे अरुचि हो रही थी। पत्थरों की मेड़ लगाये वह हाथ के पत्थर से आँच को जगा रहा था तथा उसमें एकाध नयी लकड़ी भी डाल दी थी जिसके कारण आँच ने न केवल आँखें ही खोली थीं बल्कि धुँआ भी देने लगी थी। वह स्वगत शैली में ही बोला करता था, बोला,

— जब भी कोई हिमनद फटता है तब ऐसी ही तेज वर्षा होती है और इतनी ही तेज आवाजें आती हैं।....हिमनद के रास्ते जाना कोई खेल समझ रखा है?....हिमालय कोई ईंट-गारे का पहाड़ है जिसे जब चाहो, जहाँ चाहो लाँघ जाओ....इतनी दूर से निकलने पर भी सूर्य भगवान को गुस्सा आ गया न कि मेरी बेटी के महल के पास से निकलने की यह हिम्मत किसने की?....बेचारे न जाने कितने पहाड़ों को दण्ड मिला होगा इसमें।

वह साधु किससे बोल रहा था, समझ में नहीं आ रहा था। पर लगा कि यह विचित्र साधु निश्चित ही औघड़ है। आँच जैसी थी उसमें हाथ की अँगुलियाँ अवश्य गरमा गयी थीं पर पीठ ओर से आती बर्फीली हवा और उसके साथ पानी का झपट्टा कँपाये दे रहे थे। साधू ने कमर से एक छोटी-सी कपड़े की थैली खोली और उसमें से घास जैसी कोई चीज का टुकड़ा तोड़ा और मुझे देते हुए कहा,

— लो।

नैं झिझकते हुए पूछा।

— क्या है यह?

— गांजा या तमाखु नहीं है। इसे अपनी एक दाढ़ के नीचे दबा लो। इस आँधी-पानी में बेमौत मर जाओगे नहीं तो।

और वह हठात उठा तथा गुफा के मुहाने पर खड़े होकर कुछ क्षण देखने के बाद लौटते

हुए बोला,

— कुछ कम हुआ है, पर शायद दो घंटे के बाद फिर प्रकोप बढ़ेगा।....चल सकोगे?

मुझे लगा कि मैं बहुत तेजी से पुनः स्वस्थ हो रहा हूँ। कँपकँपी नहीं रह गयी थी। हाथ-पैरों में ठण्डापन अवश्य था पर चैतन्य लग रहा था। उसने मेरी कोई चिन्ता किये बगैर अपना दण्ड सम्हालते हुए कहा,

— चलो, उठो। जल्द-से-जल्द नीचे उतरना होगा। सुन रहे हो इस पहाड़ के पेट में जैसे आवाजें दौड़ रही हैं।

मैं अभी कुछ समझूँ, इसके पूर्व ही वह मुझे लगभग घसीटते हुए गुफा के बाहर निकला। वर्षा थमी तो नहीं हो थी परन्तु वह तेजी नहीं थी। बादल धुन्ध बनकर पहाड़ों पर फैले हुए थे। जिस तेजी से साधू बढ़ रहा था उसमें मुझे कठिनाई लाख रही हो परन्तु पीछे-पीछे घिसटने के भाव से बढ़ने के लिए बाध्य था। उसकी हर चीज में व्यग्रता का भाव था। वह शायद जल्द-से-जल्द गंगा-घाटी में उतर जाना चाह रहा था इसलिए वह बहुत तेज-तेज घुमाव लेकर लगभग फाँदते हुए नीचे पहुँच रहा था। मैं भी उसी की तरह आचरण करने के लिए बाध्य था। मेरा प्रयत्न यही था कि उसके और मेरे बीच की दूरी कम-से-कम रहे। जगह-जगह मिट्टी में दरारें पड़ी हुई थीं। जिनके बीच से एकदम ठण्डा पानी खल-खल करते बह रहा था। कहीं-कहीं बर्फ पानी बनकर पिघल रही थी। मिट्टी में सने बर्फ के टुकड़े जिस तरह छितरे पड़े थे उससे साफ लग रहा था कि ये तेज हवा में उड़कर आये हैं। आगे चल रहे साधू को देखकर कोई कह सकता था कि वह जैसे पहाड़ पर से नहीं बल्कि स्वयं पर से उतर रहा है। उसके उतरने के ढग में अपरिचिति कहीं नहीं थी बल्कि जैसे वह रोज की सी बात है। बादलों में गड़-गड़ाहट बनी हुई थी। हवा, नीचे उतरने के कारण उतनी तेज तो नहीं लगा रही थी परन्तु थरथरा अवश्य रही थी।

और अन्तिम बार गंगा-घाटी में पैर रखने के पूर्व उसने मुझे हाथ के झटके से खींचा तथा सामने ही बहती गंगा की ओर एकटक देखकर हाँफते हुए बोला,

— वो देखो सामने लकड़ी का पुल है, जल्द से जल्द गंगा पार करो।

और वह उन्मत्त भाव से भागकर उस लकड़ी के पुल पर पहुँचा तथा एक क्षण ठिठक कर पीछे देखा कि मैं कहीं छूट तो नहीं गया हूँ?— अभी हम गंगा पार पहुँचे ही थे कि जिस पहाड़ से हम लोग अभी उतरे थे वह फट पड़ा। जैसे कोई अजगर अपने ऊपर लदी टनों मिट्टी-पत्थर को झाड़े, उसी ढंग से पहाड़ से पत्थर-मिट्टी बड़े जोरों की आवाज के साथ ढहने लगे। मिट्टी, कंकड़, बालू उड़-उड़कर चारों ओर छितरे पड़ रहे थे। गंगा में मिट्टी-पत्थर के गिरने से छपाक की आवाज हो जाती। मुझे दहशत नहीं, आश्चर्य हो रहा था। अभी जहाँ पहाड़ खड़ा था वहाँ मलबे का ढेर पड़ा था और उस मलबे को ठेलते हुए जैसे कोई बनैला पशु फुँफकारता भीतर से बाहर निकल रहा हो, इस प्रकार पानी का सोता बाहर निकला और, झरना बन कर खल-खल करता मिट्टी बहाता हुआ गंगा में कूद पड़ा।

साधू अब चलने की मुद्रा में था, क्योंकि उसका तनाव समाप्त हो चुका था। अपने ढंग से ही बोला,

— पहाड़ दिखने से क्या होता है, आचरण तो नदी की भाँति करता है। लोग समझते हैं कि हिमालय पहाड़ है—किस दिन समझेंगे कि यह चैतन्य सत्ता है।
—देखा ?

शायद साधू ने 'देखा' मुझसे कहा था। इस 'देखा' में पूरी व्यंजना थी कि गुफा से चलते समय कहा नहीं था कि पहाड़ के पेट में आवाजें दौड़ रही हैं ?—सच ही यह व्यक्ति सिद्ध न भी सही तो पहुँचा हुआ तो होना चाहिए तभी तो कैसे सहज पहाड़ चढ़-उतर रहा था जैसे घर का जीना चढ़-उतर रहा हो।
और तब हम लोग चल पड़े।

हरसिल पहुँचते-पहुँचते शाम हो गयी थी। रास्ते भर जगह-जगह पहाड़ टूटे पड़े थे जिनके नीचे पगडण्डियाँ दबी पड़ी थीं। कहीं-कहीं दो पहाड़ों के बीच की घाटी में बरफ की बड़ी-बड़ी शिलाओं के टूटने और बह कर नीचे आने से कई पेड़ टूट-टूट कर आये पड़े थे। भोजपत्र देखकर बताया जा सकता है कि ये बहुत ऊँचाई से आये हैं। चारों ओर पानी ही पानी का शब्द था। साधू ने बताया कि हरसिल से आगे अब इस आँधी-तूफान में नहीं जाया जा सकता। हरसिल में गंगा के उस पार सेब का बहुत बड़ा बगीचा दिख रहा था। शायद किसी जमाने में यह किसी अंग्रेज के द्वारा लगाया गया था। बगीचे में अभी भी उसकी बड़ी सी टूटी-फूटी कोठी है, जहाँ अब कोई नहीं रहता। सिवाय इस कोठी की किसी कोठरी के और कोई आस-पास गाँव भी नहीं था। पुजारियों के गाँव यद्यपि उस पार ही थे पर एक तो काफी ऊपर चढ़ना पड़ता और इस आँधी-पानी में वहाँ जाना उचित भी नहीं।—और किसी तरह लकड़ी के एक काम चलाऊ पुल पर से गंगा पार की ओर उस कोठी में पहुँच कर रात बिताने की तैयारी में हम लग गये।

सवेरे जब नींद खुली तो देखा कि मौसम बहुत साफ था। हवा अभी भी तेज थी, बर्फीली भी थी परन्तु बादल कहीं नहीं थे। इस कोठी में पहुँचने पर मौसम फिर बिगड़ा था परन्तु दिन भर की थकान होने पर भी साधु द्वारा लाये गये पुआल में घुस कर सोने पर किसी भी चीज का होश नहीं रहा। परन्तु फिर आश्चर्य हुआ कि वह साधु कहीं नहीं दिख रहा था। उसका यह व्यवहार दूसरी बार हो रहा था परन्तु इस बार सिवाय कृतज्ञ होने के मैं नाराज हो ही नहीं सकता था। कल उसने जिस प्रकार मेरे प्राणों की रक्षा की थी वह साधारण मनुष्य की बात तो हो ही नहीं सकती। तब भी मैं जब चलने के लिए तैयार हुआ तो कुछ देर प्रतीक्षा की कि सम्भव है वह यहीं कहीं गया होगा। ऐसा लगने लगा कि उसकी प्रतीक्षा करना निरर्थक है। ऐसा

अर्थात व्यक्ति भी प्रकृतिगत ही होता है।

भैरो-घाटी—लंका, हरसिल से कोई आठ-नौ मील दूर ही होंगे। मौसम भी खुल आया था। धूप निकल आयी थी। कल की प्रचण्ड वर्षा में वन एकदम स्नान किये व्यक्तित्व सा निखर आया था। पत्तों-पत्तों से धूप छनी पड़ रही थी। पत्ते धूप का स्वागत करते कैसे खिलखिलाते हुए बातें करने लग रहे थे कि जैसे हँस-हँसकर धूप को कल के सारे गर्जन-तर्जन के बारे में बता रहे हों। रात को हवा ने एक-एक पेड़ झकझोर डाला था इसलिए चारों ओर घास-फूस बिखरे पड़े थे। बड़े-बड़े पेड़ों के भीगे तनों से अभी भी पानी रिस रहा था। जगह-जगह भू-स्खलन हुआ था इसलिए रास्ता हर दस कदम पर रुक-रुक जाता था। ऊपर से आये मलवे के बारे में देखकर नहीं बताया जा सकता था कि इस गीले मलवे में कहीं बीच-बीच में दलदल तो नहीं है? वर्ना बार कहीं बरफ देखकर उस पर चढ़ें और बीच में दल-दल में फंस जाएँ, तब उससे मुक्त होने के लिए इस निर्जन में किसे पुकारेंगे? गंगा के किनारे-किनारे चलने में खतरा यह था कि पता नहीं ऊपर से कहीं दिखती कगार रात की भारी वर्षा के कारण इतनी भर टिकी हुई है कि पहले से गंगा ने उसे नीचे से उकेर दिया है, बस आपने पैर रखा नहीं कि आप गंगा के तेज प्रवाह में गये नहीं। हाथ की लाठी से टटोल-टटोल कर इन मलवों के ढेरों को पार करने में घण्टों लग गये। अच्छा यही था कि इस धुले मौसम में गंगा पार के गाँव बड़े ही धुले-धुले लिखे लग रहे थे। यहाँ कुछ प्राचीन मन्दिर के ऊपरी गुम्बद ही गंगा में दिखायी दे रहे थे, बाकी सारा भाग गंगा में डूबा हुआ था। इसी प्रकार के बारम्बार के भू-स्खलनों में कभी ये मन्दिर भी ऊपर से आये प्रबल वेग के हिम-स्राव में पड़ गये होंगे और गंगा में गिर गये होंगे या गंगा ने ही धीरे-धीरे अपना तट काटते हुए बढ़ाया होगा और एक दिन इन मन्दिरों को लील गयी होगी। यहाँ पहली बार कपिला गायें देखीं।

भैरोघाटी के इस पार जो बस्ती है वह लंका कहलाती है। लंका की ऊँचाई लगभग दस हजार फीट होगी। वहाँ पहुँचते-पहुँचते दो बज गये होंगे। चारों ओर बड़ा ही सुरम्य वातावरण है। यहाँ दो-चार बहुत ही साधारण दूकानें हैं, जिनमें यात्री ठहरते भी हैं और इनसे आटा-दाल-चावल भी खरीदते हैं। भुने चने के अलावा मिठाई के नाम पर बताशे, इलायचीदाने और सूखे पेड़े भी मिलते हैं। हाँ, यहाँ एक चीज किसी भी समय यात्रियों को मिल सकती है—वह है जलेबी; चाय तो शायद यहाँ लोग दिन भर पीते हैं। यहाँ के सर्द मौसम के कारण चाय और गरम कपड़े इन पहाड़ियों की खास पहचान है।

शाम होने के पूर्व ही भैरोघाटी पार करना निष्कंटक था। लंका से नीचे उतरना पड़ता है, कोई दो हजार फीट नीचे। बड़े पहाड़ों, वन की गम्भिन आरण्यकता के कारण यह घाटी बहुत अँधेरी है, जिसमें गंगा का प्रचण्ड घोष अनवरत आता है। यहाँ गंगा में बायें हाथ से एक और नदी आकर मिलती है। यह घाटी एक तो बहुत ही सँकरी है तथा खड़ी खड़ी उतराई है जिसके कारण दोनों नदियों में भयंकर प्रवाह है। गंगा का वेग

शायद सबसे उद्दाम रूप में भैरो-घाटी में ही है। दोनों ओर की खड़ी कई सौ फीट ऊँची चट्टानों के कारण मार्ग इतना तंग और टेढ़ा-मेढ़ा है कि लगभग एक तंग सुरंग सा है। इस कारण गंगा, एक क्रुद्ध श्वेत सर्पिणी के समान वेग और नाद के साथ इस घाटी में गुर्राती रहती है। प्रचण्ड वेग के कारण इन नदियों का पानी उछला पड़ता है, फलतः पूरी घाटी में बारहों मास टपकता भीगापन बना रहता है। दोनों नदियों का झपट्टा मारकर मिलना दो क्रुद्ध साँड़ों का अनवरत सींग लड़ाने के जैसा दृश्य उत्पन्न करता है।

आश्चर्य है कि यहाँ पहली बार ऐसा लगा कि पेड़-पौधे न केवल साँस ही लेते हैं बल्कि वे आपको देखते भी हैं। घाटी में जंगली गुलाब की बेलें खिली पड़ी थीं। एक और पुष्प भी खूब खिला हुआ था जिसे यहाँ सिलपाड़ा कहा जाता है। शायद इसका आयुर्वेदिक नाम पाषाणभेद है। प्रकृति जब अपने को अभिव्यक्त करने पर आती है तब वह न मरुस्थल देखती है, न चट्टान। पाषाण फोड़ कर उसका देवत्व जब फूटता है तब वासुदेव या पीपल बनकर अभिव्यक्त होता है और जब गंधमय अभिव्यक्ति होती है तब सिलपाड़ा जैसे अनेकानेक फूल खिल उठते हैं।

बायें हाथ वाली नदी पर दो लट्ठे रखकर काम चलाऊ पुल बना हुआ था। जिस अदम्य वेग के ऊपर यह पुल था उसे पार करते समय यात्रियों को पसीना छूट आता होगा। पैरों के नीचे उत्कृष्ट उद्दाम जानलेवा प्रवाह हो तथा चट्टानें आपके माथे पर खड़ी-खड़ी खड़ी हों जिन पर बूँदें उछल-उछल पड़ रही हों तथा पूरी घाटी में जल की गुर्राहट भरी हो तब ऐसे में अकेले-दुकेले काम चलाऊ पुल पर से नदी पार करना कितना कठिन होता है यह मुक्तभोगी ही बता सकता है। पता नहीं जब पहली बार आदि शंकराचार्य इन पर्वतों में आये होंगे जब सिवाय चरवाहों की कुछ पगडण्डियों के कोई मार्ग न रहा होगा तब वह कौन सी अदम्य जिजीविषा रही होगी जो उन्हें इस महादुर्गमता के बीच लायी होगी। इतने हजार वर्ष बीत जाने पर भी जब इस मार्ग की यह उत्कट दुर्गमता बनी हुई है, तो, तब क्या रही होगी?—और राम-राम करते पुल पार करके दूसरी ओर पहुँचा। अब फिर खड़ी चढ़ाई से ऊपर पहुँचना था। हर दो-चार कदम पर पगडण्डी टूटी पड़ी थी। नुकीले पत्थरों को पकड़-पकड़ कर टटोल-टटोलकर चढ़ना था। यदि जरा भी पत्थर सरका या पैर चूका तो सीधे गंगा प्रवाह ही होता। लगभग किसी किले की खड़ी दीवाल को चढ़ने जैसा था। इस बीच हल्की वर्षा होने लगी थी। गनीमत यह हुई कि थोड़ी सी तेज वर्षा होती तो इस भैरोघाटी में ही घिर जाता क्योंकि वापस जाने के लिए भी तो ऊपर चढ़ना होता जो कि उस वर्षा में सम्भव ही नहीं था।

महासत्ता के रौद्र रूप की दीवालें चढ़कर जब ऊपर पहुँचा तो रात आरम्भ हो चुकी थी। ऊपर पहुँचकर ही यह ध्यान आया कि मैं इस अँधेरे में ही चढ़कर ऊपर आया हूँ तो कँपकँपी आ गयी। परन्तु अँधेरे का यह भाव चढ़ते समय क्यों नहीं आया यह सोचकर ऊपर भय लगने लगा—कि कुछ भी हो सकता था। कहीं कोई दूसरा व्यक्ति नजर ही नहीं आ रहा था। सर्वथा एकाकी बना मैं उस शब्द प्रमुख भैरोघाटी

के अँधेरे में खड़ा था। अभी भी करीब तीन मील दूर गंगोत्री थी और इस मर्मभेदी ऐकान्तिकता में वही गन्तव्य थी। प्रकृति के वैराट्य में मनुष्य की नगण्यता का अहसास लाख हों पर साक्षात की प्रतीति भिन्न ही होती है। पेड़ों की उच्चाश्रयी सघनता के कहीं बहुत ऊपर दो-चार तारे टिमटिमाते दिख रहे थे। उन्हें देखकर लगा कि नहीं, आकाश में कोई है जो आपके साथ-साथ चल रहा है।

पूरे रास्ते प्रकृति की अजित सत्ता के बीच से गुजरते हुए गंगोत्री पहुँचा। एक हलवाई की दुकान पर दो एक पहाड़ी जिस प्रकार चाय पीते हुए बैठे थे उससे लगा कि अभी बहुत रात नहीं हुई थी। दुकान पर ही रात के लिए शरण मिली। पहाड़ों में दूध का स्वाद भी भिन्न होता है। दूध पी लेने से थकान पैरों पिंडलियों में जरूर थरथराती बाकी थी परन्तु स्वत्व में ताजगी अनुभव होने लगी थी।

यह मौसम यात्रियों का था ही नहीं इसलिए सिवाय दो चार साधु-संन्यासी या यहीं के दो-एक दूकानदारों के गंगोत्री में कोई नहीं था। गोमुख तक जाने का विचार था। गंगा-मंदिर के पुजारी ने कहा भी कि इन दिनों गोमुख कोई नहीं जाता। साधारण दिनों में भी लोग अकेले नहीं जाते तब भला इन दिनों कौन जाएगा? और जो जाते हैं वे शाम होने के पूर्व ही लौट आते हैं। तीसरे प्रहर के बाद प्रकृति किसी की उपस्थिति वहाँ नहीं सहन करती। बड़ी खड़ी चढ़ाई है। वहाँ जाने के लिए लोग बहुत सवेरे ही चल देते हैं। पर मुझे तो किसी भी हालत में गोमुख तक जाना ही था।

हरसिल से गंगोत्री तक बड़ी सघन आरण्यकता है। चीड़, देवदार के जंगल दर जंगल पहाड़ों को थामे-थामे ग्यारह-बारह हजार फीट तक चले आये थे परन्तु गोमुख के रास्ते के दोनों ओर ये वन पीछे हटते हुए दूर-दूर होने लगते हैं। कहीं-कहीं पद्मकाष्ठ के दो-दो चार पेड़ खड़े थे। हवा मे एक विशेष प्रकार की गन्ध आ रही थी जो कि हिमतुलसी की थी। जंगल पीछे छूट रहे थे, उनके स्थान पर पद्मकाष्ठ के पेड़ों की छोटी-छोटी संकुलता उभर आयी थी। यहाँ एक झाड़ी होती है जिसे बिच्छूबटी कहते हैं उससे सावधान रहने के लिए पुजारी ने खासतौर से कहा था। गंगा के उस पार विशेष रूप से शिटई के फूल कुछ दूर तक मिलते रहे पर ऐसा लगने लगा कि वे भी हाँफ कर पीछे रह गये। हाँ, हिमतुलसी बहुत प्रसन्न दिख रही थी। किसी ने गंगोत्री में ही बताया था कि असली हिमालय का आरम्भ वहीं से होता है जहाँ से भोजपत्र मिलने लगते हैं। पहला भोजपत्र देखकर इस वृक्ष की हिमालय-भक्ति देखकर स्तब्ध रह गया कि जहाँ सारे वृक्ष, सारे पुष्प, सारे फल, सारी सुषमा हिमालय की लालसा लिए न जाने कितने नदी-नाले, पहाड़, घाटी, उपत्यकाओं में पागलों जैसे चढ़ते-उतरते हजारों फीट ऊपर तक चलते चले आये पर ग्यारह बारह हजार फीट तक पहुँचते-पहुँचते सब थक गये परन्तु भोजपत्र इसके बाद अपनी यात्रा आरम्भ करने के संकल्प के साथ यहाँ वहाँ दिखने लगा था। हिम की अपनी गौरता के सामने कोई अन्य वर्णप्रिय नहीं इसलिए पूरी हरी आरण्यकता उदास होकर नीचे ही रह जाती है परन्तु केवल भोजपत्र अपने गौर स्वत्व के कारण हिमालय के अभ्यन्तर व्यक्तित्व, सत्ता का थोड़ा सा

दर्शन कर पाता है। अब बर्फ यदा-कदा दूर-पास फिसले-फिसले भाव से दिखने लगी थी। पगडण्डी कभी तो गंगा की कगार पर आ जाती तो कभी-कभी छिटककर दूर चली जाती। गंगोत्री तक तो आप को प्रायः कौवे दिख जाते हैं। प्रसन्न चिड़ियों का कलरव हरसिल तक थोड़ा घना रहता है परन्तु गोमुख के रास्ते तो कौवे भी नहीं दिखते शायद इसका कारण है कि यहाँ हवा बर्फीली तो होती ही है परन्तु पेड़ों की कोई रोक न होकर एक दम तीर सी चुभती है। जब मनुष्यों को साँस लेने में कष्ट होता है तब बेचारे पक्षी कैसे सहन कर सकते थे? और फिर थकने के बाद वे किस शाखा पर जा कर बैठें, जबकि एक ऊँचाई के बाद भोजपत्र भी नहीं होता। हिमालय इसी प्रकार उत्तरोत्तर अकेला होता जाता है और एक सीमा के बाद तो अपनी ही पर्वतता पर हठात खड़े होकर अजित, अभ्यंकर, अप्रतिम, नितान्त शिखर बनकर शिवत्व धारण कर लेता है।

इस गोमुख के मार्ग में ही लगा कि गंगा भी यहाँ बड़े ही एकान्त भाव से निश्चिन्त होकर, पूर्ण नारी बनकर बहती है। उसे पूर्ण विश्वास है कि वह चाहे अपने केश खोलकर बैठे या वस्त्र उतारे-बदले, किसी पुरुष की कहीं कोई आँख नहीं है। स्त्री अपने नारी-एकान्त में पूर्ण नारी होती है—सम्बन्धहीन। इधर का हिमालय काफी भुर-भुरा है तभी तो रह-रह कर कगार खरखराती, झरने से गंगा में गिरती सुनायी पड़ जाती है। शायद इसीलिए पगडण्डी निर्माण करने वाले कभी-कभी हट कर चलते आये हैं। वैसे भी हिमालय अभी शिशु-पर्वत है। विन्ध्याचल की भाँति इसका पुंजीभूत, सघन व्यक्तित्व नहीं है। इस ऊँचाई पर भी मिट्टी में अभ्रक की मात्रा साफ दिखलायी देती है। अब गंगा-हिमनद क्रमशः दिखने लगा था। आकाश की नीलिमा में बर्फ की तराशी हुई सीधी लकीर सी चली गयी थी। हवा में भारीपन था गंगा हिमनद संसार के विशाल हिमनदों में से एक है। इस हिमनद से जितनी बड़ी नदियाँ निकली हैं उतनी किसी हिमनद से नहीं निकली हैं। शिखरों, श्रेणियों और पर्वतीय समतलों वाले इस महाहिमनद की अटूट अखण्डता लाखों वर्षों, शताब्दियों से विद्यमान है। हिमनद के निष्कलंक स्वत्व पर कोई यात्री बनकर कभी इसकी सम्पूर्णता को लाँघा है, इसका प्रमाण नहीं मिलता। इसी महानद में जाग्रत हिमालय के पुरुष की पद्मासत्ता योगनिद्रा में लीन है। प्रकृति आक्षण पहरा दे रही है। सृष्टि की लीला का यह केन्द्र तीर्थ है। वह योग-पुरुष अपने प्रकृति रूप में कभी मेघ बनता है, कभी बर्फीली हवाएँ बनाकर दिशाओं तक को चीथ कर रख देता है, कभी नदियों में यात्रा-भाव से धरती पर नीचे उतरने लगता है, तो कभी वृक्षों में औषध-सुगन्ध बन कर उड़ने लगता है। परन्तु उसकी इस योगमाया को कोई नहीं जानता कि उस महाशब्द प्रणव का उच्चारण गंगा बनकर कैसे प्रवाहित होता है?

लगभग गोमुख पहुँच ही चुका था। आज पहली बार मेघ, वर्षा, हवा सबको एक साथ जैसे मेरे हठात आ पहुँचने पर असुविधा हुई और वे सामने के हिमनद के विशाल प्रसार पर क्रुद्ध होकर लपके। और देखते-देखते बिजलियों पर सवार

बादल उस प्रसार पर कुछ दूर तक दौड़े और ऊपर हवा में उठ गये। एक के बाद एक बादल, घटा बन रहे थे। प्रकृति कितनी सतर्क थी कि क्षणान्त में ही दृश्य का सारा लावण्य स्वरूप न जाने कहाँ विलीन हो गया और देखते-देखते दो दिन पूर्व की प्रलयंकारी वर्षा का स्मरण हो आया। एक क्षण को विचार भी आया कि यदि वैसी ही वर्षा का सामना करना पड़ा तो क्या होगा ? हिमनद पिघल-पिघल कर जिस कुण्ड में एकत्रित होता था उस गोमुख को मैंने अभी पगडण्डी से आते हुए ही देखा था। कुण्ड का जल बहने की चेष्टा में कहीं जमते हुए, कहीं पिघलते हुए कुण्ड से बाहर अनाम यात्रा पर निकल रहा था। कुण्ड के ऊपर बन्दनवार की तरह बड़ी-छोटी बर्फ की झालर टपक भी रही थी और जमी भी हुई थी। पिघली बर्फ से कुण्ड में बूंदों के गिरने की कैसी मासूम सी आवाज आ रही थी जैसे कोई सितार का चिकारेवाला तार बजाने की चेष्टा कर रहा हो। मैं सोच रहा था कि इस कुण्ड तक नीचे पहुँचने के लिए चक्कर लगाकर उस पार जाना होगा और यह गोमुख की परिक्रमा होगी परन्तु मैं अभी ऊपर पहुँचा ही हूँ कि प्रकृति ताण्डव नृत्य के लिए पूर्ण तैयार ही नहीं थी बल्कि थाप पड़ चुकी थी।

चारों ओर बर्फ की उजाड़ निर्जनता थी, केवल कहीं-कहीं बर्फ में धँसे भोजपत्र खड़े थे परन्तु वे भी इतने विरल थे कि वे संत्रस्त व्यक्ति जैसे लग रहे थे। रास्ते भर ठण्ढी, कुछ ज्यादा ठण्ढी हवा बराबर मिलती रही है। परसों कोड़े जैसी हवा का सामना भी कर चुका हूँ पर आज लग रहा था कि इस हिमांधी में बहुत देर खड़ा तो नहीं ही रहा जा सकता पर सिवाय किसी भोजपत्र को थामने के और कुछ ऐसा आश्रय नहीं था कि जिसके सहारे इस हिमांधी और प्रचण्ड वर्षा का सामना किया जा सकेगा। रह-रह कर बिजलियाँ कड़की पड़ रही थीं जिसके प्रकाश में बर्फ एकदम चमचमा उठती थी और आपको बर्फ, एक बड़े दर्पण सी लगती थी। गोमुख के उस पार पत्थरों का एक टीला सा दिखलायी दे रहा था, इसके पूर्व की स्थिति और भी बदतर हो यदि किसी प्रकार उस टीले तक पहुँचा जा सके तो सम्भव है वहाँ आश्रय लिया जा सके। इस मौसम में लौटना भी सम्भव नहीं था क्योंकि अंधेरा घिर आया था। बर्फ पर चलना बहुत खतरनाक होता है, यह अब तक समझ चुका था। उस टीले तक बिना इस हिमनद के मुहाने को पार किये नहीं पहुँचा जा सकता था। हाथ की लाठी से ठोक-टटोल कर इस प्रचण्ड मौसम में हिमनद पार करना अपने जीवन के साथ खेलना ही था परन्तु अनेक बार मनुष्य को प्राण रक्षा के निमित्त जीवन को मृत्यु के हवाले करना ही पड़ता है। जीवन और मृत्यु का यह सहयोग, सान्निध्य कितना ही अविश्वसनीय क्यों न लगे दोनों ही एक दूसरे के विरोधी, पूरक और सहचर होते हैं। काले कजरारे मेघों ने आकाश को आक्रमणकारी व्यक्तित्व प्रदान कर दिया था जो, सपलपाती, टूट-टूट पड़ती बिजलियों और धारदार हवाओं के खड्ग से पर्वतों पर उद्दाम भाव से चीखता-चिल्लाता दौड़ रहा था।

यह पत्थरों का टीला, वस्तुतः अनगढ़ गुफा जैसा ही था। हिमनद के प्रवाह

को बचाकर थोड़े ऊँचे पर स्थित इस टीले को मन्दिर या गुफा कुछ भी कहा जा सकता था। एक एकान्त प्रतिमा भी थी, जो किसी की धार्मिक आस्था की प्रतीक लग रही थी और निश्चय ही गंगा की रही होगी। इस इतने उजाड़ निर्जन में आस्था के प्रतीक को देखकर न जाने क्या-क्या विचार आये। धर्म और काव्य का कितना गहरा सम्बन्ध है यह आज समझ में आया। बिना काव्य के धर्म गूंगा है और बिना धर्म के काव्य तपोभ्रष्ट शक्ति है। काव्य का स्पर्श धर्म रूप में ही सम्भव है जबकि धर्म का आनन्द काव्य के रूप में ही हो सकता है।

दूर से जो टीला लग रहा था वस्तुतः वहाँ कोटर जैसी दो कोठरियाँ थी। यहाँ किसी के होने का कोई प्रश्न ही नहीं था परन्तु तब भी यह सोचकर असुविधा हो लग रही थी कि पन्द्रह-सोलह हजार फीट पर तथा इस दुर्दान्त मौसम में रात काटनी पड़ेगी। ऐसे में अकेले रात काटना साधारण मनःस्थिति में भयद ही है परन्तु क्या यह भी सत्य नहीं है कि निर्भयता का राजमार्ग परम भय से होकर ही गुजरता है? आपके अलावा कोई अन्य आप जैसा उपस्थित न हो और विराट, परिपार्श्व बनकर खड़ा हो, तो यह भय का कारण होना चाहिए अथवा उत्सव का भाव जगना चाहिए? खुमानी के फूलों से लदा वृक्ष यदि आनन्द जगाता है तो बादल-बिजली के फलों-फूलों से लदा आकाश-वृक्ष क्यों नहीं आनन्द देना चाहिए? शायद मनुष्य किसी भी प्रकार की महानता से ही भय खाता है। चूंकि वह सीमित है इसलिए सब कुछ सीमित ही चाहता है। क्या सगुणोपासना और मूर्ति का यही प्रयोजन और तत्त्व है?

तत्वतर स्थिति में कैसे यहाँ रात बीतेगी, यही सबसे बड़ा प्रश्न था। यह भी लग रहा था कि गंगोत्रीवाले पुजारी ने ठीक ही कहा था कि इन दिनों गोमुख नहीं जाया जाता और विशेष रूप से अकेले तो नहीं ही। परन्तु बीते हुए पर सोचना व्यर्थ था। सब कुछ भगवान को सौंप देना ही उचित था। उसी के प्रेरणा से चला, यहाँ पहुँचा और आगे की भी वही जाने। तभी किसी के खाँसने की आवाज सुनायी दी। एक क्षण को आवाज़ सुनकर कँपकँपी आ गयी कि यहाँ क्या कोई अन्य भी उपस्थित है?—लेकिन कौन? उन्हीं के जैसा ही कोई आश्रयखोजी होगा, और कौन हो सकता है?—और वह खाँसता, व्यक्ति बनकर सामने आ खड़ा हुआ।
कौन?—अरे यह तो वही साधू है। क्या, सच ही?....कैसा अजीब संयोग है न? क्या यह सच ही मात्र संयोग है? नहीं, लगता है इसका कोई प्रयोजन होगा। क्या? जो हो।

तीसरी बार देखकर इस साधू के व्यक्तित्व में स्पष्टतः विशेपता लगने लगी। पहली बार इसका व्यक्तित्व कितना वितृष्णात्मक लगा था परन्तु दुबारा मिलने पर चिन्ता करते आत्मीय जैसा लगता था परन्तु इस समय सामने खड़ा व्यक्ति जिस मोहिनी मुसकराहट के साथ खड़ा था उसमें वह स्वयं तो निर्भय था ही परन्तु आपको भी निर्भय बना रहा था। वह व्यक्ति न लग कर आकण्ठ सुगन्ध लग रहा था। न देखने न बोलने किसी में भी लेश मात्र भी पहले के दोनों व्यक्तियों की कोई हल्की सी भी प्रतीति नहीं थी।

— आखिरकार तुम आ ही गये। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था शिव !
अपना नाम सुनकर मैं चौंका। इन्हें मेरा नाम कैसे ज्ञात हुआ ? मैंने तो शायद बताया नहीं था।

— बहुत आश्चर्य करना ठीक नहीं शिव ! व्यर्थ की बहुत अधिक जिज्ञासाएँ भी मनुष्य को नहीं रखनी चाहिए उससे तत्व के प्रति एकाग्रता में बाधा होती है। इतना समझ लो कि संयोग कुछ नहीं है। सृष्टि में निरन्तर एक केन्द्रीय प्रयोजन-दृष्टि कार्यरत है। उठो, बहुत भीग गये होगे। देखो, तुम्हारे लिये आग तैयार किये बैठा था। आओ।

और वह मुझे दूसरी वाली कोठरी में लिवा ले गये।

उन्हें अब मैं अनायास बाबा कहने लगा था। एक सप्ताह तक वह वहाँ रहे। सामान्यजन के सन्दर्भ में जो अनुभव—भाषा, तर्क और कल्पना से भी परे हो उसे अभिव्यक्त करने का भी कोई मतलब नहीं होता। बाबा को सच ही जैसे मेरी प्रतीक्षा थी। उनके और मेरे बीच बहुत, कुछ आदान-प्रदान हुआ। अब गोमुख का स्वरूप ही मेरे लिए बदल चुका था। चलने के पूर्व उन्होंने मेरी दक्षिण भुजा पर एक शिवलिंग बाँध दिया और बिना कोई अवधि बताये आदेश दिया कि अभी मुझे यहाँ रहना है। उन्हें जाते देखकर हल्की-सी असुविधा मन में हो रही थी परन्तु उनकी बात कानों में गूँज रही थी कि आज के बाद अपनी अन्तःप्रेरणा के अनुरूप ही काम करना। केदार-बदरी के दर्शन करने के बाद किस प्रकार मानसरोवर की ओर निकल जाना यह भी यथा सम्भव स्पष्ट कर दिया। वह जिस सहज भाव से हिमालय पर चलते हुए एक सीमा पर जाकर विलीन हुए, उस बिन्दु पर बाबा का व्यक्तित्व बड़ी देर तक थरथराता बना रहा और फिर बुलबुले के समान फूट गया। और मैं फिर एकाकी हो उठा-ठीक तो नहीं कह सकता, परन्तु शायद तीन वर्ष तक रुका रहा और एक दिन गुलाल-उत्सव जैसे प्रातःकाल में हठात प्रेरणा हुई—कि, बस, शिव ! चलो, एकदम चल पड़ो...और प्रातः कालीन लालिमा मे रंगी पड़ी बर्फ पर चलते हुए उस दिन जितना असीम आनन्द हुआ वैसा अवर्णनीय सुख कभी जीवन में नहीं मिला होगा।

'बाबा' का आदेश था कि संप्रेषित करने से मनुष्य की शक्ति क्षय होता है इसलिए पिछले दिनों डायरी लिखना एकदम बन्द कर दिया था पर आज ऐसा लग रहा है कि यह शायद अन्तिम बार लिख रहा हूँ, क्योंकि कल सवेरे सिद्धेश्वर बाबा को जोशी मठ नीचे चले जाना है। उन्हें कुछ पत्र और यह डायरी दे रहा हूँ ताकि अब वह उज्जैन जाएँ तो पत्रों को और इस डायरी को भी दे दें। अस्तु—

ऐसा महात्म्य है कि देवप्रयाग और रुद्रप्रयाग के संगमों में स्नान किये बिना

केदार-बदरी के दर्शनों का पुण्य-लाभ नहीं मिलता। यदि बाबा का ऐसा आदेश न होता तो संभव था कि ऊपर के किसी मार्ग से गंगोत्री होते हुए केदार निकल जाता पर नीचे देवप्रयाग जाना पड़ा। रुद्रप्रयाग के संगम जैसा विकट और अद्भुत संगम दूसरा नहीं है। रुद्रप्रयाग से तब केदार पहुँचा।

केदारनाथ और बदरीनाथ के बीच में केवल अढ़ाई कोस की ही वास्तविक दूरी है। कभी दोनों का एक ही पुजारी होता था, जो दोनों जगह बारी-बारी से पूजन करने पहुँच जाता था। भूस्खलन के कारण पर्वत के स्थान पर घाटी और घाटी के स्थान पर पर्वत बन गये और वह प्राचीन मार्ग नष्ट हो गया। फलतः लोगों को फिर नीचे रुद्र-प्रयाग तक आकर वापस बदरी के लिए चढ़ना होता है। यह लोकोक्ति कि नौ दिन चले अढ़ाई कोस इसी तथ्य को व्यक्त करती है कि अब पैदल नौ दिन में केदार से बदरी जाना होता है। परन्तु बाबा ने उस प्राचीन मार्ग के भी ऊपर एक मार्ग है जो बर्फीला है और जिस पर से सिद्ध योगी लोग आते-जाते हैं, यह बता रखा था। मुझे ऐसा लगा कि बाबा ने यह बात केवल कहने के लिए नहीं कही थी और मैं इसी दुर्गम मार्ग से बदरी के लिए चल पड़ा। चारों ओर बर्फ ही बर्फ कह देने से कुछ भी तो व्यक्त नहीं होता। शब्द, किसी अनुभव की एक सीमा तक प्रतीती भर करा सकते हैं। पूर्ण के लिए तो उसमें से गुजरना ही होता है। प्रकृति कितनी रहस्यमयी है इसका बोध बहुत कठिनाई से होता है। उसका रम्य या रौद्ररूप केवल आपको भ्रम में डाले रखने के लिए ही है ताकि आप उसके विभिन्न उपादानो के तात्विक स्वरूप के रहस्य से अवगत न हो सकें। अपात्र के सामने जब स्त्री अपने को व्यक्त नहीं करती तब प्रकृति जैसी महा-शक्ति भला कैसे अपने को व्यक्त करेगी ? आप उसके बाह्य जड़-कलेवर से ही टकरा कर रह जाते हैं। प्रकृति को उसके प्राकृत रूप-स्वरूप में दृष्टि के साथ नहीं बल्कि दृष्टिजित होकर देखा जा सकता है।

मुझे अब बदरीनाथ से भी चलने की तैयारी करनी थी। बाबा का आदेश था कि मन की जब निर्वेद की स्थिति हो जाती है तभी हिमालय स्वीकारता है, मार्ग देता है और सुरक्षा भी। हिमालय जब आप में प्रस्थापित हो जाता है उस दिन मार्ग और स्वत्व पर से सारे कर्मों, संस्कारों के आच्छद, कलेवर उतर जाते हैं और दिव्य गौर देह तथा मनस प्राप्त हो जाता है—आप स्वयं हिमालय हो जाते हैं। 'ब्रह्म-कपाली' पर सारे पूर्वजों का श्राद्ध, तर्पण करने के बाद केश और जनेऊ अलकनन्दा में प्रवाहित कर दिये। सारा कर्ता-भाव तो पहले ही उतार चुका था। भविष्य में कर्म से भी विरत होना था तभी तो आत्म साक्षात्कार के हिमपथ पर बढ़ा जा सकता था। अभी तक बाबा का एक संकेत मर्म की भाँति कहीं अन्तस में चुभा हुआ था कि—शिव ! किसी के लिए सही, यदि कोई भी, कैसा भी सात्विक कर्ता-भाव भी है तो उसे भी आसक्ति

ही समझना चाहिए और यह पवित्र आसक्ति भी बाधा है। दिशाएँ जब धारण कर लीं तब व्यष्टि कहाँ है ? सब कुछ समष्टि है—उतार फेंक सब कुछ अपने अन्तर-बाह्य के व्यक्तित्व पर से। स्नान से यदि यह मल नहीं दूर होता तो अभिषेकित हो जाओ। बर्फ भी नहीं, स्फटिक सा निर्मल पारदर्शी होना पड़ेगा तभी शिवत्व जागेगा शिव ! तभी जागेगा।

बाबा का संकेत स्पष्ट था और इसी के लिए पिछले दिनों घण्टों अलकनन्दा के घाट पर संकल्प-विकल्प मन में चलता रहा।

मन्दिर के पट एकाध दिन में बन्द होने वाले हैं। ज्ञान के द्वारा जानने का कोई अर्थ नहीं होता, यह भी समझ चुका था। जिस प्रेरणा की प्रतीक्षा थी वह स्फुरण नहीं हो रही थी। बारम्बार मन में आता था कि क्या इस महागोपुर से ही लौट जाना होगा ? लेकिन क्यों ? क्या है अब उस पीछे छूटे संसार में ? नहीं, ऐसा नहीं होगा। एक दिन ब्रह्म बोलेगा—शिव ! प्रतीक्षा करो। यहाँ से लौट जाने के लिए बाबा ने तुम्हें नहीं बुलाया है। प्रभु की कृपा अवश्य होगी। केवल धैर्य धरो।

मन्दिर के पट परसों ही बन्द हो चुके हैं...आखिर कब तक ?—और लगा कि बाबा जैसे हँस रहे हैं।—सच, यह हँसी तो बाबा की ही है—उठो शिव ! प्रेरणा कितने प्रसन्न भाव से खिलखिला रही है।...किसी के प्रति भी कोई भाव का अब कोई अर्थ नहीं....केवल निर्वेद !! केवल वह प्रतिबिम्ब की लीला थी। लीला, माया का खेल समाप्त हो गया—जल में देखो कैसी प्रशान्त, स्फटिक, उज्ज्वल हिम शांति विराजमान है—केवल तत्व !! केवल शिव !!ॐ!! शान्तिः शान्तिः शान्तिः !!

रात में वैसे तो गोविन्द देर से ही लौटा था परन्तु जब उतनी रात में भी मासीमाँ के कमरे की बत्ती दूर सड़क से दिखी भी तो उसे आश्चर्य हुआ था। वह सशंक मन से सीढ़ियाँ चढ़कर हॉल तक गया भी था। उनके कमरे के सामने पहुँच कर कुछ ठिठके भाव से आहट लेने की चेष्टा भी की थी। मन में आया भी था कि क्या

मासीमाँ को आवाज दे ? पर उसे लगा कि नहीं, यह शोभनीय नहीं होगा। और वह अपने कमरे में लौट आया था। बड़दा का पत्र, दीदी के यहाँ की सारी कारुणिक मनःस्थिति तथा मासी माँ का यह आचरण उसे मँथे दे रहा था। बहुत देर तक जागता रहा परन्तु वह कब नींद में डूब गया पता ही नहीं चला।

गोविन्द अभी सो ही रहा था कि नौकरानी ने बहुत घबराये हुए स्वर में बताया कि वह जब कमरे में गयी और माँ जी को जगाना चाहा तो देखा....कि . क्या ? और वह बहुत अस्त-व्यस्त मनःस्थिति में ऊपर पहुँचा।... देखा, मासीमाँ अचेत ही नहीं वरन...बत्ती जल रही थी। डायरी सामने खुली पड़ी थी।. जले हुए कागज की राख एक पात्र में टेबल पर रखी हुई थी . .शायद...वह स्तब्ध हो खड़ा देखता रहा। लेकिन कब तक ?

और थोड़ी ही देर में सब एकत्र हो गये।

पण्डित शिवशंकर आचार्य और श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय के न रहने पर गोविन्द यद्यपि अपनी दुर्गा दीदी से भावनात्मक स्तर पर अभी भी जुड़ा हुआ था परन्तु उसे लगने लगा कि अब धूप चढ़ आयी है और उसे निर्णय लेना ही होगा। सबसे पहले तो उसने मासीमाँ वाला मकान बसन्ती से खरीद लिया। एक तो वह उस मकान से भावना के स्तर पर जुड़ा हुआ था और नहीं चाहता था कि यह किसी ऐसे-वैसे के हाथों में जाकर किसी दिन विलीन हो जाए अतः जब बसन्ती ने इसे बेचने की चर्चा चलायी तो उसने इसे खरीद लिया। उसे स्वयं जब उज्जैन में ही रहकर वकालत करनी है तब एक स्थान की तो आवश्यकता थी ही और इस मकान से अच्छा कोई दूसरा मकान हो नहीं सकता था—खूब प्रशस्त और मौके का था, दूसरे, वह यहीं रह भी रहा था। बसन्ती के लिए उज्जैन में एक मकान रख छोड़ने का कोई औचित्य भी नहीं था अतः पण्डित नागेश्वर उपाध्याय, पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल आदि से परामर्श के बाद गोविन्द ने मकान खरीद लिया। वकालत उसने आरम्भ कर ही दी थी पर अभी वह पूरी तरह निर्णय नहीं ले पाया था कि राजनीति में कितना सक्रिय हो। उसे अपनी इस प्रकार की सक्रियता के कई पक्ष-विपक्ष दिखते थे। सार्वजनिक-सभा में स्पष्टतः दो ग्रुप थे जिसमें एक ओर रावलजी, परीखजी और गिरिधर ठक्कर थे तो दूसरी ओर अयाचित, पुस्तके आदि थे। इस दलबन्दी का एक पक्ष यह भी था कि मराठी ग्रूप सब कुछ के बाद भी महाराज के प्रति भक्ति बनाये रखना चाहता था। इस दलबन्दी का यही मूलाधार था। राज्य की राजनीतिक गतिविधियों में सींधिया घराने के स्वार्थों की रक्षा करने का काम इसी मराठी ग्रूप पर ही था। चूँकि इस ग्रूप को राजवंश का प्रश्रय प्रच्छन्न रूप से प्राप्त था तथा अधिकांश लोग नामांकित वकील थे जबकि दूसरे दल के लोग समाज-सेवी लोग थे, जो चाहते थे कि पूरे देश की कांग्रेसी राजनीति से सार्वजनिक-

सभा जुड़ी रहे। गोविन्द अपने को इस दूसरे दल के ही ज्यादा नजदीक पाता था जब कि पेशे से वह मराठी दल के वकीलों के साथ था। वकीलों का एक और अच्छा खासा समुदाय था—जिसमें भार्गव, मनाना, गुप्ता आदि गैर मराठी प्रख्यात वकील भी थे जो सभा की गतिविधियों, चुनावों में भाग लेता था पर वह एक प्रकार से सन्तुलन की सीमा रेखा पर खड़ा रहता था—जो न अवसर खोना चाहता था और न किसी प्रकार का संकट मोल लेना चाहता था। धूर्जटी ने वकालत के साथ-साथ राजनीति में रुचि लेना आरम्भ कर दिया था और वह वकीलों के इसी दल में था जो न जनता से प्रतिबद्ध था, न श्रीमन्त सरकार से। वह अपने स्वार्थ को ही केन्द्र में रखकर राजनीतिक समस्याओं, प्रस्तावों, चुनावों में भाग लेता था, सहयोग देता था या विरोध करता था।

लेकिन जिस बिन्दु पर पहुँचकर वह कोई निर्णय अभी तक नहीं ले पाया था—वह था विवाह। तब भी वह इतना तो निश्चित कर चुका था कि जब वकालत करनी है तो फिर गृहस्थी भी बसानी होगी।

जिस हॉल में कभी मासीमाँ बैठा करती थीं, गोविन्द ने वहाँ अपना चेम्बर बना रखा था। नीचे के कमरे अभी तक खाली पड़े थे। वह ज्यादातर ऊपर के दो-तीन कमरों को ही काम में ला पा रहा था। इस समय उसके गाँव से आये तीन-चार किसान उसके सामने बैठे थे। जमीन का कुछ झगड़ा था। कल पेशी थी। गोविन्द उन्हीं का केस तैयार करने में व्यस्त था कि तभी गिरिधर ठक्कर और पंचानन ने प्रवेश किया। गोविन्द ने मिसिल से सिर उठाकर देखा और कहा,

— अरे वाह, कई दिनों बाद आप दोनों दिखे। आइए बैठिए, बस पाँच मिनिट में फुर्सत हो जाएगी कल पेशी है।

— कोई बात नहीं मामा! हमें कोई जल्दी नहीं है।

पंचानन ने गोविन्द मामा की बात का जवाब दिया और मासीमाँ के जमाने के बड़े से दीवान पर गिरिधर ठक्कर के साथ जाकर बैठ गया। इस दीवान पर पंचानन् बचपन से बैठता रहा है, बस, पहले यह हॉल के बीचोबीच रखा रहता था तो अब लम्बी खिड़कियों के पास सरका दिया गया है जिसके कारण दूर तक पीछे का बगीचा तथा हरिसिद्धि के दोनों दीपाधार तक दिखलायी देते हैं।—और सचमुच ही पाँच मिनिट में ही गोविन्द ने काम पूरा करके उन आदमियों को चलता किया और हँसते हुए वह भी दीवान पर आकर बैठ गया।

— आज कई दिनों बाद गिरिधर भाई! आप दिखलायी दिये।

— अरे हम लोगों का क्या गोविन्द! समय तो तुम लोगों का कीमती है।

— कम से कम आप तो हर चीज को पैसे से न जोड़ें।

— मैं देख रहा हूँ धीरे-धीरे पैसा चारों ओर आँख खोल रहा है।

इस पर पंचानन बोला,

— तो गिरिधर भाई! किसी दिन यह पैसा फिर आँख भी दिखाएगा।

गिरिधर ठवकर बोले,
— गोविन्द ! बहुत जल्दी में तो नहीं हो ?
— क्यों ?
— कुछ बातें करनी हैं ।
— आप जरूर करें, मुझे कोई जल्दी नहीं है।
— मेरा ख्याल है गोविन्द ! कि अब तक तुम निर्णय ले चुके होगे कि राजनीति में जाना है, या नहीं । ठीक है न ?
— आप बोलते चलें ।
— वाह यार ! तुमने मुझे भी कोई गवाह समझ लिया है क्या ?
और सब हँस पड़े । गोविन्द बोला,
— निर्णय ही समझिए ।
— तो फिर तुमने यह भी तय कर लिया होगा कि वकीलों वाली राजनीति की जाए या समाजसेवियों वाली, है न ?
— आपको क्या लगता है ?
— मुझे मालूम है ।
— क्या ?
— कि तुम जिस मिट्टी के बने हो उसमें वकालत लाख करो परन्तु राजनीति में तुम समाजसेवियों के ही साथ होगे । तुम धूर्जटी नहीं हो ।
— गिरिधर भाई ! आप इस पंचानन से क्यों नहीं कहते कि यह भी राजनीति में कुछ रुचि ले । कालेज की प्रोफेसरी में तो समय ही समय है ।
— तुम इसके मामा हो, तुम क्यों नहीं कहते ?
इस पर पंचानन हँसते हुए बोला,
— क्या शुक्ल परिवार और उपाध्याय-परिवार पूरा का पूरा मय गोविन्द मामा के सार्वजनिक-सभा पर कब्जा जमा लें, यही आप लोग चाहते हैं ? षड्यन्त्र तो बढ़िया है ।
इस पर गिरिधर ठवकर हँसते हुए बोले,
— बात तो तुमने पते की कही । नागेश्वर जी ने जब से 'स्वदेशी वस्त्र-भण्डार' अलग से खोल लिया है जानते हो लगभग यही बात लोग कानाफूसी में कहते हैं कि सार्वजनिक सभा पर ये गुजराती ब्राह्मण लोग कब्जा करना चाहते हैं ।
गोविन्द बोला,
— लेकिन धूर्जटी तो उन्हीं लोगों के साथ है ।
— एक तो धूर्जटी किसी के साथ नहीं है, वह केवल अपने ही साथ है । दूसरे इस मनःस्थिति में वे लोग यह भी तो सोच सकते हैं कि हमीं लोगों ने उसे अपने एक आदमी के रूप में उन लोगों के बीच छोड़ रखा है ।
— बहुत गलत नहीं होगा यदि ऐसा वे सोचें....पर वहाँ धूर्जटी दादा से दूर आदमी

ज्यादा ही चालाक है।

पंचानन की बात सुनकर सब लोग गम्भीर हो उठे। गिरिधर ठक्कर बोले,
— जो हो, गोविन्द ! आज सन ३५' में अब वह राजनीति नहीं रह गयी है।
— कौन सी ?
— लगता है गांधीजी घिर गये हैं। नमक-सत्याग्रह से बात कुछ बनती परन्तु भगत-सिंह की फांसी के बाद गांधी की आवाज डूबने लगी है। लाख वह 'हरिजन' निकालें परन्तु अंग्रेज जिस प्रकार मुसलमानों को राष्ट्रीय स्तर पर अलग कर देना चाहते हैं उसी प्रकार सामाजिक स्तर पर हरिजनों को हिन्दू समाज से अलग कर देना चाहते हैं ताकि स्वाधीनता का आन्दोलन इन सारे दुष्चक्रों में फँस जाए और वे शासक बने रहें।

इस पर गोविन्द बोला,
— लेकिन गांधी ऐसा कभी नहीं होने देंगे।
— अभी तो यरवदा-जेल से गांधीजी को छोड़ भी दिया है परन्तु किसी दिन....
— लेकिन यह आप क्यों भूलते हैं कि प्रान्तों में नये सुधारों के आधार पर जो आटोनामी मिल रही है उसमें कांग्रेस चुनाव लड़ेगी और तब सत्ता सम्हालने पर इस दुरावस्था पर अंकुश लगाएगी।
— तब तो गांधीजी को कांग्रेस की सदस्यता नहीं छोड़नी चाहिए थी। आगे बढ़कर चुनाव लड़ना चाहिए।
— गांधी जी सत्ता प्राप्ति के लिए नहीं बल्कि स्वाधीनता दिलाने के लिए ही राजनीति में हैं।

इस पर गिरिधर ठक्कर बोले,
— इस प्रकार की आदर्शवादिता से गांधीजी का जो भी लाभ हो, देश का नहीं होगा।
— गिरिधर भाई ! आदमी को एक-एक सीढ़ी चढ़नी होती है।
— पर यह तो मालूम होना ही चाहिए कि सीढ़ियाँ ले कहाँ जाती हैं ?
— आप बहुत निराश हैं, क्यों ?
— पूरी पतीली का भात नहीं देखा जाता गोविन्द ! हमारे इन स्थानीय नेताओं के ही तो बड़े रूप होंगे हमारे राष्ट्रीय नेता लोग—उन पर अंकुश कौन लगाएगा ?
— गांधीजी तो हमेशा रहेंगे नहीं। हमें तो एक ऐसी व्यवस्था को जन्म देना होगा जो सब का प्रतिनिधित्व करे और सबको नियंत्रित करे।

इस पर गिरिधर ठक्कर बोले,
— रहे तुम पोगा-पण्डित ही गोविन्द ! कोई अपने हाथों ऐसी व्यवस्था बनाना चाहेगा ?
— तो फिर जनता किस दिन के लिए होगी ? उसे सही व्यक्ति ही चुनना होगा।
— गोविन्द ! मैं बहुत आश्वस्त नहीं हूँ कि समाज के ये बड़े-बड़े वकील, व्यापारी

लोग जो इस आन्दोलन में घुसे बैठे हैं यह किसी दिन सत्ता को अपने कब्जे से बाहर जाने देंगे।

इस पर गोविन्द बोला,

— क्षमा करें गिरिधर भाई! सत्ता पर पहुँच कर अगर गाँधीवादी भ्रष्ट हो जाएंगे तो क्रान्तिकारी भ्रष्ट नहीं होंगे, यह आप कैसे मानते हैं?

— क्रान्ति का जन्म ही जनता से होता है।

— चलिए फिलहाल ऐसा मान भी लें परन्तु जन्म के बाद? क्रान्ति हो जाने के बाद क्रान्ति भी सत्ता पर पहुँच कर सत्ताधीश नहीं बन जाएगी? और सत्ताधीश तो जैसे होते हैं...

— लेकिन रूसी क्रान्ति में तो ऐसा नहीं हुआ। वह जनक्रान्ति, सर्वहारा की क्रान्ति थी तभी तो वहाँ मजदूर-राज कायम हुआ।

— क्या आप नतीजों पर बहुत जल्द नहीं पहुँच रहे हैं?... क्या कम्यूनिस्ट पार्टी और आम मजदूर एक ही बात है? अखबारों में जो कभी-कभी खून-खराबे की खबरें आती हैं वे....

— ये अखबार पूँजीपतियों के हैं। इनके न्यस्त स्वार्थ हैं।

— फ्रान्स की क्रान्ति भी तो मानवीय बन्धुत्व, समता के लिए हुई थी और उसमें से ही नेपोलियन निकला था।

— इन दोनों क्रान्तियों में तात्विक अन्तर है गोविन्द! फ्रान्स की क्रान्ति के पीछे मार्क्स की ऐतिहासिक समझ, द्वन्द्वात्मकता का आधारभूत चिन्तन तथा सर्वहारा वर्ग का वैसा संकल्प नहीं था जैसा कि रूसी क्रान्ति के पीछे है।

— लेकिन गाँधीजी भी तो एक क्रान्ति....

इस पर गिरिधर ठक्कर जिस उपेक्षाभाव से हँसे वह गोविन्द को बहुत प्रिय नहीं लगा,

— गिरिधर भाई! क्रान्ति का आप केवल यूरोपीय अर्थ ही ले रहे हैं।

— यार, आदमी का अर्थ आदमी हर जगह होता है—क्या यूरोप, क्या अफरीका और क्या भारतवर्ष। यह हर चीज में अलगाव का भाव कुछ अपनी समझ में नहीं आता। हिन्दुस्थान का गरीब क्या इसलिए गरीब नहीं माना जाना चाहिए कि यहाँ शंकराचार्य जैसा एक तत्ववेत्ता हुआ था?

— क्षमा करें गिरिधर भाई! आप बात का सरलीकरण कर रहे हैं। इतिहास को सर्वथा भुलाया नहीं जा सकता। सामाजिक कारणों के टकराव का नाम इतिहास है। इतिहास बीत जाने का तात्पर्य कारणों का समाप्त हो जाना नहीं होता। मध्य-युग का इतिहास चाहे बीत गया हो परन्तु क्या वे सारे कारण भी बीत गये हैं? क्या समाज के सारे कारणों का निदान राजनीति के पास है? मुझे तो लगता है कि मनुष्य के समूचे व्यक्तित्व की आशा-आकांक्षा, संभावना और संकल्प को लेकर जब तक समग्र क्रान्ति का आवाहन नहीं किया जाएगा तब तक चाहे धार्मिक क्रान्ति हो या राजनीतिक—आंशिक ही होगी और समाज के रोग के कीटाणु उस

आंशिक क्रान्ति के द्वारा फिर फूट पड़ेंगे।—नहीं चारों पुरुषार्थों की मुट्ठी जब तक नहीं बँधेगी तब तक धर्म व्यर्थ है, राजनीति व्यर्थ है, आर्थिक सम्पन्नता भी निरर्थक है। मेरा ख्याल है गिरिधर भाई! कि गांधी वही प्रतिपादित करना चाहते हैं।

— गोविन्द ! तुम जो चाहे समझो परन्तु यह भी सही है कि गांधी जी अपनी राजनीतिक गलतियों को नैतिकता की दुहाई देकर छुपाते हैं—चाहे वह चौरी-चौरा काण्ड हो या भगतसिंह की फांसी हो। जिस हिंसा से वह बचना चाहते हैं क्या उससे उनके जन-आन्दोलन बच सके हैं ? या बच सकेंगे ? चलने पर चींटी या ऐसे ही जीव-जन्तु तो मरेंगे ही। हिंसा से बचना है तो मत चलिए, बैठे रहिए।

गोविन्द यह सुनकर हँस पड़ा, बोला,

— शायद गांधीजी सोच रहे हों कि फिलहाल चींटी को तो नहीं बचाया जा सकता परन्तु मनुष्य को तो बचाया ही जा सकता है, तो फिर उसे ही क्यों न बचाया जाए ?

— भले ही स्वाधीनता खटाई में पड़ जाए।

— गिरिधर भाई ! सही मनुष्य के अभाव में स्वाधीनता आ भी जाएगी तो भी किस काम की होगी ? स्वाधीनता का लक्ष्य सत्ता न होकर मनुष्य होना चाहिए।

— यार ! मुझे लगता है कि गांधीजी हुए, तुम हुए—ये तुम जैसे लोग घपला करवाये बगैर रहेंगे नहीं।

— आज तक इतिहास में सभी तो हाथ में तलवार लेकर सत्ता पर पहुँचे हैं और फिर उसी तलवार का प्रयोग भी तो किया है।

बड़े जोरों पर ठहाका लगाते हुए गिरिधर ठक्कर बोले,

— तो क्या गांधी जी इसीलिए हम सबके हाथों में तकली देना चाहते है ?

— मजाक जो सभी सही, पर तलवार के बजाय तकली होगी तो वह कर्म ही होगी, हथियार नहीं।

बहुत गम्भीर होते हुए गिरिधर ठक्कर बोले,

— तुम्हें नहीं लगता कि मेरा झुकाव कुछ कम्यूनिस्टों की ओर हो रहा है ?

— मान लीजिए ऐसा हो भी तो क्या ? मनुष्य को अपनी आस्था, मान्यता, आदि के बारे में पूरी छूट होनी चाहिए। मनुष्य की मुक्ति मार्क्स भी चाहते हैं और गांधी भी। मार्क्स की निष्पत्तियों के पीछे यूरोप का दर्शन, इतिहास और समाज की तात्विकताएँ हैं तो गांधी के प्रयोगों के पीछे भारतीय दर्शन, इतिहास और सामाजिक परिवेश है। एक और बहुत बड़ा कारण है जिसके कारण इन दोनों में मूलभूत अन्तर है और वह यह कि यूरोप में जो औद्योगिक समाज, अर्थव्यवस्था और नागरिकता आती जा रही थी उसकी आर्थिक विषमता को तो मार्क्स देख पाए। गांधी के लिए आधारभूत वह भारतीय दृष्टि है जिसमें मनुष्य ही वह केन्द्रीय सत्ता है जिसकी ओर धर्म, दर्शन, राजनीति सबको स्वरूपित होना है। परन्तु मनुष्य या व्यक्ति को यह केन्द्रीय महत्व तभी प्राप्त हो सकता है

'स्व-आधीन' हो। राज्याधीन व्यक्ति तो गुलाम होगा। यहाँ गाँधी और मार्क्स में प्रभूत भेद आ जाता है। मार्क्स व्यक्ति को राज्याधीन बनाना चाहते हैं जबकि गाँधी 'स्व-आधीन'।

गिरिधर ठक्कर और पंचानन दोनों चुपचाप सुन रहे थे। पंचानन बोला,

— मामा ! लगता है आपने बड़े जोर-शोर से राजनीति के लिए तैयारी कर ली है।

गिरिधर ठक्कर बोले,

— मैं तो भूल ही गया था। राजनीति का ऐसा चस्का है साला कि कुछ याद नहीं रहता। असल में मैं एक दूसरे ही काम से आया था।

— कहिए, क्या बात है ?

— तुम डाक्टर सामन्त को जानते हो ?

— डाक्टर क्या, मैं तो किसी कम्पाउन्डर को भी नहीं जानता, पर बात बताएँ।

— तुम नहीं जानते होगे। एक मेरी दूर की बुआ हैं, वह कई दिनों से बीमार चल रही हैं। वह विधवा हैं और निराश्रित हैं। उन्हें मैं चाहता था कि किसी तरह डाक्टर सामन्त को दिखा देता।

— तो कठिनाई क्या है ?

— असल में सामन्त की फीस बहुत ज्यादा है।

— क्या आप भी गिरिधर भाई !—चलिए उन्हें बुलवा लेते हैं।—ऐसा करिए कि आप चलें। पंचानन ने आपकी बुआ जी का घर देखा ही होगा। हम डाक्टर को लेकर आते हैं।

स्वर्गीय पण्डित जयचन्द्र याज्ञिक की पत्नी श्रीमती सविता बेन याज्ञिक गिरिधर ठक्कर के पिता कान्तिभाई ठक्कर की दूर की बहन लगती थीं। पण्डित जयचन्द्र याज्ञिक इन्दौर छावनी के तारघर में तार-बाबू थे। बहुत छोटा सा परिवार था। सन्तान के नाम पर एकमात्र लड़की गौरा थी, जिसे वह बहुत लाड़-प्यार से रखते थे। गौरा को वह इन्दौर के अहल्या-आश्रम मे पढ़ाना चाहते थे, परन्तु इन्दु अभी छह-सात वर्ष की ही थी कि पिता को डबल-निमोनिया हुआ और वह तुकोजीराव अस्पताल में ही चल बसे। पण्डित जयन्द्र याज्ञिक ने जीवन में एक पैसा नहीं जोड़ा था। वस्तुतः उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा होगा कि वह इस प्रकार हठात चले जाएँगे और पत्नी तथा गौरा को इस प्रकार अनाथ छोड़ जाएँगे और इन दोनों को घोर दारिद्य का सामना करना पड़ेगा। श्रीमती सविता बेन याज्ञिक उज्जैन इस आशा से गयी थीं कि

दूर के सही परन्तु अपने कान्तिभाई ठक्कर का एक सहारा रहेगा परन्तु वह भी एक दिन चले गये। जीवन-यापन सबसे बड़ी समस्या थी। कुछ पढ़ी-लिखी होती तो शायद किसी कन्या-पाठशाला में नौकरी मिल जाती। यहाँ-वहाँ के सेठों-साहूकारों के घर के एक दशी-प्रदोष, पूर्णिमा-अमावस्या के सीधे से जीवन तो नहीं काटा जा सकता था। किसी तरह से झालानी-परिवार में महाराजिन का काम मिल गया था जिससे भोजन का तो प्रबन्ध हो गया परन्तु दूसरे खर्चों के अलावा वह अपने पति की अन्तिम इच्छा की पूर्ति अवश्य करना चाहती थीं कि गौरा को खूब पढ़ाया जाए—लेकिन कैसे ? अतः वह देर रात में जागकर मोल का कसीदे का काम करतीं, पापड़ बनातीं—और इस तरह जो भी आमदनी होती उससे गौरा को पढ़ातीं। गौरा भी सारी परिस्थिति समझ चुकी थी। पिता के समय वह उनकी आँख की पुतली थी पर पिता की मृत्यु के बाद से माँ की निरन्तर रोती हुई आँखों की पुतली नहीं आँसू थी, जिसे वह बारम्बार पोंछती रहती थीं। माँ-बेटी दोनों रामघाट पर मिली कोठरी में किसी तरह दिन काट रही थी। गौरा को केवल यही चिन्ता थी कि अगर किसी तरह वह ब्याह करके चली गयी तो पीछे से माँ की देखरेख कौन और कैसे करेगा ? माँ-बेटी दोनों एक-दूसरे की चिन्ता में दिन-दिन भर मौन बने काम करती रहतीं। माँ तो सवेरे से ही झालानी जी के यहाँ चली जातीं। गौरा ही तब पीछे से खाना बनाती और बर्तन साफ करके अपने स्कूल चली जाती। लौटने पर देखती कि माँ कोई सीना-पिरोना लेकर बैठी हैं। किसी सेठ के घर की रेशमी साड़ी पर सलमे-सितारे से बेल, फूल, पशु-पक्षी काढ़ रही हैं। वह भी माँ का हाथ बँटाने बैठ जाती। माँ कहती ही रहती कि तुम दिया-बत्ती के पहले अपने स्कूल का काम कर डालो फिर तो काम ही काम है, पर माँ के दुःख से हाहाकार करता गौरा का मन और भी चीखने लगा।

घर में एकमात्र चिमनी थी जिसके प्रकाश में खाना तो बन सकता था परन्तु स्कूल का अभ्यास कठिन था। गौरा सिर घुसाये अपना लिखना-पढ़ना उसी चिमनी में करती थी तब एक दिन माँ एक लालटेन खरीद ही लायी और गौरा को लगा कि जैसे प्रकाश घर में चल रहा है। माँ-बेटी को गिरिधर ठक्कर का बहुत बड़ा सहारा था। वैसे तो गिरिधर ठक्कर स्वयं इस स्थिति में नहीं थे कि कुछ अधिक सहायता कर सकते थे तब भी साथ में खड़े हैं, यह भाव भी कई बार बहुत बल देता है। गौरा हाई स्कूल करके माधव-कालेज में पढ़ने लगी तभी से माँ का स्वास्थ्य कुछ-कुछ गिरने लगा। उसने तो चाहा कि वह कहीं किसी स्कूल में अध्यापिका हो जाए तो इस विपमता से छुट्टी मिले परन्तु माँ का आग्रह था कि नहीं, उसे पढ़ना ही होगा। इण्टर के बाद बी. ए. के लिए इन्दौर जाना आवश्यक था और इसके लिए पैसा नहीं था। अतः श्रीमती सविता बेन याज्ञिक ने अपने कुछ जेवर, जो कि उन्होंने गौरा के विवाह के लिए रख छोड़े थे, गिरिधर ठक्कर के हाथ बिकवाये और इन्दौर में एक दूर के रिश्तेदार के यहाँ दो वर्ष रखकर गौरा को बी. ए. करवाया। यह तो चाह रही थी कि गौरा एम. ए. भी कर ले तब इसका विवाह कर दें और वह भी तब भगवान के

घर जाने की तैयारी करे परन्तु बेटी को किसी प्रकार की असुविधा न हो इसके लिए वह ज्यादा से ज्यादा परिश्रम करती। अपनी ओर देखने का समय ही नहीं था और वह भीतर ही भीतर से घुलती चली गयी। जब तक गौरा की बी. ए. की परीक्षा नहीं हो गयी उन्होंने उसे कानोंकान खबर नहीं होने दी कि वह भयंकर बीमार है। परीक्षा देकर जिस दिन गौरा घर पहुँची तो देखा कि माँ तपती देह के साथ बिस्तर से लगी पड़ी है। वह दिवाली पर तो आयी ही थी और इन तीन-चार महीनों में ही माँ इतनी बीमार हो गयी, घुल गयी कि देखते ही गौरा फफक-फफक कर रो पड़ी।

— माँ ! तुम्हें क्या हो गया ? मुझे लिखा भी नहीं ? चूल्हे में जाए ऐसी पढ़ाई। मैं न पढ़ती तो कोई प्रलय नहीं हो जाता।

— नहीं ! मुझे क्या हुआ ऐसा ! दो दिन में ठीक हो जाऊँगी। तू अब आ गयी न तो ठीक हो जाएगा। तेरे पर्चे कैसे हुए ?

— किसी डाक्टर को दिखाया ? दवाई ली की नहीं ? गिरिधर दादा को मालूम है कि तुम बीमार हो ?

— वही तो बेटी ! सत्पात्र है, जो आता है। अभी थोड़ी देर पहले किसी डाक्टर को बुलाने गया तो था।—मैं कहती हूँ बेटी ! डाक्टर को बुलाने से लाभ क्या ! एक तो इतनी फीस दो और अंग्रेजी दवा भी तो मँहगी आती है। वैद जी की दवा से ठीक हो जाऊँगी पर तेरा वह गिरिधर-दादा माना ही नहीं और गया है डाक्टर को बुलाने।

और तभी गिरिधर की आवाज 'बुआ माँ ! नीचे से ही सुनायी दी वह नीचे पहुँची। गिरिधर ठक्कर को देखते ही गौरा बोली,

— डाक्टर क्या हुआ दादा ?

— डाक्टर को लेने गोविन्द और पंचानन गये हैं। आते ही होंगे। तू आ गयी ?

गौरा के लिए ये दोनों ही अपरिचित नाम थे। उसने प्रश्न एवं आश्चर्य से दादा की ओर देखा तो गिरिधर ठक्कर बोले'

— शुक्ल जी लोगों को जानती हो न ? अरे वो...

— मगर मुँहे वाले !

— हाँ। गोविन्द उन्हीं पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के साले हैं और पंचानन उनका दूसरा बेटा है।

— जो माधव-कालेज में इसी साल अंग्रेजी के लेक्चरर हुए हैं ?

— हाँ।

तभी बुआ श्रीमती सविता बेन याज्ञिक कराहीं,

— गौरा ! गिरिधर आ गया ?

गिरिधर ठक्कर बोले,

— हाँ, बुआ जी। बस डाक्टर साहब आ ही रहे हैं।

— अरे बेटा ! डाक्टर बुलाने से लाभ क्या है—मैं तो ठीक वैसे भी हो ही जाती।

और तभी नीचे से कुछ लोगों का बोलना सुनायी दिया। गिरिधर समझ गये कि डाक्टर को लेकर गोविन्द और पंचानन आ गये हैं।

रामघाट पर यह जो मकान है, वस्तुतः नाथू—गुरु, पण्डा का कभी बाड़ा था। किसी जमाने में यहाँ गाय-भैंसे बंधती रही होंगी परन्तु अब यह मुख्यतः सिंहस्थ में यात्रियों के टिकने के लिए पड़साल जैसी थी। इसके दरवाजे के ऊपर ही दो कमरे किसी जमाने के ऐसे थे जिनकी धरन, खम्भे, दीवालें सब इतनी बूढ़ी हो गयी थीं कि चलने से पूरा घर हिलता था। बरसात में टपकता या तो गर्मियों में न केवल पश्चिम-रूख के कारण धूप आया करती थी बल्कि खिड़कियों की जीर्णता के कारण धूल और तपन भी खूब आया करती थी। जाड़ों में खिड़कियों-दरवाजों में कपड़े ठूंस देने पर भी तेज ठण्डी हवाएँ आती रहती जिसके कारण पूरे जाड़े में कँपकँपी बनी रहती थी। इन कमरों की सीढ़ियाँ खुले से होकर थी और कच्ची थीं इसलिए जरूरत से ज्यादा खस्ता हाल थीं। इन सीढ़ियों के नीचे ही माँ-बेटी ने मिलकर तीन चौथाई ऊँचाई की एक कच्ची दीवाल आड़ के लिए दरवाजे से सटाकर बना ली थी जो कि नहाने-धोने, बर्तन माँजने आदि की जगह के रूप में काम आती थी। बरसात में यह कच्ची दीवाल कहीं ढह न जाये इसलिए क्षिप्रा पार जाकर प्रतिवर्ष ढाक के ढेर से पत्ते ले आती थी और उससे दीवाल ढँक देती थी। यात्रियों के समय इन माँ-बेटी को थोड़ा कष्ट होता — अन्यथा साधारण दिनों में कोई इधर झाँकने भी नहीं आता था। जो गली इस घर [illegible] रामघाट से अलग करती थी वह शायद उज्जैन की सबसे गन्दी गलियों में थी जिस[illegible] सिरे पर बिजली का एक खम्भा था। रात में उसके प्रकाश से वहाँ की गंदगी से कितना बचा ही जा सकता था? पर श्रीमती सबिता बेन याज्ञिक और गोरा की विवशता थी कि वह इससे अच्छा मकान ले ही नहीं सकती थीं।

साँसत गोरा की ज्यादा थी। जैसे-जैसे वह पढ़ती गयी और किताबों एवं शिक्षा के माध्यम से सोचने-विचारने का दायरा जब बढ़ता गया तो वह अधिक उदास होती गयी। पिता की थोड़ी स्मृति थी। पिता का अकूत स्नेह याद है। घर में सम्पन्नता, घर के बर्तनों, कपड़ों और लोगों के खिलखिलाने तक से दिखलायी देती थी। सम्पन्नता का तब वह अर्थ नहीं जानती थी पर आज की इन विषमताओं में अब वह बारम्बार कौंधता था। स्कूल के दिनों तक तो वह पोलके-घाघरी में ही गयी होगी। बिना चप्पलों के मिडिल में पहुँचते-पहुँचते बुरा लगने से ज्यादा जाड़ों में कंकड़ों का ठण्डापन कैसा काटता सा लगता था तो गर्मियों में पाँव सिकने लगते थे। मिडिल तक तो वह नंगे पैरों ही गयी और कभी-कभार लड़कियाँ चिढ़ा देती रही हों, इससे ज्यादा कुछ बुरा भी नहीं लगा होगा पर मैट्रिक के लिए जब उसे फ्रीगंज में बनर्जी महाशय के हाईस्कूल 'सर्वमंगला पाठशाला' में रामघाट से फ्रीगंज पैदल आना-जाना करना पड़ेगा—यह सोच कर वह कितना रोयी थी। अब वह बड़ी भी हो रही थी। माँ के पास भले ही दो-चार अच्छी साड़ियाँ रही हों परन्तु रोज के काम के लिए तो सिवाय उनकी अपनी दो सादी धोतियों के अलावा और कुछ था ही नहीं, तब वह गोरा को स्कूल के लिए धोती कहाँ से

देतीं ? लड़की अब बराबर की हो रही थी इसीलिए उसे भी वे सब कपड़े-लत्ते चाहिए जो किसी भी स्त्री को चाहिये होते हैं। और गौरा कभी वह दिन नहीं भूल पाती जब माँ ने कपड़ों के एक बक्से में से अपने पति की एक धोती निकाली थी और शाम को जब काम से लौटी थी तो एक पैसे का पीला रंग भी लेती आयी थीं। खौलते पानी में रंग डालकर उस धोती को रंगा गया था और माँ-बेटी दोनों ने कैसे खाली पड़ी पड़सान में दोनों ओर से पकड़कर घूम-घूम कर सुखाया था, वह उस दिन अपने अन्तर में कितनी चीखी-चिल्लायी थी जब इस धोती के नीचे पेटीकोट के नाम पर माँ ने ऊँची घघरिया पहनने के लिए कहा था। माँ ने अपना एक पोलका उधेड़कर हाथ से कच्ची सिलाई करके किसी तरह बेटी का ब्लाउज बना दिया था, पर बिना चप्पलों के वह 'सर्वमंगला-पाठशाला' जाने को तैयार नहीं थी। और तब माँ कैसे झल्लाते हुए गिरिधर दादा के घर गयी थीं कि न हो तो गिरिधर की ही कोई पुरानी चप्पल मिल जाए तो काम चले। और जब उस दिन शाम को गिरिधर दादा ने बाटा की एकदम नयी चप्पल लाकर दीं तो वह प्रसन्न हुई थी लेकिन माँ कैसे फूट-फूटकर रो पड़ी थीं—कि इसी हतभागी को तो वह 'अहल्या-आश्रम' में पढ़ाना चाहते थे ? वाह रे भाग्य !!

गिरिधर ने जैसे ही आवाज सुनी वह लालटेन लेकर नीचे पहुँचे ताकि डाक्टर सामन्त को दरवाजे से गली और गली से सीढ़ियों तक कोई असुविधा न हो। डाक्टर सामन्त ने पहले तो थर्मामीटर लगाकर बुखार जाँचा फिर आले से फेफड़े; पीठ, सीना सबकी जाँच की। बहुत-कुछ पूछा-ताछा और दवाई लिख दी। पूछने पर कुल इतना ही कहा कि रोगी बहुत 'अंडर-नरिश्ड' है। खूब आराम, खूब खाना-पीना, दूध-फल वगैरा काफी दिया जाना चाहिए। बुखार तो चार-छह दिनों में चला जायगा पर सावधानी बरतने की आवश्यकता है। और चिन्ता नहीं करनी है। डाक्टर को लेकर गोविन्द जब चलने को हुआ तो उसने गिरिधर ठक्कर को एक ओर से जाकर बता दिया कि आप यहाँ बैठिए, अभी सारी चीजें लेकर वह और पंचानन आते हैं।

इन लोगों के चले जाने के बाद श्रीमती सविता बेन याज्ञिक गिरिधर से बोलीं,

— ये दो लोग और कौन थे गिरिधर ?

— मगरमुँहे वाले शुक्ल जी हैं न ?

— पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ?

— हाँ, एक तो उनका लड़का ही था पंचानन, यहाँ माधव-कालेज में लेक्चरर है और दूसरे जो थोड़े से बड़े थे न, वो गोविन्द जोशी हैं, शुक्लाजी के साले हैं।

— तो ये लोग क्यों आये थे ?

— मैं ही इन्हें लाया था।

— क्यों ?

— डाक्टर से जान-पहचान है गोविन्द की। गोविन्द ने बुआ माँ ! वकालत शुरू की है।—हाँ, वो ऽऽ आप जानती रही होंगी—गायत्री जी को ?
— रतलाम वाले कामदार साहब की पत्नी न ?
— हाँ। गोविन्द उन्हीं के पास तो रहता था। उनका मकान इसी गोविन्द ने खरीद लिया है।
— ठीक-ठीक, याद आया। यह वही गोविन्द जोशी है....यह तो शुक्लजी का सगा साला नहीं है।
— मुझे कुछ ज्यादा पता नहीं है बुआ माँ ! जितना दुनियाँ जानती है, वही मैं जानता हूँ।
— त्र्यम्बक शुक्ल के तो एक ही साले थे जो अपनी सारी सम्पत्ति इसी गोविन्द को देकर संन्यासी हो गये। हाँ, लेकिन सब गोविन्द को मानते बहुत हैं—सगे जैसा ही।
— मैं तो इतना जानता हूँ बुआ माँ ! कि गोविन्द बहुत ही सुशील है।
— क्यों रे गिरिधर ! डाक्टर ने क्या बताया ?
— आपको आराम चाहिए, खाना-पीना अच्छा चाहिए और चिन्ता न करें।
— लड़की की माँ होकर कैसे चिन्ता न करूँ ? जवान लड़की घर में हो और मेरा यह हाल कि कब क्या हो जाए, तो गिरिधर ! बता मैं कैसे चिन्ता न करूँ ?

इस पर गौरा बोली,
— देखिए दादा ! माँ से कह दीजिए कि फिजूल की बातें सोचनी बन्द कर दें। मैं अब यहाँ या इन्दौर कहीं भी नौकरी खोज लूँगी। इस तरह तो माँ का स्वास्थ्य और भी चौपट हो जाएगा।
— सुन रहा है गिरिधर ! लड़की कमायेगी और माँ बैठकर खायेगी। अब यही तो होगा।
— क्यों ? लड़के की कमाई तो खायी जा सकती है और लड़की की नहीं ?
— लड़की पराया धन होती है।
— यह सब पुरानी बातें हैं। मैं नहीं मानती।

तभी गोविन्द की आवाज सुनायी दी;
— गिरिधर भाई !

गिरिधर ठक्कर ने लालटेन उठायी ताकि सीढ़ियों पर प्रकाश हो सके, बोले,
— आ जाओ, ऊपर।

और वे लोग मय दवा-दारू, फल-फूल के साथ पहुँचे। डाक्टर जब आया था उस समय सिवाय डाक्टर के बैठने के अलावा किसी के बैठने का प्रश्न ही नहीं उठा था और डाक्टर के लिए किसी तरह एक चौकी पर गद्दी रखकर काम चला लिया गया था। परन्तु इतने लोगों के लिए सिवाय दरी के और क्या हो सकता था ! गौरा ने इतना अवश्य किया कि पहले चटाई बिछायी और उस पर दरी डाल दी। वह तो एक चादर

भी डालना चाहती थी परन्तु गिरिधर ही बोला,

— गौरा ! ये लोग तो घर ही के हैं। ज्यादा आगत-स्वागत में मत पड़ो।

इस हर श्रीमती सविता बेन याज्ञिक बोलीं,

— हमारी क्या हैसियत है जो इन बड़े लोगों का आगत-स्वागत करें....गौरा ! चाय ही बना ले बेटा !

इस पर गोविन्द बोला,

— चाय-वाय रहने दीजिए। चाय तो मैं पीता नहीं।—हाँ ये दवाइयाँ हैं। डाक्टर साहब का कहना था कि सन्तरे और मौसम्बी का रस आप खूब लें।

इस पर श्रीमती सविता बेन याज्ञिक गिरिधर से बोली,

— गिरिधर ! गोविन्द जी से पूछ लो कि यह सब कितने का आया। गौरा बक्से में कोथली [कपड़े का पर्स] है, वह ले आ तो।

गिरिधर ने कहा,

— आप चिन्ता न करें बुआ माँ ! मैं इनसे हिसाब कर लूँगा।

श्रीमती सविता बेन याज्ञिक बोलीं,

— तू कहाँ से कर लेगा रे ?

— आप इस समय यह सब रहने दीजिए। मैं आपसे सब बाद में ले लूँगा।

— पता नहीं एक साथ मैं दे पाऊँ कि नहीं।

गौरा कोथली ले आयी थी। उन्होंने अपने बीमार हाथों से उसे खोला और एक दस का नोट निकालते हुए बोलीं,

— गोविन्द जी ! आपको इस गिरिधर ने व्यर्थ ही दौड़ाया।—हाँ, सब कितने का हुआ ?

गोविन्द बोला,

— पहले आप अच्छी हो लें, अभी इसकी कोई जल्दी नहीं है।

इस पर श्रीमती सविता बेन याज्ञिक किंचित मुसकराते हुए बोलीं,

— मान लो अच्छी न हो पायी ?

— आप बड़ी हैं। आपसे तर्क के माध्यम से निकट होना नहीं चाहता।....सच तो यह है कि मुझे बहुत अधिक व्यवहार की भाषा भी नहीं आती।....गिरिधर भाई ! तो अब चला जाए।

पंचानन इस बीच बराबर चुप बैठा था। गोविन्द मामा की विषमता को समझ रहा था। जिस स्थिति में याज्ञिक-परिवार खड़ा था उसमें कोई भी उदाशयी नहीं करता, जो गोविन्द मामा ने किया था। पंचानन को आज पहली बार मानबोध हाहाकार का साक्षात हुआ और वह काँप उठा।

रात पंचानन बहुत देर तक जागता रहा। रात में वह प्रायः नहीं उठता—पर कई बार पानी के मटके से पानी पीते देखा तो पास ही छत पर सोयी दुर्गा समझी कि लड़के की तबीयत शायद खराब है। वह उठकर उसके बिस्तरे पर आयी। सब अपने-अपने बिस्तरों पर लेटे हुए थे। गर्मियों की रातें प्रायः ठण्डी होती हैं इसलिए सब प्रशस्त भाव से सो रहे थे।

मां को जब अपने बिस्तरे पर आया देखा तो पंचानन कुछ चौंका कि मां क्यों आयीं ?

— क्यों मां ! तुम सोयी नहीं ?

— तू यह बार-बार पानी पीने क्यों उठ रहा है ? तबीयत तो ठीक है न ?

वह हँस दिया।

— भगवान ने मां भी क्या बनायी है कि सन्तान की हर बात पर निगाह रखती है।

दुर्गा समझी कि पंचानन उसे बहका रहा है। उसके सिर पर हाथ रखा तो देखा कि बिलकुल ठीक है।

— यों ही घबरा दिया था तूने।—क्या सिर दुःख रहा है ? ला मैं दाब दूं ! तैल लगा दूं।

— तुम भी हद कर रही हो मां !... मैं कोई बच्चा रह गया हूं ? कालेज में पढ़ाता हूं समझी ?

— कहीं पढ़ाता हो, लड़का तो लड़का ही है।—क्या बात है, नींद क्यों नहीं आ रही है !-दिन में भी तो नहीं सोया आज।

— असल में मां ! आज मैंने गोविन्द मामा को बहुत ही विकल देखा।

— क्यों ? क्या हुआ उसे ?....इधर वो तीन-चार दिनों से आया भी नहीं।

— मां ! आज मैं तुमसे तुम्हारे पुत्र की भांति बातें नहीं करना चाहता।

— क्या ?

— सच में तुम बहुत भाग्यवान हो मां !

— मुझे भाग्यवान कहने के लिए अब तू ही बच गया था, है न ?

— सच, कैसे तो भाई मिले तुम्हें और....

— पांचू ! भगवान सच ही बहुत दयालु है वर्ना गँवई-गांव की लड़की...

और गर्मियों की छिटकी चांदनी में पंचानन ने देखा कि मां की आंखें छलछला आयीं।

— मां ! जानती हो आज क्या हुआ ?

— किसे क्या हुआ ?

— वो गिरिधर भाई हैं न... उनकी कोई विधवा बुआ हैं—सविता बेन याज्ञिक। वह रामघाट पर जो नापू गुरु की पड़साल है न ? वहां रहती हैं। उनके एक लड़की है गौरा, जो इस साल बी० ए० पास हो जाएगी।

— हां, तो ?

— तो, वह गिरिधर भाई की बुआ बहुत बीमार हैं।

— क्या हुआ है ?
— ठीक तो नहीं जानता माँ ! पर न जाने क्यों ऐसा लगा कि गरीबी सबसे बड़ी बीमारी है । आज मैं भी गोविन्द मामा के साथ वहाँ गया था ।
— गोविन्द उन्हें कैसे जानता है ?
— मामा भी आज पहली बार गये थे । गिरिधर भाई आये थे बुलाने । डाक्टर सामन्त को वह बुआ को दिखाना चाहते थे....पर....
— पर क्या ?
— अर्थ शायद बहुत बड़ी चीज है, है न माँ ?
— इसका हाँ, ना में उत्तर नहीं हो सकता पांचू !
— गिरिधर भाई का मतलब मामा समझ गये । दवाई-दारू का मामा ने प्रबन्ध कर दिया परन्तु मैंने मामा को आज की तरह कभी उदास नहीं देखा ।
— बहुत भावुक है गोविन्द !
— दुःख पाता हुआ आदमी कैसा घिरापन अनुभव करता होगा न माँ ? उस पर मैं उन दोनों को देखकर माँ !...सच मुझे सोचकर दुःख हो रहा है तो पता नहीं वे दोनों कैसे....
— अच्छा सुन, कल तू कालेज से आये तो मुझे उनके यहाँ ले चलना, समझे !
— मैं यह जानता था ।
और पंचानन हँस दिया । पुत्र को हँसते देखकर दुर्गा बोली,
— क्या ?
— कि तुम माँ हो, और क्या ?
और दुर्गा ने बहुत लाड़ से पुत्र के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा,
— अच्छा, अब सो जाओ ।

पंचानन कह गया था कि वह कालेज से दो बजे तक लौट आएगा और वह लौट भी आया, पर जब ढेर से सन्तरे और मौसम्बी देखी तो दुर्गा ने पूछ ही लिया,
— इतने सारे फल ?
— अरे तो क्या किसी बीमार को खाली हाथ देखने जाओगी ?
इस पर हँसते हुए दुर्गा बोली,
— तू जरूर सद्‌गृहस्थ बनेगा ।
— मैं यह गृहस्थी का रोग नहीं पालने का ।

— मेरे रहते तो यह नहीं होने का ।
— तुम्हारे रहते मामा कैसे इस रोग से बचे हुए हैं ।
— बड़दा की बात दूसरी थी पांचू ! पर गोविन्द का तो मैं जल्दी ही विवाह कर दूँगी ।
— तब तो मामा की शामत आ गयी ।
— तुम लड़के लोग ऐसी-ऐसी भाषा बोलना सीख गये हो कि कोई सुने तो क्या कहे ।
— अच्छा, अब चलो ।

और जिस समय दुर्गा और पंचानन श्रीमती सविता बेन याज्ञिक के घर पहुँचे उस समय तीसरा प्रहर शुरू हो गया था । गर्मी थोड़ी सी कम हुई थी । दुर्गा ने जैसी कल्पना की थी उससे कहीं अधिक उदास कर देने वाला वातावरण था । ऐसा नहीं कि दुर्गा जीवन के इस पक्ष से परिचित नहीं थी तब भी उसे लगा कि सच ही मनुष्य कितनी और कैसी विभीषिकाओं में रहने को बाध्य होता है । बाहर का दरवाजा फटाक भाव से खुला था । सीढ़ियाँ चढ़ते हुए वह नहीं सोच पा रही थी कि क्या बातें करेगी । सीढ़ियों की समाप्ति पर ही कमरे का दरवाजा था । वहीं से दुर्गा ने देखा कि शायद इन लोगों के चढ़ने की आहट यहाँ हो गयी थी तभी तो खाट के पास चौकी पर बैठी हुई गौरा, जो कि माँ के सिर पर गीली पट्टियाँ रख रही थी, थोड़ी सी पीठ घुमाकर तिरछे सिर से आहट लेती लग रही थी, कि कौन आया ?

गौरा ने देखा कि एक सम्भ्रान्त महिला, परन्तु सर्वथा अपरिचित सी दरवाजे पर खड़ी है, तो वह चौंकी और अपना पल्लू ठीक करते हुए खड़े होकर प्रणाम करते हुए बोली,
— कहिए ? किसे खोज रही हैं ?

श्रीमती सविता बेन याज्ञिक तेज बुखार के कारण आँखें बन्द किये लेटी थीं । बेटी किसी से कुछ बात कर रही है, यह वह समझ गयीं, पूछा,
— कौन है गौरा ?

दुर्गा ने पूछा,
— गिरिधर जी की बुआ जी का यही तो घर है न ?
— जी हाँ, आइए । माँ ! आपसे मिलने कोई आया है ।

और वह दरी लाने बक्सों की ओर चली गयी । माँ ने उसी तरह पूछा,
— कौन हैं ? क्या झालानी जी के यहाँ से आयी हैं ।
— हम लोग मगरमुँहे के शुक्ल जी के घर हैं ।

शुक्लजी का नाम सुना तो श्रीमती सविता बेन याज्ञिक कुछ उठने को हुईं, तो दुर्गा बोली,
— आप लेटी रहिए ।
— गौरा ! दरी बिछा बेटा !
— आप चिन्ता न करें ।

इस बीच गौरा ने दरी बिछा दी । वह शायद और कुछ भी लाना चाह रही थी इसे

दुर्गा समझ गयी तो उसका हाथ गहते हुए बोली,
— रहने दो, यह बहुत है ।
गौरा को कभी यह अपेक्षा नहीं थी कि कोई उसका इस प्रकार सहसा हाथ थाम लेगा। उसने हठात दुर्गा की ओर देखा तो वह देखती ही रह गयी । दुर्गा जिस परम आत्मीय भाव से उसे देख रही थी उसमें गौरा केवल अवाक ही नहीं हुई बल्कि वह एकदम भर आयी । पूरी रात ही वह जागती रही थी । माँ को पूरी रात बेचैनी रही थी सवेरे बुखार उतर गया था पर दस बजे के बाद से फिर तेज होने लगा था । वह माँ को छोड़कर जा भी नहीं सकती थी और जाती भी तो एकमात्र गिरिधर दादा के पास, पर उनका कोई ठिकाना हो तब तो वह जाए । शाम को आने के लिए कह गये थे । जिस समय सीढ़ियों पर आहट हुई थी तो वह लगभग निश्चिन्त थी कि गिरिधर दादा ही होंगे और शायद वह महाशय भी हों जिन्हें दादा गोविन्द कह रहे थे । लेकिन पहले तो एक अपरिचित महिला दिखीं लेकिन जैसे ही कल वाला एक व्यक्ति भी दिखा जिसे बाद में दादा ने पंचानन कहा था, तो थोड़ी सी आश्वस्त हुई थी । सच ही वह अकेलेपन में घबरा चुकी थी कि ये लोग आये । जिस समय दुर्गा ने हाथ थामा गौरा थकान, परेशानी, अकेलेपन से इतनी लबालब थी कि दुर्गा के मात्र स्पर्श से उसका जल छलछलाकर बहने सा लगा ।

दुर्गा, सविता बेन के पास रखी चौकी पर बैठी तो गौरा बोली,
— आप यहाँ बैठिए ।
गौरा की बात दुर्गा ने नेत्रों से सुनी परन्तु उनका हाथ सविता बेन के माथे को छू रहा था । वह पंचानन से बोली,
— पाँचू ! इनका तो बुखार तेज है । जाओ और डाक्टर को लाओ । घर होते आना, अगर तुम्हारे बाबा हों तो उन्हें भेज देना ।—और देखो घर से किसी को मासीमाँ को बुलाने भी भेज देना ।
पंचानन उठा और माँ के आदेशानुसार डाक्टर को बुलाने चल पड़ा ।
पंचानन चला गया तो दुर्गा ने पास खड़ी गौरा से कहा,
— गौरा ! तुम थोड़ा सुस्ता लो ।....दवाई है या खत्म हो गयी ?
— दवाई तो एक खुराक होगी । वैसे बुखार कुछ कम हुआ है ।
— घबराने की कोई बात नहीं । अच्छा देखो, यह पानी थोड़ा गरम हो गया, ठण्डा पानी तो ले आओ ।
गौरा पानी बदल कर ले आयी । वह अभी तक सहज नहीं हो पायी थी । इधर वर्षों से उसने किसी को अपने घर में आते-जाते नहीं देखा होगा । वर्षों से वह देखती आ रही थी कि जब वह सवेरे जाग रही होती है कि माँ तैयार होकर झालानी जी के यहाँ जाने को तैयार होती हैं । जाते हुए माँ कुछ खाने-पीने के आदेश दे जाती हैं । माँ के चले जाने के बाद वह इस वीरान, टूटे-फूटे घर में अकेली सी तैयार होती रही है । जैसे-जैसे बड़ी हुई है उसे अपने चलने से फर्श के हिलने के साथ-साथ अपने भीतर भी पहले कुछ-

कुछ पर अब तो बहुत-कुछ हिलने का बोध होता था। माँ के जाने के बाद वह नीचे का फाटक बन्द करके कितनी देर तक थरथराते, दरवाजे से पीठ सटाये अपना रोना रोकते खड़ी रहती थी और फिर खाली आस्तीनों सी दोनों ओर की पड़सालों के बीच से गुजर कर जीना चढ़ते हुए वह कैसी कांप-कांप जाती रही है। खासकर तब वह चीख पड़ने को होती थी जब माँ किसी दिन देर शाम को भालानी जी के यहाँ से लौटती होतीं। नीचे के दरवाजे की कुण्डी की खटखट होती और वह तब किन मुश्किलों से हाथ में चिमनी या लालटेन लिये नीचे पहुँचती थी। सीढ़ियाँ उतरते हुए उसे अपने साथ अपनी छाया का उतरना कैसा ठण्डा पसीना ला दिया करता था। माँ को जब वह देखती थी तो कैसे लिपट कर रोने को मन करता था कि—"माँ !!" पर दिन भर की थकी माँ को स्वयं ही थका हुआ देखकर वह सब कुछ भूल जाती थी। वह कुछ कहने के स्थान पर आयु बढ़ने के साथ बड़प्पन का परिचय देने लगी थी, कि वह माँ को सुने। लेकिन माँ को क्या पता कि माँ के चले जाने के बाद दिया-बत्ती जल जाने पर गौरा अपनी आयु को जैसे खूँटी पर टांग कर फिर डरी, सहमी आँखें फाड़ कर सूनी दीवालों में काँपती चिमनी के आलोक में लटकती चीजों की छायाओं में न जाने कौन-कौन सी आकृतियाँ देखती बालिका हो जाती है। ऐसी बालिका जो बस, सिर्फ आँखें रह गयी है। ऐसी आँखें जो थरथराते हुए केवल चुप हो गयी हैं। दूर-दूर तक न कहीं कोई शब्द, न कोई आहट। केवल तेज हवाएँ कभी-कभी आवाज करती पूरे घर में चक्कर लगा रही होतीं और गौरा ने उन आवाज करती हवाओं को कैसे सहमे-सहमे, बिना पलक झपकाये नेत्रों से भाषाहीन भाव से घण्टों एक ही साँस में देखा है। अकेलापन वह इतना भोग चुकी थी कि अब उसे अकेलेपन से नहीं लोगों की उपस्थिति से शायद भय लगता है। तभी तो स्कूल या कालेज में वह बराबर ऐसे ही बनी रहती जैसे हाथों में वह अपने स्वत्व का लबालब लोटा पकड़े है जो जरा सी ठोकर से छलक सकता था। वह किन मुश्किलों से पहले स्कूल, फिर कालेज गयी है। आँखों से घर-परिवार का अकेलापन उसमें उतरा होगा तो नंगे पैरों की राह उज्जैन की सड़कें, मौसम सब उसमें गहरे उतरते चले गये होंगे। एक-एक कंकड़ ने चुभकर उसके स्वत्व के दूध को हमेशा के लिए फाड़ दिया होगा इसीलिए तो गिरिधर दादा की आत्मीयता मिलने पर भी वह किसी दिन आश्वस्त नहीं हो पायी होगी। वह बोलने के नाम पर बहुत हुआ तो जीभ से ओठ तर करती खड़ी रही होगी पर यदि आँखें उठाकर देख भी लेती तो वह जानती है कि वर्षा के बाद किसी भी पेड़ के नीचे खड़े होने का जो तात्पर्य होता है, वही तो सामने वाले को अनुभव होगा।

लेकिन वर्षों, वर्षों बाद यह कैसे क्या हो गया ? ये लोग हठात कैसे आ गये ? कौन हैं ये ? वर्षों किसी घर में पुताई न हो तो पहली पुताई की सफेदी उघड़ती ही नहीं है। वह इस आगन्तुक महिला को जिस सम्बन्धहीन, सम्बोधनहीन भाव से देख कर इनके मातृत्व को पहचानना चाहती है, उसमें वह हर बार चूक जाती है।

— आप आराम से दरी पर बैठें, मैं माँ को पट्टियाँ बदलती हूँ। आप क्यों कष्ट

करती हूँ ?

— घर में ऐसी भाषा नहीं बोलते बेटी !....न हो, तुम माँ को थोड़ी हवा ही करो... पाँचू डाक्टर को लेकर आता ही होगा ।

गौरा इन महिला के मुँह से अपने लिए 'बेटी' सम्बोधन सुनकर विह्वल हो उठी । यदि वह पंखा लेने न उठ गयी होती तो शायद उसे अपने को रोकने के लिए कपड़ा मुँह में ठूँसना पड़ता । वह देख रही थी कि पुष्ट कलाइयों से वह कैसे कपड़ा निचोकर कितने कोमल तरीके से सिर पर रखती हैं जैसे वह ठाकुर जी पर धो-धोकर तुलसी चढ़ा रही हों । इस बीच दुर्गा ने देख और समझ लिया कि आज इस घर में जरूर ही कुछ नहीं बना है, और कौन बनाता ? जिस क्षण उन्हें यह प्रतीति हुई कि गौरा ने सवेरे से, या हो सकता है कल ही से कुछ नहीं खाया हो....इतने बड़े कटु सत्य की ओर उस समय उनका ध्यान क्यों नहीं गया जब वह पंचानन को भेज रही थीं ? घर कहला देतीं तो कान्ता से शाक-पूड़ी ही बनवाकर मँगवा लेतीं । उन्हें सचमुच बहुत उलझन हुई कि गौरा ने कुछ नहीं खाया है । जैसे ही उन्होंने गौरा की ओर देखा, तो देखा कि वह पंखा करते हुए थकी तो लग ही रही है, पर कैसे मुरझा गयी है ।

— गौरा !

— जी !

— तुम पाँच मिनिट को थोड़ी पीठ टिका लो । सवेरे से कुछ खाया-पीया भी नहीं होगा ।

— नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं है ।

— समझती हूँ । मैं सब समझती हूँ गौरा !....देखो, माँ का बुखार काफी कम हो गया है ।

तभी किसी के पैरों की आहट सुनायी दी । गौरा समझी थी कि पंचानन डाक्टर को लिवा लाया होगा और अभी कुछ आवाजें सुनायी देंगी । तभी जीने पर से गोविन्द की आवाज आयी,

— गिरिधर भाई !

दुर्गा समझ गयी कि गोविन्द आया है । वह बोली,

— गोविन्द ! चले आओ ।

गोविन्द को दीदी की आवाज सुनकर घोर आश्चर्य हुआ । वह ठिठक कर दरवाजे में खड़ा हो गया, बोला,

— आप ?

— क्यों ? जब तू यहाँ आ सकता है तो मैं क्यों नहीं ?

— नहीं दीदी ! यह नहीं....पर...

— कुछ नहीं रे, मुझे रात पाँचू ने बताया तो मैं चली आयी । पाँचू को डाक्टर लेने भेजा था, अभी तक नहीं आया ।—गौरा !

— जी !

— गोविन्द से फल लेकर रख दो ।

— इतने सारे फल क्या होंगे....आप भी तो लायी हैं....

— कोई बात नहीं ।

गोविन्द से फल लेते समय गौरा ने पहली बार कल आये इस व्यक्ति को आज भर आँख देखना चाहा तो वह थरथरा उठी । लाख, बहुत ही अलग-अलग भाव से ही फल लेना चाहा पर गोविन्द की अँगुलियों से जैसे ही उसे हल्के स्पर्श का बोध हुआ तो लगा कि फलों का पैकेट छूट गिरेगा । आँखों से जो देखना नहीं हो पा रहा था जब अँगुलियों ने देखना चाहा तो कैसा शब्द सुनायी दिया न .. कैसा ?

शायद गोविन्द को भी बहुत कुछ अस्पष्ट, अपरिमापित सा लगा । सच तो यह है कि वह कल यहां से लौटकर रात भर न सो सका । वह अपने जड़-मूल तक हिल उठा था । उसे वे दिन याद आ गये जब पिता कचहरी चले जाते थे और माँ कोठरी में बंद चिल्लाती रहती थीं और वह अकेला उस कोठरी से सदा पथराये भाव से बैठा रहता था...तो क्या यह गौरा भी इतनी ही विवशता अनुभव करती होगी ? क्यों नहीं ? गिरिधर भाई ने ही तो संक्षेप में बताया था कि गौरा की माँ किस प्रकार अपनी गृहस्थी चलाती हैं और किन विषमताओं में बेटी को बी० ए० करवाया है ।....जिस स्थिति में माँ-बेटी खड़ी हैं वहां से खड़े होकर यह समाज, यह संसार, ये सम्बन्धी सब कैसे दूरागत लगते होंगे न ? जिन्दा दीवाल में चुन दिये जाने पर जो वेदना होती होगी क्या वैसी ही इन माँ-बेटी को नहीं होती होगी ? गिरिधर भाई ही तो कह रहे थे कि गौरा के पिता अच्छे खासे तार-बाबू थे । पता नहीं पिता के क्या-क्या स्वप्न रहे होंगे और आज पिता के न रहने पर वर्षों-वर्षों जिस अनाथ, असहाय स्थिति में माँ-बेटी को जीवन-संघर्ष करना पड़ रहा है उसकी कोई जब कल्पना भी नहीं कर सकता तब भोगते समय क्या बीतती होगी ? बड़दा, जिजी और दुर्गा दीदी ने उसे आत्मीयता न दी होती तो क्या आज पण्डित गोविन्द जोशी इस सम्पन्नता में दिखते ? हम सब पानी पर ही तो चल रहे हैं । कब किसके पैर के नीचे का पानी लील जाएगा, यह कौन जानता है ? क्या श्रीमती सविता बेन-याज्ञिक ने सोचा होगा कि एक महाराजिन बनकर रोटियाँ बना कर, मोल के पापड़ बनाकर, सीना-पिरोना करके अपना और बेटी का जीवन चलाना पड़ेगा ? मनुष्य कैसे भूल जाता है कि हमारी यह सारी रौनक, चमक-दमक किसी भी क्षण एक फूंक से बुझा दी जाकर हमें घोर अँधेरे में खड़ा कर सकती है ।

लेकिन इस समय हठात दीदी को देखा तो उसे पहले दिन की दीदी याद आ गयी और आज पहली बार बहुत खुलकर कुछ कहने, कुछ सुनने को मन हुआ । सचमुच दीदी....और उसने अनुभव किया कि फल थमाती अँगुलियों में आँसू भरा सा स्पर्श अँगुलियों को भिगोकर ठण्डा कर गया है ।

तभी दीदी बोली,

— पता नहीं पाँडू कहाँ रह गया ।....आज तेरा कोर्ट बड़ी जल्दी छूट गया रे ?

— एक ही मुकदमा था दीदी !

— आगे का भी तो प्रबन्ध करना होगा। वो तुम्हारे गिरिधर भाई कहाँ रह गये ?
— वो भी पीछे-पीछे आ ही रहे हैं।
और तब तक केवल गिरिधर ठक्कर ही नहीं बल्कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल, डाक्टर सामन्त, पंचानन आदि सभी आ गये।
आते ही सामन्त डाक्टर ने फिर परीक्षा की और बोले,
— कल से तो हालत ठीक है पर इन्हें अगर अस्पताल में भर्ती करवा दें तो ज्यादा अच्छा रहेगा। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को पंचानन ने सारी बात बता दी थी और जब डाक्टर ने अस्पताल में भर्ती करने के लिए कहा तो वह दुर्गा की ओर देखने लगे। सच तो यह था कि दुर्गा की ओर सभी देख रहे थे। तभी श्रीमती सविता बेन याज्ञिक बोलीं,
— बहन जी ! मैं बहुत आभारी हूँ, आपकी जो आपने और सबने हम जैसे गरीबों की इतनी मदद की। मैं अब अस्पताल में जाकर क्या करूँगी ? जो होना है...
इस पर दुर्गा बोलीं,
— आप कैसी बातें कर रही हैं ?—हाँ, आप बोलिए।
यह वाक्यांश पति से उसने कहा था। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल दुर्गा का मन्तव्य समझ गये थे, बोले,
— ठीक है। एम्बूलेन्स मँगवा लेते हैं। गोविन्द ! पाँचू ! तुम लोग डाक्टर साहब के साथ चले जाओ।
— मैं सोचती हूँ कि पाँचू को मैं जरा घर भेजूंगी। अस्पताल गोविन्द और गिरिधर जी चले जाएँगे।....मासीमाँ के यहाँ तुम गये थे पाँचू ?
— माँ ! मैं तो बिल्कुल भूल गया।
— तुम लोग क्या मजाल जो एक बार में सारे काम करो। विघू को ही भेज देते।
पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,
— सविता बेन के साथ अस्पताल....
— मै जाऊँगी।
पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,
— अरे वे लोग चले गये ?
— कौन ? गिरिधर और गोविन्द ?
— हाँ।
— कुछ काम था ! अरे गाड़ी के साथ एक आदमी आता और एक वहीं रह कर प्राइवेट वार्ड का सारा प्रबन्ध करवा लेता।
— उसमें कोई कठिनाई नहीं होगी। मैं अस्पताल की तरफ से होता हुआ निकल जाऊँगा।
— आप तो फोर्गंज जा रहे होंगे ?
— सूबा साहब ने बुलवाया था। क्यों ?

— लौटने में अस्पताल हो आइएगा।
किसी के कुछ भी बोलने की स्थिति नहीं थी। दुर्गा ने जैसा-जैसा कहा था वैसा-वैसा ही सब करने के लिए विदा हुए।

डाक्टर की जो भी राय रही हो परन्तु दुर्गा को श्रीमती सविता बेन याज्ञिक की स्थिति न केवल गम्भीर ही बल्कि चिन्ताजनक भी लगी और अस्पताल में भर्ती करवाने का निर्णय भी तत्काल ले लिया गया। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय को बुलाने के लिए पंचानन को भेज दिया गया। अस्पताल में वार्ड आदि का सारा प्रबन्ध करने के लिए गोविन्द रुक गया तथा एम्बुलेन्स गिरिधर ठक्कर लेकर आये थे। गौरा और गिरिधर ठक्कर की सहायता से सविता बेन को एम्बुलेन्स तक पहुँचाया गया। जिस तरह से माँ को स्ट्रेचर पर उठा कर नीचे उतारा जा रहा था उसे देखकर गौरा का हृदय फटा जा रहा था। वह अपनी अभिव्यक्ति को दाँतों में कसकर थामे हुए थी पर जिस समय उसे घर की कुण्डी चढ़ा कर ताला लगाना पड़ा तो वह बिखर उठी। कैसे उसने कमरे की खिड़कियाँ बन्द की थीं। आटे के डिब्बे को चूहों से बचाने के लिए मसाला पीसने वाली सिल रख दी थी। वैसे तो घर में था ही क्या फिर भी जल्दी-जल्दी सब सहेजा-समेटा था। एक झोले में अपनी दो धोतियाँ रख ली थीं। माँ के कपड़े एक छोटे से बक्से में रख लिये थे। और अन्तिम बार जब वह खिड़कियाँ आदि देखने गयी थी कि उनके कुन्डों में कीले लगे हैं कि नहीं, तब उस खाली घर में वह अपने को देख ही नहीं रही थी बल्कि जैसे सुन भी रही थी कि चूल्हे के पास से रोटियां बेलते हुए वह माँ की बीमारी के कारण अवश बनी घुटी-घुटी रो रही है।

कुण्डी चढ़ाती गौरा को जब दुर्गा ने रोते सुना तो उसने गौरा को ही नहीं बल्कि उसकी व्यथा, आकुलता को जैसे अपने से सटा लिया। गौरा को लगा कि यदि उसे इस समय न समेटा गया होता तो वह वर्षा में पूरी तरह खड़ी मिट्टी की दीवाल सी थरथरा कर ढह पड़ी होती और वह तब एक क्षण में दीवाल से मलवा बन गयी होती।
— रोते नहीं बेटा ! माँ एकदम ठीक हो जाएँगी।
गौरा ने दुर्गा का यह वाक्य सुना तो वह दुर्गा के मातृत्व वाले सीने में मुँह गड़ा कर और फफक पड़ी। दुर्गा ने सीने से सटी गौरा का सिर अपने दोनों हाथों में पूरी सतर्कता से गहा हुआ था। गौरा उसी प्रकार उफनाते हुए बोल रही थी,
— यदि आप लोग न आये होते तो.....

तेज हवा में पड़ गये दीपक को जैसे सतर्क आड़ दी जाती है वैसे ही दुर्गा ने उसे और अधिक समेटते हुए कहीं दूर देखते हुए कहा,

— जो 'लोग' होते हैं, वो नहीं आते गौरा !....क्या मैं तुम्हें 'लोग' लगती हूँ ? ऐसा पराया नहीं बोलते ।

और उन्होंने अपनी दोनों हथेलियों में गौरा के मुँह को गहा और उसकी आँखों में आँखें डाल दीं। रोते हुए व्यक्ति के पास कोई भाषा नहीं होती क्योंकि जिसे व्यक्त करने में भाषा असमर्थ होती है उसे आँसू से ही व्यक्त किया जा सकता है।

बाहरी जीने के नीचे बड़ा सा तुलसी-क्यारा था। पल्लू से आँसू पोंछ कर तथा सिर का पल्लू ठीक कर गौरा ने तुलसी को प्रणाम किया और बाहर के बड़े से फाटक की ऊँची सी साँकल को जब वह पंजों पर खड़े होकर चढ़ा रही थी तो उसे लगा कि जैसे वह उभक कर अपने विगत से बाहर निकल रही है क्योंकि किसी दिन उसने इस फाटक को बन्द नहीं किया होगा।—एम्बूलेन्स इस पतली सी गली के मुहाने पर खड़ी हुई खिलौने जैसी लग रही थी। सड़े पत्तों और कूड़े के जमा ढेरों में से खट्टी गन्ध आ रही थी। नाक पर साड़ी का पल्लू लिये वे दोनों गली से बाहर निकलीं।

सबसे कोने वाला प्राइवेट-वार्ड ही लिया गया था। जिस समय एम्बूलेन्स पहुँची उस समय पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और गोविन्द के अलावा श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय और पंचानन भी मौजूद थे।

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय, गिरिधर ठक्कर की जिस प्रकार दूर की काकी लगती थीं उसी प्रकार गौरा की भी काकी लगती थीं। याद तो नहीं पर इन्दौर में किसी के विवाह में सविता बेन को और गौरा को कभी देखा था। गौरा तब बहुत ही छोटी थी। गौरा के पिता पण्डित जयचन्द्र याज्ञिक, तार-बाबू का कितना नाम था। पहली बार उन्होंने किसी को टसर का सूट पहने देखा था। उसके बाद कभी अवसर ही नहीं आया कि भेंट-मुलाकात होती। जयचन्द्र जी की मृत्यु का समाचार सबको हतप्रभ कर गया था। उसके बहुत दिनों बाद पता नहीं चला कि माँ-बेटी का क्या हुआ। अपने ही संघर्ष-झंझट कौन कम थे जो ज्यादा खोज-खबर ली जाती, और उससे लाभ भी क्या था ? हाँ, कभी उड़ते हुए यह अवश्य सुना कि माँ-बेटी उज्जैन ही आ गये हैं और सविता बेन किसी प्रकार जीवन-यापन कर रही हैं।—पर, आज बरसों बाद जब हठात् गौरा को देखा तो वह देखती ही रह गयीं। उन्हें एकदम पण्डित

जयचन्द्र याज्ञिक स्मरण हो आये। वही गौरवर्ण। निर्दोष, काली बरौनियों तथा पलकों वाले किंचित बड़े नेत्र। सामान्यतः भी पुत्रियाँ पिता पर ही जाती हैं परन्तु गौरा तो पिता की बहुत ही सटीक अनुकृति थी। बल्कि उन्होंने जब गौरा का हाथ गहा तो सशंक भाव से नारी बनती हुई गौरा के हाथों की कोमलता और उन हाथों की अँगुलियों का लम्बा पतलापन बड़ा ही सामास लगा। सम्भव है तार-बाबू के हाथ भी ऐसे ही मूर्तियों जैसे रहे हों। प्रत्येक समय थरथराता व्यक्तित्व आपको जलाशय की ही तो याद दिलाता है कि छूने से ही नहीं बल्कि देखने मात्र से भी ऐसा व्यक्तित्व पीपल सा प्रकम्पित हो उठेगा। कितने सतर्क होकर ऐसे व्यक्तित्व से व्यवहार करना होता है। उन्हें यह भी तो लगा था कि गौरा कदली के पत्ते पर धूप में दिपती बूँद की कैसी हीरक माया है। सातों रंग कैसे पलकें झपकाते आपको देख रहे हैं परन्तु अगर उस बूँद को छू देने का विचार भी मन में आया तो वह बिना कोई गीलापन छोड़े पत्ते पर से कैसी छलाँग जाएगी और तब कहीं नहीं होगी वह माया। प्रकृति सबको ऐसा ही निष्कलुष, अपने जैसा ही पवित्र बना कर भेजती है परन्तु हम....?

गौरा को लेकर दुर्गा घर जा चुकी थी। श्रीमती सविता बेन याज्ञिक के पास श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय कुर्सी डालकर उन्हें पंखा झल रही थीं। पंखे की लय के साथ ही उनके सोचने की लय भी काम कर रही थी। जब व्यक्ति इस प्रकार अपने में डूब कर सोचता है तब नेत्र, नेत्र नहीं रहते; कान, कान नहीं रहते। सारी इन्द्रियाँ उस सोचने में डूब जाती हैं। और जब आप इन्द्रियों के तट पर वापस आते हैं तो जल से ऊपर आने जैसी ही प्रतीति होती है। जब वह ऊपर आयीं तो देखा कि सविता बेन सो रही हैं। कमरे में पूर्ण निस्तब्धता थी। बगल वाले कमरे में साथ रहने वालों का प्रबन्ध था। खिड़की के खुलेपन में न केवल पेड़, सड़क पार की आगर-रेल की फेंसिंग और आकाश ही जड़े हुए दिख रहे थे बल्कि जैसे इस पूरे चित्र में आवाज भी जड़ी हुई थी। बाहर चलती हवा खिड़की से ढुलक कर कभी-कभी भीतर आ जाती थी। पंचानन शायद बाजार गया हुआ था और गोविन्द, नर्स आदि के प्रबन्ध में बझा था। यद्यपि सबने कहा कि जब घर ही के इतने सारे लोग देखने-भालने के लिए हैं तब चौबीसों घण्टे के लिए नर्स रखना पैसे का अपव्यय ही है परन्तु जब गोविन्द ने पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को भी इस बात पर तैयार कर लिया तो कोई तब क्या कहता? वैसे गोविन्द ठीक कह रहा था कि चिन्ता या दौड़-धूप दूसरे लोग कर सकते हैं परन्तु श्रीमती सविता बेन याज्ञिक को परिचर्या की अधिक आवश्यकता है। नियमित टेम्प्रेचर, उसका चार्ट बनाना, कब-कौनसी दवाई देना या तत्काल कोई स्थिति आधी रात में उत्पन्न हो जाए तो नर्स जितनी सहायक हो सकती है उतना कोई दूसरा नहीं हो सकता। आत्मीयता भिन्न है और परिचर्या बिलकुल ही दूसरी चीज है।

ऐसा नहीं कि श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने गोविन्द को व्यस्त या काम करते अथवा किसी के लिए चिन्ता करते नहीं देखा है। बहुत निकट से न देखने पर भी इतना तो बराबर देखा है कि गोविन्द आरम्भ में कैसा बच्चा लगता था और पीछे

तेज हवा में पड़ गये दीपक को जैसे सतर्क आड़ दी जाती है वैसे ही दुर्गा ने उसे और अधिक समेटते हुए कहीं दूर देखते हुए कहा,

— जो 'लोग' होते हैं, वो नहीं आते गौरा !....क्या मैं तुम्हें 'लोग' लगती हूं ? ऐसा पराया नहीं बोलते ।

और उन्होंने अपनी दोनों हथेलियों में गौरा के मुँह को गहा और उसकी आँखों में आँखें डाल दीं । रोते हुए व्यक्ति के पास कोई भाषा नहीं होती क्योंकि जिसे व्यक्त करने में भाषा असमर्थ होती है उसे आँसू से ही व्यक्त किया जा सकता है ।

बाहरी जीने के नीचे बड़ा सा तुलसी-क्यारा था । पल्लू से आँसू पोंछ कर तथा सिर का पल्लू ठीक कर गौरा ने तुलसी को प्रणाम किया और बाहर के बड़े से फाटक की ऊँची सी साँकल को जब वह पंजों पर खड़े होकर चढ़ा रही थी तो उसे लगा कि जैसे वह उमक कर अपने विगत से बाहर निकल रही है क्योंकि किसी दिन उसने इस फाटक को बन्द नहीं किया होगा ।—एम्बूलेन्स इस पतली सी गली के मुहाने पर खड़ी हुई खिलौने जैसी लग रही थी । सड़े पत्तों और कूड़े के जमा ढेरों में से खट्टी गन्ध आ रही थी । नाक पर साड़ी का पल्लू लिये वे दोनों गली से बाहर निकलीं ।

सबसे कोने वाला प्राइवेट-वार्ड ही लिया गया था । जिस समय एम्बूलेन्स पहुँची उस समय पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और गोविन्द के अलावा श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय और पंचानन भी मौजूद थे ।

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय, गिरिधर ठक्कर की जिस प्रकार दूर की काकी लगती थीं उसी प्रकार गौरा की भी काकी लगती थीं । याद तो नहीं पर इन्दौर में किसी के विवाह में सविता बेन को और गौरा को कभी देखा था । गौरा तब बहुत ही छोटी थी । गौरा के पिता पण्डित जयचन्द्र याज्ञिक, तार-बाबू का कितना नाम था ! पहली बार उन्होंने किसी को टसर का सूट पहने देखा था । उसके बाद कभी अवसर ही नहीं आया कि भेंट-मुलाकात होती । जयचन्द्र जी की मृत्यु का समाचार सबको हतप्रभ कर गया था । उसके बहुत दिनों बाद पता नहीं चला कि माँ-बेटी का क्या हुआ । अपने ही संघर्ष-झंझट कौन कम थे जो ज्यादा खोज-खबर ली जाती, और उससे लाभ भी क्या था ? हाँ, कभी उड़ते हुए यह अवश्य सुना कि माँ-बेटी उज्जैन ही आ गये हैं और सविता बेन किसी प्रकार जीवन-यापन कर रही हैं ।—पर, आज बरसों बाद गौरा को देखा तो वह देखती ही रह गयीं । उन्हें एकदम पण्डित

जयचन्द याज्ञिक स्मरण हो आये। वही गौरवर्ण। निर्दोष, काली बरौनियाँ तथा पलकों वाले किंचित बड़े नेत्र। सामान्यतः भी पुत्रियाँ पिता पर ही जाती हैं परन्तु गौरा तो पिता की बहुत ही सटीक अनुकृति थी। बल्कि उन्होंने जब गौरा का हाथ गहा तो सशंक भाव से नारी बनती हुई गौरा के हाथों की कोमलता और उन हाथों की अँगुलियों का लम्बा पतलापन बड़ा ही सायास लगा। सम्भव है तार-बाबू के हाथ भी ऐसे ही मूर्तियों जैसे रहे हों। प्रत्येक समय थरथराता व्यक्तित्व आपको जलाशय की ही तो याद दिलाता है कि छूने से ही नहीं बल्कि देखने मात्र से भी ऐसा व्यक्तित्व पीपल सा प्रकम्पित हो उठेगा। कितने सतर्क होकर ऐसे व्यक्तित्व से व्यवहार करना होता है। उन्हें यह भी तो लगा था कि गौरा कदली के पत्ते पर धूप में दिपती बूंद की कैसी हीरक माया है। सातों रंग कैसे पलकें झपकाते आपको देख रहे हैं परन्तु अगर उस बूंद को छू देने का विचार भी मन में आया तो वह बिना कोई गीलापन छोड़े पत्ते पर से कैसी ढलँग जाएगी और तब कहीं नहीं होगी वह माया। प्रकृति सबको ऐसा ही निष्कलुप, अपने जैसा ही पवित्र बना कर भेजती है परन्तु हम....?

गौरा को लेकर दुर्गा घर जा चुकी थी। श्रीमती सविता बेन याज्ञिक के पास श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय कुर्सी डालकर उन्हें पंखा झल रही थीं। पंखे की लय के साथ ही उनके सोचने की लय भी काम कर रही थी। जब व्यक्ति इस प्रकार अपने में डूब कर सोचता है तब नेत्र, नेत्र नहीं रहते; कान, कान नहीं रहते। सारी इन्द्रियाँ उस सोचने में डूब जाती हैं। और जब आप इन्द्रियों के तट पर वापस आते हैं तो जल से ऊपर आने जैसी ही प्रतीति होती है। जब वह ऊपर आयीं तो देखा कि सविता बेन सो रही हैं। कमरे में पूर्ण निस्तब्धता थी। बगल वाले कमरे में साथ रहने वालों का प्रबन्ध था। खिड़की के खुलेपन में न केवल पेड़, सड़क पार की आगर-रेल की फेंसिंग और आकाश ही जड़े हुए दिख रहे थे बल्कि जैसे इस पूरे चित्र में आवाज भी जड़ी हुई थी। बाहर चलती हवा खिड़की से ढुलक कर कभी-कभी भीतर आ जाती थी। पंचानन शायद बाजार गया हुआ था और गोविन्द, नर्स आदि के प्रबन्ध में बझा था। यद्यपि सबने कहा कि जब घर ही के इतने सारे लोग देखने-भालने के लिए हैं तब चौबीसों घण्टे के लिए नर्स रखना पैसे का अपव्यय ही है परन्तु जब गोविन्द ने पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को भी इस बात पर तैयार कर लिया तो कोई तब क्या कहता? वैसे गोविन्द ठीक कह रहा था कि चिन्ता या दौड़-धूप दूसरे लोग कर सकते हैं परन्तु श्रीमती सविता बेन याज्ञिक को परिचर्या की अधिक अवश्यकता है। नियमित टेम्प्रेचर, उसका चार्ट बनाना, कब-कौनसी दवाई देना या तत्काल कोई स्थिति आधी रात में उत्पन्न हो जाए तो नर्स जितनी सहायक हो सकती है उतना कोई दूसरा नहीं हो सकता। आत्मीयता भिन्न है और परिचर्या बिल्कुल ही दूसरी चीज है।

ऐसा नहीं कि श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने गोविन्द को व्यस्त या काम करते अथवा किसी के लिए चिन्ता करते नहीं देखा है। बहुत निकट से न देखने पर भी इतना तो बराबर देखा है कि गोविन्द आरम्भ में कैसा बच्चा लगता था और पीछे

तेज हवा में पड़ गये दीपक को जैसे सतर्क आड़ दो, जाती है वैसे ही दुर्गा ने उसे और अधिक समेटते हुए कहीं दूर देखते हुए कहा,

— जो 'लोग' होते हैं, वो नहीं आते गौरा !....क्या मैं तुम्हें 'लोग' लगती हूँ ? ऐसा पराया नहीं बोलते ।

और उन्होंने अपनी दोनों हथेलियों में गौरा के मुँह को गहा और उसकी आँखों में आँखें डाल दीं। रोते हुए व्यक्ति के पास कोई भाषा नहीं होती क्योंकि जिसे व्यक्त करने में भाषा असमर्थ होती है उसे आँसू से ही व्यक्त किया जा सकता है।

बाहरी जीने के नीचे बड़ा सा तुलसी-चबारा था। पल्लू से आँसू पोंछ कर तथा सिर का पल्लू ठीक कर गौरा ने तुलसी को प्रणाम किया और बाहर के बड़े से फाटक की ऊँची सी साँकल को जब वह पंजों पर खड़े होकर चढ़ा रही थी तो उसे लगा कि जैसे वह उमक कर अपने विगत से बाहर निकल रही है क्योंकि किस दिन उसने इस फाटक को बन्द नहीं किया होगा।—एम्बूलेन्स इस पतली सी गली के मुहाने पर खड़ी हुई खिलौने जैसी लग रही थी। सड़े पत्तों और कूड़े के जमा ढेर में से खट्टी गन्ध आ रही थी। नाक पर साड़ी का पल्लू लिये वे दोनों गली से बाहर निकलीं।

सबसे कोने वाला प्राइवेट-वार्ड ही लिया गया था। जिस समय एम्बूलेंस पहुँची उस समय, पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और गोविन्द के अलावा श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय और पंचानन भी मौजूद थे।

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय, गिरिधर ठक्कर की जिस प्रकार दूर की काकी लगती थीं उसी प्रकार गौरा की भी काकी लगती थीं। याद तो नहीं पर इन्दौर में किसी के विवाह में सविता बेन को और गौरा को कभी देखा था। गौरा तब बहुत ही छोटी थी। गौरा के पिता पण्डित जयचन्द्र याज्ञिक, तार-बाबू का कितना नाम था। पहली बार उन्होंने किसी को टसर का सूट पहने देखा था। उसके बाद कभी अवसर ही नहीं आया कि भेंट-मुलाकात होती। जयचन्द्र जी की मृत्यु का समाचार सबको हतप्रभ कर गया था। उसके बहुत दिनों बाद पता नहीं चला कि माँ-बेटी का क्या हुआ। अपने ही संघर्ष-झंझट कौन कम थे जो ज्यादा खोज-खबर ली जाती, और उससे लाभ भी क्या था? हाँ, कभी उड़ते हुए यह अवश्य सुना कि माँ-बेटी उज्जैन ही आ गये हैं और सविता बेन किसी प्रकार जीवन-यापन कर रही हैं।—पर, आज जब गौरा को देखा तो वह देखती ही रह गयीं। उन्हें एकदम पवि...

जयचन्द याज्ञिक स्मरण हो आये। वही गौरवर्ण। निर्दोष, काली बरौनियाँ तथा पलकों वाले किंचित बड़े नेत्र। सामान्यतः भी पुत्रियाँ पिता पर ही जाती हैं परन्तु गौरा तो पिता की बहुत ही सटीक अनुकृति थी। बल्कि उन्होंने जब गौरा का हाथ गहा तो सशंक भाव से नारी बनती हुई गौरा के हाथों की कोमलता और उन हाथों की अँगुलियों का लम्बा पतलापन बड़ा ही सायास लगा। सम्भव है तार-बाबू के हाथ भी ऐसे ही मूर्तियों जैसे रहे हों। प्रत्येक समय थरथराता व्यक्तित्व आपको जलाशय की ही तो याद दिलाता है कि छूने से ही नहीं बल्कि देखने मात्र से भी ऐसा व्यक्तित्व पीपल सा प्रकम्पित हो उठेगा। कितने सतर्क होकर ऐसे व्यक्तित्व से व्यवहार करना होता है। उन्हें यह भी तो लगा था कि गौरा कदली के पत्ते पर धूप में दिपती बूँद की कैसी हीरक माया है। सातों रंग कैसे पलकें झपकाते आपको देख रहे हैं परन्तु अगर उस बूँद को छू देने का विचार भी मन में आया तो वह बिना कोई गीलापन छोड़े पत्ते पर से कैसी ढलँग जाएगी और तब कहीं नहीं होगी वह माया। प्रकृति सबको ऐसा ही निष्कलुष, अपने जैसा ही पवित्र बना कर भेजती है परन्तु हम....?

गौरा को लेकर दुर्गा घर जा चुकी थी। श्रीमती सविता बेन याज्ञिक के पास श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय कुर्सी डालकर उन्हें पंखा झल रही थीं। पंखे की लय के साथ ही उनके सोचने की लय भी काम कर रही थी। जब व्यक्ति इस प्रकार अपने में डूब कर सोचता है तब नेत्र, नेत्र नहीं रहते; कान, कान नहीं रहते। सारी इन्द्रियाँ उस सोचने में डूब जाती हैं। और जब आप इन्द्रियों के तट पर वापस आते हैं तो जल से ऊपर आने जैसी ही प्रतीति होती है। जब वह ऊपर आयीं तो देखा कि सविता बेन सो रही हैं। कमरे में पूर्ण निस्तब्धता थी। बगल वाले कमरे में साथ रहने वालों का प्रबन्ध था। खिड़की के खुलेपन में न केवल पेड़, सड़क पार की आगर-रेल की फेंसिंग और आकाश ही जड़े हुए दिख रहे थे बल्कि जैसे इस पूरे चित्र में आवाज भी जड़ी हुई थी। बाहर चलती हवा खिड़की से ढुलक कर कभी-कभी भीतर आ जाती थी। पंचानन शायद बाजार गया हुआ था और गोविन्द, नर्स आदि के प्रबन्ध में बझा था। यद्यपि सबने कहा कि जब घर ही के इतने सारे लोग देखने-भालने के लिए हैं तब चौबीसों घण्टे के लिए नर्स रखना पैसे का अपव्यय ही है परन्तु जब गोविन्द ने पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को भी इस बात पर तैयार कर लिया तो कोई तब क्या कहता? वैसे गोविन्द ठीक कह रहा था कि चिन्ता या दौड़-धूप दूसरे लोग कर सकते हैं परन्तु श्रीमती सविता बेन याज्ञिक को परिचर्या की अधिक अवश्यकता है। नियमित टेम्प्रेचर, उसका चार्ट बनाना, कब-कौनसी दवाई देना या तत्काल कोई स्थिति आधी रात में उत्पन्न हो जाए तो नर्स जितनी सहायक हो सकती है उतना कोई दूसरा नहीं हो सकता। आत्मीयता भिन्न है और परिचर्या बिल्कुल ही दूसरी चीज है।

ऐसा नहीं कि श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने गोविन्द को व्यस्त या काम करते अथवा किसी के लिए चिन्ता करते नहीं देखा है। बहुत निकट से न देखने पर भी इतना तो बराबर देखा है कि गोविन्द आरम्भ में कैसा बच्चा लगता था और पीछे

की तरह रोज-रोज बढ़ते हुए आज कैसा सम्भ्रान्त, शान्त एवं सौम्य लगने लगा है। सम्पन्नता जब साधारण से साधारण व्यक्ति को आकर्षक बना देती है तब भला जिसका अन्तर भी वैभव-सम्पन्न हो वह क्यों नहीं आकर्षक लगेगा ? एकाध बार रात में बक्सों वाली काली भूषा में गोविन्द को देखा तो पहले तो पहचान ही नहीं पायी क्योंकि इधर बहुत ही सुघमित ढंग से उसने मूँछें रखनी शुरू कर दी हैं, और जब पहचाना तो देखती ही रह गयीं कि अब कैसा सुदर्शन लगता है न कि नजर लगे। गायत्री-भाभी के यहाँ तो हमेशा गोविन्द ऐसा लगता था कि यह भी भाभी के उस बड़े से हॉल का फ्लॉवर-पॉट है। बातें भी की हैं परन्तु कभी ऐसा नहीं हुआ कि सामने परसी थाली सा रख-कर कुछ कहा-सुना गया हो तो लगे कि आपका मन इस व्यक्ति के जल में नहाया है।—आज गोविन्द जिस वयस्क वृत्ति से सारा प्रबन्ध कर रहा था उसमें वयस्कता के साथ-साथ अनुभव सम्पन्नता भी लग रही थी। उत्तरदायी व्यक्तित्व के चलने में एक खास प्रकार का सधापन होता है। गोविन्द को यदि एक बार भी किसी ने देखा होगा तो सोचने पर विवश किया होगा जैसे कि वह व्यक्ति न होकर व्यक्तित्व की सुगन्ध है जो आपके कपड़ों को नहीं बल्कि आपके मन को सुवासित कर गयी है। संकोची तो इतना है कि क्या कोई बहू होगी। और कौन उसका या वह किसका आत्मीय नहीं है ? क्या परम सदाशयी बनने के लिए जीवन के गहरे संघर्ष, प्रखर अनुभवों में से गुजरना पड़ता है, जब तक पण्डित शिवशंकर आचार्य गोविन्द को अपने साथ नहीं लाये और गायत्री भाभी के साथ यह नहीं रहने लगा उसके पहले जो भी तनावपूर्ण स्थितियाँ रही हों परन्तु उसके बाद से तो गोविन्द को कोई विषमता का सामना ही नहीं करना पड़ा। दुर्गा और गोविन्द के पारस्परिक व्यवहार को देखकर कोई कह सकता था कि ये लोग सगे भाई-बहिन नहीं हैं ? कौन-किसमें कितना विलीन हुआ—कहना कठिन है। रसा-बसापन गोविन्द में कैसे प्रकृत रूप में है।—इसी असम्बद्ध सोचने के क्रम में एक 'किन्तु, पर हठात लगा कि क्या यह सम्भव है ?—क्या ?—अभी-अभी सोचते-सोचते एक सम्भावना बहुत दूरागत रूप में कौंधी थी उसकी वह पूरी आहट स्वयं को ही नहीं होने देना चाहती थीं, लेकिन क्यों ?—इसलिए कि कई बार कुछ सोचना तेज प्रकाश की चकाचौंध सा लगता है न ?...स्वयं ही से वह इतना अवश्य पूछने को आकुल बनी रहीं कि क्या ऐसा बहुत असंगत होगा ?...लेकिन क्या ??

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने देखा कि, एक डाक्टर और नर्स के साथ गोविन्द चला आ रहा है। नर्स के हाथ में ट्रे थी जिसमें दवाइयों की शीशियाँ, रुई, थर्मामीटर आदि थे। आते ही गोविन्द बोला,

— मासीमाँ ! यह नर्स हैं।

शायद मासीमाँ गोविन्द का बोलना नहीं सुन रही थी बल्कि गोविन्द का मुँह देख रही थीं, बोलीं,

— हाँ, वह तो मैं देख ही रही हूँ।

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने जिस प्रकार कहा उसे सुनकर गोविन्द को लगा कि मासीमाँ नर्स के बारे में न कह कर कुछ और ही कह रही हैं और वह सकपका गया। अपनी मानसिक असुविधा बचाने के ख्याल से वह डाक्टर से बोला,
— टेबल-फेन कब तक मिल जाएगा डाक्टर !
— स्टोर-कीपर आता ही होगा। उसके आते ही तत्काल लग जाएगा।
नर्स टेम्प्रेचर-चार्ट टाँग चुकी थी। थर्मामीटर से वह टेम्प्रेचर लेने की तैयारी में उसे झाड़ रही थी। डाक्टर दूर बरामदे में जाता हुआ छोटा होता जा रहा था। टेम्प्रेचर कोई ज्यादा नहीं था, पर एक सौ एक डिग्री बुखार कहीं ज्यादा न हो जाए इसके लिए नर्स ने सविता बेन को दवाई दी। दवाई लेते समय सविता बेन ने अपनी पलकें जिस ढंग से उठायीं और खोलीं उसमें ऐसा ही भाव था जैसे बड़े दिनों के बाद किसी हवेली की वर्षों बन्द खिड़कियाँ बहुत ही सायासपूर्वक खोली जाती हैं। आँखों से उन्होंने देखा, जिसमें खोजने का भाव था। यह खोजना दो ही बात का हो सकता था कि एक तो वह स्वयं कहाँ हैं ? दूसरे गौरा कहाँ है ?
उन्हें देखते देखकर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने पंखा झलते हुए पूछा,
— गौरा को खोज रही हैं ?
सच तो यह है कि वह वही कर रही थीं परन्तु इसे स्वीकार भी नहीं करना चाहती थीं, बोलीं,
— गौरा को क्यों खोजूँगी बेन ! क्या वह तुम लोगों के बीच सुरक्षित नहीं है ?
तभी नर्स ने टोका,
— बहन जी ! आप आराम करें। ज्यादा न बोलें।
श्रीमती सविता बेन याज्ञिक ने श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय का पंखा वाला हाथ हौले से थाम लिया और पूछा,
— क्या ऐसा नहीं है ?
— क्यों नहीं ?....आप किसी बात की चिन्ता न करें।
तभी अस्पताल का चपरासी टेबल-फैन लेकर आ पहुँचा। टेबल-फेन लग जाने से सविता बेन को जो गर्मी के कारण थोड़ी असुविधा हो रही थी वह कम हो गयी और थोड़ी ही देर में वह झपक गयीं। उनके झपकते ही श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय और गोविन्द दोनों बाहर निकल आये। दोनो ने अनुभव किया कि बरामदा तपकर गरम हो गया है अतः सामने के लॉन पर जाकर दूब पर बैठ गये। बैठते ही गोविन्द को लगा कि सच में आज वह बराबर ऐसा व्यस्त रहा कि जिसमें मानसिक तनाव से कहीं ज्यादा आत्मिक व्यथा अनुभव करता रहा। कल गिरिधर ठक्कर ने उससे जिस समय कहा कि उसकी बुआ बीमार हैं जिन्हें वह डाक्टर सामन्त को दिखाना चाहते हैं और इसका प्रबन्ध उसे ही करना होगा तो उस समय वह नहीं जानता था कि उसका जीवन के कितने करुण, नहीं, बल्कि हाहाकार करती यथार्थता से सामना होगा।

जिस समय वह श्रीमती सविता बेन याज्ञिक के यहाँ पहुँचा तो उसे बाहर के

फाटक से ही नहीं बल्कि उस बड़ी सी, पतली चली गयी गली को देखकर न जाने कैसा-कैसा सा लगा था। उस बाहरी फाटक पर तो उदासी इतनी मुखर थी कि आँख बन्द होने पर भी यह कह सकता था कि यह स्थान उजाड़ ही होना चाहिए। फाटक से दिखती निर्जन पड़सालें तथा कच्ची सीढ़ियाँ पहली बार देखने पर भी आपको भीतर तक उदास कर देती हैं। मनुष्य की उपस्थिति से चीजें और स्थितियाँ भिन्न प्रकार से प्रसन्न लगती हैं और मनुष्य की अनुपस्थिति में इन सब पर धूल ही धूल भर उठती है और वातावरण तक में कैसा फीका-फीकापन लगता है। सीढ़ियाँ गिरने के लिए होती हैं यह उसने पहली बार ही जाना। बरसात में इन कच्ची सीढ़ियों तथा गीली मिट्टी पर पैर रख कर कर चढ़ना-उतरना कितना संकट पूर्ण होता होगा। इन सीढ़ियों पर से पानी के गगरे, घड़े लेकर चढ़ना तो नाम सूखता होगा। इन सीढ़ियों का संकरापन तथा अनगढ़पन दीवाल में अनायास उग आये पीपल सा ही लग रहा था। जिस समय वह गिरिधर ठक्कर के साथ ऊपर पहुँचा था तो उसे लगा कि जैसे किसी गहरी कुएँ में उसे किसी ने उतार दिया है। वहाँ पहुँच कर वह हठात अकेला हो उठा। जिस प्रकार का ठण्डापन अनुभव हुआ उसे वह किसी दिन व्यक्त नहीं कर सकता। गोबर लिपे उस असमतल फर्श पर लीपने वाली अँगुलियों की अर्धवृत्त में छाप पीछे छूट कर उभर आयी थी। उस निरीहता को देखने भर से गोविन्द को असुविधा हुई थी। अकेली खाट पर श्रीमती सविता बेन याज्ञिक जिस प्रकार लेटी थीं उसमें उनकी ओर देखना भी अमानुषिकता लग रही थी। सामने के कोने में दो बक्से पुरानी धोतियों से ढँके हुए थे। दो खिड़कियों के बीच के खम्भे पर एक बहुत ही सस्ता, टीन की गोट वाला छोटा सा शीशा तिरछे टँगा था जिसमें फर्श का एक हिस्सा प्रतिच्छायित हो रहा था। दो-एक खूँटियाँ थी जिनमें से केवल एक पर लाल गमछा [गमछा] टँगा हुआ था। हाँ, रस्सी की एक अलगनी पर गुजराती ढंग से आँट देकर दो-तीन धोतियाँ टँगी हुई थीं। श्रीमती सविता बेन याज्ञिक की खाट के सामने बहुत ही धुले-धुले रंग की एक सतरंजी [दरी] बिछी थी, जो ध्यान से देखने पर ही फर्श से अलग दिखती थी। दरवाजे के पास कोने में गोल तहायी हुई एक चटाई अवश्य खड़ी थी। सामने के दो कोने में लकड़ी के खोकों को रख कर इधर से देखने पर दीवाल और अपने काम-काज के लिए उधर से आलमारी बना ली गयी थी। उधर अवश्य ही चूल्हा-चौका होगा क्योंकि रस्सियों का एक छीका टँगा हुआ था जिसमें रोटियों का पीतल का डिब्बा चमक रहा था। सारा परिवेश वस्तुहीन तो था ही परन्तु वस्तुओं के न होने पर खालीपन का अहसास तो सहज है लेकिन विषादमय तो नहीं होना चाहिए, जबकि गोविन्द को यह अहसास चुभने की सीमा तक हो रहा था। उस उदास कर जाने वाले वातावरण में माँ-बेटी भी व्यक्ति से अधिक दो वस्तुएँ जैसी ही लग रही थीं। विषाद या दुःख की कोई गन्ध होती है यह बड़े दिनों बाद उसे भभके सी अनुभव हुई। न जाने क्या-क्या बचपन का याद हो आया। हठात आपका पैर किसी कीचड़ में पड़ जाए तो जो धक्का आपको लगता है उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। हठात की इस अविश्वसनीयता में

आपकी केवल आँखें ही नहीं फटी की फटी रह जाती हैं बल्कि पूरा व्यक्तित्व ही चकित, फटी आँख बन जाता है ।

लेकिन जो चीज उसे पूरी तरह स्तब्ध कर गयी थी, वह थी गौरा की प्रथम दृष्टि, जिसमें किसी भी प्रकार पहचानने या आप की उपस्थिति की स्वीकृति का भाव न था। वह केवल दृष्टि थी, उसी प्रकार कि जिस प्रकार फूल, केवल फूल होते हैं। क्या तत्व इसी प्रकार आचरण करते है ? अग्नि शायद आवाहन किये जाने पर जब जाग कर पहली वार देखती है तब वह इसी निस्पृह भाव से अपने होता को मात्र देखती है ।

दोनों दूब पर बैठे थे । पर ऐसा लग रहा था कि आपस में बातें करने के स्थान पर जैसे वे सोचने के लिए बैठे हों। श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय को इस विपमता पर हँसी आगयी, बोली,

— क्या सोच रहे हो गोविन्द ?

गोविन्द के देखने में दर्द और मर्म दोनों ही है यह वह समझ ले गयीं, बोलीं,

— बेचारे जयचन्द्र जी की कैसी अच्छी सी गृहस्थी थी, पर समय की बलिहारी है ...

— कौन जयचन्द्रजी ?

— गौरा के पिता, तारबाबू थे

गोविन्द को थोड़ी हँसी आ गयी तो श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय ने पूछा,

— किस बात पर हँसे ?

— किसी बात पर नहीं मासीमाँ !—भारतीयों की उस मर्म दृष्टि पर हँसी आयी कि धरती जैसी कड़ी चीज पर व्यवहार करते संसार की उपमा उन्होंने सागर से दी, धरती से नहीं । कब किसका पैर अतल में पड़ जाएगा और व्यक्ति तिरोहित हो जाएगा, यह कोई नहीं जानता । बहुत विचित्र है यह संसार मासीमाँ !

दोनों ने एक साथ देखा कि एक ताँगा आया और उसमें से दुर्गा तथा गौरा उतरी । श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय ने गहरी निश्वास लेते हुए कहा,

— गौरा बहुत सुशील है न गोविन्द ?

गोविन्द भला क्या कहता ? वह केवल मौन देखता रहा ।

जिस प्रकार जीर्ण-शीर्ण मकान की कौनसी चीज सही रह जाती है कि उसे ठीक या बदलवा देने पर घर सम्हल जाएगा । एक सीमा के बाद ऐसा कुछ कर सकना सम्भव नहीं रहता । खप्पर की धरन पचासों वर्ष तक नहीं सड़ती परन्तु अगर उसमें

धुन लग गयी है तो आप कुछ नहीं कर सकते । घरन की भली चलायी, साखू के खम्भे ही कौन साबुत बच गये हैं । लम्बी-लम्बी चीरों में मार कीड़े ही कीड़े भरे हुए होंगे। दीवालों की ईंटों को छुओ तो पता चले कि कितना लोना लग गया है । और फर्श तो जगह-जगह से ऐसे बैठ गया होगा जैसे अब एक पैर भी नहीं चल सकेगा । बस, ऐसी ही स्थिति श्रीमती सविता बेन याज्ञिक की थी । पन्द्रह वर्ष कम नहीं होते और यो पन्द्रह वर्ष कुछ नही होते । पति की मृत्यु के समय यही तीस-पैंतीस की रही होंगी और अब पचास के आसपास होंगी । पचास की आयु में आज वह जैसी हो गयी हैं उनमें नया आदमी क्या कहे कि पण्डित जयचन्द्र याज्ञिक यदि जीवित होते तो यही सविता बेन कैसी चम्पा जैसी लगती ? परन्तु पति की मृत्यु के बाद से एक-एक दिन ब्रह्मा के दिन की भाँति ही बीता होगा । घर से बाहर भरी जवानी में जब जीवन-यापन के लिए सेठों के घरों में रोटियाँ बनाने जाने के लिए समय-कुसमय, मौसम-बे मौसम जाना पड़ा होगा तब उस असुरक्षित मानसिक तनाव की स्थिति की क्या कोई कल्पना कर सकता है ? मोल के पापड़, सिलाई-कढ़ाई के लिए रातों जागना और और अथक परिश्रम ने उन्हें इतना नहीं तोड़ा होगा जितना इस विचार ने कि गौरा का क्या होगा ? यदि उन्हें कुछ हो गया तो उनकी बेटी का क्या होगा । और इस आशंका में दिन भर थके होने के बावजूद भी वह सो नहीं पाती थीं । सम्बन्धियों में एक भी ऐसा आत्मीय नहीं था जहाँ वह अपना हाहाकार कभी व्यक्त कर सकती थी । पति के समय तक जो घर, जो परिवार, जो कुल-कुटुम्ब, जो संसार बड़ा हल्का-फुल्का, नहाया-धुला लगता था अब वही सब पतिहीन परिस्थिति में कैसा वीरान, असुरक्षित लगता था । इसी मकान में आश्रय मिलने के बाद कैसे-कैसे भय, आशंका भरे दिन काटने पड़े हैं । कभी वह पूरी रात सो सकीं, यह नहीं कह सकतीं । पास में लेटी गौरा की नींद के बेखटकेपन के लिए वह रातों जागती रही होंगी । दिन में भी वह महाराजिन बनी रोटियाँ बेलती-सेकती रही होंगी परन्तु मन, बाल सुखाती गौरा के पास ही खड़ा होगा। गौरा अब स्कूल में क्या कर रही होगी ? पूरा जीवन बँधी मुट्ठी की भाँति जीने के कारण गौरा को स्कूल के लिए कुछ भी खाने के लिए देना सम्भव भी नहीं था । एक तो ब्राह्मण-संस्कार दूसरे इतनी विवशता कि बच्ची को इकन्नी भी नहीं दे सकती थीं । जब कभी गौरा कहती भी कि पानी पीने की छुट्टी में लड़कियाँ खाती-पीती हैं और वह खड़ी-खड़ी मुँह ताका करती है, यह सुनकर श्रीमती सविता बेन याज्ञिक का कलेजा मुँह को आता है पर क्या करें ?....जब उन्हें लौटने में थोड़ी देर हो जाती है और घनघोर वर्षा हो रही होती है तब वह किस मुश्किल से घर पहुँचती है कि पता नहीं गौरा इस समय अकेली घर में कितनी डरी बैठी होगी । इस बरसाती चौमासे के वायरे में खिड़कियाँ कैसी आवाज करती खुली पड़ती होंगी । सारा कमरा गीला हो गया होगा । चिमनी भुक्क-भुक्क जाती होगी और इस मूसलाधार वर्षा, कड़कती बिजली में गौरा उस वीरान घर में अकेली कैसी डरी-दुबकी, बैठी होगी—और वह तेज-तेज चलते हुए घर पहुँच रही हैं । काँपते हुए वह गीली सीढ़ियों पर, चढ़ते न जाने, कितनी थरथराती प्रार्थनाएं

करते हुए दरवाजे पर पहुँच आखिर आवाज देती—गौरा !! और भीगी, ठण्डी गौरा को सहमे से देखकर सीने से सटा लेने को विह्वल होने पर भी मात्र पूछ बैठतीं, कि इस अँधेरे में क्यों बैठी है। वही गौरा बालिका से किशोरी और फिर किशोरी से वयस्क हुई होगी तब एक निराश्रित माँ का हाहाकार और कितना बढ़ गया होगा। अपने ही अंग ढाँपकर चलना, आना-जाना करना मुश्किल रहा तब भला जीवन की कुरूपताओं से अपरिचित बेटी को कैसे संकेत से समझातीं कि स्त्री कहीं भी, कभी भी सुरक्षित नहीं है। किसी भी माँ की यह कितनी बड़ी विवशता है कि वह बेटी को जितना अधिक सुरक्षित रखना चाहती है उसमें उसे उतनी ही अधिक कड़ाई बरतनी होती है। एक-एक दिन सूदखोर पठान से लिये गये कर्ज के न समाप्त होनेवाले ब्याज के समान बीता होगा जिसमें कोई ऋतु, कोई फूल,कोई उत्सव स्वादिष्ट न लगा होगा। कंकड़ी के भय से प्रत्येक कौर सम्हल-सम्हल कर चबाया होगा और राम-राम करते यहाँ तक पहुँची होंगी। इस संघर्ष का क्या अन्त था ? निरन्तर ठण्डे पसीने और हताश भाव में रगें फट पड़ती रही होंगी, पर वह किससे कहें ? किसके आगे अपनी भरी आँखें निचोयें ? गौरा को यदि समय के पूर्व ही अपनी माँ की यह अवशता मालूम हो गयी होती तो वह कितना कुछ समझ पाती। और उससे उसके बालिका-मन पर कितना बुरा प्रभाव पड़ता, इसलिए वह एकान्त में आँसू पोंछकर खड़ी हो जाती रही हैं जैसे आँसू नहीं चूड़ियाँ थीं वस्तुतः वह तांगे में जुते घोड़े सी अपनी गौरा को लिए सरपट भागती रही हैं कि किसी तरह गौरा बड़ी हो जाये और अपने घर जाये। उसके बाद वह भले ही टूट जाएँ पर पहले नहीं। और इस चेष्टा में चिमनी के मन्द प्रकाश में मोल का सीना-पिरोना किया होगा। उस झिलमिल करते प्रकाश में दिन भर के घोर परिश्रम के बाद भी काँपते हाथों से छूट-छूट पड़ते सलमे-सितारे टाँके होंगे ताकि गौरा खिल-खिलाती रहे। इतने व्रत, एकासने, भजन-पूजन, केवल बेटी के लिए किये होंगे। अपनी देह का कंचन प्रतिदिन उतरते उन्होंने देखा है परन्तु कहीं बेटी की देह मैली न हो जाए इस-लिए अपनी कोई चिन्ता नहीं की होगी। दूसरों के कपड़ों में सलमे-सितारे टाँककर अपनी और बेटी की कंथा ही बनी रहे इसके लिए न जाने कितने सेठों, ढाबों तथा दूकानदारों के लिए पापड़ बेले हैं। उन्होंने अपने जेवर जिस तरह छुपाकर रख दिये थे उसमें यही तो भाव था कि बेटी के विवाह के समय जेवर की समस्या न आ जाये, वर्ना किसके सामने आँचल पसारेंगी ? अपने वह तुलसी की माला पहनें तो क्या ? उन्हें अब करना ही क्या है ? परन्तु उनकी बेटी को जो भी ले जाएगा वह चाँदी-बूची तो ले नहीं जाएगा ? अपनी एक-एक रोटी में से कौर-कौर बचाकर, छदाम-छदाम जोड़कर यहाँ-वहाँ जोड़ती-गाँठती रही हैं अपने से ही छुपाकर, तो वह गौरा के लिए ही तो, कि पति का जो सरकारी पैसा मिला उसमें वह इतना और जोड़ सके कि बेटी के विवाह में कपड़े-लत्तों, बर्तन-भाँडों, रसोई-पानी में कोई कमी न आ जाए। किसी भले घर की बहू लगने के लिए गौरा को बहुत-कुछ चाहिएगा और वह किससे माँगकर देंगी ? और कोई क्यों देगा ? और यदि वह किसी से माँगेंगी तो 'वह' ऊपर से सब नहीं देखेंगे कि उनकी एकमात्र लाडली लड़की

के लिए उनकी पत्नी लोगों से माँगती फिर रही है ? तो उनकी आत्मा क्या उन्हें क्षमा करेगी ?—अपने वह पानी पीकर रह गयी होंगी । अपना क्या, सूखी नदी हैं परन्तु बेटी तो अभी चढ़ती नदी है अतः अपना जल भी उसे ही देती रही होंगी ताकि वह सदानीरा लगे । साधारण से अधिक नहीं पहनाया होगा परन्तु अन्दर से वह कहीं बिखर न जाए इसके लिए माँ-बेटी कभी-कभी रील पर रामायण-महाभारत रखकर बाँचती रही होंगी। माँ ने बिस्तर में लेटे हुए बेटी के सिर पर हाथ फेरते हुए न जाने कौन-कौन सी कथा-कहानियाँ सुनायी होंगी । उसे भीतर से कभी अकेलापन न लगे इस चेष्टा में न जाने कौन कौन से दृष्टान्त सुनाये होंगे ताकि उनकी बेटी तपा, टंच घड़ा बन सके । और वह भी ऐसा घड़ा, जो दूसरे के घर पहुँच कर कलश लगे ।

बस, अब घाटी रह ही कितनी गयी थी, इसलिए जब कभी उन्हें कहीं अपने में कुछ दुखता सा लगता या खाँसी पिण्ड ही नहीं छोड़ती होती तो वह कपड़ा मुँह में ठूँस लेती कि बेटी कहीं कुछ पूछ न बैठे । गौरा स्कूल से कालेज गयी और फिर बी० ए० करने के लिए इन्दौर गयी तो उन्हें यह नहीं लगा कि इतना पढ़कर वह क्या करेगी ? क्योंकि पति जिस बेटी को अहल्या-आश्रम में रखकर..पढ़ाना चाहते थे वह पता नहीं कितना क्या पढ़ाते अतः वह प्रकारान्तर से अपने पति की इच्छा पूर्ति ही तो कर रही थीं । पर धीरे-धीरे उन्हें लगने लगा कि कफ हड्डियों में जमता जा रहा है । खाँसते-खाँसते बुरा हाल हो जाता है पर कफ हड्डियाँ छोड़कर बाहर ही नहीं निकलता । बेटी भी पास में नहीं कि कुल्ले के लिए पानी ही माँग सकें । कितना लेटे रहने को मन करता परन्तु तब काम पर कौन जाता ? वह जानती थी कि हर बेली जाने वाली रोटी, पापड़ या कपड़े का टांका गौरा के लिए ही है अतः वह उठ जातीं और चल पड़तीं । गौरा का यह अन्तिम वर्ष ही तो है । इस साल बी० ए० कर लेगी । गिरिधर से कहकर अब इसका विवाह कहीं पक्का कर देना चाहिए क्योंकि अब उनका भी कुछ ठीक नहीं है । गौरा तो एम० ए० करना चाहती है । ठीक है एम० ए० करे या और भी जो कुछ करना हो करे, पर अपने घर जाकर ही करे ।—दो-चार दिन में आने ही वाली है । वह नहीं चाहतीं कि आते ही बेटी को लगे कि परीक्षा की उतनी मेहनत के बाद अब माँ की तीमारदारी करो । नहीं, तुलसी का काढ़ा जहाँ दो-तीन दिन पिया नहीं कि सारा कफ कटकर बाहर आ जाएगा । मनुष्य तो स्वभाव से ही बड़ा आरामतलब होता है ।

और जिस समय गौरा सामान के साथ पहुँची थी वह बुखार में तपती लेटी थीं । माँ की ऐसी भीषण, दारुण स्थिति देखकर गौरा एकदम ठगी सी रह गयी कि माँ को यह क्या हो गया ? और माँ ने कोई सूचना भी नहीं दी, और वह भल्ला पड़ी थी।

दूसरा सप्ताह चल रहा था। डाक्टर सामन्त की परेशानी यह थी कि श्रीमती सविता बेन याज्ञिक की कौन सी बीमारी पहले ठीक करें। जिगर, फेफड़ा, मेदा कुछ भी तो ठीक से काम नहीं कर रहे थे। इन्दौर से डाक्टर मुकर्जी को बुलाकर भी दिखा दिया गया था। जिस चीज को आपरेशन से ठीक किया जा सकता था उसके लिए सविता बेन की ऐसी स्थिति नहीं थी कि वह आपरेशन सह पातीं। तब भी सारे डाक्टर लगे थे। गोविन्द मुश्किल से घंटे-दो-घंटे के लिए ही कोर्ट जाता और फिर अस्पताल चला आता था। दुर्गा जिस प्रकार दिन-रात सविता बेन के सिरहाने बैठकर सुश्रुषा करतीं उसे देखकर गौरा कोने में खड़ी केवल टकटकी लगाये देखती होती। जो स्थिति समझ से परे हो उसे वह कौन-सी भाषा दे सकती थी? प्रायः तो दुर्गा, गौरा को कान्ता के साथ घर भेज देतीं परन्तु शाम को जब भी वह आती तो उसे देखकर दुर्गा का हृदय फटा जाता कि बेचारी लड़की पर न जाने क्या बीत रही है।

आज शायद श्रीमती सविता बेन याज्ञिक की तबियत सवेरे से ही ठीक दिखलायी दे रही थी। सवेरे दूध दिया गया था जो पेट में ही बना रहा। नर्स ग्लूकोस बनाकर लायी थी। दुर्गा ने सविता बेन को सहायता देकर थोड़ा उठाया और ग्लूकोस दिया। इतने से ही थक गयी लगती थीं। तौलिये से मुंह पोंछकर उन्हें लिटा दिया। नर्स किसी काम से चली गयी थी। कमरे में निस्तब्धता थी। तभी श्रीमती सविता बेन याज्ञिक ने आँखें खोलीं और बहुत प्रयत्न से मुसकरा दिया। दुर्गा बोली,

— आज तो आपकी तबियत ठीक लग रही है।

दुर्गा की बात सुनकर सविता बेन की आँखें छलछला आयीं। उनके तराशे पतले ओठ कैसे अपने रोने को शब्द बनने से रोकने की चेष्टा में कँपे पड़ रहे थे। दुर्गा जो कि उनसे आयु में बड़ी थी, बोली,

— छिः छिः; सविता बेन! यह क्या करती हैं।

यह सुनकर छलछलाती आँखें बह निकलीं। दुर्गा समझ गयी कि यह रोना कई दिनों से रुका हुआ था, जिसका निकल जाना ही ठीक था। थोड़ी देर में अपने को स्वस्थ बनाते हुये धीरे से बोलीं,

— दुर्गा बेन! आपके इस उपकार का बदला मैं कैसे चुका सकूंगी, कह नहीं सकती।

— क्या यह आवश्यक है कि आप इस तरह बोलें ही?....कैसा उपकार सविता बेन?

— गोविन्द जी जो कर रहे हैं वैसा तो अपना बेटा भी न करता दुर्गा बेन!

— आप यह सब न सोचें। पहले आप ठीक हो लें।

— मुझे धोखे में रखने से क्या लाभ दुर्गा बेन! मैं जानती हूँ कि मैं बचूंगी नहीं।

— क्यों? बचेंगी क्यों नहीं?

— दुर्गा बेन! बचना तो मैं भी चाहती हूँ पर अपने लिए नहीं....

और वाक्य पूरा किये बिना ही श्रीमती सविता बेन याज्ञिक ने गहरी निश्वास ली।

— गौरा के लिए आपकी चिन्ता मैं समझती हूँ।

— पता नहीं यह क्या भाग्य लेकर आयी है।

— आप हताश क्यों होती हैं।
— हताश नहीं, पर मैं व्यर्थ की छलना में भी नहीं रहना चाहती।....दुर्गा बेन हम लोग तो बहुत गरीब हैं पर मैं आपसे एक भीख माँगूँ तो आप देंगी?
— सविता बेन! भगवान के लिए ऐसा मत बोलिए कि मैं कुछ न कह सकूँ।...मैं जानती हूँ....जिस प्रकार आपको सहना और झेलना पड़ा है। उसे सोचकर ही रोंगटे खड़े होते हैं...आप नहीं जानतीं कि मेरे मन में आपके लिए....

और श्रीमती सविता बेन याज्ञिक ने देखा कि दुर्गा की आँखें छलछला आयीं। उन्होंने अपने आँचल में उन्हें पोंछा। श्रीमती सविता बेन याज्ञिक बोलीं,

— पता नहीं फिर कहने का मौका मिले, न मिले।
— पहले आप यह भेद-भाव की बात मन से निकाल दें।
— अच्छी बात है।....मेरे पास कुछ जेवर और नगदी है जो गौरा के विवाह के लिए जमा किये हैं दुर्गा बेन! वह मैंने झालानी जी की दूकान में जमा कर रखे हैं सेठानी जी को सब पता है।
— कामनी बेन को नर्मदा मासी बहुत अच्छी तरह जानती हैं।
— मैं केवल यह चाहती हूँ कि जब कभी गौरा का विवाह हो...
— जब कभी क्यों, आप स्वयं गौरा का विवाह करेंगी।

श्रीमती सविता बेन याज्ञिक बहुत ही फीका सा हँस दी, बोलीं,

— आप तो जानती हैं कि नर्मदा बेन गौरा की काकी लगती हैं।
— जानती हूँ।
— मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि यदि मैं नहीं रही तो क्या गौरा को उसके विवाह तक अपने साथ नहीं रख सकेंगी?
— सविता बेन! आप गौरा को लेकर बहुत परेशान मत होइए। अभी इन बातों का समय नहीं आया है। अभी तो आप अपने को स्वस्थ बनाएँ और ठाकुर जी पर विश्वास रखें।

तभी गौरा आयी। बेटी को कई दिनों के बाद श्रीमती सविता बेन याज्ञिक ने भर आँख देखा तो उन्हें लगा कि बेटी कितनी बड़ी हो गयी है न? दुर्गा बोली,

— अकेली आयी हो क्या? कान्ता नहीं आयी साथ में?
— कान्ता को हल्का सिर दर्द था।
— तो और किसी को ले आती साथ में।—अच्छा, अब तुम बैठो; मैं जरा घर हो आती हूँ।

इस बीच श्रीमती सविता बेन याज्ञिक शायद थक गयी थीं इसलिए वह झपक गयी थीं। नर्स कोने में कुर्सी पर बैठी अपनी टेबल पर कुछ लिख रही थी। दुर्गा जब चली गयी तो गौरा निपट हो आयी। शाम हो रही थी। कमरे हल्के तपे लग रहे थे जबकि बाहर खुली हवा में सुहानापन था। गौरा थोड़ी देर तो माँ [illegible] बैठी रही पर जब देखा कि माँ सो रही हैं तो वह नर्स को बताकर पीछे [illegible] आयी।

गौरा के जाने के थोड़ी देर बाद गोविन्द जब वार्ड में पहुँचा तो देखा कि श्रीमती सविता बेन याज्ञिक सो रही हैं और केवल नर्स है। नर्स से चार्ट लेकर देखा। सारा हाल-चाल पूछा। डाक्टर तथा दवाइयों के बारे में पूरी जानकारी ली। नर्स से पूछने पर मालूम हुआ कि गौरा पीछे लॉन में बैठी है।

फौवारे की जगत पर गौरा अकेली बैठी हुई थी। आरम्भ होती हुई गर्मियों की शाम ठण्डाने लगी थी। शाम को हवा में यूकेलिप्टिस की पत्तियाँ आवाज कर रही थी। फौवारे का जल हवा में छितरा पड़ रहा था। चारों ओर हल्की, पतली निस्तब्धता थी। जिसके बीच में बैठी हुई गौरा व्यक्ति से अधिक मूर्ति लग रही थी। पेड़ों में पक्षी भाषा बने चहचहा रहे थे।

— गर्मी के कारण आप यहाँ आ गयीं ? बाहर थोड़ा सुखद है।

गौरा खड़े होने की चेष्टा के साथ बोली,

— आइए बैठिए।...आप कब आए ?

— अभी ही आया। माँ तो सो रही हैं। दीदी दिन मे थी क्या ?

— अभी ही गयी हैं। आप खड़े क्यो हैं, बैठिए।

और गोविन्द भी जगत पर बैठ गया। फौवारे का जल छितर कर आवाज करता गिर रहा था। कभी हवा के तेज झोंके के कारण अधिक मुखर हो जाता था। फेंसिंग की झाड़ी शायद दो-एक दिन पूर्व ही काटी गयी थी इसलिए बहुत करीने से कटी चली गयी थी। अस्पताल के लम्बे गलियारों मे दूर पर डाक्टरो, नर्सों और लोगो का आना-जाना तथा शब्द दिख तथा सुनायी दे रहे थे। कितना अजीब है कि जिस व्यापार मे हम नही होते हैं उसे देखने पर वह दृश्य भर लगता है परन्तु जब हम उसमे होते हैं तब हममें उसके प्रति भोगने की प्रतिक्रिया ही होती है।

गोविन्द और गौरा दोनो जिस प्रकार हठात भाव से बैठे हुए थे उसमें उन्हें बोलना खोजना पड़ रहा था। परन्तु ऐसा प्रायः हुआ है, बल्कि पहले क्षण से ही जबकि केवल देखना ही हुआ होगा। गौरा को उसी क्षण पता नही क्यो ऐसा लगा कि इस व्यक्ति की ओर देखना अंग उघड़ने जैसा होगा। यह भाव पहले कभी नही आया होगा, यह तो नही कह सकती परन्तु यदि आया भी होगा तो इतने स्पष्ट रूप में तो नहीं ही आया होगा। माँ की बीमारी के बाद जिस व्यक्ति को लेकर वह माँ के सिरहाने बैठी सोचती रह जाती, वह यही गोविन्द ही था। जब कभी वह शीशे में कुंकुम लगा रही होती तो उसे अपनी ही आँखों में गोविन्द इतना अधिक अँजा दिखता कि वह चौंक उठती। ठीक ही तो है, काजल हो तो बासी काजल पोंछ ले, परन्तु जो व्यक्ति दिख रहा है, उसका क्या करे ? प्रायः यह व्यक्ति आते हुए दिखा है परन्तु पलकें ऊँची करके किसी दिन भी सम्पूर्ण देखना नही हुआ होगा। प्रायः तो 'वकील साहब' के रूप में आया होगा पर रविवार के दिन जब धोती-चप्पल में आया होगा तो पतली-पतली गोरी अंगुलियों वाले पैर कैसे दूर से पास आये हैं। यदि उस समय कमरे में और कोई न हुआ और इन महाशय ने माँ के हालचाल के बारे में पूछ लिया होगा तो कैसे हठात्

देखना हुआ होगा परन्तु दृष्टि फिसल कर फर्श पर पानी की बूँद बनकर रह गयी होगी। कई बार तो गौरा को लगता कि जैसे गोविन्द की दृष्टि ने बढ़कर उसका हाथ गह लिया है और जैसे हाथ फेर रही है, कैसे चिड़ियों के पंख का सा स्पर्श करती उँगलियों के ऊपर होता रहा। ऐसा स्पर्श वाला, बोलता सा देखना किसी और के स्पर्श में क्यों नहीं अनुभव होता है? और लोग आपकी ओर देखते कहाँ हैं? गोविन्द तो दृष्टि के माध्यम से आप तक सीधे पहुँच जाता है तभी तो हाथ बारम्बार महसूस करने लगता है कि आप संकोच के कारण भले ही न देखें परन्तु हाथ आपको कभी गले के पास ढँक रहा होता है तो कभी कन्धे के पास पल्लू ठीक कर रहा होता है। देखना जब तक मात्र देखना होता है तब तक कोई चिन्ता नहीं होती परन्तु जब वह देखने वाले का हाथ, माथा, स्वत्व सब बन जाता है तब अपने को बहुत बचाना पड़ता है। पहले-पहले कैसे आधी-आधी दृष्टि, झुक-झुक पड़ने वाली नजरों से अधूरा-अधूरा देखना जैसा देखना होता था और तब भी पसीने-पसीने हो जाती थी जैसे चोली बदलते किसी ने देख लिया हो। परन्तु जब आये दिन यह व्यक्ति कोई न कोई प्रश्न, जिज्ञासा, सूचना के साथ आदेश देता सामने आने-जाने लगा तो गौरा को भी अपने देखने में मात्र कभी-कभी स्पर्श जोड़ना पड़ा होगा कि—देखा 'वकील साहब' के काले कोट का एक बटन कैसा लटक आया है।—अकेले में कैसे वह गोविन्द को लेकर विश्लेषण जैसा करती रही है। सामने होने पर जो देखना बहुत जल्द-जल्द किया था उसे ही एकान्त में बैठकर फिर से कैसे विलम्बित भाव से ठहर-ठहर कर देखा होगा। गोविन्द की आँखों का देखना तथा उस देखने की भाषा को एकान्त में देखने पर तो वह कैसी थरथरा जाती है कि, बाबा! कैसे पूरा का पूरा वाक्य लिखा है इसमें। यदि उसके अलावा और किसी ने पढ़ लिया होता तो क्या वह किसी दिन माँ को मुँह दिखा सकती थी? सबसे अधिक असुविधा तो तब होती रही है जब वार्ड में केवल वे दोनों ही अकेले पड़ गये होंगे।

लेकिन जब कुछ दिनों के बाद दृष्टि में स्थिरता आयी तो दृष्टि का भागना भी रुक गया। देखना, सुनने में बदलता गया। सामने वाले की दृष्टि जो कह रही हो उसे अपनी आँखों से सुनना कितना सुख देता है जब गौरा को इसकी प्रतीति हुई तो उसे भी ..

आप तो बस, एक नाम को लेकर पीछे ही पड़ गये—जाइए !!

और गोविन्द को गौरा, सदा एक नहाये-धोये स्तवक सी, सुगन्ध मूर्त लगती रही है। उसे लगा कि इन्द्र को देखना, चन्दन वृक्ष को देखना है तभी तो हथेलियों में गन्ध की भांति दृष्टि में भी सुगन्ध आती रही है। वह इसके पहले कभी खिड़की के पास खड़े होकर किसी नारी को लेकर नहीं खड़ा रहा होगा परन्तु अब उसे लगता कि इधर के आकाश की यह खिड़की कब से बन्द थी न ? जब भी वह कोर्ट जाते हुए वार्ड होकर गया होगा तब प्रायः गौरा उसे किसी दिन धुले केश फैलाये या अप्रसाधित रूप में दिखी होगी। तत्काल नहायी पलकें कैसे गीले पंख वाली चिड़ियों सी पंख से पानी झाड़ती लगती होती। उस समय गौरा प्रदर्शित तो यही करती कि उसे आशा नहीं थी कि आप ऐसे सहसा आ जाएंगे परन्तु ध्वनि यही आती थी कि मैं जानती थी कि आप अवश्य आएंगे। शुरु में वह गौरा की ओर खुलकर कहाँ देख पाता था ? केवल दो गोरे, खरगोश जैसे पैर, साड़ी की सलवटों में कैसे लुकते-छिपते अपने को बहुत बचाते हुए उस कमरे से उस कमरे में कैसे संकोची नेत्र बने आते-जाते वह देखता था। कई बार तो गोविन्द को गौरा के वे दोनों पैर अपनी ओर देखते, हँसते लगते थे। बहुत दिनों तक वह गौरा से अधिक तो उसके पैरों को जानता-बूझता रहा।

आज भी दोनों इस निपट स्थिति में बोलना खोजते बैठे थे। गोविन्द फौवारे के जल का बूंदों में छितराना देखते हुए गौरा को ही सोच रहा था जबकि गौरा अपनी तर्जनी से फौवारे की जगत पर कुछ टूटा-टूटा सा लिखने का भ्रम उत्पन्न किये सोच रही थी कि पता नहीं क्यों गोविन्द यदि आज हाथ थाम ही ले तो वह क्या करेगी ? क्या उस चरम काम्यता को भी बरजना ही होगा ?

— क्या सोच रही हैं ?

— जी ?

जैसे जल को छुओ तो पूरा जल थरथरा उठता है, वैसे ही वह 'जी' थरथराने के भाव से बोली थी।

—मेरे यहाँ आ जाने से असुविधा तो नहीं हो रही है ?

गौरा ने जिस भाव से गोविन्द को देखा उसमें भाव अवश्य था परन्तु गोविन्द को बहुत स्पष्ट नहीं हो सका कि क्या भाव था ? वह बोली,

— आप शायद सीधे कोर्ट से ही चले आ रहे हैं।

— काला कोट देखने पर भी आप यह शायद क्यों लगा रही हैं ?

और गोविन्द हँस दिया। गौरा को भी लगा कि मनुष्य अपनी ही भाषा का दास किस प्रकार होता है। वह भी हँस दी।

— आपको हँसते देखकर...

— छोटों को 'आप' कहना कोई आपसे सीखे।....आपको यह रोज-रोज बेमतलब की दौड़ धूप ...

बोलते-बोलते गौरा ने गोविन्द की ओर देख लिया तो वह बोलना ही नहीं भूल गयी

बल्कि झेंप उठीं। यद्यपि इसमें झेंपने की कोई बात नहीं थी।
— आप सोचती हैं, यह तो अच्छी बात है पर बहुत अधिक नहीं सोचना चाहिए।
— लेकिन किसी के उपकार को न मानना तो कृतघ्नता है।
— और क्या-क्या सोचती हैं ?
— किस बारे में ?
— जब आप हर बात को उपकार ही मानती हैं तो....
— ऐसा तो मेरा कोई आग्रह नहीं है। आप जो कहेंगे वही मान लूँगी।
— मेरा कहा हुआ सब मान लेंगी ?
— सब तो मैंने नहीं कहा....मैंने तो माँ की बीमारी....
— आप इतनी हताशा से क्यों बोलती हैं ?
— व्यक्ति क्या करे ? जब....जब....
और गोविन्द ने देखा कि गौरा की वाणी पहले जल भरी हुई और फिर आँखें छल-छलायी। गोविन्द आसन्न उसकी ओर देखने लगा। सहसा कुछ कहना सूझ भी नहीं रहा था और शायद अपेक्षित भी नहीं था। इस बीच गौरा प्रकृतिस्थ होने की चेष्टा में अपने से जूझ रही थी कि यह वह क्या नादानी कर बैठी। वही बोली,
— पता नहीं नर्स ने माँ को दवाई दी या नहीं।
और वह उठने को हुई। गोविन्द ने रोकने के लिए हाथ तो नहीं थामा, पर वाणी को ही हाथ बनाते हुए बोला,
— माँ सो रही हैं। मैंने आज दिन भर का चार्ट भी देखा है। वह तेजी से स्वस्थ हो रही हैं। यदि और किसी कारण से उठना चाह रही हों तो बात दूसरी है।
गौरा ने बड़े ही मर्माहत भाव से गोविन्द को देखा। यदि गोविन्द ने इस समय हाथ थाम कर बैठाल लिया होता तो वह निश्चित ही हाथ छुड़ाकर, कलाई सहलाते हुए चली गयी होतीं पर बात का कैसा सरोवर गोविन्द ने उसके चारों ओर फैला दिया कि वह चाहते हुए भी उससे बाहर नहीं आ पा रही थी।
— गौरा जी !
गौरा ने सम्बोधन सुना, पर बोली नहीं। परन्तु गोविन्द को लगा कि गौरा आकण्ठ आँख बनी उसे सुनने के लिए देख रही है।
— आप कुछ कहते-कहते रुक गयी थीं।
— अच्छा ही हुआ।
— क्यों ?
— आप तो सारे समय वकालत करते हैं।
और वह ऐसे हँसी जैसे कि हँसती नहीं तो रो पड़ती।
— आप फिर कहना बचा रही हैं।
— माँ ठीक ही कहती हैं।
— क्या ?

— किसी दिन हम लोग आपसे उऋण नहीं हो सकते ।
— क्या यही सब आप सोचती रहती हैं ?
— क्या किसी की दया, करुणा, अनुकम्पा, उपकार....
— मैं आपके सोचने पर कोई प्रतिबन्ध तो नहीं लगा सकता गौरा जी ? लेकिन....
— क्या ऐसा नहीं है ?
— आप कहती हैं तो शायद ऐसा ही हो ।
— आप शायद नाराज हो गये ।
— नाराजी के लिए भी तो सम्बन्ध होना चाहिए....हम लोग तो हिसाब-किताब के छोरों पर खड़े हुए हैं ।....कितना कठिन होता है किसी को समझना...कोई बात नहीं ।

और जिस प्रकार गोविन्द ने निश्वास ली उससे गौरा को लगा कि उसने गोविन्द को आहत किया । उसमें हल्का सा अपराध भाव जगा, बोली,

— मेरी बात से आप आहत हुए न ?
— आहत ? नहीं तो,....उस दिन जब पहली बार आपको उस परिवेश में देखा था तो लगा था कि वर्षों से मैं अपने को कहना चाहता हूँ, पर किससे कहूँ ? एक तलाश थी....और उस परिवेश में खड़े जब आपको देखा तो ऐसा लगा कि शायद....भ्रम भी हो सकता है....कोई बात नहीं ।—चलें अब ।

और वह उठने को हुआ तो गौरा ने टोका,

— आप कुछ कहते-कहते रुक गये ।
— हम सबकी कठिनाई है कि हम जो कहना चाहते हैं वह कह नहीं पाते ।
— कोई सुनना चाहे तब भी ?
— यही बात मैं भी कह सकता हूँ । असल में गौरा जी !
— अब भी 'जी' लगाकर ही रहेंगे ?

गौरा ने अपने ही जीभ काट ली कि उसने 'अब भी' क्यों कहा ? यह तो बहुत-कुछ कहना हो गया । गोविन्द को समझने में थोड़ा समय अवश्य लगा परन्तु जैसे ही समझा और गौरा की ओर देखा तो देखा कि उसकी आँखें फिर छलछला आयी हैं । गोविन्द ने कहा,

— गौरा !

और पहली बार गोविन्द ने भर आँख उसे देखा ।

— मैं स्वयं भी ऐसी मानसिकता से गुजरा हूँ गौरा ! मेरा विश्वास करो ।

गौरा वैसी ही जल भरी देख रही थी ।

— गौरा ! अपने मन पर से बोझ उतार दो । मेरा कहा करोगी ?
— और क्या करने को शेष है अब ?—देखिए दीदी आ रही हैं ।

और गोविन्द ने देखा कि बहुत स्पष्ट रूप से गौरा ने दीदी को केवल 'दीदी' कहा वर्ना वह उन्हें कुछ नहीं कहती है ।

और दोनों बाईं की ओर चल दिये ।

आते ही दुर्गा बरस पड़ी। गोविन्द की कुछ समझ में नहीं आया कि आज दीदी ऐसे क्यों बरस रही हैं। वह सबेरे के केस की फाइल देख रहा था। वस्तुतः वह स्वयं भी बहुत उद्विग्न था। वह अब अपने चारों ओर हर समय गौरा को उपस्थित पाता। वह फाइल देख रहा है और उसे अपनी कुर्सी के पीछे खड़ी गौरा की उपस्थिति ही नहीं बल्कि साँसें तक सुनायी देतीं। जरा सी हवा चलती और उसे लगता कि कमरे में चली गयी गौरा की साड़ी का उड़ता पल्लू भी पीछे-पीछे विलीन हुआ है। जब वह खिड़की में खड़ा आकाश देख रहा होता है तो उसे लगता कि पीछे के उपेक्षित बगीचे में पत्थर की जो बड़ी सी चौकी है उस पर गौरा ही तो बैठी है। इसी मनःस्थिति में वह फाइल देख रहा था तो पंक्तियों के बीच में गौरा खिलखिलाती बारम्बार आकर उसकी ओर ताकती अनुभव हो रही थी।

आते ही दुर्गा बरस पड़ी। खिड़की के पास रखी मसनद पर वह बैठीं और बड़बड़ाने लगीं,—

— अब मैं बूढ़ी होनी आयी, यह सब दौड़-भाग नहीं होता मुझसे।

— क्या बात है दीदी ?

— उलटे मुझी से पूछते हो कि क्या बात है ?

गोविन्द को दीदी की बात का न सिर समझ में आ रहा था, न पैर। वह फिर बोलीं,

— एक अनार सौ बीमार। इसका करो, उसका करो। इनको यह चाहिए, उनको वह चाहिए। अब मुझसे सब नहीं सम्हलता। सम्हालें सब अपना, अपना।

गोविन्द को कुछ आभास हुआ कि दीदी अपने बच्चों के बारे में कुछ कह रही हैं। वैसे दीदी को कभी किसी की शिकायत करते नहीं देखा-सुना, आज वह जिस प्रकार आयीं और वह सुना रही हैं यह उसके लिए नितान्त आश्चर्य की बात थी।

— क्या धूर्जटी....

— धूर्जटी ?

दीदी ने यह कह कर जिस तरह उसे देखा उसमें लगा कि उससे नाम में कुछ भूल हो गयी है। वह फिर बोलीं,

— तुम्हीं ने कौन सोने के सिंहासन पर बैठाल रखा है ? मैं किस-किसको क्या-क्या जवाब दूँ ? न अपने ही तय करता है और न हमें ही तय करने देता है।

अब गोविन्द को लगा कि दीदी बहुत 'अच्छा' नाटक कर लेती हैं। उसका हँसने को मन हुआ पर डरा कि पता नहीं सचमुच ही में दीदी यदि नाराज होंगी तब तो खैर नहीं। वह यथावत गुमसुम बना रहा। वह समझ गया कि दीदी अवश्य बोलेंगी।

— तुम्हारे जीजा जी ने अजीब मेरी साँसत कर रखी है। जो देखो वही मुझी से कहता है। अब जब तुम मुझसे कुछ नहीं कहोगे तो भला मैं किसी को क्या जवाब दूँ ? तुमसे तो 'वह' बात करना नहीं चाहते, तब बताओ मैं क्या जवाब दूँ ?

और दुर्गा ने पहली बार गोविन्द को देखा जिसमें माँ की चिन्ता, बहन की आतुरता सभी तो दिखलायी दे रही थी। वह फिर बोलीं,

— अब तुम कुछ कहना चाहोगे ?—ठीक है, तो सुन लो। हम सब आज सविता बेन से तुम्हारे और शोभा के बारे में बातें कर रहे हैं। ऐसा न हो कि बाद में तुम्हारे शोभा को भी और हम सबको दुःखी हो।
— वह किस प्रकार बीमार है उससे...
— इसी से तो यह बहुत आवश्यक है कि इसके सामने आए तो सबको हो जाए। बोलो, ठीक है न ?
— मैं क्या कह सकता हूँ ?
— हम सबको शोभा बहुत पसन्द है और मालोनी का ख्याल है कि तुम्हें भी..
— मारे माँ का !
रवीन्द्र ने चौंकते हुए पूछा।
— मैं चाहती हूँ कि तुम्हारा विवाह हो जाए तो फिर गाड़ी आगे चले। दुर्गाटी के इसका हो मैं तो चाहती रही, खैर।
और दीदी उठ गयी।

श्रीमती सविता बेन याज्ञिक अपनी पुत्री को विवाहित तो नहीं देख सकीं परन्तु उस दिन जब दुर्गा ने वाग्दत्ता के लिए गौरा को पूर्ण प्रसाधित कर सज्जित किया तो श्रीमती सविता बेन याज्ञिक को सहसा विश्वास नहीं हुआ कि यह उनकी अपनी वही गौरा है जिसे उन्होंने वर्षों पूर्व कभी जन्म दिया था। पुत्री के इस अप्रतिम रूप, अनिंद्य सौन्दर्य एवं अनपेक्षित सौभाग्य को देखकर वह देहातीत हो उठीं। उनका सारा व्यक्तित्व वर्षाजल में भीगे हरस्भृङ्गार सा जलमय हो उठा, जिसे देखने भर से जल-स्पर्श की प्रतीति होती है। वह क्षण, कैसे एक खुली खिड़की सा हठात प्रस्तुत हुआ। वह देह, देश, काल सभी से मुक्त हो उठीं। किस सहजता और उत्कटता से वह अपने अतीत में पर मारती उड़ती ही चली गयी जैसे सारा अतीत, क्षण की इस खिड़की पर ही तो रखा हुआ था। काल के इस उल्लंघन की प्रतीति स्वयं उन तक को नहीं हो रही थी।

कैसे एक-एक दिन बेटी के स्वत्व और रूप में जुड़ता चला गया तो उसी मात्रा में वे सारी चीजें उनकी देह और स्वत्व पर से निचुड़ती भी गयी थीं। अतीत जब मूर्त था तब कैसा पाँवों मे, मन में गड़ता था पर अब जब उसकी याद आ रही थी तो कैसा फाल्गुन मास की धूप में खिला अमलतास का गुच्छा लग रहा था। अतीत की सारी हवाएँ, धूप, गन्ध सभी कुछ सजीव हो उठे। किस विभीषिका तक व्यक्ति परिस्थितियों में आकण्ठ डूब और फिर जाता है और असहाय हो जाता है इसे उनसे अधिक और कौन जान सकता था? प्रत्येक क्षण असुरक्षा, भय सभी कुछ उनके व्यक्तित्व में थरथराते रहते थे। कोई भी तो ऐसा आत्मीय दरवाजा कहीं नहीं था जिसकी साँकल जाकर बजायी जा सकती होती। क्या उन्हें कभी विश्वास था कि नंगे पैरों चलकर इस प्रकार की अगम असाध्यता को पार किया जा सकेगा? आज यदि वह पूर्ण कृतकृत्यता देह, मन से अनुभव कर रही थीं तो क्या बहुत गलत था? हाँ यदि मात्र आभार अनुभव

करतीं तो भाषा के द्वारा अभिव्यक्त करतीं परन्तु कृतकृत्यता ? कहने के लिए भाषा होती है न कि होने के लिए। पति की मृत्यु के बाद से एक-एक क्षण कैसे फूंक-फूंक कर जिया गया था, किसलिए ? आज के उस अप्रत्याशित मुहूर्त के लिए ही तो कितना सारा ऊँच-नीच, गरम-सरद सहा था। किसी बेटी की असहाय माँ बनकर अकेली स्त्री का जीवन कितना विपन्न, संकटपूर्ण, हाहाकार भरा होता है इसे पुरुष क्या, सामान्य स्त्रियाँ ही कितना समझ सकती हैं; जैसे पानी में रखा बताशा !! पानी में घुल जाए तो आफत और न घुले तो जल का दबाव निरन्तर सहे। एक-एक दिन एक-एक प्रसव-पीड़ा के समान बीतता था। इतनी कल्पना तो थी कि किसी तरह दौड़-भागकर कह-सुनकर गौरा के हाथ पीले करके वह निश्चिन्त हो जाएँगी। उसके बाद उनका क्या होगा ? होना ही क्या है ? न होगा चारों धाम की तीर्थयात्रा पर चली जाएँगी। मथुरा-वृन्दावन में इतने सारे मन्दिर, अन्नक्षेत्र हैं, बाकी के दिन भगवान काट ही देगा।—लेकिन बेटी ऐसे सत्पात्र के हाथों में जाएगी इसकी आशा क्या, कल्पना तक नहीं थी। वह बारम्बार जड़मूल से नहा उठ रही थीं। अविश्वास की एक ऐसी सिहरन उन्हें आमूल हिलाये दे रही थी जिसमें वह प्रसन्न होने के स्थान पर एक स्थिति के बाद रो पड़ रही थीं। जीवन भर का स्नान-ध्यान, पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, तुलसी का दीपार्चन सभी कुछ तो सफल-सार्थक हो उठा। माना कि सार्थक हो उठा लेकिन यदि न होता तो ? और क्या ऐसा होता नहीं है ? क्या सभी के जीवन में सदा शुभ ही होता है ? और प्रत्येक बार सोचते हुए वह अपने भीतर ऐसी कृतज्ञता अनुभव करतीं कि जिसके प्रति सिवाय कृत-कृत्यता अनुभव के और कोई भाव नहीं आता था। वर्षों तक दूसरों के घर महाराजिन का काम किया, मोल का सीना-पिरोना लाकर रात-रात भर चिमनी के मन्द प्रकाश में किया तो वह सब कुछ व्यर्थ भी जा सकता था। कल का पुरुषार्थ आज जब प्रारब्ध के रूप में उनके सामने खड़ा हुआ तो सिवाय गले में पड़ी तुलसी की कण्ठी को कसकर पकड़ कर ठाकुरजी का स्मरण करते हुए चीख पड़ने के अलावा और कौन सी अभि-व्यक्ति हो ही सकती थी ?

मनुष्य की पूर्ण एवं विश्वसनीय अभिव्यक्ति भाषा से नहीं, स्पर्श से ही सम्भव है। किसी का थरथराता हाथ जब हमारे हाथ को थामता है तो वह जितना अभिव्यक्त करता है उतना या वैसा कोई भी भाषा नहीं कर सकती है। इसी प्रकार आँखें जो व्यक्त और संप्रेषित करती हैं उसे क्या किसी भी भाषा के द्वारा कहा जा सकता है ? भाषा में सदा एक प्रकार की दूरी होती ही है परन्तु देह और इन्द्रियों से की गयी अभिव्यक्ति लगभग अभिन्नता का बोध करवाती है। तभी तो भावातीत आनन्द हो या दुःख—मनुष्य में से चीत्कार के रूप में ही फूटता है। प्रायः देखा होगा कि मिट्टी से जुड़ी ग्रामीण स्त्रियाँ किसी भी प्रकार की भाषा के बिना ही बिदा देती हैं और लेती हैं शरीर के अंग-अंग को भाषा बनाकर एक-दूसरे के कन्धे पर सिर रखकर [illegible] करने लगती हैं। भाषाई सभ्यता, आचारगत शालीनता नष्ट भी रहे [illegible] तो वे चाहे प्रेम करें या घृणा, उसमें निष्ठा होती है, मात्र भाषा नहीं।

संवेग के कारण बारम्बार भर आने वाली आँखों के आगे वार्ड का कमरा, उपस्थित लोग, वाग्दत्ता बनी पुत्री ही क्या बल्कि स्वयं अपना बिस्तरे पर लेटे रहना प्रतीत ही नहीं हो रहा था। उन्हें अज्ञात में लगा कि उनकी प्रयोजन पूर्ति हो चुकी। यदि किसी अन्य अवसर पर ऐसी प्रतीति होती तो वह विकल हो जातीं पर इस समय अपनी आसन्न मृत्यु से वह चिन्तित नहीं हुईं। गत कई दिनों से वह जिस कृतसंकल्प भाव से मृत्यु को दाँतों में कसकर दबाये जो रहीं थीं पर इस क्षण उन्हें लगा कि अब इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है। शायद जीवन को धरती अब पूरी तरह समाप्त हो गयी है कि इसके बाद एक पग भी नहीं रखा जा सकता क्योंकि बेटी के विवाह का प्रयोजन ही उनका जीवन था और अब वह निश्चित हो चुका है। प्रयोजन पूर्ति के बाद प्रकृति किसी भी प्रकार की छूट या अनुकम्पा नहीं किया करती। प्रकृति आपको आभास दे दिया करती है कि आपका प्रयोजन पूरा हो गया। जो इस आभास को कृतज्ञता से स्वीकार करता है उसे मृत्यु, उत्सव लगती है अन्यथा मृत्यु—भय, त्रास और यंत्रणा तो है ही।

अस्पताल का प्रातःकाल भी दवाइयों की गन्ध और सफेद धुली चादरों के वर्ण सा ही होता है। श्रीमती सविता बेन याज्ञिक के सन्तोष के लिए ही दुर्गा और श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने सगाई की सारी रस्म अस्पताल में ही रखी थी। श्रीमती सविता बेन याज्ञिक के सिर के पीछे की खिड़की से प्रकाश और हवा दोनों ही ताजे और प्रशस्त भाव से आ रहे थे, बल्कि जहाँ गौरा को अपने सामने बैठाये दुर्गा और श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बैठी थीं वहाँ धूप भी पास ही बैठी लग रही थी जैसे वह भी न केवल सगाई की रस्म ही देख रही है बल्कि स्वस्ति-पाठ, मन्त्रोच्चार भी ध्यान से सुन रही है। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और पण्डित नागेश्वर उपाध्याय भी सन्नाटे में सुँते भाव से बैठे थे। आनन्द और विषाद कैसे सगोत्री होते हैं। एक ही स्थिति आनन्द और विषाद दोनों का ही कारण होती है। गौरा की सगाई हो रही थी तो श्रीमती सविता बेन याज्ञिक के दीये में तेल रह ही नहीं गया था। प्रकाश के लिए बत्ती अपने ही को अन्तिम रूप से जला रही थी। यह देखकर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और पण्डित नगेश्वर उपाध्याय प्रभु की माया देखकर स्तब्ध थे।

कृतकृत्यता के इस क्षण में सम्पूर्ण जीवन कैसा फेन सा तिरा आ रहा था। स्मरण जैसे जीवन बनकर घटित होता लग रहा था। पति के खाँसने, खिलखिलाने की जैसे आवाज सुनायी दे रही थी और गौरा को उछालते हुए दिख रहे थे। क्यों ? क्यों पूरा जीवन क्षणान्त में पुनः घटित हो रहा था ? केवल एक ही नया व्यक्ति जो स्मरण ही नहीं आ रहा था बल्कि जल भरी आँखों में तिरा पड़ रहा था, वह था—गोविन्द, जो कि स्मृति नहीं बल्कि स्मरण था। गोविन्द को देखने के लिए वह अपने स्वत्व और इन्द्रियों से कैसी आतुर थीं पर अपनी यह कामना वह किससे कह सकती थीं ? गोविन्द को वह पूर्ण आस्वाद से अपने में अनुभव करना चाहती थीं। वह रोम-रोम से उसे आशीर्वाद दे रही थीं। कल तक जो सर्वथा अपरिचित था आज वह कैसे अविभाज्य बन

गया था। जिस दिन पहली बार देखा था तभी से कैसी अव्यक्त आत्मीयता लगी थी परन्तु सामान्यतः किसका ध्यान जाता है, जो श्रीमती सविता वेन याज्ञिक का ही बाता। हाँ, जब यहाँ वार्ड में गोविन्द को सवेरे-शाम डाक्टरों से, नर्सों से टेम्प्रेचर, दवाइयों आदि के बारे में सम्बन्धित मानसिकता से बातें करते, चिन्ता करते देखा, अथवा गौरा से दवाइयों, फलों, दूध, ओवल्टीन आदि के बारे में पूछते देखा तो लगने लगा कि यह इस व्यक्ति का मात्र सौजन्य नहीं हो सकता, सौजन्यता में एक प्रकार की औपचारिकता भी होती है जबकि इस व्यक्ति के पूछने, चिन्ता करने में आकण्ठ अवगाहन का भाव लगता है। प्रायः ही गोविन्द और गौरा को अनेक स्थितियों में साथ-साथ देखा परन्तु वह नहीं कह सकती कि कब उन्हें क्रमशः ऐसा लगने लगा कि यदि गोविन्द और गौरा...परन्तु जब से यह विचार उन्हें आने लगा तब से उन्हें लगने लगा कि ऐसा कदापि सम्भव नहीं हो सकता। सोचते हुए उन्हें यह अपना ही छोटापन लगता कि कोई व्यक्ति यदि आपके विपद में तन-मन-धन से आ खड़ा हुआ है तो इसका तात्पर्य यह तो नहीं कि....और उनकी गहरी निश्वास निकल पड़ती। वह बारम्बार मन को समझातीं कि ऐसा कदापि सम्भव नहीं क्योंकि दोनों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति में बड़ा अन्तर है। अपने भीतर की इस उहापोहता को वह किससे बँटाये? उनकी सांसत यह थी कि वह किसी से भी परामर्श, विचार कुछ भी तो नहीं कर सकती थीं। गौरा को छोड़कर जो भी वहाँ थे वे सब गोविन्द के ही तो थे। तब भला किससे चर्चा करें? श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय भी तो सम्बन्ध की दृष्टि से शुक्ल-परिवार के ही ज्यादा निकट थीं। यह विचार उन्हें आपाद मथ देता था। भावना और विचार के बीच वह घिरी पड़ रही थीं। एकाध बार गिरिधर से चर्चा चलानी चाही परन्तु लगा कि गिरिधर लाख सदाशयी हो लेकिन व्यवहार-जगत से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है अतः उससे कहेंगी भी और बात जूठी भी हो जाएगी। पकड़ की सीमा में जब कोई फल हो और तब जो व्यग्रता हमारे सम्पूर्ण स्वत्व में होती है कि किसी भी प्रकार उछल कर हम उस फल तक पहुँच जाएँ तो फल निश्चय ही प्राप्त हो सकता है—कोई उस डाली को बस जरा सा झुका दे कि वह हमारी उछाल की सीमा में आ भर जाए। किसी करवट उन्हें चैन नहीं था। वह व्यग्र शायद इसलिए भी ज्यादा थीं कि प्रत्येक दिन उन्हें लगता कि जीवन उनमें से निचुड़ा पड रहा है। किसी भी क्षण दीपक 'भक्क' सा बोलकर बुझ सकता है, और यदि इसी अनिर्णीत स्थिति में यह अन्तिम अनिवार्यता घट गयी तो उनकी गौरा का इस विशाल संसार-समुद्र में क्या होगा? क्या सन्तान को निराश्रित मँझधार में ही छोड़कर जाना होगा?....नहीं, अपनी गौरा के लिए यदि उन्हें पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल या दुर्गा के चरण भी पकड़ने पड़ें तो वह भी करेंगी परन्तु बेटी को अनाथ छोड़कर वह नहीं जाएँगी....लेकिन आज से तीन दिन पूर्व जब पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल, पण्डित नागेश्वर उपाध्याय अपनी पत्नियों के साथ आये और जब गोविन्द तथा गौरा के सम्बन्ध की चर्चा चलायी तो उस क्षण उन्हें लगा कि वह इतना आनन्द नहीं सहन कर सकेंगी और उनके आँसू फूट निकले। बारम्बार वह अपने आराध्य,

के लिए आकण्ठ प्रार्थनामय हो उठीं। भगवान की अहैतुकी कृपा के बारे में कथाओं में पढ़ा-सुना ही था। जिस प्रकार का तनाव भरा पूरा जीवन जीना पड़ा उसमें कभी भी कोई याचना-भाव नहीं आया होगा परन्तु इन दिनों में अपनी गौरा के लिए भगवान से वह गोविन्द की कामना कर रही थीं वह फलीभूत हो ही जाएगी और वह भी बिना किसी से लौकिक याचना किये—कैसा अविश्वसनीय था। बरसों से उन्हें कभी ऐसी परितृप्ति, आह्लादमयता नहीं लगी होगी जैसी कि इसे सुनकर हुई थी। मन कैसा करने लगा कि दौड़-दौड़कर बेटी की सगाई, विवाह का सारा प्रबन्ध कर डालें। सारे प्रजा-जनों को ले आयें और पुराने गहने नये ढंग से बनवा डालें परन्तु बीमारी की सांघातिकता ने उनसे हिलना-डुलना तक छीन रखा था। वह इतनी प्रसन्न, प्रफुल्ल थीं कि यदि सम्भव होता और बीमारी यदि सहन होती तो वह निर्वस्त्र ही, बिना अपने सारे देह की चिन्ता किये ही, बेटी के विवाह के प्रबन्ध में पूरे उज्जैन की सड़कों पर दौड़ पड़तीं। जीवन की चिर प्रतीक्षित आकांक्षा भगवान की असीम अनुकम्पा से कैसे सुयोग्य व्यक्ति के साथ सम्पन्न होने जा रही है और वह विवश भाव से टुकुर-टुकुर ताकते हुए असहाय लेटी हैं। भगवान एक हाथ से उन्मुक्त दे रहे थे परन्तु दूसरे हाथ से कैसे पंगु भी बनाये हुए हैं। फिर भी उन्हें परम सन्तोष था कि उनके जैसी हतभागिनी की कोख से कैसा प्रबल प्रारब्ध लेकर गौरा जन्मी। पता नहीं किसका, किस जन्म का पुण्य बेटी के काम आया। उनका पुण्य इतना ही है कि उन्हें सुनने को मिला। मान लो यह होता न और इस सुनने की तृष्णा लिये ही वह चली गयी होतीं, तो ?.. गौरा के बाबा जब कभी इस प्रकार की चर्चा चलती थी तो कैसे निश्चिन्त भाव से कहा करते थे कि देखना गौरा प्रबल प्रारब्ध लेकर आयी है....हम तो निमित्त हैं। इसे हमारे निमित्त की भी कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी....और सच ही तो गौरा को उनके निमित्त की कब आवश्यकता हुई!

अपनी बीमार देह को कष्ट भोगने के लिए बिस्तरे पर ही छोड़कर उनका जरा-मरण से परे चन्दनगन्धी स्वरूप रात्रि की नीरवता में कभी आनन्द अनुभव करता तो कभी आकुलता। बस, बारम्बार यही ध्यान आता कि कहीं कोई अन्तिम समय विघ्न न उपस्थित हो जाए। बारम्बार भगवान से अनुनय, विनय करतीं कि प्रभु! जब तेरी ही प्रेरणा से यह आरम्भ हुआ है तो इसे सम्पन्न भी कर देना .. यदि किसी अपराध का दण्ड अभी भुगतना शेष हो तो वह उन्हें दे देना परन्तु गौरा के सौभाग्य में कोई कमी न आए।....वे दो दिन, दो रात्रियाँ—दो मन्वन्तरों, दो कालरात्रियों सी श्रीमती सवितबेन याज्ञिक ने बितायीं। विगत का एक-एक क्षण सजीव होता रहा। इन्दौर छावनी वाला वह जाफरियोंवाला क्वार्टर। जाफरियों पर रेल्वे-क्रीपर कैसी सघन छायी रहती थी। दो कमरों के उस बासे में दिन-रात कैसी धुली-पुँछी पारिवारिकता रहती थी। तार पर सूखते कपड़े रहे हों या करीने से रखे बर्तन रहे हों—सब चकचक रहता था। पति की आँखों में वह अपने को कैसे अजे रूप में पाती थीं तो पति भी तो उनके अंग-अंग में रसे-बसे रहते थे। गौरा के पेट में आने के दिन से एक-एक पैर का हिसाब

उठते-बैठते हाथ पर बोझ डालकर देह की व्यथा-कथा कभी इतनी पुनः जीवित नहीं हुई होगी जितनी इन दो रात्रियों में हुई। चारों ओर की अस्पताली निस्तब्धता में वह अपने में समग्र हो जाती थीं और फिर विगत जीने लगती थीं। बेटी की कौन सी बात नहीं याद है ? गौरा ने जब जाफरी पकड़ कर खड़ा होना सीखा ही था तो जाफरी के बाँसों में मुँह फँसा कर अपने बाबा को कैसे 'ताऽऽआ' किया करती थी और जब बहुत प्रसन्नता में जाफरी छूट जाती थी तो कैसी लद्दू सी गिर पड़ती थी। इधर कमर का कँदोरा [करधनी] और पायल झनझना उठते और उधर उसका रोना शुरू हो जाता था।....काजल आँज देने पर कैसी घबरायी-घबरायी सी आँखों से देखने लगती थी, जैसे बहुत देर से पानी में थी और हड़बड़ाकर बाहर निकली है।....लेकिन इसके भी पहले की गौरा .. खोले [गोदी] में लेटी है। वह एक हाथ से थपकियाँ भी दे रही हैं और दाल भी बीनती जा रही हैं। सो जाने पर वह उसे झोली में लिटा देती हैं और गृहस्थी में बझ जाती हैं। तूवर [अरहर] की दाल तो बस, आपकी आँख चूकी नहीं कि पूरे की पूरी चूल्हें में कूदने लगती है। अभी आप सम्हालें-सम्हालें कि पूरा चूल्हा बुझा पड़ा होता है—बिल्कुल बच्चों की तरह हाल है। आँख चूकी नहीं कि आपको शामत आयी नहीं। इस बीच समय का ध्यान ही नहीं रहता कि गौरा को आप कब सुला आयी थीं। कैसे बिलख-बिलख कर रो रही है। ठीक भी तो है, दूध पीते-पीते बीच में ही तो सो गयी थी। गौरा को रोना सुनकर ध्यान आता कि बच्ची भूखी है तो तत्काल हाथ का काम पटक कर पूँछ उठाये कपिला सी दूध पिलाने के लिए सम्पूर्ण स्वत्व से उफनता थन बनी उसके पास पहुँच जाना चाहती हैं। झूले में से उठाया तो आँखें खोलीं वर्ना कैसे आँखें बन्द किये पड़े-पड़े चीखे जा रही थी, जैसे कोई बहुत बड़ा काम कर रही थी। थरथराते हाथों से काँचली [चोली] ऊँची कर स्तन निकाल, तर्जनी तथा मध्यमा से थाम कर उसे बेटी के निर्दोष, रोते ओठों से लगा देने पर देह और और मन में परितृप्ति कैसी झनझना उठती थी। उस समय कौन किसमें अनुस्यूत होता था, कहना कठिन था। दूध पीती गौरा के ओठों और छोटे-छोटे हाथों का माधव स्पर्श स्तन से होता हुआ पूरे स्वत्व में कैसा करताल सा झनझनाने लगता पर निःशब्द, केवल स्पर्श आस्वाद का ही अनुभव होता। इस सुख में उनके नेत्र कैसे मुँदे पड़ते कि जैसे .क्या जैसे ?....नारी जो कुछ अनुभव करती है उस सब कुछ को अभिव्यक्त नहीं किया करती। नारी-देह से श्रेष्ठ क्या कोई अन्य वाद्य है ? ऐसा कोई वाद्य है जिसके बजने की कोई ध्वनि तो नहीं होती है परन्तु उसका आस्वाद रोम-रोम में रस-बस जाता है, बल्कि सुगन्ध तक आने लगती है, तब भला बजना और किसे कहते हैं ? देह की इस चरम भोग-भाषा को केवल स्त्री ही अनुभव करती है। यह संसार पुरुष के माध्यम से लिखा गया स्त्री को देह का महाकाव्य ही तो है।—स्तनों पर चबर-चबर करते सन्तान के ओठों का छोटा-छोटा सा स्पर्श कैसे आपके वृक्ष के पत्रों को, स्वत्व की जलाशयता को प्रकम्पित तथा उत्सवित कर जाता है। वाद्य तो नारी देह ही है जिसे पति और सन्तानें अपने-अपने ढंग और प्रयोजन से बजाते हैं। जब कभी दूध पीते

हुए गौरा अपने नये-नये दाँतों से काट लिया करती थी तो बिजली की भाँति चीस कैसे पूरी देह में बिलक पड़ती थी परन्तु तब भी क्या किसी दिन झटकना हुआ ? बल्कि वह चीस पूरी देह में फैलकर क्षणांत दर्द से सुख और उपरान्त गहरे में उतरकर कैसे आनन्द बन जाया करती थी । हाँ, गौरा का मुँह दूसरी ओर करके दूसरा स्तन मुँह में देकर उसे कैसे आँचल में छुपा लिया करती थीं ।...और चलना क्या आया कहना चाहिए कि लद् से गिरना आया । न देखो, न सम्हालो और न पकड़ो तो सीढ़ियों से नीचे । सन्तान हो तो माँ को पूरे घर में फैल कर रहना पड़ता है । दिन, स्मृतियाँ किस-किस चीज की नहीं हैं ? फ्राक से पोलका तार पर कब सूखने लगा इसे वह गिनकर बता सकती हैं । आँगन में आम और घर में सन्तान कैसे मनोयोग से आपकी आँखों के आगे देखते-देखते कद-काठी प्राप्त करते जाते हैं और एक दिन तो वह आपको भी फलाँग जाते हैं ।—चाँदी की कटोरी से चम्मच में दूध भरने से ज्यादा तो गिराया जाता और मुँह, कपड़ों को तरबतर कर लिया जाता....पर यही बालिका एक दिन किशोरी हुई और तभी परिस्थितियाँ हाहाकार के साथ बदल गयीं । पहले गौरा कैसी निष्कम्प शिखा थी पर उसके बाद तो दीया आँधी में पड़ गया । हर क्षण कैसी थरथराहट होती रहती कि क्या सब बुझ जाएगा ? कैसे पूरा जीवन अनाथ भाव और पूर्ण असुरक्षा में बीता । किसी दिन, किसी क्षण न धूप लगी और न कोई निकटता, आत्मीयता । मन पर एक-एक दिन कैसे सुई के टाँके सा टँका लगने लगा । क्या वह नहीं जानती थीं कि गौरा नंगे पैरों स्कूल जाती है तो पैरों में गिट्टियाँ चुभती होंगी, पैर तपते होंगे, साथ की लड़कियाँ हँसती होंगी पर...अपनी विवशता, विकलता वह किससे कहें ? सम्भव होता तो वह बेटी के पैरों में अपने को पहना देतीं पर चप्पलें कहाँ से खरीद कर लाएँ ? स्वयं उनकी भी आयु, उन दिनों क्या थी ? आयु, परिस्थितियाँ तो ऐसी थीं कि जैसे आपकी आँखों पर पट्टी बाँध दी गयी हो और मुँह तक भरे लोटे को आपको थमा दिया गया हो तथा भीड़ में छोड़ दिया गया हो—पर खबरदार, जो लोटा जरा भी छलका तो !... तभी तो जरा सा सर्दी जुकाम हुआ नहीं कि हींग गरम करके दी जा रही है, तुलसी-कालीमिर्च का काढ़ा दिया जा रहा है परन्तु दवाई ? माना कि सावेरकरजी वैद्य निःशुल्क भी दवा देते हैं पर रात के समय रामघाट से नमकमण्डी गौरा को घर में अकेले छोड़कर कैसे जाएँ ? और जवान लड़की को रात-बेरात, सूनी सड़कों-गलियों के अँधेरों से कैसे साथ में लाएँ-ले जाएँ ? कई बार तो बालों में डालने के लिए तेल भी न होता तो गौरा के लाख भींकते रहने पर भी किसी तरह हाथों में घी चुपड़ कर ही बालों को चिकना कर दिया जाता—लेकिन गौरा के बाल भी क्या थे कि किसी दूसरे की क्या स्वयं अपनी ही नजर लगे । ऐसे घने, चिकने, लम्बे और घुँघराले कि बस, बिल्कुल अपने 'बाबा' के बाल इसे मिले थे । लेकिन इस हतभागी के आये दिन जूँ ही पड़ी रहती थीं । काँगसी [स्त्रियों वाली दो मुँही कंघी] में बाल खींचते-खींचते हाथ दुखने लगते । । जूँ और लीकें मारते-मारते इसका सिर दुखने लगता और इनका हाथ । खोपरे [गरी] के तेल में कपूर मिलाकर सिर में डाला जाता

पर क्या मजाल जो सिर न खुजलाती रहती हो—जब देखो तब हाथ धोने के लिए टोकना ही पड़ता था...लेकिन रोटियाँ ऐसी बेलती-सेकती थी कि आपकी दीठि बँध जाए पर छौंक के समय हमेशा टोकना पड़ता था। कौन सी शाक-भाजी घी में बनेगी, किसके छौंके में केवल मेथी-मंगरैल ही डाला जाएगा, मिर्च बघार आ जाए तब डालो नहीं तो जल जाएगी लेकिन क्या मजाल जो किसी दिन ठीक से करे। झल्लाहट तो ऐसी छूटती कि बस....और धीरे-धीरे आँखों में जैसे-जैसे ठहराव आता गया तो हाथों में थिरता और चलने में सोचना आने लगा। कान अब कर्ण लगने लगे, आँखें नेत्र हो गयी, ओठ, अधर बनकर कैसे भाषा की तलाश में रहने लगे। देखने में स्पर्श और वाणी में स्वाद अनुभव होने लगा। बेटी की आयु की यह सम्भ्रम माया असहाय माँ के लिए चिन्ता का कारण बनने लगी। जैसे उत्सव, त्यौहार द्वार पर आ खड़ा हुआ हो और आपने उसके लिए कोई तैयारी नहीं की।....पर भगवान ने उनका कार्तिक नहाना आखिरकार सुन ही लिया....सच तो यह है कि भगवान ने उनकी सुनी और वह भी कैसी सुनी...हे ठाकुर जी, महाराज !!

योगायोग इतना ही था कि श्रीमती सविता बेन याज्ञिक अपनी पुत्री गौरा को वाग्दत्ता ही देख सकीं। लेकिन सन्तोष यही रहा कि वह इस संसार से पूर्ण आश्वास्ति एवं निश्चिन्त मन के साथ बिदा हुई। वैसे तो कोई भी विदा सुखकर नहीं होती तब भला मृत्यु कैसे सुखकर हो सकती थी? गौरा के लिए अपनी माँ का देहान्त निश्चय ही मर्मान्तिक था लेकिन कैसी ही उत्कट भावना हो, आत्मीय सम्बन्ध हो, सीमा तो होती ही है। जाने को लोग श्मशान तक साथ जाते हैं पर चिता पर तो कोई नहीं चढ़ता। वैसे चाहा तो सभी ने कि यदि श्रीमती सविता बेन याज्ञिक की थोड़ी सी भी तबीयत ठीक हो और कुछ दिन और जी सकें तो दस-पाँच दिनों के भीतर ही गौरा और गोविन्द का विवाह सम्पन्न करवा दिया जाए परन्तु यही कह सकते हैं कि भवितव्य नहीं था। हाँ, वह अपने भावी जमाई गोविन्द का तिलक कर गयीं। वह घोर कष्ट में थीं। इस शारीरिक यातना के साथ यदि वह बेटी की चिन्ता भी लिये रहती तो उस अपार कष्ट की कल्पना करना ही कठिन होता। उनके जाने को सब जानते थे, बल्कि कहना चाहिए कि सबको लग रहा था कि यह किसी भी क्षण हो सकता है इसलिए जिस क्षण श्रीमती सविता बेन याज्ञिक ने इहलीला समाप्त की तो गौरा को छोड़कर शेष सबको लगा कि सविता बेन को मुक्ति मिली। और शायद पुत्री की ओर से निश्चिन्तता ने उन्हें आत्मिक तुष्टि दी थी इसलिए अन्तिम साँस के समय वह देहातीत भाव से प्रसन्न थीं और प्रसन्न हो गयीं थी।

तीन माह के बाद ही श्रीमती सविता बेन याज्ञिक का वार्षिक श्राद्ध कर दिया गया। ताकि लगते फाल्गुन में ही गौरा-गोविन्द का विवाह हो सके। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय और पण्डित नागेश्वर उपाध्याय की अपनी तो कोई पुत्री नहीं ही थी पर कोई पौत्री भी नहीं थी इसलिए गौरा के विवाह के समय अनायास ही उन्हें कन्यादान का पुण्य प्राप्त हो रहा था। वैसे तो श्रीमती सविता बेन याज्ञिक अपनी पुत्री के विवाह के लिए राई-रत्ती का प्रबन्ध कर गयी थीं लेकिन जब इस सिलसिले में श्रीमती कामिनी बेन झालानी को सावित्री बेन की सारी वास्तविकता का पता चला तो उन्हें अपार मानसिक वेदना हुई कि उन्हें किसी दिन, किसी ने भी उनका वास्तविक परिचय नहीं दिया अतः लगभग प्रायश्चित्त रूप में सावित्री बेन की जमा-जथा में अपनी ओर से भी बहुत-कुछ जोड़ा तब कहीं किंचित परिताप दूर हुआ। इधर गोविन्द के विवाह को लेकर दुर्गा में उत्साह सहज था। बड़दा ने तो विवाह ही नहीं किया और अब ले-देकर गोविन्द ही तो एक मात्र ऐसा भाई रह गया था जिसकी वह माँ, बहन, अभिभाविका सभी कुछ तो थी। पेट से भले ही उसे जन्म न दिया हो परन्तु जिसे पहले दिन से ही पुत्र की दृष्टि से देखा हो, तब वह सन्तान नहीं तो क्या है? तभी तो वह सबसे पहले गोविन्द का ही विवाह करना चाहती थी पर बस, योग ही नहीं बन सका। एकाध बार तो ऐसा भी लगने लगा कि कहीं यह भी बड़दा की भाँति....तभी तो जैसे ही गोविन्द के मन के—राग की उन्हें नर्मदा मासीमाँ से आहट मिली तो उसने किस ललक के साथ सगाई-ब्याह सबका प्रबन्ध आरम्भ कर दिया।

चौखम्भी की जाफरी के पास टँगा तोता टेंटें कर रहा था पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल भोजन करके गलने [गमछे] से मुँह पोंछ दँतखुदनी से दाँत साफ करते हुए रोज की भाँति तोते के पास खड़े हुए थे। प्रतिदिन प्रायः इसी समय वह तोते से दो-चार बातें कर लिया करते हैं और मिट्ठू भी जैसे इसी समय उनकी प्रतीक्षा करता है। हाथ धोने से लेकर पिंजरे के पास आने तक वह बड़े ध्यान से इन्हें देखता रहता है। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल तोते को प्रसन्न भाव से देखते हुए बोले,

— तुम्हारा यह हीरामन भी तुम्हारी ही तरह है।

रसोईघर से ही दुर्गा ने जवाब दिया, बल्कि कहना चाहिए कि पूछा,

— क्या उसकी वाटकी [कटोरी] में पानी नहीं है?

— हमेशा कटोरी उलट देता है पंजों से।

दुर्गा हँसते हुए करवे [टोंटीदार लोटा] में पानी लेकर आयी और तीलियों के बीच से ही पानी की धार बनाकर कटोरी में पानी डालते हुए बोली,

— पानी गिरा देता है, तो क्या? हमारा मिट्ठू है, है न?

— तुम तो एक न एक मुसीबत खड़ी करती ही रहती हो।

और कुल्ला करने लगे। पति की बात पर वह कुछ ठिठकी उपरान्त बोली,

— अब कौन सी मुसीबत खड़ी की, जरा मैं भी तो सुनूँ।

— कोई एक हो तो बतायी भी जाए।

— क्या किया जाए। अब तो निभाना ही पड़ेगा आपको।
और वह हँस दी।
— अरे हाँ, तुमसे एक बात पूछनी थी।
— आप चलें, मैं रसोईघर बन्द करके आती हूँ।
और जब दुर्गा अपना नित्य-नियम पूरा करके, हाथ-पैर पोंछ कर निश्चिन्त होकर बिस्तरे पर पहुँची तो पति की आँखों में आँखें डाल कर पूछा,
— आपके लिए मैं सच ही मुसीबत खड़ी करती रहती हूँ न ?
— नहीं तो क्या झूठ ?....तुम एक बात साफ-साफ बता दो वर्ना ऐन टाइम पर कहोगी तो आफत हो जाएगी।
— कौन सी बात ?
— दीवाली पर तो पुताई वगैरा हुई ही थी और अगर तुमने गोविन्द के विवाह के लिए दुबारा पुताई करवाने के लिए कहा तो अपने बस का नहीं है।
— आपने अच्छी याद दिलायी।
— की न तुमने किचाँयध। कोई नयी बात याद आयी न ?
— नहीं बाबा, मैं अपने घर की नहीं कह रही हूँ पर गोविन्द के घर की तो करवानी ही पड़ेगी।
— वहाँ इस समय पुताई करवा के क्या होगा ? विवाह की दूसरी झंझटों में यह फिजूल का काम, कोई जरूरत नहीं है इसकी।
— विवाह पर भी पुताई न हो ?
— तुम भी कमाल करती हो।
— इसमें कमाल की क्या बात है ?
— जब विवाह यहाँ से होना है तो उसके घर की पुताई अगली दीवाली पर वह करवा लेगा।
कपाल छूकर लगभग तरस खाते हुए दुर्गा बोली,
— हे भगवान ! !
— इसमें भगवान की क्या बात है ?
— गोविन्द का विवाह इस घर से क्यों होगा ? क्या उसका अपना घर नहीं है ?
— तुम्हारा मतलब कहीं गाँव से तो नहीं है ?
— हो सकता था, अगर उसका यहाँ घर नहीं हो गया होता।
— की न तुमने मुसीबत खड़ी। देवी जी, कौन है वहाँ जो सब करेगा ?
— आप किस दिन के लिए हैं ?
— तभी तो कहता हूँ कि जब हमें-तुम्हें ही करना है तो इस नाटक की क्या आवश्यकता है ?
— क्या नहीं आवश्यकता है ? आपको तो जरा सा भी लोकाचार नहीं मालूम।
— अच्छा ?? तो फिर हम भी सुनें तुम्हारा लोकशास्त्र, जिसने जान आफत में कर

रखी है।

— क्या बहन का घर, दूसरे का घर नहीं होता ? और विवाह क्यों दूसरे के घर से होना चाहिए ?

— होता हो, चाहे न होता हो परन्तु तुमने अपनी पख निकाल ही ली।

— पख की क्या बात है इसमें ? जाति के लोग और सगा-सोई [सम्बन्धी] क्या कहेंगे ?

— अच्छा हुआ कि तुम जैसी भगवान ने कुल अदद एक ही बनायी। जाति के यह कहेंगे, सगा-सोई वह कहेंगे। कहना तो लोगों का काम ही है। कहने वाले तो राम को भी नहीं चूके। लोगों के मुँह में जीभ है तो कुछ तो कहेंगे ही।

— जीभ वही तो कहती है जो उसे अनुभव होता है। दुनिया की चिन्ता भले ही न की जाए परन्तु मैं तो इतना ही जानती हूँ कि जिस प्रकार भावना में कमी नहीं होनी चाहिए उसी प्रकार व्यवहार-आचरण में भी कोई गड़बड़ी भूल-चूक नहीं होनी चाहिए। गोविन्द अब बच्चा नहीं है। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति है। वह शुक्ल नहीं जोशी है उसका अपना भी एक घर है। इससे पृथक उसकी सत्ता है। हम लोग उसके घर जाएँगे और बहन-बहनोई के नाते, बड़े होने के नाते सारा कार्य करेंगे सारा करियावर होगा उसी के घर से।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल पत्नी को सुनते हुए सोच रहे थे कि स्वत्ववान स्त्री को न किसी शास्त्र की आवश्यकता होती है और न किसी अतिरिक्त ज्ञान की। बोले,

— दूसरों को नाच नचाना तुम्हें खूब आता है।

— आप मेरी बातों को व्यर्थ समझते हैं न ?

— दुर्गा ! तुम्हारी बातें बेकार या व्यर्थ नहीं हैं परन्तु इन्हें मैं अतिरिक्त सतर्कता अवश्य समझता हूँ। और जिसकी कोई आवश्यकता नहीं देखता। खैर—

— शायद इस तरह की बातों को ही तो आप लोग स्त्री-हठ कहते हैं न ?

और वह हँस दी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल भी हँसते हुए बोले,

— स्त्री-हठ के और क्या सुर्खाब के पर होते हैं। पर यह मानकर भी मैं तुम्हारा कर ही क्या सकता हूँ ?

— क्यों ? आप इस घर के स्वामी, कर्ता-धर्ता सभी कुछ तो हैं।

— देवी जी ! मुझे सब पता है कि इस घर के बच्चे क्या चूहे तक तुम्हारे साथ हैं, अकेला तो सिर्फ मैं हूँ।

— पता नहीं ऐसी बातें बनाना आपने किससे सीखा। बाबा तो बहुत सीधे थे।

— इधर आओ, मैं बताता हूँ।

— जी नहीं, हमे नहीं जानना।

और हँसते हुए वह अपने बिस्तरे में लेट गयी।

॥ परिवर्तन प्रकरण ॥

अभी लोग ठीक तरह से सोकर उठे भी नहीं थे कि सराफे-कंठालवाले चौराहे पर हनुमान प्रसाद और माधोप्रसाद हलवाई की दूकानों पर जलेबियाँ घुलवाते लोग अखबारवाले की सवेरे-सवेरे गमाती आवाज सुनकर चौंके—
— ताजा समाचार !! इटली ने अबीसीनिया पर हमला कर दिया !!
हिटलर और मुसोलिनी में सन्धि !!
जमनालाल चौरसिया की पान की दूकान पर लड़के पीतल की पत्तर जड़ी बड़ी सी चौकी और कत्थे-चूने के बर्तन चूने और राख से मल-मल कर रगड़ रहे थे। जमनालाल पास की बन्द दूकान के पटरों पर दरी बिछाये बड़े ही सांगोपांग तरीके से रोज की तरह ही बड़े से सरौते से सुपारियाँ काट रहा था। छँटाई के लिए पानों की गड्डियाँ उसके पास पड़ी थीं। जिसने भी अखबारवाले की यह हाँक सुनी, वही चौंका। इस चौराहे पर सिर्फ जमनालाल चौरसिया की दूकान पर ही अखबार आता था और जाहिर था कि जिसे वह अपने लिए नहीं बल्कि ग्राहकों के शगल के लिए ही मँगवाता था। अखबार वाला अखबार फेंककर आगे बढ़ गया। लोगों को कहाँ तो जलेबियों की जल्दी थी पर अब जिसे देखो वही अखबार को देख जाना चाहने लगा। एक साहब ने अखबार हथिया रखा था। किसी ने आवाज लगायी,
— भाई साहब ! जरा जोर से ही पढ़ें तो हम भी सुनें
और अखबार जोर से पढ़ा जाने लगा कि तभी गिरिधर ठक्कर आते दिखायी दिये। लोग उन्हें 'नेताजी' कहते थे। उन्हें देखते ही एक ने कहा,
— लो, नेताजी आ गये। अखबार साला क्या बतायगा जो हमारे नेताजी बताएँगे।
हाँ साहब ! देखा आपने ?
गिरिधर ठक्कर ने कल रात ही अयाचित वकील साहब के घर पर रेडियो पर इस

आक्रमण के बारे में सुन लिया था। वह तो आज निकले ही थे सवेरे-सवेरे कि जाकर लाइब्रेरी में अखबार देखें तो विस्तार से मालूम हो। उनको देखते ही लोगों ने उन्हें जिस प्रकार घेर लिया था उसमें उन्हें लग गया कि बिना कुछ बोले-चाले गति-मुक्ति नहीं है। बोले,

— क्यों, कोई खास बात है क्या आज अखबार में ?

उनकी बात सुनकर पहले तो लोग कुछ सकपकाये, तब एक ने टीप जड़ते हुए कहा,

— यह हुई न नेता जैसी बात।

किसी दूसरे ने इस टीप को उछालते हुए कहा,

— भले ही विश्व-युद्ध हो जाए, इन नेताओं की बला से।

इस पर गिरिधर ठक्कर जमनालाल चौरसिया की बगल में दरी पर बैठते हुए बोले,

— यह तो विश्व-युद्ध का रिहर्सल है दोस्तो! अभी क्या है।

— लेकिन गिरिधर भाई! कहाँ अबीसीनिया और कहाँ इटली—न दोनों की सीमाएँ मिलती हैं, न उनके स्वार्थ टकराते हैं। यह तो इटली की सरेआम ज्यादती है।

गिरिधर ठक्कर ने जवाब देते हुए कहा,

— यूरोप अब स्वार्थ और सीमाओं के कारण थोड़े ही लड़ता है। इन देशों को एशिया और अफ्रीका में मंडियों की, उपनिवेशों की तलाश है ताकि अपने यहाँ के उद्योग-धंधों का विकास कर सकें। हम-आप उन्हें कच्चा माल सस्ते में दें और बदले में उनका तैयार माल मँहगे में खरीदें। यूरोप की सारी राजनीति अब औद्योगिकता की ही है। इस दौड़ में अंग्रेज चूँकि बाजी मार ले गया है और जर्मनी-इटली जैसे देश पिछड़ गये हैं इसलिए जहाँ भी, इन लोगों को मंडियों की, उपनिवेशों की गन्ध आएगी, ये लोग 'या अली' 'या अली' करके चढ़ दौड़ेंगे। आज अबीसीनिया है तो कल कोई दूसरा देश हो सकता है।

इस पर किसी ने पूछा;

— तो क्या अंग्रेज देखता रहेगा ?

— भाईजान! अंग्रेजों का यह विशाल साम्राज्य ही तो हिटलर को चुभ रहा है।

— तब तो हिटलर अच्छा कर रहा है।

— क्या अच्छा कर रहा है ?

गिरिधर ठक्कर ने पूछा।

— अंग्रेजों की ऐसी-तैसी, और क्या!

और सारे उपस्थित हँस दिये।

— आप और आपका हिटलर अंग्रेजों को जितना कमजोर समझ रहे हैं न, वैसा है नहीं।

गिरिधर ठक्कर की इस बात पर कुछ लोग चौकन्ने हुए। एक ने कहा,

— अभी तो कहीं हिटलर का पता ही नहीं है, पर यार ये मुसोलिनी कौन है ? देख रहे हो न इसका फोटो, कैसा लोहे का कनटोप पहने है। जाबिर लगता है।

— ये सब फासिस्ट हैं।

गिरिधर ठक्कर के इस फ़तवे पर लोग कुछ पूछने को हुए कि वह उठ खड़े हुए। एक बोला,

— अच्छा, जाते-जाते यह तो बता जाइए कि अंग्रेजों और हिटलर में कौन अच्छा है ?

गिरिधर ठक्कर ने हँसते हुए कहा,

— बकरी के लिए बाघ और भेड़िया दोनों ही दुश्मन हैं।

और गिरिधर ठक्कर को सहसा याद पड़ा कि आज तो रविवार है और रविवार के दिन लाइब्रेरी केवल शाम को ही खुलती है। उनका सारा कार्यक्रम ही गड़बड़ा गया। वह सोचे हुए थे कि वासुदेव से कुछ राजनीतिक चर्चा की जाएगी। जबसे गोविन्द का विवाह हुआ, तब से गिरिधर ठक्कर वासुदेव उपाध्याय के पास अधिक आने-जाने लगे हैं। वैसे भी गोविन्द दिन भर तो अपने काम-काज में व्यस्त रहता है, उसके बाद शाम को भी मुवक्किलों से घिरे रहता है। वकालत का धन्धा भी चौबीसों घण्टे का धन्धा है। अब अगर आप भी बिना सोचे-समझे पहुँच गये तो गोविन्द-गौरा को अपने लिए समय और अवकाश ही कब मिले ? उन्होंने कभी ऐसा नहीं कहा होगा, पर आदमी को स्वयं ही सोचना चाहिए कि सामने वाले की क्या कठिनाइयाँ हैं, परिस्थितियाँ हैं। यही सब सोचकर गिरिधर ठक्कर प्रायः कम ही जाते हैं। रविवार का ध्यान आया तो एक बार सोचा कि न हो वासुदेव के घर ही चला जाए परन्तु वह नर्मदा काकी से बचना चाहते थे क्योंकि वह हर बार पूछती हैं कि माँ को कब लाओगे ? अतः सोचा कि इस समय सवेरे के समय गोविन्द के ही हालचाल ले लिये जाएँ।

जिस समय गिरिधर ठक्कर हॉल में पहुँचे तो देखा कि मसनद पर खुले केशों में गौरा अकेले बैठी अखबार पढ़ रही है। शायद पीठ होने के कारण तथा अखबार में ध्यान होने के कारण गौरा को किसी के आने की प्रतीति तक नहीं हुई। गिरिधर ठक्कर को गौरा का इस प्रकार बैठना बहुत अच्छा लगा। कैसी निरभ्र शान्ति थी। हॉल के बड़े से दरवाजों के बारजे की ओर से प्रकाश फर्श पर मेहराब की आकृति में बिछा था। वैसे वह कभी भी श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के जमाने में यहाँ नहीं आये हैं, पर बहुत कुछ उनके स्वत्व, व्यक्तित्व के बारे में सुन रखा था। गौरा जिस प्रशस्त भाव से बैठी थी, और शायद रविवार होने के कारण केश धोये थे इसलिए खुले केशों के फैलेपन में वह अनायास ही अप्रतिम लग रही थी। तो क्या श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय भी इसी प्रकार यहाँ बैठती थीं ? और क्या इसी प्रकार अप्रतिम लगती

रही होंगी ? वैभव वाला परिवेश न केवल आपके पाँवों के नीचे गलीचा सा ही मुलायम लगता है बल्कि आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व और आचरण को भी कैसा अनायास विशिष्ट बनाता है। गौरा को रामघाट के उस विपन्न परिवेश में भी देखा है और आज वह जिस निश्चिन्त एवं प्रशान्त परिवेश में बैठी है उसके कारण, गौरा के सम्पूर्ण स्वत्व एवं बैठने तक में एक विशिष्टता नहीं लग रही है ? मनुष्य कितने जल्द हर थोक का, परिस्थिति का अभ्यस्त हो जाता है। आज पहली बार उन्हें लग रहा था कि जिस संसार और जीवन को वह निरर्थक, नगण्य समझते रहे हैं, वैसा शायद नहीं है। हाँव में बैठी हुई गौरा सच में उन्हें अविश्वसनीय लग रही थी। तभी बुआ का स्मरण हो आया और गहरी निश्वास निकल गयी। उन्हें कितना भोगना पड़ा। वैसे भोगा तो गौरा ने भी पर भाग्य अनुकूल था, वर्ना सामान्यतः तो कुछ दूसरा ही घटना चाहिए था।—वैसे ठीक ही तो हुआ। गोविन्द के बारे में जितना कुछ सुना-जाना उससे तो यही लगता है कि गौरा और गोविन्द अपने-अपने तपते मरुथलों से यात्रा करते हुए आये और संयोग से मिल गये। कितनों के साथ ऐसा संयोग घटित होता है ? उन्हें अपने ही चौड़मपने पर हँसी आ गयी। उन दिनों किसी दिन वह नहीं समझ सके कि गौरा और गोविन्द के बीच क्रमशः आकर्षण स्थापित होता जा रहा है। वह तो सगाई के दिन ही जान सके और अवाक रह गये, पर सुन-देखकर कितना अच्छा लगा था कि जैसे गौरा गोविन्द के लिए ही थी। जिस ढंग से विवाह हुआ वह भी स्पृहणीय ही था। सबको परमतुष्टि भी....पर न जाने क्यों धूर्जटी और उसकी बहू शारदा पूरे समय खिंचे-खिंचे से लगे। वह किसी की पारिवारिकता की अन्तरंग बुनावट के बारे में कुछ नहीं जानते परन्तु ऐसा लगा कि यदि ऐसा हुआ है तो यही मानना पड़ेगा कि कब किसके मन में छोटापन किस कारण को लेकर व्यक्त हो जाएगा, कुछ नहीं कहा जा सकता।

गिरिधर ठक्कर को हठात लगा कि वह कहीं खो गये थे और जिस रूप में तथा जिस तरीके से खड़े हैं वह सर्वथा अशोभनीय है। अपनी इस मूर्खता पर वह थोड़ा खुलकर हँसे तो गौरा चौंकी। पीठ पर के फैले बाल जो कि मुँह के दोनों ओर फैल आये थे, उन्हें एक तरफ करके गौरा चौकन्ने भाव से तिर्यक देखने लगी कि यह किसकी हँसी है ? गौरा को अवचेतन में भी यह आशा नहीं रही होगी कि बिना सूचना दिये, बिना किसी आहट के कोई ऊपर तक भी हठात आ सकता है। हँसी सुनकर वह चौंकी थी क्योंकि वह पति की नहीं थी और पीठ ओर से आयी थी जबकि पति तो दाहिनी ओर के कमरे में हैं—तब कौन ?—और जैसे ही अपने 'गिरिधर दादा' को देखा तो चौंकना प्रसन्नता में बदल गया।

— आप कब आये दादा ?

— यही कोई तीस-बत्तीस बरस पहले।

और दोनों हँस दिये। गिरिधर ठक्कर मसनद पर बैठे ही थे कि गौरा बोली,

— पहले तो आप ऐसे नहीं थे दादा!

कैसा नहीं था ?

— दुनिया भर में बसने के लिए आपके पास समय होता है पर बहन के लिए ही समय नहीं है, है न ?
— गोविन्द को डाँटते-डाँटते अब भाई को भी डाँटने लगी, क्यों ?
— मैं भला किसी को क्या डाँट सकती हूँ ।
— डाँट भी रही हो और इन्कार भी करती जा रही हो ।—अच्छा छोड़ो, वकील साहब क्या सुना रहे हैं ?
— आपके मुँह से इनके लिए 'वकील साहब' बड़ा अच्छा लगता है न ?
गौरा ने भाई से मज़ाक किया तो भाई ने तत्काल शस्त्र डाल दिये,
— तुम्हें बुरा लगता है तो जाने दो नहीं कहते ।—
— क्या ?
— सम्बन्ध में भले ही गोविन्द छोटे बहनोई हों पर ज्ञान और बुद्धि से तो यह...
अभी गिरिधर ठक्कर का वाक्य पूरा भी नहीं हुआ कि हॉल के सिरे वाले कमरे से आवाज आयी,
— महानुभावं !!
दोनों ही चौंके क्योंकि दोनों ही बातों में इतने तल्लीन थे कि गोविन्द का आना उन दोनों को पता ही नहीं चला । गोविन्द का फ़तवा सुनकर तीनों हँस पड़े । गोविन्द भी आकर मसनद पर ही बैठ गये । गोविन्द के आते ही गौरा सिर पर पल्लू लेकर जाने को उद्यत हुई तो गोविन्द बोले,
— अब तो मेरा ख्याल है कि नाश्ता ज़ोरदार ही आएगा ।
इस पर जाते हुए गौरा बोली,
— और क्या । रोज तो आपको बासी रोटियों के पुष्करे [बासी रोटी का चूरा हुआ नमकीन व्यंजन] ही खाने पड़ते हैं ।
— चलो अच्छा हुआ तुम्हीं ने सही बात बता दी वर्ना गिरिधर भाई सोचते कि मैं इनकी बहन की बुराई कर रहा हूँ ।
हँसते हुए क्या बल्कि पूर्ण पतिमय बनी गौरा जब चली गयी तो गोविन्द ने पूछा,
— आप सवेरे-सवेरे आ गये तो बड़ा अच्छा लग रहा है ।
— आज क्या कोई मुवक्किल वग़ैरा नहीं आएँगे ?
— अरे मुवक्किल तो रोज ही आते हैं ।
अख़बार उठाते हुए गिरिधर ठक्कर बोले,
— अख़बार देखा आज का ?
— यूरोपीय राष्ट्रों की यह आपसी सनातनी ज़हर रंग लाएगी एक दिन ।
— मुझे भी यही लगता है । पता नहीं तुम्हें मालूम है कि नहीं....
— क्या ?
— मांडव के नीचे विन्ध्या के जंगलों में गढ़ छावनी की पल्टनें नकली लड़ाई की प्रैक्टिस करने लगी हैं ।

— हाँ, परसों ही बार में चितले वकील साहब भी बता रहे थे। सुना हवाई जहाज, तोपें सभी काम में लाये जा रहे हैं।
— हिटलर का भूत अंग्रेजों को सताने लगा है।
— पर यह बीच में मुसोलिनी अबीसीनिया पर कैसे चढ़ दौड़ा ?
— मुसोलिनी तो हिटलर का मोहरा है। अरब-सागर में हिटलर को पहुँचने का मार्ग चाहिए। स्वेज पर अंग्रेज कब्जा किये बैठे हैं तब जर्मनी किस रास्ते से अंग्रेजों के साम्राज्य पर हमला करे ?
— गिरिधर भाई ! मुझे इसीलिए राजनीति से चिढ़ है। बिना युद्ध और संघर्ष के, अशान्ति और षड्यन्त्र के राजनीति रह नहीं सकती, भला ये मनुष्यता का क्या भला करेंगे ?

इस पर गिरिधर ठक्कर जोरों पर हँसते हुए बोले,
— गोविन्द राजनीति, बकरियों के लिए खेला जाने वाला भेड़ियों का खेल है, समझे?
— हाँ, एक बात बताइये कि अगर युद्ध होने की संभावना होगी तब तो यह प्राविंशियल-अटानामी की योजना खटाई में पड़ जाएगी।
— गोविन्द ! मेरा ख्याल है कि किसी नतीजे पर पहुँचने के पहले दो-तीन बातों को और भी ध्यान दो। क्रान्तिकारियों को दबा देने के बाद अंग्रेज को यह लग सकता है कि भारत में अब कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो उनका प्रतिरोध कर सके। गांधी और कांग्रेस की काट उनके पास जिन्ना और मुस्लिम लीग है। यदि 'प्राविंशियल अटानामी' के आधार पर चुनाव होते हैं तो कांग्रेस जितना अर्जित करेगी उतना या उतने के आसपास ही सही मुस्लिम लीग के माध्यम से अंग्रेज कांग्रेस को कमजोर भी कर देंगे, दूसरे यह तो स्वायत्त-शासन का प्रयोग होगा। अंग्रेजों को यदि खतरा अनुभव होगा तो कोई न कोई बहाना खोज लिया जाएगा—और अगर कहीं युद्ध हो गया तो युद्ध के संकट के नाम पर पूर्ण स्वराज्य को भी वापस लिया जा सकता है।
— तो क्या गांधी जी सीमान्त प्रदेशों का दौरा इसीलिए कर रहे हैं कि इस मुस्लिम बहुल प्रदेश में मुस्लिम लीग न जीतने पाये ?
— तुम ठीक कह रहे हो। वहाँ सीमान्त गांधी अब्दुल गफ्फार खान और डाक्टर खान साहब तथा उनके लालकुर्ती वालों का प्रभाव है पर पंजाब में स्थिति दूसरी है वहाँ दौलताना और नून का अच्छा खासा प्रभाव है। कांग्रेस कुछ कर नहीं पा रही है,—मुझे तो गोविन्द ! यह भी लगता है कि यह सब अंग्रेजों की चाल भर है।
— क्यों ?
— बहुत बड़ा कारण तो यह है कि अभी तक कांग्रेस के जो भी जन-आन्दोलन हुए हैं वे जन-जागरण के लिए हुए हैं। जब भी ये आन्दोलन कोई राजनीतिक दिशा ग्रहण करना चाहते हैं कि गांधीजी उन पर अंकुश लगा देते हैं इसलिए अंग्रेज आश्वस्त हैं कि अभी इस देश में कोई राजनीतिक आन्दोलन होने नहीं जा रहा है। और

भविष्य की तैयारी अंग्रेज कर चुका है कि आतंकवादियों का लगभग सफाया कर दिया गया है तथा कांग्रेस पर अंकुश लगाने के लिए जिन्ना और मुस्लिम लीग को शक्तिशाली बनाया जा रहा है, पर अंग्रेज अभी टट्टी की आड़ से खेल-खेलना चाहता है क्योंकि उसे अपने साम्राज्य को जर्मनों के आक्रमण से बचाना है इसलिए भारतीयों को खुश करने के लिए यह प्राविंशियल अटानामी का एक झुनझुना थमाना चाहता है। चूंकि वह जानता है कि कुछ होना जाना है नहीं और इसी समय वह एक खेल और खेलना चाहता है।

— वह कौन सा ?

— उसे युद्ध के लिए आदमियों की जरूरत होगी। अगर इस समय कांग्रेसी-शासन आ जाता है तो रंगरूटों की भर्ती वह आपके माध्यम से करेगा और जाहिर है कि इससे होनेवाली बदनामी कांग्रेसियों के मत्थे जाएगी, उनके नहीं। और इस बीच स्वायत्त-शासन का लाभ तो आपको कुछ होना नहीं है अतः फिर किसी न किसी बहाने से सब कुछ ले लिया जाएगा। कांग्रेस जनता में बदनाम हो जाएगी। अंग्रेजों को तो हर हालत में लाभ है।

— तो गिरिधर भाई ! आप समझते हैं कि लड़ाई होकर रहेगी ?

— गोविन्द ! लड़ाई तो अंग्रेज और जर्मन दोनों के लिए विभिन्न कारणों से अनिवार्य हो गयी है। साल-छह महीनों की बात है। बहाने की तलाश है और अबीसीनिया पर चढ़ाई एक बहाना ही समझ लो। मिडिल-ईस्ट में अंग्रेजों का दबदबा है और यह चढ़ाई एक तरह से पलीता लगाना ही है। देखें, अंग्रेज कब तक इसे सहन करता है।

नाश्ते का सारा सामान लिये नौकरानी के साथ गौरा तैयार होकर आयी तो गोविन्द बोले,

— गौरा ! नाश्ता तो खैर ठीक है पर दोपहर का खाना भी गिरिधर भाई हम लोगों के साथ ही खाएँगे।

इस पर गिरिधर ठवकर बोले,

— इतने नाश्ते के बाद तो मैं तीन दिन तक कुछ नही खा सकता।

इस पर गौरा ने उन्हें नाश्ता देते हुए कहा,

— बातें बनाना तो कोई दादा से सीखे।

— और अपने पास है क्या गौरा।

— नहीं, अब आप अराम से भोजन-वोजन करके ही जाएँगे।

— मेरा ख्याल है गौरा ! कि तुम पहली व्यक्ति हो जो इस प्रकार अपना आगत-स्वागत हो रहा है पर आदमी के भाग्य में भी तो होना चाहिए—सकल पदारथ या जग माँही....

और वह हँस दिये।

— अच्छा रहने दीजिए ये सब फिजूल की बातें।

— अगर भोजन के लिए रुक गया तो वहाँ विनोद मिल में मजदूर मेरे नाम की हड़ताल कर देंगे।

इस पर गोविन्द बोला,

— यह विनोद मिल का झगड़ा क्या है गिरिधर भाई ?

— जो किसी भी मिल में होता है। मालिक लोग अपना और मजदूर दोनों का लाभ हजम कर जाना चाहते हैं और मजदूर अपना हिस्सा माँगते हैं।

— लेकिन यह समस्या तो शाश्वत है।

— इसीलिए मालिक-मज़दूर की लड़ाई भी शाश्वत है।

— तो क्या इन हड़तालों से इस समस्या का हल निकल जाएगा ?

— यह तो हम भी जानते हैं कि नहीं निकलेगा।

— तो फिर फायदा ?

— मजदूरों में अपने अधिकारों के लिए चेतना आएगी। किसी भी उद्योग में यदि पूंजी आवश्यक है तो श्रम भी उतना ही अनिवार्य है। पूंजी को श्रम का अपहरण नहीं करने दिया जाएगा।

— लेकिन किसी निदान पर तो पहुँचना ही होगा अन्यथा इसका उत्पादन पर बुरा असर पड़ेगा।

— एक तो गोविन्द। इस बात को उद्योगपतियों को भी सोचना चाहिए कि पूंजी और श्रम किसी की वैयक्तिक शक्ति नहीं हैं। ये शक्तियाँ समाज-निसृत हैं।

— तब तो गांधी जी की 'ट्रस्टीशिप' की अवधारणा बहुत सन्तुलित दृष्टिकोण है।

— मैं उससे सहमत नहीं हूँ गोविन्द ! क्योंकि उसमें बाध्यता के स्थान पर सदाशयता पर निर्भर होना पड़ेगा। मैं यह मान सकता हूँ कि कोई एक पूंजीपति ऐसा हो सकता है पर सब नहीं। नैतिकता जहाँ फेल होती है, कानून वहाँ से आरम्भ होता है। अधिकार की भाषा या माँग, नैतिकता की माँग न होकर कानून की भाषा और माँग है। और गांधी जी इसमें क्यों घपला करना चाहते हैं, मैं नहीं समझ पाता। अधिकार भिक्षावृत्ति के रूप में क्यों किसी को मिले ? वह उसका प्राप्य है, दाय है जो नैतिक अनुदान या अनुकम्पा के रूप में नहीं होना चाहिए। श्रम को पूंजी से उपकृत नहीं होना है।

— लेकिन मुझे नहीं लगता कि यह या इस तरह की सारी सामाजिक समस्याएँ कानून के द्वारा हल हो सकती हैं। कानून मनुष्य में भय तो किसी सीमा तक उत्पन्न कर सकता है पर किसी मूल्यवत्ता को स्थापित नहीं कर सकता। समाज या व्यक्ति कभी भी पूरे समय कानून से निर्देशित होना नहीं चाहेगा।

— अरे यार, तुम तो अब बहुत ही आधारभूत बातों पर आ गये। सुनो, न तो अपने पास गांधी जी की सी तात्विकता है और न तुम्हारे जैसी तार्किकता। मजदूरों के बीच ज्यादातर रहना होता है तो वैसा ही बोलना-चालना आता है, बस।— तुम्हारे साथ बातों में समय का ही पता नहीं चल रहा है—गौरा ! बताना समय

कितना हुआ ?

— अच्छा।

और गौरा समय के लिए कोने वाले कमरे की तरफ बढ़ी।

— गोविन्द ! एक बात नहीं समझ पा रहा हूँ।

— क्या ?

— यह धूर्जटी आखिर चाहता क्या है ?

— मैं समझा नहीं।

— मजदूर यूनियन की मालिकों से अभी बातें चल रही हैं और यह हजरत मिल मैनेजर खान साहब से जाने किस बात की दलाली मजदूरों की ओर से करना चाहते हैं।

— वह तो उनका वकील है, वह भला क्यों इस तरह की बात करेगा।

— यही तुम अपने मानजे महाशय को जानते हो ? वह केवल वकील ही नहीं है। राजनीति में भी तो दखल रखते हैं।

तभी गौरा आयी और बोली,

— दस बज रहा है।

— मारे गये।

और गिरिधर ठक्कर एक दम उठ गये। गौरा बोली,

— दाद ! आप मीटिंग के बाद आइए। हम लोग आपकी प्रतिक्षा करेंगे।

— नहीं, प्रतीक्षा की झूठी बात। हुआ तो आऊँगा, नहीं तो फिर कभी।

और अभी गौरा और गोविन्द में से कोई कुछ कहे इसके पूर्व ही गिरिधर ठक्कर सीढ़ियां उतरने लगे।

— अभी तक तुम तैयार ही नहीं हुईं ?

— ऐसी क्या जल्दी है ।

— तुम भी कमाल करती हो । मालूम है कितना बज रहा है ? क्या बरात आ जाएगी तब पहुँचोगी ?

धूर्जटी ने अपनी रिस्टवाच शारदा को दिखाते हुए कहा । शारदा अपनी आलमारी से कपड़े चुन रही थी कि कान्ता, अपनी ननँद के विवाह में क्या पहन कर जाए । वह उसी प्रकार कपड़े ढूँढ़ते हुए बोली,

— दिन भर सासूमाँ के साथ मरी-खपी अभी आयी हूँ । आकर जरा सी पीठ टिकायी होगी कि आपको लगा कि मैं पलँग तोड़ रही थी, है न ?

धूर्जटी को अपनी पत्नी की बात सुनकर ताव तो बहुत आया परन्तु सिवाय भुनभुनाने के कभी कुछ और किया होता तो इस समय भी करते । क्या उनको नहीं मालूम कि शारदा का दिन भर माँ के साथ मरना-खपना क्या था ? मुश्किल से एकाध घंटे के लिए गयी होगी परन्तु अगर धूर्जटी कुछ कहते तो अभी शारदा चण्डी का रूप धारण कर लेती। यह नहीं कि कान्ता के विवाह के प्रति उनके मन में कोई उत्साह था परन्तु तब भी लोकाचार की दृष्टि से ही कुछ करते हुए दिखना जरूरी था । वह बड़े लड़के थे तो शारदा शुक्ल-परिवार की बड़ी तथा अभी तक एकमात्र बहू थी अतः मन से न चाहते हुए भी घर-बाहर लोगों को लगना चाहिए कि आप सम्बन्धित तथा व्यस्त हैं । फिर शारदा को यह भी सोचना चाहिए कि कान्ता, जो उसकी ननँद है, का विवाह उसके काका करुणाशंकर जी द्विवेदी के लड़के कृष्णशंकर से हो रही है अतः उसका सम्बन्ध एवं दायित्व तो दुहरा हो जाता है परन्तु शारदा को जैसे किसी बात, किसी व्यक्ति की कोई चिन्ता ही नहीं थी । कई बार तो लगता कि शारदा को अपनी बात और आचरण के लिए किसी भी प्रकार की शालीनता की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी । कुछ तो

स्वयं अपने ही स्वभाव के कारण धूर्जटी अपने परिवार से कुछ अलग-थलग थे ही लेकिन विवाह के बाद से शारदा ने आकर इस प्रक्रिया को न केवल गति ही दी बल्कि मुखर भी कर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि धूर्जटी अपने परिवार से भावनात्मक स्तर पर भी टूटने लगे। कातिक-चौक वाली इस हवेली में आने के पीछे तक यही था कि मगरमुँहे वाला घर छोटा है तथा वकालत के पेशे में गाँव-देहात के भी मुवक्किल आते हैं, जो दो-चार दिन ठहर भी जाते हैं अतः कातिक-चौक वाली हवेली ही ठीक रहेगी। बात और तर्क दोनों ही उचित लगे और कहीं कुछ आपत्तिजनक भी नहीं लगा। तभी तो दुर्गा ने सोच-विचार कर धूर्जटी के दहेज का सारा सामान सीधे कातिक-चौक ही पहुँचाया था। कहने को भी एक रात अपने यहाँ नहीं रखा तब भी इससे-उससे जो सुनने को मिला कि शारदा ने बताया कि सास ने आधे से ज्यादा सामान तो रख लिया और दुनिया भर में शोर ढिंढोरा पीटा कि उन्होंने लड़के के दहेज की एक पाई तक अपने पास नहीं रखी। दुर्गा ने जब सुना तो इतना तो वह मान ही गयी कि भले ही यह सब न कहा हो जो इसने-उसने बताया पर कुछ तो कहा ही है जो सभी के कहने में समान रूप से मिलता है अतः दुर्गा ने अपने सास-बहू वाले सम्बन्ध को भी औपचारिक भाषा एवं आचरण का रूप दे दिया, परन्तु ध्यान रखा कि अपनी ओर से कोई कटुता नहीं आने दी। बल्कि पति को पूरी बात नहीं बतायी होगी, नहीं तो पति ने भले ही बहू को कुछ न कहा होता परन्तु धूर्जटी की तो लू ही झाड़ दी होती। दुर्गा सदा की भाँति शारदा के इस चरित्र को भी पी गयी। जब कान्ता का विवाह पक्का किया जाना था तब दुर्गा ने सूचना और परामर्श दोनों ही के लिए शारदा से कृष्णशंकर की चर्चा की। दुर्गा का ख्याल था कि बहू को यह रिश्ता प्रिय होगा कि ननँद उसके चचेरे भाई से ब्याही जा रही है। दुर्गा को यह भी पता था कि द्विवेदी परिवार में आपसी पारिवारिक उष्मा नहीं रह गयी है परन्तु तब भी क्या हुआ, सम्बन्ध तो सम्बन्ध है। लेकिन सारी बात सुनकर पहले तो शारदा ने अपनी कोई राय नहीं बतायी परन्तु उसके अन्तर में यह सब सुनकर जो बुरा लगा था, वह उसके मुख पर स्पष्ट दिखलायी दे रहा था अतः दुर्गा ने सोचा कि यदि शारदा के मन की बात नहीं जानेंगी तो बहू को लगेगा कि उसे कुछ कहने का मौका सास ने दिया ही नहीं, अतः रतलाम से लौटकर उन्होंने शारदा को बताया।

— क्यों, क्या बात है बहू ? तुम्हें शायद यह सम्बन्ध....

— नहीं सासूमाँ !....अब जब आप लोगों ने सब तय ही कर लिया तो फिर ठीक ही है ?

— तुम्हारे बाबा का तो विचार है कि इस सम्बन्ध से बहू बहुत प्रसन्न होगी।

— सासूमाँ ! ब्याह-शादी बराबर की हैसियत वालों में होने चाहिए।

सुनकर दुर्गा अवाक हुई। हठात तो वह कुछ नहीं समझ पायी कि बहू ने क्या कहा लेकिन जब सुना हुआ समझ में आया तो शारदा को देखती ही रह गयी। शारदा अपने ही चचेरे भाई को प्रकारान्तर से नीची हैसियत का बता रही थी। दुर्गा को

पता था कि शारदा की माँ, श्रीमती अन्नपूर्णा देवी द्विवेदी ने कृष्णशंकर और उसकी म श्रीमती सुशीला देवी का जीवन नरकमय कर रखा था परन्तु उन्हें यह आशा नहीं थं कि उनकी बहू शारदा भी अपनी माँ के विष को वहन कर रही है। अन्य कोई व्यक्ति होता तो दुर्गा बात और स्थिति समाप्त कर उठ जाती परन्तु घर में ही घर के व्यक्ति से कैसे मुक्त हुआ जाए ? शारदा समझ रही थी कि उसकी बात सुनकर सासूमाँ को बुरा लगेगा और सच तो यह था कि शारदा चाहती भी थी कि सासूमाँ को बुरा लगे। जब कान्ता के बारे में बात चलाने तथा पक्का करने के लिए सासूमाँ रतलाम गयी थीं तो क्या उसे साथ में नहीं ले जाना चाहिए था ? खासकर तब तो और भी आवश्यक था जब कि वह भावी जमाई की बड़ी बहन होती थी। और जब तिलक तक कर आयी हैं तो अब सूचना का क्या अर्थ है ? यह तो वैसा ही हुआ कि करियावरों पर जाति में तेड़ा [निमंत्रण] दिया जाता है, बस ! चूंकि वह बहू होती है इसलिए तेड़ा दो दिन पूर्व मिल गया। भला काकी [श्रीमती सुशीलादेवी द्विवेदी] के सामने उसकी क्या इज्जत रह गयी ? छोटी ननँद की शादी की बात चलने या बात पक्की करने—कभी भी तो बड़ी भावज [शारदा] को नहीं ले जाया गया, तो क्या उसकी कोई इज्जत रह गयी उन लोगों की दृष्टि में ?—सच तो यह था कि शारदा के मन में यह था कि अगर कान्ता और कृष्णशंकर का विवाह होना है तो वह शारदा की मर्जी से हो। वह अपनी काकी पर उपकार जताते हुए यह सम्बन्ध होने देती। भला इससे अच्छा अवसर और क्या हो सकता था ? जिस काकी से उसकी माँ की कभी नहीं बनी उनके लड़के से अपनी ननँद का रिश्ता वह बहुत अहसान जता कर ही करती। लेकिन सासूमाँ और 'बाबा' ने उसके सारे मन्सूबों पर पानी ही फेर दिया तो वह भड़क उठी।—

अपनी बात का वह असर सासूमाँ पर देखना चाहती थी कि हैसियत वाली बात पर जरूर कुछ कहेंगी कि क्या वह खुद उसी परिवार की नहीं है ? तब वह जवाब देगी कि कहाँ वह और कहाँ कृष्णशंकर। लेकिन जब देखा कि सासूमाँ मात्र चुप हैं तो वह खिसिया गयी परन्तु उसने हिम्मत नहीं हारी, बोली,

— मेरी बात आपको अजीब लगी होगी सासू माँ।

इस पर पूर्ण वितृष्ण हो दुर्गा उठ गयी। वह शारदा से कोई चर्चा नहीं करना चाहती थी क्योंकि अब चर्चा करना उसके स्तर पर उतरना होता और जो कि दुर्गा के लिए तो असम्भव ही था। माँ की ईर्ष्या बेटी में कैसे मूर्त होती है इसका ज्वलन्त प्रमाण शारदा थी। कृष्णशंकर जैसा सुशील, सुदर्शन लड़का अगर शारदा को अप्रिय हो सकता था तो उसका कारण केवल ईर्ष्या के और क्या हो सकता था ? शारदा नहीं चाहती थी कि जिस काकी से उसकी माँ की जीवन भर शत्रुता रही उनके लड़के का विवाह उस शुक्ल-परिवार में हो जिसमें कि वह बहू बनकर आयी है।

तभी तो उस रात लौटकर शारदा ने अपने पति को क्या नहीं कहा,

— सासू माँ और बाबा की तो इस भिखारी लड़के के लिए जैसे नाक चुई जा रही थी। मुन्जेदी करवट लेकर लेटे हुए थे। कल के एक जरूरी केस के बारे में आँखें बन्द किये

सोच रहे थे कि पत्नी ने यह अप्रत्याशित कहा तो बोले,
— क्या ? तुम क्या कह रही हो, मैं समझा नहीं ।
— मैं आपकी बहन कान्ता के सम्बन्ध में बात कर रही हूँ, कुछ समझे ?
— नहीं, तुम तो किसी भिखारी लड़के के....
— जी, वह कृष्णशंकर भिखारी नहीं तो और क्या है ? अपने मामा के यहाँ रोटियाँ तोड़ना, भीख माँगना ही तो है ।
— देखो शारदा ! तार को कभी इतना नहीं कसना चाहिए कि वह टूट जाए । तुम्हारी माँ और कृष्णशंकर की माँ से जेठानी-देवरानी के नाते जो भी सम्बन्ध रहा हो परन्तु कृष्णशंकर तो तुम्हारा भाई है । मुझे तो यह बहुत ही होनहार, सुशील लगता है । इस तरह की ओछी बात करके क्या तुम अपना ही अपमान नहीं कर रही हो ? तुम्हारे ही परिवार में कान्ता जा रही है तो तुम्हे खुश होना चाहिए या....तुम्हें तो उल्टे और भी उत्साह दिखाना चाहिए ।
— उत्साह दिखाना चाहिए...कभी मुझसे कुछ पूछा भी गया ? मैं तो बहू हूँ । कृष्ण-शंकर की बड़ी बहन लगती हूँ । क्या बात पक्की करते समय आपको नहीं ले जाया जाना चाहिए था ?

इस पर धूर्जटी सहसा हँस दिये । वह शारदा की सारी मनोग्रन्थि बूझ ले गये । बोले,
— तो यह कहो न कि माँ तुमको अपने साथ रतलाम नहीं ले गयीं तो अपना ही भाई भिखारी बता रही हो । क्या चरित्र है मनुष्य का भी ।

शारदा चरित्र की बात सुनकर ताव खा गयी ।
— देखिए, मेरा चरित्र क्या देखेंगे आप । बहुत 'माँ'-'बाबा', 'माँ'-'बाबा' करते हैं न देख लेना आपको इस घर की कानी कौड़ी मिल जाए तो मेरा नाम पलट देना ।
— मैं कहता हूँ तुम्हे इतनी हाय किस बात की है ? तुम्हे अपने माता-पिता का सब कुछ मिलने वाला है ।
— जी, यह तो मेरा अपना है । मुझे अपने घर से तो सभी कुछ मिला और मिलेगा भी पर मैं तो आपके घर की कह रही हूँ ।
— देखो शारदा ! ऐसा नहीं कि तुम्हारी बातों का मुझे या माँ-बाबा को पता नहीं है ।
— भला मैं भी तो सुनूं कि मैंने ऐसा क्या किया है !
— यार, पहले तुम ही बात बढ़ाती हो फिर टेसुए बहाने बैठ जाती हो ।
— हाँ, विवाह के चार-पांच वर्ष क्या हो गए हैं अब तो मुझमें ही सारे दोष उजागर होने लगे हैं । मैं तो वन्ध्या हूँ, निपूती हूँ । भला मेरे माता-पिता ने इतना दान-दहेज न दिया होता तो मेरे जैसी भद्दी से कौन विवाह करता...मैंने ही जात-बिरादरी से कहा कि मेरे दायजे (दहेज) का सारा सामान सास ने दाब लिया.... ठीक है....जब मैं इतनी बुरी हूँ और आपकी माँ ऐसी गुणी हैं तो फिर....तो फिर....

और तब उस रात धूर्जटी का सोना हराम हो गया था । सामान्यतः शारदा को भी किसी

बात के लिए मनवाना कठिन ही होता है तब भला इस प्रकार रोते-बिफरे रूप में सम्हालना तो असम्भव ही था।

शारदा तीन-चार बनारसी साड़ियाँ पलंग पर रखते हुए बोली,

— कौन-सी ठीक रहेगी ?

— मेरा ख्याल है कि इस तरह तुम एक घंटे में भी तैयार नहीं हो सकती।

— तो मेरा वहाँ काम ही क्या है ? सारा काम-काज तो आपकी मामीजी ने सम्हाल ही रखा है आपकी मामी जी के अलावा और कोई आपकी माता जी से कुछ पूछने जाए तो या तो जवाब ही नहीं देंगी या फिर 'गोविन्द की बहू से पूछ लो।'.... 'गोविन्द की बहू को सब पता है'—अरे गोविन्द की बहू आपकी लाडली होगी, दुनिया भर उससे पूछने जाए, यह कहाँ की बात हुई ?....घर हमारा है कि गोविन्द की बहू का ?....पता नहीं, अगर सगा भाई होता तो क्या होता, शायद उसकी बहू के तो सबको तब तलवे ही चाटने पड़ते अरे, आपको ऐसी ही प्यारी है गोविन्द की बहू तो अपने गले में ताबीज बनाकर टाँग लें तो हमारी तो जान छूटे।....लोग समझते हैं कि आप घर की बहू हैं तो पूछते हैं—यह कैसे होगा ? वह कहाँ है ? ....और आप हैं कि मुँह बा रहे हैं। अपने ही घर में सासजी की कृपा से परायी का मुँह ताकना पड़ता है...तो हेठी किसकी होती है ?....दुनिया नहीं पूछेगी कि ...क्यों बहू ! भंडार की ताली तुम्हारे पास न होकर गोविन्द की बहू के पास क्यों है ?—गोविन्द की बहू क्या हुई जान की आफत हुई।

इस पर धूर्जटी बोला,

— तुम चाहे जो कहो पर मैं यह जानता हूँ कि माँ कभी भी सम्बन्धों और अधिकारों में कोई घपलेबाजी नहीं होने देती हैं।

ताव खाते हुए शारदा बोली,

— बहुत माँ का पक्ष ले रहे हैं तो फिर यह बताइए सासूमाँ के बाद विवाह का सारा दायित्व किसके हाथों में होना चाहिए था ?

— तुम्हारे।

— तो फिर यह गोविन्द की बहू कौन है ?

— देखो शारदा ! तुम सीमा का अतिक्रमण कर रही हो।.मामी के बारे में इस तरह ऊल-जलूल ढंग से बातें करना मुझे नहीं पसन्द है। हो सकता है कि मामी तुमसे आयु में छोटी हों परन्तु पद में बड़ी हैं।

— पद में नहीं, साक में बड़ी हैं।

— भैया ! मैं क्या भगवान भी तुमसे नहीं जीत सकता।

— कर्कशा हूँ न।....जनाब ! आपकी माताजी, जो सबके सामने मेरी कोई दिवा

नहीं रहने देना चाहतीं उसे मैं कभी बर्दाश्त नहीं कर सकती। जो पराया है, वह पराये की तरह आये, बैठे और रास्ते से लगे। सब पता है मुझे आपके इन मामा जी के बारे में। लाखों की सम्पत्ति डकार कर बैठे हैं। आप लोगों का हक मार कर बैठे हैं। इतना सब, जब सेंत-मेंत में ही मिल गया है तो इस घर में चाकरी भी नहीं बजाएँगे? आदमी मीठे के लिए ही जूठा खाता है—ऐसे सीधे नहीं हैं दोनों—बड़े आये मामा-मामी !!

और कपड़े उठाकर जिस भाव से शारदा तैयार होने गयी। उसमें म्यान से बाहर निकली सूँती तलवार की लपक और लचक दोनों ही थी।

दरवाजे पर बरात क्या लगी हल्ला मच गया। स्त्रियों-बच्चों से दरवाजा उफना पड़ रहा था। शारदा ने देखा कि उपस्थितों में गौरा नहीं है। वह समझ गयी कि दहेज वाले कमरे में ही सहेजने-समेटने में लगी होगी। न जाने क्या सोचकर उसने नाइन से कहा कि जाओ, मामीजी को कहो कि एक मिनिट के लिए यहाँ बुलाया जा रहा है। नाइन जब बुलाने गयी तो गौरा सच ही गहनों-कपड़ों को सहेजने में लगी थी उसे पता था कि पूरा घर इस समय खिंचकर द्वार पर बारात की अगवानी मे पहुँचा हुआ है। वह समझ न पायी कि ऐसा क्या आ गया जो एक मिनिट के लिए बुलाया है। वह इस पसारे को छोड़कर कैसे जाये! कमरे में ताला लगाये तो देर होगी अतः उसने सोचा कि दरवाजे उढ़का दे, अभी एक मिनिट में तो लौटना ही है। गौरा ने सोचा कि उसे दुर्गा दीदी ने ही बुलाया होगा, जबकि वह वर के गले में दुकुल डालकर वर को घर में प्रविष्ट करने पर लगी थीं। चारों ओर शोर ही शोर था। वह कुछ समझ नहीं पायी कि किससे पूछे। देर होते देख उसे असुविधा भी हो रही थी अतः इसने किसी प्रकार दीदी के कान के पास मुँह लगाकर पूछ ही लिया कि उसे क्यो बुलाया था? परन्तु दुर्गा अपनी व्यस्ता में केवल सिर हिलाकर रह गयी कि नहीं उसने नहीं बुलाया। गौरा कुछ समझ नहीं पायी और वह लौट पड़ी। लौटने पर उसने देखा कि कमरे की दालान के सिरे पर जीने की ओर शारदा तेजी से जा रही थी, पर उसने इस ओर ध्यान नहीं दिया और वह फिर काम में बझ गयी।

जब दहेज का सारा सामान गिनवाया तथा लिखवाया जा रहा था तो दुर्गा ने गौरा से पूछा,

— गौरा ! यह चाँदी का पानदान कहाँ है ?

— यहीं तो था।

— देखो, किसी चीज के नीचे होगा।

और गौरा हैरान थी कि आखिर चाँदी का पानदान गया कहाँ ? उसे बराबर लग रहा था कि जैसे अभी थोड़ी देर पहले उसने उसे देखा है। दुर्गा की भी समझ में नहीं आ रहा कि पानदान कहाँ चला गया ?

— आज देखा था तुमने ?

भला गौरा क्या कहे, कैसे कहे कि आज देखा था। और आज अगर देखा था तो फिर कहाँ गया ? चौबीसों घंटे तो गौरा इस कमरे में ताला डाले रहती है। दूसरा कोई आता भी तो नहीं है, इसमें तब ?....आखिरी बार पानदान उसने कब देखा था ?... हाँ, याद आया जिस दिन बरात आयी थी तो वह इसी पानदान को ही तो सहेजने में लगी थी कि वह तब बुलाये जाने पर यही कोई दो-चार मिनिटों के लिए कमरा खुला छोड़कर चली गयी थी और जब लौटी थी पानदान के बारे में बिल्कुल भूल कर वह दूसरी-दूसरी चीजों को ठीक करने में लग गयी थी।....तो क्या उस बीच कोई आया था ?....लेकिन कोई कौन ?....उसे किसने बुलवा भेजा था यह तब भी समझ में नहीं आया था। हाँ, नाइन बुलाने आयी थी।

— उस दिन द्वाराचार के दिन नाइन के हाथ किसने बुलवाया था ?

— मैंने तो नहीं। पर तुम यह क्यों पूछ रही हो ?

— मैं आती हूँ।

और गौरा नाइन की तलाश में कमरे से बाहर निकली। नाइन अभी खाना खाकर अपनी जूठी पत्तल बाहर फेंकने के लिए जा ही रही थी कि गौरा ने पूछा,

— सुनो, उस दिन जो तुम मुझे बुलाने आयी थी, तो किसने तुम्हें भेजने के लिए कहा था ?

नाइन थोड़ी सकपकायी,

— कौन दिन बहू ?

— जिस दिन बरात चढ़ी थी।

— अब हम ठीक से तो नहीं बता सकते बहू ! पर शायद धुर्जटी की बहू ने बुला लाने के लिए कहा था।

गौरा सुनकर सन्नाटे में आ गयी और उसे वह दृश्य याद आ गया कि उस समय, जिस समय सारी औरतें बरात के लिए टूटी पड़ रही थीं तो यह शारदा, भीतर क्यों आयी थी।....क्या वही गयी थी कमरे में....वह ऊपर कहाँ जा रही थी और जाने में एक प्रकार की व्यग्रता पीछे से भी अनुभव हो रही थी....लेकिन क्या यह सम्भव है ?....नहीं, वह भला ऐसा क्यों करने लगी ?....यह भी तो हो सकता है कि सूना कमरा देखकर नाइन ही गयी हो....लेकिन नाइन तो अपने काम में लग गयी होगी....तो फिर...दुर्गा दीदी को क्या बताए कि पानदान कहाँ है ? लौटी गौरा को परेशान देखकर दुर्गा बोली,

— अरे छोडो, यहीं कहीं होगा, मिल जाएगा,
और दुर्गा तथा दूसरे लोग तो काम में लगे रहे परन्तु गौरा के मन में फाँस चुभती रही।

दूसरों के लिए भले ही बात आयी-गयी हो गयी होगी परन्तु गौरा को चैन नहीं था। गौरा ने कानों-कान किसी को खबर न लगे और मौके पर पानदान भी दिया जा सके इसके लिए उसने अपने पति से परामर्श ही नहीं किया बल्कि बाध्य किया कि बिल्कुल वैसा ही दूसरा चुपचाप यह ले आएँ। चूँकि सारे सामान की खरीददारी के समय वह दुर्गा दीदी के साथ थी। जिस कसेरे की दूकान से वह पानदान खरीदा गया था वहाँ बिल्कुल वैसा तो नहीं था परन्तु बहुत-कुछ मिलता-जुलता दूसरा पानदान अवश्य था। गौरा पति के साथ गयी और बात की बात में दूसरा ले आयी। काम की हड़बड़ी में दुर्गा को पूरी तरह समझ में नहीं आया कि अभी तक जो पानदान कहीं नहीं मिल रहा था वह सहसा कैसे मिल गया। उसे कुछ खटका अवश्य हुआ परन्तु मौका नहीं था कि उस पर कुछ बात-बहस की जा सके। सोचा कि जब सारा काम निबट जाएगा तब देखा जाएगा। परन्तु इतना अवश्य लगा कि कुछ गड़बड़ी अवश्य हुई है, पर क्या? जिसे वह तत्काल नहीं जान सकी।

रात को बिस्तरे में पड़े-पड़े गौरा को नींद नहीं आ रही थी। कई दिनों से काम की थकावट तो ऐसी थी कि सोते ही नींद आ जानी चाहिए थी पर बारम्बार उसकी आँखों के सामने दूर दालान में तेजी से सीढ़ियाँ चढ़ती शारदा की पीठ घिर उठती थी। उसे लगता कि जैसे उसकी पीठ पर स्पष्ट लिखा हुआ था—पानदान !! जिसे काम की व्यस्तता में वह उस समय नहीं पढ सकी थी। यदि कमरे में घुसते ही उसे जाने के पूर्व का काम याद आ जाता तो तुरन्त पानदान पर ध्यान जाता और तब वह निश्चय ही शारदा के पीछे-पीछे जाती। हालांकि स्थिति विषम ही हो जाती! वह जानती है कि शारदा उसे फूटी आँख नहीं देखती है। हमेशा शारदा की आँखों में, बातों के लटके में एक अवमानना का भाव लिखा मिलता। और वह तरह दे जाना ही उचित समझती थी। अपनी ओर से वह कभी शारदा को न तो कोई काम कहती और न ही किसी प्रकार का आदेश देती, भले ही दुर्गा दीदी ही ने उसे ऐसा कहने-सुनने के लिए क्यों न कहा हो। शारदा ने अगर कोई काम कर दिया तो ठीक और नहीं किया तो उसके लिए कोई उलाहना भी नहीं दिया होगा। अपनी ओर से वह शारदा के साथ हमेशा सहज व्यवहार ही करती थी पर वह जानती है कि शारदा उसे हमेशा तोलती दृष्टि से ही लेती तथा देखती है।

गोविन्द को शायद नींद आ गयी थी परन्तु किसी कारण जब नींद टूटी तो देखा कि गौरा जाग रही है, तो पूछा,

— तुम अभी सोयी नहीं ?
— हाँ, नींद नहीं आ रही है।
— क्या वही सब सोच रही हो ?
— हम लोगों के पास सोचने के लिए बड़ी बातें कहाँ से होंगी !
— छोड़ो, जिसने जो किया वह जाने।
— परन्तु दीदी क्या सोचेंगी ?
— गौरा ! एक बात तुम हमेशा के लिए गांठ बांध रखो कि दीदी कभी तुम्हें या किसी को भी गलत नही समझेंगी।
— मुझसे वह पूछेंगी जरूर, तो मैं क्या बताऊँगी ?....और अगर बताती हूँ तो उनका भी शक शारदा पर ही तो जाएगा और जब शारदा को मालूम पड़ेगा तो वह नहीं सोचेगी कि मैंने उसके विरुद्ध सास के कान भरे !
— तुम स्त्रियों का संसार भी कमाल है।
— आप बात नही समझ रहे हैं।
— देखो गौरा ! मैं नहीं समझता कि यह पानदान-काण्ड चर्चा का विषय बनेगा और अगर दीदी पूछें तो तुम हाँ भर कर ही मत देना कि यह वह नहीं था।
— श्रीमान जी, यह घर-परिवार की बात है, अदालत की नही जो आप मुझे गवाह की भाँति सिखा रहे है।—आप देख नहीं रहे थे कि दीदी ने उस व्यस्तता के बीच भी उस पानदान को उड़ती नजरों से भाँप लिया था कि यह वह नहीं है। वह तो काम की आपाधापी और बरात की विदा आदि के मारे कुछ बात नहीं कर पायीं परन्तु जैसे ही समय मिलेगा वह इस बारे मे न उगेरें [आरम्भ करें] तो मेरा नाम पलट देना।—यह ठीक है कि वह किसी से कुछ नही कहेंगी पर वह सच्ची बात जानकर ही रहेंगी।
— इस धूर्जटी और इसकी बहू दोनो का व्यवहार कई बार समझ में नहीं आता। ऐसी नादानी करने से शारदा को क्या मिलेगा ?... शायद सोचा होगा कि तुम्हें बदनामी मिले।

इस पर गौरा को हँसी आ गयी, बोली,

— बड़ी देर बाद समझ मे आयी आपके। चलिए, बहुत बुरे वकील नहीं साबित होंगे।
— इतने पास का रिश्ता है कि न निगलते ही बनता है न उगलते।—मेरा ख्याल है कि तुम्हारी सारी पढ़ाई-लिखाई औरतों के इस मायाजाल मे कोई काम नहीं आ रही होगी।
— मुझे तो बल्कि यह लगने लगा है कि स्त्रियों को पढ़ाया ही नहीं जाना चाहिए। शायद स्त्री कभी अपने छोटेपन से नहीं उबर पाती।
— हताश होने में कैसे काम चलेगा ?—तुम क्या सोचती हो कि पुरुष ओछे नहीं होते ? मैं तो यह सोचता हूँ गौरा ! कि जब तक व्यक्ति का मानसिक विकास

- नहीं होता तब तक वह हमेशा टुच्चेपन, ओछेपन, क्षुद्रता करने के लिए बाध्य है; स्त्री कोई अपवाद नहीं है। हटाओ इन बातों को। व्यक्ति को अपना आचरण और चरित्र ठीक रखना चाहिए।

और गोविन्द का ध्यान जैसे ही विचारों से हटकर पत्नी की ओर गया तो देखा कि वह कैसे मुग्धभाव से देख रही है। दोनों कहीं अन्तर में प्रसन्न हो उठे।

जब शारदा ने दूसरा पानदान देखा तो वह चकित रह गयी, यह तो लगभग वैसा ही था, क्या वही है ? वह तो अपने हाथों पानदान को ले जाकर छुपा आयी थी। उसकी कुल योजना यही थी कि पानदान चोरी या गायब हो जाने से गौरा पर कुछ तो लांछन लगेगा ही। उसे पानदान उठाते या ले जाते हुए किसी ने नहीं देखा, इतना वह जानती है। उसने तो पानदान एक भण्डारे मे छुपाकर रख दिया था और दूसरे जीने से निकल कर स्त्रियों की भीड़ में मिल गयी थी। उस पर किसी को शक हो ही नहीं सकता था। पर जैसे ही दूसरा पानदान वहाँ देखा तो वस्तुस्थिति उसकी समझ में कुछ आयी नही। इतना वह जरूर जानती थी कि यह वह वाला तो हो ही नही सकता था—तब यह दूसरा कब, कौन और कहाँ से लाया ? क्या ऐसे पानदान दो लाये गये थे ? लेकिन क्यों ? ऐसा हो नहीं सकता—तब ? क्या गौरा ने दूसरा पानदान उपलब्ध करवा दिया, लेकिन कैसे ?—मान लो ऐसा हुआ है तब तो गौरा को अवश्य लगेगा कि उसके बुलाये जाने में जरूर कुछ योजना रही होगी, तभी तो खास-तौर पर कहा गया था कि जल्दी से एक मिनिट के लिए बुलाया जा रहा है और गौरा हाथ का काम ही नहीं बल्कि कमरा भी खुला छोड़कर आयी थी। इसकी आशा शारदा को थी कि ऐसा हो सकता है। शारदा तब तक स्पष्ट नहीं थी कि उसने नाइन को भेजकर गौरा को बुलवाया है तो आखिर वह करना क्या चाहती है ? शायद वह गौरा को थोड़ी उलझन और अपनी सास के सामने थोड़ी विषमता में डाल देना चाहती थी ताकि इनके आपसी सम्बन्धों में दरार तो शुरू हो। उसकी इस समस्त कुटिल योजना के कई पक्ष थे। बरातियों मे तब दहेज को लेकर कुछ सुगबुगाहट हो और कालान्तर में इस बात को बतगड़ बनाया जा सकता है। गौरा जो कि मामूमो को बहुत चहेती बनी हुई है तो इस घटना से उनके मन में कुछ तो बीजारोपण होगा ही और तब इस बीज को सींचना कोई कठिन नहीं होगा। कल तक सेठो के यहाँ रोटियाँ बनाने वाली तथा मोल का सीना-पिरोना करने वाली की एक लड़की आज किस ठस्के से महल जैसे मकान मे रह रही है—न सास, न कोई कुछ कहने वाला सिर पर। एकमात्र वह

जो दीदी हैं भी, तो उन्हें कैसे वश में कर रखा है। अपने सामने किसी को कुछ समझती ही नहीं है जैसे। वह तो कहो कि इस घर की कृपा से गोविन्द जी की स्थिति बन गयी, नहीं तो वही कहाँ के कुँवर थे—बड़नगर के एक स्टाम्प-वेन्डर के तथा पागल माँ के लड़के थे। भला गौरा के अलावा और मिलता भी कौन? अब दो पैसे क्या हो गये हैं तो सारे ठाठ-बाट हो गये हैं। देखें कितने दिन?

पास में सोये धूर्जटी ने पानी माँगा। पानी पीते हुए पूछा,

— विवाह तो अच्छा हो गया। माँ, बाबा को अब सिर्फ मणि की चिन्ता और है।

— बाबा को हो सकता है मणि की ही चिन्ता होगी परन्तु हमारी सासूमाँ को तो लगता है अभी ढेरो चिन्ताएँ हैं।

— क्या मतलब?

— नाती-पोते नही होंगे क्या?

— नातियो की चिन्ता उतनी नहीं करनी पड़ती और जहाँ तक पोते-पोतियों का प्रश्न है....।

— बस, बस, मैं सब समझती हूँ। आप भी मुझे निपूती समझते हैं न?

— मैंने तो यह नही कहा। मैं जो कहना चाह रहा था कि पंचानन, चंद्रशेखर के भी अब विवाह हो ही जाएँगे बरस-दो बरस में तब घर पोत्रों से भर जाएगा।

— आप घर भरने की चिन्ता क्यो करते हैं। आपका घर भरने तो आपकी मामी जी आ ही गयी हैं।

— शारदा! मैं कभी यह नहीं समझ पाता कि तुम उस गरीब के पीछे क्यों पड़ी रहती हो।

— मैं क्या पीछे पड़ी रहती हूँ, जरा सुनूँ तो?

— मैंने सुना कि तुम इस बार कायदे से कुन्ती से भी नही बोली,

— पता नही अब आप मेरे बारे में क्या-क्या सुनने लगे हैं। हो सकता है आपने यह भी सुना होगा कि जो पानदान खो गया था उसे भी मैंने चुरा लिया, है न?

— अरे हाँ, यह पानदान वाला किस्सा क्या है?

— मैं क्या जानूँ। आपसे कौन कह रहा था?

— माँ-बाबा कुछ ऐसा ही बता रहे थे कि पानदान खो गया था, फिर मिल भी गया।

— जब मिल गया तो फिर किस्सा क्या हुआ इसमें?

— माँ को शायद ऐसा लगा कि यह पानदान यह नहीं है। बरात जिस समय चढ़ रही थी तब गौरा मामी शायद किसी के बुलाने पर एक मिनिट को सामान वाली कोठरी छोड़कर गयीं और पीछे से कोई आया और शायद ले गया।

— भला इतनी जल्दी कोई कैसे कोठरी में से चीज ले जाएगा? और फिर उस समय तो सब बरात की अगवानी मे लगे थे।

— भगवान जाने क्या हुआ, पर दूसरा लगभग वैसा ही, बल्कि माँ का कहना तो है कि इस दूसरे वाले को वह इसीलिए नही खरीद कर लायी थीं कि जरा से उन्नीस

बीस के फरक का कसेरा कुछ ज्यादा ही दाम मांग रहा था।

— तो इसका मतलब कि तुरत इस दूसरे को किसी ने उसी कसेरे के यहाँ से मँगवाया और स्थिति सम्हाल ली।

— जिसने भी ऐसा किया उसने बड़ी समझदारी की। ब्याह-शादी के घर में अब यह तो जाँच-पड़ताल होने से रही कि किसने पानदान उठाया। चाँदी का ही पानदान सही पर इतनी बड़ी चीज तो नहीं हो कही जा सकती थी कि उसके लिए लोगों से पूछताछ की जाती और रंग मे भंग होता। जिससे पूछते उसे ही बुरा लगता कि इनके घर क्या आए, चोरी का इल्जाम सिर पर।

— तो क्या यह दूसरा पानदान आपकी गौरा मामी ने मँगवाया ?

— अब मुझे क्या पता ? गौरा मामी ने थोड़ी देर बाद इतना ही कहा कि, लो यह मिल गया।

— मुझे तो इसमें दाल मे काला दिखता है।

— तुम्हें तो एक न एक बात मिलनी चाहिए। अब तुम इस बात को गाती मत फिरना।

— जी वकील साहब ! इस दुनिया की जितनी समझ मुझे है उससे ज्यादा आपको नहीं है।

— तुमसे तो बात करना कठिन है।

— और क्या-क्या कठिन है, जरा सुनूं ?

— भाई अब इस आधी रात में तो मत लड़ो। सबेरे मुझे जल्दी ही कोर्ट भी जाना है। और दोनों निराश हो सो गये।

कान्ता के विवाह की आपाधापी में सच तो यह था कि न तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और न दुर्गा किसी को भी सिवाय काम के और किसी बात के लिए अवकाश ही कहाँ था ? तब भला कब और क्या बात होती ? सारा हिसाब-किताब, देन-लेन हो गया तो कई दिनों के बाद पति-पत्नी दोनों ही बड़े निपट अकेले में मिले। अब सारे बच्चे बड़े हो गये लगते थे। घर में जब लड़कियाँ थीं तो काम ही काम होता था, अब सिवाय मणि के और कौन था ? लड़कों की दुनिया ही अलग थी। वे लोग घर से ज्यादा बाहर ही रहते हैं। घर में तो नहालें-खालें तो भी गनीमत समझिए। जब तक छोटे थे, तो डाट-डपट कर पढ़ने-लिखने के लिए बैठाल दिया जाता था पर अब तो सबके पर निकल आये थे। कान्ता तो फिर भी विधु और शशि पर अंकुश

लगाये रहती थी पर अब मणि, जो कि सबसे छोटी है, किसी पर क्या नियंत्रण कर सकेगी ? सब दादा जो ठहरे । पहले कभी कान्ता के डर से खाने के लिए पानी भर कर बैठते रहे होंगे तो अब तो पाट लगाने, पानी भरने और खाना देने का सभी काम बेचारी मणि को ही करना पड़ेगा । पंचानन में वहीं वाला ठहराव आ चला है तो चन्द्रशेखर अपनी किताबें और यार-दोस्तों से ही फुर्सत नहीं पाता है । कैसे एक-एक दिन करके यह गृहस्थी बसी, फैली और सारे कोने भरे-भरे लगते थे । और तब एक दिन वह भी आया जब कुन्ती गयी । धूर्जटी ब्याह के बाद अपने रास्ते लग गया । और अब कान्ता भी गयी । एक दिन सब अपने-अपने मुँह चले जाएँगे । सबकी अपनी-अपनी गृहस्थी हो जाएगी । कोई कहीं होगा तो कोई कहीं । बहुत होगा तो नवरात्रों पर माता पूजने या ऐसे ही किसी काज-करियावर में सब जमा होंगे, और यह भी क्या ठीक कि सब जमा हो होंगे ...कैसे तब अपनी ही सन्तान के लिए हम तरस रहे होंगे परन्तु सन्तान को इसकी रंच भर भी परवाह नहीं होगी ।

यही सब सोचती दुर्गा बैठक में पति के सामने बैठी थी । भोजन हो चुका था । तभी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— मेरा ख्याल है कि कान्ता को भी घर और वर दोनों ही अच्छे मिले ।
— माधवजी को भी कृष्णशंकर बहुत अच्छा लगा ।
— अच्छा है अगर इन लोगों में आपसी समझ बनी रहे तो बहनों को एक-दूसरे के घर आने-जाने में सुविधा होगी । लेकिन एक बात है दुर्गा !
— क्या ?
— कृष्णशंकर के मामा बहुत समझदार हैं । किसी चीज के लेन-देन पर कोई बात नहीं की । आपने जो दिया उसे सिर आँखों पर लिया । सिचावनी [एक रस्म जिसमें विवाह के बाद वर-वधू को सम्बन्धी लोग नकदी और जेवर वगैरा भेंट करते हैं] में जो आया उसके बारे में न कोई पूछ-ताछ और न जिज्ञासा ही ।
— सब ठाकुर जी महाराज हैं । अपना क्या अब । लड़कियाँ अपने घर सुखी रहें तो हमें सुनकर प्रसन्नता ही होगी । कुन्ती को लेकर हमें भगवान की दया से कोई चिन्ता नहीं वैसे कान्ता को लेकर भी न हो, यही प्रार्थना है ।
— मेरा ख्याल है कि अब दो-तीन काम और रह गये हैं ।
— आज शाम को मुखिया जी आये थे । ठाकुर जी की सेवा के लिए इक्यावन रुपये दे दिये हैं ।
— अच्छा किया । जाति की पंचायत को भी तो दक्षिणा देनी पड़ेगी ।
— धरमशाला में देने के लिए एक बड़ी परात उस दिन देखी थी ।
— पचायत वाले तो कहते हैं कि पाँच बर्तन दीजिए ।
— छोटे पाँच बर्तन देने के बजाय बड़ी परात देना ठीक रहेगा ।
— ठीक है, बात करके देखा जाएगा ।

इसके बाद पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल थोड़े मुसकराने लगे । इस पर दुर्गा ने पूछा,

— क्या बात है ! मुसका रहे क्यों हैं ?
— एकदम न जाने क्या-क्या और कितना सारा कौंध गया । कितने पुराने लोग चले गये और नये आ गये । कैसे बराबर परिवर्तन होता जाता है । कभी पूरी तरह से न तो पुराना ही नष्ट कुछ होता है और न ही नया । नये और पुराने की गंगा-जमुनी धातु का मिश्रण ही यह संसार है । कभी अपने ही घर में कितने सारे लोग थे तो क्या लगता था कि ये लोग नहीं रहेंगे ? और जो नये आये हैं, क्या उन्हें हम उसके पहले जानते थे ! जो हमारा अविभाज्य था उसका अब कहीं पता नहीं है और जो सर्वथा अपरिचित थे आज वे हमारे अविभाज्य बन बैठे हैं ।....न जाने क्यों मुझे गौरा की सरलता हमेशा याद आती है ।
— सत्पात्र तो वह है ही, लेकिन यह किसी खास बात के सन्दर्भ से कह रहे हैं ?
— पता नहीं दुर्गा ! ऐसा लगता है कि यदि उसका विवाह गोविन्द से न होकर कहीं ऐसी-वैसी जगह हो जाता, तो क्या होता !
— मैं तो यह मानती हूँ कि उसका विवाह गोविन्द से क्यों नहीं होता ?
पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल कुछ आत्मस्थ भाव से बोले,
— हाँऽऽ, तुम ठीक ही कहती हो ।—मेरा ख्याल है कि अगर वह नहीं होती तो तुम पर इतना बोझ आ जाता कि विवाह के बाद तुम बिस्तरे पर दिखायी देती ।
— मैं नहीं जानती कि आपको कुछ पता है कि नहीं ।
— क्या ? किसके बारे में !
— यों देखो तो बात कुछ भी नहीं परन्तु ध्यान दो तो बहुत बड़ी बात है ।
— पहेली न बूझो, बात बताओ ।
— आप तो उस समय थे नहीं जब दायजे का सारा सामान गिनवाया-लिखवाया जा रहा था ।
— तो फिर ?
— आपको याद है, चाँदी का एक पानदान भी था ।
— हाँ, तो ? क्या....?
— नहीं, नहीं पानदान तो दिया ही गया पर मेरा ख्याल है कि पानदान को लेकर कुछ गड़बड़ किसी ने की ।
— तुमने तो बताया था कि उस कोठरी की जिम्मेदारी गौरा पर थी ।
— जिस समय बरात द्वार पर आयी, गौरा उस समय भी कोठरी में ही प्रबन्ध में रही होगी । पता नहीं किसने नाइन से मेरा नाम लेकर कहा कि जाओ उसे बुला लाओ, कि जरूरी काम है एक मिनिट का । उसने सोचा कि पता नहीं क्यों बुलवाया है ऐसे खड़े-खड़े । वह कोठरी बिना बन्द किये ही आयी । मुझसे उसने पूछा कि क्यों बुलवाया ? मैं कुछ समझी नहीं । मैं वर को लिये-लिये चल रही थी । मैंने सिर हिलाकर बता दिया कि नहीं बुलाया है । और वह लौट गयी । बस इतनी सी देर मे ही कुछ घटित हुआ ।

— यह दूसरा पानदान है, यह कैसे मालूम ?
— इसलिए कि मैं इस पानदान को कसेरे के यहाँ देख आयी थी। यह पानदान बड़ा भी था, अच्छा भी था परन्तु दोनों के दाम में अन्तर ज्यादा था इसलिए मैंने वह दूसरा वाला ही लिया था।
— पानदान की गड़बड़ी कैसे मालूम हुई ?
— जब मैंने गौरा से पानदान माँगा और वह यहाँ-वहाँ खोजने लगी तो मैं समझी कि कहीं रख दिया होगा, मिल जाएगा। इस बीच पता नहीं कैसे थोड़ी देर में गौरा ने वह दूसरा पानदान ऐसे ला रखा जैसे कहीं भूल से किसी चीज के नीचे या पीछे दबा रह गया था। मैंने अगर दोनों पानदान न देखे होते तो पहचान नहीं सकती थी।
— तुम्हारा मतलब कि गौरा ने तत्काल दूसरा मँगवाकर वहाँ रख दिया।
— हुआ तो यही है।
— तो वह पहला पानदान क्या हुआ ?....नाइन से पूछा था कि गौरा को बुला लाने के लिए उससे किसने कहा था ?
— पहली बार पूछने पर तो बता रही थी कि धूर्जटी की बहू ने उससे कहा था परन्तु बाद में वह कहने लगी कि उसे ठीक से याद नहीं कि किसने कहा था।
— गौरा से पूछा था ?
— उससे क्या पूछना था ?
— उससे पूछना तो चाहिए ही था कि उसने किसी को कोठरी में, कोठरी से बाहर निकलते या किसी और रूप में देखा हो।
— वह जानती भी होगी तो अब तो वह कभी भी नहीं बताएगी।
— लेकिन यह काम किसका हो सकता है ?
— वैसे तो यह बात बहुत छोटी है पर इसके पीछे जो मनोवृत्ति है वह खतरनाक है।
— कौन-सी मनोवृत्ति ?
— वही मानवीय द्वेष-भावना।
— पर अगर तुम उस व्यक्ति का नाम नहीं बताओगी तो इस सार्वजनिक सुभाषित को समझ नहीं पाऊँगा।
— आप तो बेकार में आदमी हुए।
— अब हो तो गया हूँ। इसे बदल तो सकता नहीं।
— नाइन ने पहली बार तो नाम बताया पर बाद में वह मुकुर गयी, क्यों ?
— तुम्हारा मतलब यह शारदा ने किया ? लेकिन शारदा भला ऐसा क्यों करेगी ?
— पुरुष कभी स्त्रियों के मायावी संसार को नहीं समझ सकता।
— चलो माने लेते हैं, तब ?

तभी दरवाजे की कल की आवाज हुई। विधु और शशि दोनों बाहर से लौटे थे। बातों में व्यवधान पड़ गया क्योंकि दोनों को भोजन देना था अतः दुर्गा उठ गयी।

विनोद मिल के फाटक के बाहर सड़क पर तम्बू-कनात तने थे। चारों ओर मजदूर यूनियन के लाल-झण्डे तथा कांग्रेस के तिरंगे झण्डे लहरा रहे थे। मिल का फाटक न केवल बन्द ही था बल्कि उस पर पुलिस का कड़ा पहरा लगा हुआ था। चारों ओर मजदूर यहाँ-वहाँ जत्थों में टहल रहे थे, बातें कर रहे थे। फाटक के सीखचों से मिल के भीतर की वीरानगी स्पष्ट दिखलायी दे रही थी। मिल की ऊँची सी चिमनी आकाश में जिस तरह से खड़ी थी उसमें भी एक प्रकार की उदासी बहुत स्पष्ट दिख रही थी। वैसे तो बोनस, वेतन और मँहगाई भत्ते की यह लड़ाई मजदूरों की अपनी थी। ऐसी लड़ाइयाँ यूनियनों की अपनी होती हैं और उनमें आम जनता तब तक बहुत रुचि नहीं लेती जब तक कि मार-पीट या गोली आदि न चले। उज्जैन वैसे भी औद्योगिक नगर नहीं था। यों दो एक मिलें अवश्य हो गयी थीं पर उज्जैन का चरित्र औद्योगिकता वाला नहीं था जैसा कि इन्दौर का था। इन्दौर, मालवे का मेनचेस्टर था। वहाँ की मिलें भी बड़ी और आधुनिक थीं। व्यवसाय का वह केन्द्र और मण्डी भी था। मालवे की रुई में अगर उज्जैन हिस्सा बँटा लेता था तो नीमाड़ की सारी रुई इन्दौर में ही खप जाती थी, इसलिए इन्दौर में ट्रेड-यूनियन का काम और जागरण व्यवस्थित था। वहाँ के मिल-मालिक बहुत मनमानी नहीं कर सकते थे लेकिन उज्जैन में स्थिति दूसरी थी। शायद मालिक-मजदूर की यह तनातनी इतनी लम्बी पहली बार ही उज्जैन में हो रही थी। इसमें निश्चय ही गिरिधर ठक्कर का बहुत बड़ा योगदान था। यूनियन के अलावा गिरिधर ठक्कर का सार्वजनिक-सभा का मंत्री होना भी इस संघर्ष को राजनीतिक स्वरूप दिये हुए था। वैसे तो यह लड़ाई आज एक माह से चल रही थी। शुरू के सात-आठ दिनों तक तो मालिकों ने न स्वयं और न अपने मैनेजर जाल साहब किसी के द्वारा मजदूरों की माँगों पर विचार ही नहीं किया। गिरिधर ठक्कर ने हरचंद

कोशिश की कि दोनों ही पक्ष बैठकर बातें कर लें और किसी उचित निर्णय पर पहुँच जाएँ ताकि मिल का काम भी हर्ज न हो और गरीब मजदूरों की आर्थिक हानि भी न हो। लेकिन मालिकों ने गिरिधर ठक्कर और प्रकारान्तर से मजदूरों के इस सदाशयी रुख को उनकी कमजोरी समझा। सेठ जी तथा मैनेजर मिल को पुलिस के जिम्मे सौंपकर बम्बई चले गये। इसका नतीजा यह हुआ कि जिन लोगों को एवजी में काम पर रोजाना बुलाया जा रहा था वे भी बेकार हो गये। इस प्रकार मजदूरों की काफी बड़ी संख्या इस हड़ताल और तालाबंदी के कारण कठिनाई अनुभव कर रही थी। उनके पास कोई जमा-पूँजी तो थी नहीं जो इतने दिन बैठकर खाते और शहर में सिवाय राज-मजदूरी के और काम हो ही क्या सकता था? जबकि राज-मजदूरी के काम में पहले ही मजदूरों की कौन कमी थी जो मिल के बेकार मजदूरों को भी काम मिल पाता। चन्दा और अनुदान कभी इतना हो ही नहीं सकता था कि सबको महीने भर बैठाल कर खिलाया जा सकता था। दो-चार दिन जरूर यूनियन की ओर से तथा सभा की ओर से थोड़ा बहुत आटा, चना, गुड़ या लैया किसी तरह बाँट कर काम चलाया गया परन्तु यह तो गर्म तवे पर बूँद का छन्न से बोलना जैसा ही था। रोज ही शाम को गेट-मीटिंग होती, धुंआधार भाषण होते, नारे लगते। गिरिधर ठक्कर के अलावा एक और यूनियन का कार्यकर्त्ता था जो बहुत तेज भाषण देता था—पन्नालाल आजाद, तब भी मजदूरों को शांत रहकर अपनी लड़ाई लड़ने के लिए रावल जी, गोविन्द आदि द्वारा समझाया जाता। शुरू-शुरू के दिनों में तो इस हड़ताल के प्रति मजदूरों में बहुत ही उत्साह था। मीटिंग के बाद जुलूस निकलते रहे। उज्जैन के भाँग-बूटी प्रेमियों के लिए नारे उछालती, झण्डे लहराती मजदूरों की यह भीड़ कुछ समझ में आती और कुछ नहीं भी। पर जब सेठ जी और जाल साहब मिल को पुलिस के हवाले करके बम्बई चले गये तो मजदूरों में सहसा निराशा घर करने लगी। गिरिधर ठक्कर मजदूरों की इस मनोदशा को सही रूप में समझ ले गये। वह यह भी समझ गये कि सेठ और मैनेजर जाल का बम्बई चला जाना मजदूरों पर मनोवैज्ञानिक असर डालने के लिए ही हुआ है। पुलिस के कब्जे में मिल के आते ही पुलिस ने मिल की ओर आने वाले सभी रास्तों पर मजदूरों के लिए पाबन्दी लगा दी। साथ ही एक-दो बार सूबा साहब [डिस्ट्रिक कलेक्टर] सूर्यवंशी मौके का मुआइना भी कर गये थे तथा शांति और सुरक्षा के नाम पर सभा, मीटिंगों और जुलूसों पर भी पाबन्दी लगा दी गयी। चूँकि इसके साथ ही १४४ धारा भी लगा दी गयी थी इसलिए मिल के गेट के सामने लोगों की भीड़ तो जमा नहीं हो पायी थी पर लोग एक-एक, दो-दो के रूप में घूमते रहते। यदि निष्क्रियता की यह स्थिति दो-तीन दिन और बनी रहती तो यूनियन की यह लड़ाई अवश्य निष्क्रिय और अप्रासंगिक सिद्ध होकर मजदूरों को पूरी तरह आत्म-समर्पण करने के लिए मजबूर कर देती। गिरिधर ठक्कर हवा का रुख पहचान रहे थे इसलिए उन्होंने भूख हड़ताल का ऐलान करवा दिया। ताँगे पर भोंपू लगाये पन्नालाल आजाद पूरे शहर में घूम कर ऐलान कर आया और मजदूरों की इस लड़ाई का उद्देश्य भी

समझा आया तथा लोगो को चेता आया कि शहर का प्रिय युवा-नेता गिरिधर ठक्कर मजदूरों के अधिकारो के लिए आज से अपने प्राणों की बाजी लगाने पर तुल गया है। अब या तो मालिको को झुकना ही होगा या गिरिधर ठक्कर को अपनी आहुति देनी होगी और अगर ऐसा कुछ हुआ तो उसकी सारी जिम्मेदारी पूंजीपति, मुनाफाखोर मिल-मालिको और उनसे साठ-गांठ करने वाले इस सड़े प्रशासन की होगी। अगर गिरिधर ठक्कर को अपने प्राण देने पड़े तो मजदूर अपने इस प्रिय नेता के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने में नहीं चूकेंगे।

भूख हड़ताल का आठवाँ दिन चल रहा था। शुरू के दो-चार दिनो तक तो प्रशासन ने भी इस अनशन का कोई नोटिस नहीं लिया। वह केवल दूर ही दूर से सब देख रहा था। चूंकि मजदूर यूनियन में थोड़ा-बहुत कम्यूनिस्टों का दखल था इसलिए प्रशासन का ख्याल था कि मिल-मालिक इसे कम्यूनिस्टो की हड़ताल कहलवा कर दवा देना चाहते हैं, वैसा करना आसान होगा परन्तु गिरिधर ठक्कर तथा प्रकारान्तर से रावल जी महाराज तक की सहानुभूति मजदूरो के साथ होने के कारण प्रशासन काफी दुविधा में था। अनशन के कारण मजदूरो में बढ़ता बिखराव ठहर गया था। आन्दोलन इस अनशन के कारण सहसा राजनीतिक स्वरूप ले बैठा। साथ ही प्रतिदिन गिरिधर ठक्कर का वजन कम होना तथा स्वास्थ्य पर असर पड़ना प्रशासन और मजदूर दोनो पर भिन्न प्रभाव डालने लगा। यूनियन के कई लोगो ने चाहा कि यह अनशन अलावा ठक्कर भाई के प्रतिदिन कोई न कोई और भी करे तो यह क्रमिक अनशन काफी दिनों तक चलाया जा सकता है। पर गिरिधर ठक्कर ने इसे नहीं माना। वह जान रहे थे कि क्रमिक अनशन मजाक बन कर रह जाएगा परन्तु एक व्यक्ति का अनशन एक सीमा के बाद मालिको और प्रशासन दोनों के लिए सिर-दर्द हो जाएगा। इस प्रकार के अनशन के द्वारा ही मजदूरो मे एकता, सकल्प-शक्ति बनी रह सकती है। इधर सार्वजनिक-सभा के मराठी-ग्रूप तथा कुछ अन्य लोगो ने सभा के मन्त्री की हैसियत से गिरिधर ठक्कर का इस प्रकार अपने को मजदूर आन्दोलन से जोड़ना तथा मलिको एवं प्रशासन पर नाजायज दबाव डालना कहाँ तक उचित है, इस प्रश्न ने लोगों में विषम स्थिति उत्पन्न कर दी। मजदूर, यूनियन एक तो कम्यूनिस्टो की है, दूसरे जब सभा की राजनीतिक गतिविधियों में कहीं मजदूरों का कोई काम शामिल नहीं है तब सरकार पर दबाव डालना क्या सभा के लिए उचित है? रावल जी महाराज, गोविन्द जोशी, परीख जी और दत्तात्रेय जोशी आदि का मजदूरों की मीटिंगो मे जाकर ऐसे भाषण देना जो सभा के घोषित कार्यक्रमों में कहीं नहीं आते, क्या उचित है? गिरिधर ठक्कर से उनके इस आपत्तिजनक तथा अनुत्तरदायी आचरण के लिए स्पष्टीकरण क्या नहीं माँगा जाना चाहिए? सार्वजनिक-सभा में वकीलो का जो तीसरा गुट था उसमें ही धुर्जटी था। सभा की इस मीटिंग में वह तो खुल कर कुछ नहीं बोला पर उसकी सहमति बराबर थी। मराठी ग्रूप ने तथा इस तीसरे ग्रूप ने सरकार को तार द्वारा सूचित कर दिया कि इन लोगों का इस लड़ाई से कोई सम्बन्ध नहीं है।

आज आठवां दिन था। नीबू का पानी गिरिधर ठक्कर ने लिया अवश्य परन्तु आज कुछ कमजोरी ज्यादा ही लगने लगी थी। फरवरी का महीना था इसलिए गनीमत यही थी कि मौसम बहुत सुखद था अन्यथा यदि गर्मियां होती तो गिरिधर ठक्कर की बेचैनी बढ़ जाती। मीटिंगें तो हो नही सकती थी अतः कार्यकर्ता, मजदूर पंडाल में आते और थोड़ी देर को बैठ कर चले जाते। बहसें होने लगती। सबके पास अपना ज्ञान और तर्क सभी कुछ होता था। पंडाल में वैसे तो बिजली थी पर सावधानी के लिए एक पेट्रोमैक्स भी जला करता था। रोज शाम को गोविन्द और गौरा डाक्टर सामन्त को लेकर आते थे। थोड़ी देर पहले ही रावलजी महाराज, दत्तात्रेय जोशी के साथ सभा की मीटिंग के बाद सीधे यहीं चले आये थे। गिरिधर ठक्कर को रोज से अधिक कमजोर देखा तो रावलजी को भी चिन्ता हुई। आसपास वालों से वह परामर्श करने लगे कि ऐसे कैसे काम चलेगा और कितने दिन ? प्रशासन और मिल-मालिक तो लगता है कि कानों में तेल डाले बैठे हैं। इस पर पन्नालाल आजाद ने जवाब दिया,

— अगर हम इन लोगों को तेल डाले बैठे रहने देंगे तब न बैठे रहेंगे ?

— क्या ठक्कर भाई ने अनशन का निर्णय जल्दबाजी में नही लिया ?

इस पर पन्नालाल आजाद लगभग भड़कते हुए बोला,

— जो बात हो चुकी अब उस पर सोचने से लाभ ? ठक्कर भाई ने, मैं तो कहूँगा कि जो यह महत्वपूर्ण कदम उठाया वह उज्जैन के मजदूर-आन्दोलन के लिए गर्व की बात है।

रावल जी ने आजाद से बातें करना व्यर्थ समझा तो उन्होंने जानने के लिए सभी से पूछा,

— सेठ जी को इसके बारे मे मालूम तो हो ही गया होगा।

इस पर किसी ने कहा,

— रावल जी ! सूबा साहब का तार सेठ जी के नाम गया है और उन्हें बुलाया गया है।

— इसका मतलब तो हुआ कि प्रशासन हरकत में आया।

पन्नालाल आजाद को रावल जी का यह ठण्डापन सहन नहीं हो रहा था,

— प्रशासन हरकत मे आये या न आये। हम सरकार और सेठ दोनों को बाध्य करेंगे कि वह मजदूरों की सारी मांगें माने। ठक्कर भाई का यह अनशन, मजदूरों की यह बेकारी कोई तमाशा नहीं है। जनशक्ति के सामने राजशक्ति को झुकना होगा। जब रूस का जार नहीं टिक सका तो यह सींधिया और अंग्रेज टिके रहेंगे ? यह मजदूरों की ही लड़ाई नहीं है, यह आम जनता की लड़ाई है, यह रोजी-रोटी की लड़ाई है। उज्जैन का मजदूर अकेला नहीं है सारी दुनिया के मजदूर ...

सभी लोगों ने देखा कि गोविन्द और गौरा न केवल डाक्टर के साथ ही आ रहे हैं बल्कि उनके पीछे-पीछे सूबा साहब सूर्यवंशी तथा शहर कोतवाल नरसिंह राव जाधव

चले आ रहे हैं। सूबा साहब को आया देखकर लगभग सभी लोग खड़े हो गये। ठक्कर भाई के सिरहाने बैठे रावल जी महाराज को भी जब उठते देखा तो सूर्यवंशी ने उन्हें कंधों से दबाते हुए कहा,

— यह आप क्या कर रहे हैं ?....आज कैसी तबीयत है ?

डाक्टर सामन्त ठक्कर भाई की जाँच में लगे थे। रक्तचाप, तापमान तो देखा ही जाता है साथ ही 'स्टूल' के बारे में भी पूछ-ताछ होती है। यही सब परीक्षण हो रहा था कि सूर्यवंशी रावल जी महाराज को एक तरफ ले जाकर बोले,

— आप लोग तो बैठे-बिठाये यह सब कर बैठते हैं और मुसीबत हम लोगों की हो जाती है।...आप नहीं समझते कि इस अनशन की कोई जरूरत नहीं थी।

— सूबा साहब ! जब न्याय की बात भी कोई न सुने और अपना प्रतिष्ठान पुलिस के हवाले करके भाग जाए तो मजदूरों को क्या सोचना चाहिए ? ठक्कर भाई को अपने से कोई दुश्मनी तो है नहीं कि आमरण अनशन की घोषणा कर दी। क्या मजदूरों ने नहीं कहा था कि दोनों पक्ष बैठ जाएँ और विचार-विमर्श के द्वारा सारी बात तय हो जाए।

— कम्यूनिस्टों के काम का यही तरीका है।

— पर मैं तो कम्यूनिस्ट नहीं हूँ, ठक्कर भाई तो कम्युनिस्ट नहीं हैं। हम लोग तब इस लड़ाई में कैसे शामिल हुए ? क्या मजदूरों के साथ अगर अन्याय हो तो उसे कांग्रेस या सार्वजनिक-सभा को अपने हाथों में नहीं लेना चाहिए ? और अगर आप नहीं लेंगे तो कोई तो मजदूरों की लड़ाई के लिए आगे आएगा ही, अब उसे आप चाहे तो कम्यूनिस्ट कह लें या सोशलिस्ट।—और इन राजनीतिक पार्टियों के आपसी...

— रावल जी ! बात तो मैं भी समझता हूँ। मैंने तो सिर्फ इसलिए कहा कि इसमे सार्वजनिक-सभा की जो राजनीतिक इमेज है वह...

रावल जी को हँसी आ गयी,

— सूर्यवंशी जी ! आप क्या कहना चाहते हैं वह भी समझता हूँ और किसकी बात आपके माध्यम से बोली जा रही है वह भी मैं समझता हूँ।—हाँ, यह बताइए कि आपने सेठ जी को जो तार किया उसका कोई जवाब आया ?

— आपको कैसे मालूम ?

— शायद किसी ने बताया था।

सूर्यवंशी गम्भीर हो गये, बोले,

— वे लोग कल सवेरे यहाँ पहुँच रहे हैं। अच्छा हो यह झगड़ा बढ़े नहीं। हमारी अपनी तो साँसत है ही पर रावल जी ! कम से कम आप लोगों को तो अपने सरकार को अंग्रेजों की दृष्टि में किसी विषमता में नहीं डालना चाहिए।

— लेकिन यदि ऐसी बात है, जो कि मैं नहीं समझता कि ऐसी है फिर भी, तो आप मिल मालिकों को क्यों नहीं कहते कि वे मजदूरों की जायज माँगें मान लें। लड़ाई

को इस स्थिति मे सेठो ने पहुँचाया या मजदूरों ने ? आप चाहते हैं कि मैं यह समझाऊँ कि...

रावल जी की नाराजगी देखकर सूर्यवंशी सहम गये,

— नहीं, नही मेरा मतलब था कि ...

तब तक इन दोनों को बुलाने पन्नालाल आजाद आ गया।

सूबा साहब सूर्यवंशी के चले जाने के बाद डाक्टर भी चले गये। गिरिधर ठक्कर को कमजोरी अवश्य आ गयी थी परन्तु अभी कोई विकार या दोष नही था। वह निस्तेज नही, चैतन्य लग रहे थे। बहुत ही धीमी आवाज में रावल जी से पूछा,

— आप से सूर्यवंशी जी क्या बात कर रहे थे ?

— बता रहे थे कि सेठ कल सबेरे आ रहे है।

— और कोई खास बात ?

— नही, कोई खास बात नही।

इस पर गिरिधर ठक्कर ने कहा,

— सुना है सभा के कुछ लोग किसी विशेष प्रयोजन से सूर्यवंशी जी से मिले हैं पिछले दिनों सरकार को तार भी भेजे हैं।

— हां, आज की मीटिंग से भी स्पष्ट था और सूर्यवंशी जी की बातों में भी दूरागत संकेत था।

— आज मीटिंग में क्या हुआ ?

— अरे राजनीति में ऐसे अरोप, आपत्तियां तो चलती ही रहती हैं। आपत्ति करने वाले भी जानते हैं और सुनने वाले भी वास्तविकता जानते हैं।—मजदूरो की लड़ाई से सभा के सदस्यों का क्या लेना-देना ! भल पूछो इन भलेमानुसो से कि जब आप आदमी की लड़ाई, चाहे वह आर्थिक हो या राजनीतिक, अगर आप उससे नही जुड़ते हैं तब आप क्यो हैं ? गांधी जी भी तो अहमदाबाद में मजूरों की यह लड़ाई लड़ चुके हैं। बरडोली मे सरदार ने किसानों की क्या लड़ाई नही लड़ी ? राजनीति किस चीज में नहीं है ? हर मोर्चे पर लड़ना होगा। कम्यूनिस्टों के लिए तो सिर्फ मजदूरों—का ही एक मात्र विश्वसनीय और क्रांतिकारी वर्ग है पर हम यह भेद नहीं करते। क्या मजदूर समाज का अंग नहीं है ?

सभी ने देखा कि रावल जी महाराज जो सदा शान्त रहते हैं उत्तेजित थे। जब भी इनके घर जाओ या तो तकली-चरखा कातते मिलेंगे या कोई न कोई सामाजिक कार्य। भाषण भी शान्त और संयम के साथ ही देते हैं। कृशकाय देह का यह लम्बा व्यक्ति अपनी खादी की भूषा में विनय की मूर्ति लगता है परन्तु इस समय वह जिस प्रकार बोल रहे थे उसमें आक्रोश लग रहा था तथा लग रहा था कि यह कहीं अन्यत्र बैठे हैं

और अपने विरोधियों को उनके आक्षेपों का उत्तर दे रहे हैं। यह सब देखकर उपस्थितों में, पन्नालाल आजाद या यूनियन के दो एक कम्यूनिस्ट कार्यकर्ताओं को छोड़कर सबको रावल जी का यह बोलना सुहा रहा था।

तभी पन्नालाल आजाद ने एक वाक्य उछाला,

— मजदूरों की यह लड़ाई अन्तर्राष्ट्रीय लड़ाई है। मजदूरों को अब कोई ताकत रोक नहीं सकती महाराज!

लगभग बीच ही में टोकते हुए गिरिधर ठक्कर ने कहा,

— क्या बेवक्त की शहनाई बजाने बैठ जाते हो पन्नालाल! बड़े-छोटे का भी कोई लिहाज नहीं। चौबीसों घण्टे क्रान्ति, लड़ाई। ऐसी बातें करना जितना आसान है वैसा करना नानी-दादी याद दिला देगा।—तुम जैसे ही लोग किसी दिन कम्यूनिस्टों को बदनाम कर देंगे। क्रान्ति न हुई, घर की मुर्गी हुई।

किसी को भी अपेक्षा नहीं थी कि पन्नालाल आजाद की बात पर ठक्कर भाई इतने और ऐसे बिगड़ उठेंगे। धीरे-धीरे लोग खिसकने लगे। जब केवल कुछ आत्मीय ही रह गये तो गौरा बोली,

— दादा! आप में यही तो बुरी आदत है। एक तो अनजान करेंगे उस पर बोलेंगे भी जैसे भाषण दे रहे हो। ताकत तो है नहीं, संकल्प-शक्ति से जितना चाहिए लड़ लीजिए।

गिरिधर ठक्कर को सच ही लगा कि वह पन्नालाल आजाद पर व्यर्थ उखड़ गये। क्या वह ऐसी ही बातें हर समय नहीं करता है? पर शायद गिरिधर ठक्कर को लगा कि यह रावल जी जैसे नेता और व्यक्ति से जबान लड़ा रहा है, अतः रोकना पड़ा। पर जब गौरा ने उन्हें झिड़का तो उन्हें बहुत अच्छा लगा। उन्होंने रावल जी से पूछा,

— आप क्या सोचते हैं कि ये सेठ लोग मजदूरों से बातें करेंगे।

— *मेरा तो ख्याल है करेंगे।*

— पर कुछ लोग नहीं चाहते कि मजदूरों के सामने मिल-मालिक झुकें।

— अपेक्षा है तो झुकना ही होगा। केवल निरपेक्ष ही किसी के सामने नहीं झुकता। *और किसी की न्यायसंगत बात स्वीकार करना झुकना नहीं होता।*

— लेकिन कुछ लोग मामला कोर्ट में ले जाने के लिए मालिकों को भड़काना चाहते हैं।

इस पर रावल जी हँसते हुए बोले,

— भाई, अगर सारे मामले आपसी सदाशयताओं से सुलझ जाएँ तो बेचारे वकीलों का धन्धा कैसे चले? और, तब तो और भी जरूरी हो जाता है जब नेता वकील भी हों।

इस पर गोविन्द ने कहा,

— पर वकील तो गांधी जी भी थे।

— गांधी जी वकालत जरूर करते थे पर, वकील की तरह नहीं, मनुष्य की भांति,

तभी तो उन्हें महान नेता तो कहा जा सकता है पर मोतीलाल नेहरू या सप्रू की तरह महान वकील तो नहीं।—हाँ, गिरिधर जी !

— जी !!

गिरिधर ठक्कर ने हमेशा रावल जी से कहा होगा कि आप 'गिरिधर जी' न कहा करें। जाति के दूरागत सम्बन्ध की दृष्टि से भी तथा वैसे भी रावल जी अग्रज हैं परन्तु रावल जी अत्यन्त कौल-काँटे से दुरुस्त व्यक्ति थे। किसी के घर यदि मेहमान होकर जाते थे तो न केवल अपना च्यवनप्राश और शहद ही साथ में ले जाते थे परन्तु हाथ की चक्की की पिसी थूली [दलिया] तक रखते थे। इसमें अवमानना करने का भाव नहीं होता था बल्कि दूसरे को कोई असुविधा न हो केवल यही सौजन्य होता था। कभी दो धोती और दो कुरते से अधिक कोई कपड़ा नहीं रखा होगा क्योंकि वह इतने भर का ही सूत कात पाते थे। अपनी आवश्यकताएँ इतनी कम कर रखी थीं कि तेल के नाम पर सरसों का तेल लगाते थे और सप्ताह में एक दिन साबू [साबुन] से कपड़े धोते थे, पर सब कुछ अपने हाथ से ही करते थे। सामान्यतः दाल-थूली का ही भोजन एक बार ही करते थे और रात में गाय का एक पाव दूध नियम से लेते थे। भला ऐसा नियमनिष्ठ व्यक्ति मर्यादा का कैसे उल्लंघन कर सकता था ?

— आपके इस अनशन का दबाव भी मालिकों पर अवश्य होगा पर हजारों रुपयों की रोज की जो हानि हो रही है उसे ये सेठ-बनिये कितने दिनों तक उठा सकते हैं ? मेरा ख्याल है कि सरकार भी इन सेठों पर दबाव डाल रही होगी क्योंकि इससे बदनामी तो होती ही है—ठीक है, देखा जाएगा कि क्या होता है। तो अब चलूँ।

और उन्हें जाता देखकर बाकी के सब उठ गये। वह जूते पहनते हुए बोले,

— हाँ, हम लोगों की ओर से इतना ध्यान रखना चाहिए कि सारी उचित माँगें स्वीकार कर ली जाएँ। जीवन में सब कुछ अपने मन का नहीं होता।

गिरिधर ठक्कर रावल जी का प्रयोजन समझ गये कि मजदूरों की सारी नहीं बल्कि उचित माँगों पर ही बात और आग्रह करना चाहिए। यद्यपि पन्नालाल आज़ाद की आँखों से लग रहा था कि रावल जी की बात जब उसकी समझ में आयी तो उसे लगा कि उचित माँगों से तात्पर्य समझौते से है और उसे कांग्रेसियों के इसी चरित्र से चिढ़ थी। वह समझ गया पर गिरिधर भाई के कारण कुछ बोला नहीं।

वैसे तो पंचानन अपने छात्र-जीवन से ही विविध प्रकार की पुस्तकें पढ़ता रहा है। देश-विदेश के साहित्य ने जीवन और कला के प्रति जो कलात्मक रुचि एवं जाग्रति उत्पन्न की वह लेक्चरर बनने के बाद अधिक प्रस्फुटित हुई। धर्म, अध्यात्म, राजनीति, साहित्य सभी विषय उसे प्रिय लगते अतः किताबों की कभी कमी नहीं हुई। वासुदेव उपाध्याय रिश्ते मे काका लगते थे परन्तु खुले स्वभाव के कारण दोनों में लगभग मैत्री जैसी ही थी। जो भी और जितनी भी पुस्तकें पंचानन चाहता, वासुदेव दे देता था। इस प्रकार कुछ ही दिनों मे पंचानन ने पाया कि पूरी दुनिया को, उसकी मानसिक बुनावट को वह थोड़ा-थोड़ा समझने-बूझने लगा है। पूर्वीय तथा पश्चिमी एवं भारतीय तथा यूरोपीय ऐतिहासिक भेद का प्रभाव किसी भी सृजनात्मक मानसिकता पर कितना अधिक महत्वपूर्ण होता है यह बड़े लेखकों के द्वारा ही समझ मे आता है। आदर्श की जिस प्रकार कोई एक सर्वमान्य प्रकृति नही होती वैसे ही यथार्थ भी सबका भिन्न होता है। शरद का बंगीय यथार्थ प्रेमचंद के हिन्दी यथार्थ से भिन्न होने पर भी इन दोनों में जो तात्विक भारतीयता है वह यूरोपीय दृष्टि से यूटोपिया ही मानी जाएगी। यूरोप की इस सृजनात्मक मानसिकता को पंचानन तभी समझ सका जब उसने तोलसतोय, डास्टायवस्की, तुर्गनेव, चेखव, गोर्की के साथ-साथ चार्ल्स डिकेन्स, विक्टर ह्यूगो, आस्कर वाइल्ड, अलेक्जेन्डर ड्यूमा आदि को पढ़ा। संघर्ष प्रधान यूरोपीयता एवं निर्वेद प्रधान भारतीयता का अन्तर समझ में आया। शेक्सपीयर के पात्रों की अतीन्द्रिय मानसिकता तथा यूरोपीय उपन्यासों मे प्रायः पायी जाने वाली पाप की मनोग्रंथि को जब मिल्टन के 'पैराडाइज लॉस्ट' के तथा गेटे के 'फास्ट' के दोनों भागों के सन्दर्भ में देखा-परखा तब यूरोप की सांस्कृतिक रुग्णता तथा दार्शनिक द्विधा बहुत स्पष्ट दिखलायी देने लगी। ग्रीक मूर्तियों की कला पराकाष्ठा, मानवीय देह की अति सूक्ष्म पकड़ तो स्पष्ट करती

है, बल्कि आश्चर्य में भी डालती है परन्तु किसी उदात्त सम्बोधन के अभाव में ये न तो अपने को ही प्रतिष्ठित करती हैं और न वर्ण्य-विषय को। पंचानन की संगीत में कोई रुचि नहीं थी अतः यदा-कदा जो उसने प्रोफेसर दास के यहाँ मोत्झार्ट और ब्राह्मो की सिम्फनियाँ सुनीं उसमें सम्मोहन एवं आकर्षण तो लगा परन्तु तल्लीनता का अभाव लगा। उसे लगा कि वह संगीत की भाषा और सम्बोधन से लगभग अपरिचित है अतः किसी भी प्रकार का तात्विक निर्णय सही नहीं हो सकता। शायद यही बात चित्रकला के बारे में भी थी। रूप और रंग की पारंगत पकड़ तथा अभूतपूर्व रंग-वैभव आपको बस अभिभूत ही करते हैं। विंची या रेम्ब्राँ की निष्णातता आप में प्रतिलोक की भी सृष्टि करती है परन्तु आपको उन्मुक्त नहीं करती, जो कला का उद्देश्य होता है। यूरोप की ठंडी जलवायु का बोझ आपको सारी कलाओं में मिल जाएगा फलतः समाजोन्मुखी यूरोपीय कलाओं मे प्रयुक्त पात्र, चरित्र सब अपना ही प्रतिनिधित्व करके शेष हो जाते हैं। चेष्टा-भाव जितना यूरोप की कलाओं में है वैसा किसी भारतीय कलात्मक अभिव्यक्ति में नहीं है, इसलिए समाज का अकेलापन और अकेलेपन का समाज—इन दो छोरों पर हमारी और यूरोप की कलाएँ व्यक्त एवं विकसित हुई हैं। यूरोप को इस वैभव प्रधान सांस्कृतिक रुग्णता ने यूरोपीय सृजनात्मकता को जो संशयात्मक द्वैत चरित्र दिया उस आत्महंता अहं का मसीहा नीत्शे है। पंचानन को अपने ये नतीजे निश्चय ही पशोपेश में डालने लगते। उसे लगता कि वह कुछ आधारभूत रूप से ही यूरोप को गलत समझ रहा है। अपनी इस द्विधा से तो वह मुक्त नहीं हो पाता था पर उसे सन्तोष होता कि गेटे, कालिदास की शकुन्तला एवं आरण्यक-संस्कृति के माध्यम से प्रशान्त भारतीय सृजनात्मक मानसिकता की ओर ललक से देखते हैं। रोम्या रोलाँ अपने उपन्यास 'ज्याँ क्रिस्ताफ' या परमहंस रामकृष्ण, विवेकानन्द तथा गांधी की जीवनियों के माध्यम से मानवीय त्राण के लिए अध्यात्म सम्पन्न भारत की ओर देखते हैं तो उसे लगता कि वह शायद बहुत गलत नतीजों पर नहीं पहुँचा है। उपनिवेशवाद की जर्जरता को यूरोप अपनी औद्योगिकता के द्वारा जो छुपाना चाहता है तो उसमें से नये-नये विकृत निरंकुश तानाशाह जन्म लेते दिखते हैं। रोम्या रोलाँ ने जिस वैचारिक तीव्रता से यूरोप के इस सांस्कृतिक दिवालियेपन के संकट को समझा वैसा तोल्सतोय तक भी नहीं समझे थे। वह ईसाई नैतिकता के भ्रम के शिकार रहे और उससे बाहर नहीं आ पाये, इसके भी ऐतिहासिक कारण थे। भारत में अकेले गांधी ने इस यूरोपीय संशयात्मक चरित्र और अमानुषी स्वरूप को समझा। रवीन्द्रनाथ भी आकण्ठ इस वैभवपूर्ण यूरोपीय रुग्ण सृजनात्मकता से आक्रान्त रहे परन्तु बराबर यह भ्रम देने की चेष्टा करते रहे कि वह भारतीयता के प्रवक्ता हैं।

विशेषकर रूस को लेकर पंचानन अजीब मानसिक तनाव, उलझन और द्विधा अनुभव करता था। रूस की महान सृजनात्मकता स्पृहणीय थी। गोगोल से लेकर गोर्की तक के समग्र रूसी साहित्य का उसके मन पर लगभग वही प्रभाव पड़ा था जो कि महाभारत पढ़ने पर हुआ था। ठीक इन मास्टर्स के बाद ही रूस में मजदूरों की

जो क्रान्ति हुई उसने सारे संसार के जन-साधारण के चिन्तन पर क्रान्तिकारी प्रभाव डाला। इस बोल्शेविक क्रान्ति से अप्रभावित रहना कठिन ही था। सर्वत्र एक उत्साह था अतः पंचानन भी आकर्षित हुआ परन्तु क्रमशः प्रश्न उठते गये और वह सोचने के लिए विवश होता गया।

रूस न पूर्व है, न पश्चिम। यह द्वैत वहाँ के व्यक्ति के चरित्र और सामाजिक इतिहास से भी स्पष्ट है। रूस किसी जाति विशेष का देश नहीं है। यूरोप की स्लाव आदि खानाबदोश जातियों के अलावा मध्य एशिया के हूर्ण, मंगोल, तातार आदि लड़ाकू एवं खूँखार जातियों के मेल से बनी राजनीतिक इकाई का नाम रूस है। इसी-लिए रूस न तो पूर्व का ही प्रतिनिधित्व करता है और न पश्चिम का। पौर्वात्य के नाम से जिस भारतीय अध्यात्मिकता तथा चीनी कनफ्यूशियस दार्शनिकता के वैचारिक अवदान की बात कही जाती है उससे रूस का दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहा। पश्चिम के नाम पर जिस रोमन दार्शनिक विचार-स्वातन्त्र्य की चर्चा आती है वह भी रूस में नहीं रही। इसलिए विचार और आस्था का कोई भी उदार स्वरूप न तो जारशाही में रहा और न कम्यूनिस्ट रूस में ही है। 'सफेद रूस' में यदि कट्टर तथा अनुदार इसाई सम्प्रदाय पनपा तो मध्य एशियाई लड़ाकू जातियाँ जब मुसलमान हो गयीं तो इस्लामी कट्टरता बाकी के रूस मे फैल गयी। रूस की अमानवीय जलवायु वहाँ के इतिहास को भी अमानवीय बनाती है। इतिहास की वह प्रक्रिया कभी रूस में घटित ही नहीं हुई जो कि व्यक्ति और समाज को उदार, सहिष्णु और मूल्यवान बनाती है। ऐसा लगता है कि मध्यकालीन ऐतिहासिक उपेक्षा का शिकार उस सर्वहारा की क्रान्ति के नाम पर फिर एक बन्द समाज बन गया। इस्लामी आक्रामकता और इसाई पिछड़ापन किसी देश, जाति और समाज को कितना अस्मिताहीन बना देते हैं इसे रूस के मास्टर्स की रचनाओं को पढ़ने पर स्पष्ट देखा जा सकता है। मध्य-एशियाई सांस्कृतिक पिछड़ेपन के ऊनी रेशों-टुकड़ों से बनायी गयी श्रुगनुमा यूरोपीयता की उच्छिष्ट डिफ्राइन का नाम रूस है। व्यक्ति और समाज के इस चारित्रिक द्वैत को रूस के मास्टर्स ने बाणी दी और पूरा रूसी समाज सामन्ती तथा साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और एक महान सर्वहारा क्रान्ति सम्पन्न हुई लेकिन बाद में यह चमत्कार कैसे हुआ कि गोर्की के बाद सृजनात्मकता सहसा एकदम मौन हो गयी, क्यों? क्रांति के महान नायक मायकोवस्की ने सहसा क्यों आत्महत्या कर ली? तुर्गनेव-तोल्सतोय की महान परम्परा मजदूर-राज की उर्वरता (या मरुथलता) मे क्यों और कैसे सूख गयी? लेनिन जैसा ही महान नेता ट्राटस्की सहसा क्रान्ति का शत्रु कैसे बन गया कि उसकी हत्या करनी पड़ी। जार के पतनशील शासन मे तो तमाम पाबंदियों के बाद भी लेखन संभव हो सका लेकिन मजदूर-राज में सहसा क्या गुणात्मकता आ गयी कि लेखन शून्य हो गया, लेकिन क्यों?

ये तथा इस जैसे पचासों सवाल पचानन को परेशान करते जबकि साथ उसकी पूरी हमदर्दी ही थी। वह रेल्वे-इंस्टीट्यूट की लायब्रेरी से, ...

पर से पार्टी तथा जनरल लिटरेचर लाता और अपने सवालों का जवाब ढूँढने का प्रयत्न करता। जब कभी भूले-भटके रेल्वे-इंस्टीट्यूट में किसी कामरेड से भेट हो जाती तो वह वैचारिक स्तर पर आदान-प्रदान भी करता परन्तु उसे सिवाय स्वीकृतियों के कोई निदान या विचार नहीं मिलता। हर बार यह विचार कौंधता कि क्या वर्ग-विहीन समाज की स्थापना व्यक्ति की सृजनात्मकता को कला-विहीन ही बनाती है? पर उसे हर बार ऐसे किसी नतीजे के समय लगता कि वह शायद गलत है।

पिछले दिनों उज्जैन में कुछ उत्साही नवयुवक लेखकों ने 'पुरोगामी साहित्य-परिषद' नाम से एक संस्था बनायी थी। उसके बारे में उसे केवल इतना ही ज्ञात था कि यह कम्यूनिस्ट लेखकों की संस्था है। स्वयं पंचानन न तो अपने को लेखक ही समझता था और न कम्यूनिस्ट ही, इसलिए कभी गया भी नहीं परन्तु उन लोगों को इतना पता था कि यह व्यक्ति साहित्यिक रुझान का है तथा जागरूक भी है। पंचानन का स्थानीय कम्यूनिस्टों से कोई सम्पर्क नहीं था पर हाँ, इतना वह जान चुका था कि दिवाकर दाते नामक कोई व्यक्ति है जो स्थानीय कम्यूनिस्ट पार्टी का सेक्रेटरी है। इन लोगों की मीटिंग देवास-गेट पर जो मराठी-शाला है उसके पीछे के बाड़े में कहीं पर होती रहती हैं। यह भी उसने सुना था कि मन्या [अनुज चन्द्रशेखर] भी इन बैठकों में जाता है।

रोज की अपेक्षा पंचानन आज घर जल्दी पहुँचा तो देखा कि माँ खाना बना रही हैं और चन्द्रशेखर भोजन कर रहा है। अनेक दिनों बाद मन्या को देखा तो अच्छा लगा। इन्दौर से परीक्षा देकर जबसे वह लौटा तो दो-चार बार की मुँह धलौवल के अलावा कोई विशेष बात कभी हो ही नहीं पायी: मान्या ज्यादातर तो अपने दोस्तों में रहता है, और फिर भाइयों में अनायास ही एक प्रकार का संकोच होता ही है। मन्या इस वर्ष बी० ए० की परीक्षा देकर आया है। अच्छा विद्यार्थी है अतः पास तो वह प्रथम श्रेणी से ही होगा। परन्तु आगे वह न जाने किस विषय से एम० ए० करेगा। चूँकि कान्ता के पति कृष्णशंकर से मन्या की अच्छी-खासी पटती है और कृष्णशंकर काशी विश्वविद्यालय से इंजीनियरिंग कर रहा है अतः हो सकता है कि मन्या भी आगे पढ़ने काशी जाए।

दुर्गा ने जैसे ही पंचानन को देखा तो बोली,

— चलो, आज तो तुम भी समय से ही आ गये। पाँचू! तुम भी गरम-गरम खा लो।

पंचानन हँसते हुए भोजन का प्रबंध करते हुए बोला,

— माँ के हाथ का ठंडा खाना भी दूसरे के हाथ के गरम खाने से ज्यादा स्वादिष्ट होता है।

और वह टलोचने से गिलास में जल डालने लगा। दुर्गा बोली,

— बातें बनाना तो तुम लोगों को ऐसा आता है कि; बस।

स्त्री, सन्तान के माध्यम से उनके जनक तक का स्मरण करते हुए कैसे भीग उठती है कि एक दृश्य लगने लगता है।

कौर तोड़ते हुए पंचानन बोला,
— शायद कल रिजल्ट आने वाला है तुम्हारा।
— सुना तो है।
— आगे क्या विचार है ?
— पोलिटिकल साइन्स से एम० ए० करना चाहता हूँ।
— ठीक तो है, तुम्हारी रुचि भी है।
— पर पाँचूदा ! मैं इन्दौर से नहीं करना चाहता।
— तो ग्वालियर चले जाओ।
— ग्वालियर तो एकदम बेकवर्ड जगह है--फ्यूडल !!
— तो फिर कहाँ लन्दन जाना चाहते हो ?
पंचानन को हँसते देख चन्द्रशेखर ने भी हँसते हुए कहा,
— फिलहाल तो पाँचूदा ! काशी से ही काम चल जाएगा।
— देखा माँ ! कृष्णशंकर भी वहीं है न इसीलिए।
इस पर चन्द्रशेखर बोला,
— नहीं पाँचूदा ! बड़ी जगह जाने पर दुनिया अधिक खुल जाती है।
तभी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल खाँसते हुए आये। दुर्गा ने उन्हें खाँसते हुए देखा तो पूछा,
— क्या बात है ? खाँस क्यों रहे है ?
— कान में दर्द है।
— कान में दर्द है ?
— और क्या। जब कान मे दर्द होता है तभी लोग खाँसते हैं।
और उनकी बात सुनकर सब हँस दिये। दुर्गा खिसिया गयी थी, बोली,
— आप कभी सीधे से जवाब दे ही नहीं सकते।
— तुम भी कमाल करती हो। खाँसी आयी तो खाँस रहा था, इसमें पूछना क्या ?
दोनों पुत्र माँ-बाबा की यह चुहल देखते हुए हँस रहे थे। दुर्गा बोली,
— देखा, आपकी बेसिर-पैर की बातों पर अब लड़के भी हँसते हैं।
— अच्छा अब डाटती ही रहोगी या कुछ खिलाओगी भी ?
और दुर्गा ने मणि को आवाज दी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,
— दिन भर मणि को ही दौड़ाती रहती हो कभी अपने उन दोनों युवराजों को भी कुछ करने को कहा करो।
— इन तीनों बड़ों ने कुछ किया जैसे है जो कि ये दोनों कुछ करेंगे।
इस बीच मणि आयी।
— क्या माँ ?
— जरा बाबा के लिए सब प्रबन्ध तो कर। वे दोनों क्या कर रहे है ?
— माँ ! हमने बीस बार आपसे कहा कि हम लोगों के पढ़ने का प्रबन्ध करवा दो। वे दोनों पढ़ने नहीं देते।

— तो तू वहाँ से हट जाया कर ।

दुर्गा की बात पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— यह वहाँ से हट जाए पर तुम उन दोनों को कुछ मत कहना ।

— लड़के पिता के कहने में रहते हैं कि माँ के ? वे दोनों मेरी सुनते हैं ?

— तुम्हारी जब मैं तक सुनता हूँ तब उनकी भली चलायी ।

इस पर मणि तक हँस दी । दुर्गा बोली,

— आपको तो बच्चों का भी ध्यान नहीं रहता ।

— मुसीबत तो यही है कि अब घर में बच्चे रह ही कहाँ गये हैं ।

इस पर हँसते हुए दुर्गा बोली,

— मैं नही जानती क्या कि आपको बच्चो का कितना शौक है ? किसी बच्चे को आज तक गोद में उठाया है ?

— क्या ये लोग बिना इसके ही बड़े हो गये ? तुम लोग बोलते क्यों नहीं हो ?

वातावरण बड़ा ही सुखद हो गया था तभी त्र्यम्बक शुक्ल ने पूछा,

— क्यों पाँचू ! मान्या का रिज़ल्ट कब आ रहा है ?

— सुना तो है कि कल आ रहा है ।

— आगे क्या विचार है इसका ?

— काशी से एम० ए० करना चाहता है । पोलिटिकल साइंस लेना चाहता है ।

त्र्यम्बक शुक्ल चौंके, पूछा,

— काशी से क्यों ? मन्या ? क्या इन्दौर में यह विषय नहीं है ?

इस पर हँसते हुए पंचानन ने कहा,

— यह विषय तो है पर कृष्णशंकर तो काशी में है ।

जमाई का नाम आया तो दुर्गा का हाथ अनायास ही सिर के पल्लू पर चला गया, बोलं

— काशी का तो खर्चा भी बहुत होगा ।

इस पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— खर्चे की उतनी बात नहीं है पर बस...दूर है ।

इस पर दुर्गा ने कहा,

— अरे रेल-मोटर में बैठो तो फिर क्या दूर और क्या पास ।

इस पर चुटकी लेते हुए पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— देखा तुम लोगों ने अपनी माँ को ? इसको कहते हैं एक तीर से दो शिकार । जमाई इतनी दूर अकेला है तो सास को चिन्ता लगी रहती है अतः अगर बेटा वहाँ पहुँच जाए तो परदेस मे एक से दो हो जाएँगे ।

इस पर दुर्गा बोली,

— मान लो ऐसा ही है, तो बुरा क्या है ? अरे बड़ी जगह जाने पर आदमी बड़ी बातें सीखता है । यही उज्जैन, इन्दौर मे बने रहो तो वही का वही । आदमी फिर सीखे कब ?

— एक बात है कि अगर कृष्णशंकर काशी में न होता तो तुम कभी भी मन्या को काशी नहीं जाने देती।

इस पर लगभग झल्लाते हुए दुर्गा बोली,

— आपको जब मेरी राई-रत्ती का पता है तो फिर कीजिए अपने मन की।

पत्नी को रुष्ट देखकर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को आनन्द आ गया। पंचानन और चन्द्रशेखर खा ही चुके थे। मौका था कि उठते और वे दोनों उठ गये।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा बिस्तरों पर लेटे हुए बातें कर रहे थे। थोड़ी देर बाद पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— अगर बुरा न मानो तो एक बात कहूँ दुर्गा!

दुर्गा चौंकी कि पति ऐसी कौन सी बात कहना चाहते है कि पूछ रहे हैं। वह सम्पूर्ण से कान बनते हुए बोली,

— ऐसे तो आप कभी नही पूछते। बताइये क्या बात है?

— अब हम लोग वृद्ध हो गये न?

— बड़ी जल्दी आपको पता चल रहा है।

— मैं चाहता हूँ कि अपने सामने ही सबका हिस्सा बांट हो जाए।

— पर अभी हिस्सा-बांट सम्हालनेवालियाँ तो आ जाएँ। अभी तो चार लड़के और एक लड़की कुँआरी बैठी है।... लेकिन यह आपके मन में सहसा क्यों आया? कोई बात हुई है क्या?

— दुर्गा। ओठों से कही हुई बात तो सुनायी पड़ जाती है परन्तु आँखों में भी बातें लिखी होती हैं कुछ लोगों के।

— देखिये, जिस दिन यह आवश्यकता आएगी मैं हाथ नही पकड़ूँगी। मैं चाहती हूँ कि कम से कम पांचू, मन्या और मणि के विवाह तो दो साल के भीतर कर ही दिये जाएँ। रह जाएँगे विधु और शशि तो दो-चार साल में उनका भी हिसाब-किताब किनारे लग जाएगा।

— मेरा भी मतलब कुछ-कुछ ऐसा ही है।

— आज दोपहर में नर्मदा मासीमाँ आयी थी तो बता रही थीं कि मामाजी को मुकुन्द शास्त्री जी बम्बई में मिले थे।

— कौन मुकुन्द शास्त्री?

— आगरवाले, जो बम्बई चले गये हैं।

— अच्छा, अच्छा बलदेव शास्त्री जी के छोटे लड़के।

— हाँ, तो?

— उनकी बड़ी लड़की प्रमिला है। मासाजी कह रहे थे कि बड़ी सुन्दर और सुशील है। शास्त्री जी ने कहा भी कि पंचानन के लिए बात करके देखें।
— इनके दोनों बड़े भाइयों के क्या नाम हैं ?
— शायद हरिहर शास्त्री और नरहरि शास्त्री।
— तुम स्त्रियों को ये सम्बन्ध खूब याद रहते हैं। बल्देव जी की मृत्यु के बाद आगर के उस नाना-बाजार के सारे लोग, सारे घर कैसे उजड़ गये न ? नहीं तो कैसी रौनक रहती थी।
— संसार में बसना-उजड़ना तो लगा ही रहता है।—तो मासीमाँ को क्या कहा जाय ?
— लेकिन पहले तुम पाँचू का तो मन परख कर देखो।
— अरे तो कब तक ऐसे ही बैठा रहेगा ? पढ़ लिया, नौकरी हो गयी, और क्या चाहिए। करना आपको है कि उसे ?
— वो तो ठीक है, फिर भी जवान लड़का है। पूछ लेने में क्या हर्ज है ?
— ठीक है तो मैं पूछ लूंगी। आप यह बताइए कि कुल-परिवार कैसा है ?
— क्या बात करती हो, बल्देवजी शास्त्री को तुम नहीं जानती। बाबा कहा करते थे कि उन्हें पूरा यजुर्वेद कण्ठस्थ था। वह अगर किसी बात का विधान दे देते थे तो पूरी उज्जैन में किसी की मजाल नहीं थी कि उसके विरुद्ध कोई शास्त्र-वचन प्रस्तुत कर पाता।
— उनकी बात छोड़िए पर उनके लड़कों....
— हाँ उनके लड़कों में खाली मुकुन्द जी ही पण्डित निकले। बाकी के दोनों भाई तो वहीं आगर में तहसील में कुछ करते-धरते हैं।—मेरा ख्याल है कि मासीमाँ से कहो कि लड़की का फोटो मँगवा लें। तुम्हें पसन्द आ जाए तो फिर पाँचू को भी दिखा दो।
— फोटो मासा जी लेकर आये थे।

और कोने में रखे बक्से से फोटो लाने के लिए दुर्गा उठ गयी। फोटो देखने के लिए कमरे की बड़ी बत्ती जला दी। दुर्गा ने फोटो पति को दिया और पास ही बैठ गयी। फोटो देखते हुए पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— तुम्हें कैसी लगी लड़की ?
— आपको नहीं पसन्द आयी ?
— लड़की तो सुन्दर है। बाकी तो देखने-सुनने पर ही पता चल सकता है।
— मासीमाँ यह भी बता रही थी कि मुकुन्द जी सपरिवार आगर जाने के लिए चार-आठ दिन में ही आनेवाले हैं।
— ठीक है तो तुम पाँचू से पूछ देखो। हमें-तुम्हें करना ही क्या है ?

फोटो को रखते हुए दुर्गा बोली,

— हाँ अब कहीं न कहीं पाँचू का तय हो तो एक जिम्मेदारी कम हो।
— चलो, भगवान सब ठीक ही करेंगे—जय श्रीकृष्ण !! जय श्रीकृष्ण !!

और दोनों सोने की चेष्टा में लग गये।

गिरिधर ठक्कर की सबसे बड़ी विषमता उनका पारिवारिक जीवन था, जबकि परिवार में सिवाय मां के और था ही कौन ? परन्तु निरन्तर उन्हें असुविधा बनी रहती। मां-बेटे में जो असम्बोधन वाला सम्बन्ध था, दो आत्मीयों का अकेलापन था वह ऐसा असह्य बोझ था जिसे गिरिधर ठक्कर भूलने के लिए अधिकतर घर से बाहर रहते थे पर हर बाहर का बड़े से बड़ा परिवृत्त भी किसी घर पर जाकर ही समाप्त होता है। यह नहीं कि वह मां से कभी सम्बोधन की ऊष्मा नहीं चाहते रहे परन्तु बढ़ती आयु और अन्तराल के कारण स्वयं ही बड़ा अनैसर्गिक लगता था कि जो वाक्य, बातें घरों में आम होती हैं, होनी चाहिए, उन्हें इतने वर्षों के बाद कैसे आरम्भ किया जाए कि—'मां ! तुम्हारी तबीयत कैसी है ?' किसी दिन मां को सिर बांधे भी देखा होगा तब भी कैसा अविश्वासी संकोच घिर आया होगा कि वाक्य, मुंह में दही बन कर जम गया होगा। पर यह भी सच होगा कि अपने ही इस अबोलेपन पर आप अपने में झल्ला रहे होंगे, चीख भी रहे होंगे पर प्रत्यक्ष में कहीं कुछ नहीं। सिवाय मां के रसोईघर से आती बर्तनों की आवाज या किसी छौंक के तिड़तिड़ाने के शब्द और गन्ध के, पूरा घर सन्नाटे में खिंचा रहता है। निश्चय ही मां को भी उलझन होती होगी पर ऐसी क्या विवशता है वह जो वर्षों-वर्षों से गले की हड्डी सा अटका हुआ है कि मुंह से किसी भी प्रकार के राग या क्रोध का कोई बोल नहीं फूटता। घर, मां का बोलना होता है, शिकायतें होता है। लेकिन मां, उनकी उपस्थिति में ऐसे पैर दबाकर निःशब्द क्यों चलती हैं, जैसे पुत्र नहीं कोई अन्य है जिससे वह अपना चलना चुरा कर चलती हैं ? कैसे भय में लिपटी वह चौंक-चौंक कर देखती भी हैं तो जैसे कहीं अन्यत्र देख रही हैं। कैसे यन्त्रवत वह अपने ही कौर के चबाये जाने की आवाज सुनते हुए पूरे घर के सन्नाटेपन को अपने दांतों में अनुभव करते हैं कि पता नहीं कब कंकड़ बन कर चब

उठे। क्या इसी का नाम घर है ?....लेकिन क्यों ? सहन की भी सीमा होती है। पैरों में यह घर, यह सम्बन्ध भारी पत्थर क्यों बना हुआ है ? और गिरिधर ठक्कर अँधेरे कमरे में घिरी अबाबील से विवश यहाँ-वहाँ मुक्ति का द्वार खोजने के लिए टक्करें मारते हैं, पर ये काली अन्धी दीवारें हैं कि भूलकर भी कभी किसी खिड़की या दरवाजे तक नहीं पहुँचाती हैं जहाँ से कि प्रसन्न खुला नीला आकाश न केवल दिखने लगता है बल्कि आरम्भ भी होता है। वह किसी दिन इतने असामयीय नहीं हो पाये होंगे कि घर न लौटें, भले ही कितनी ही रात क्यों न हो गयी हो। ऐसा चाहते तो कर सकते थे पर वह कभी आत्मग्रस्त नहीं हो पाये, यह शायद जीवन को उनकी समझ थी कि सब कुछ के बाद भी वह माँ के प्रति अनुदार नहीं हो सके। जब कभी अपने ऊपर वाले कमरे या छत पर माँ को खड़े देखा होगा तो ऐसा लगा होगा कि जैसे उनके और माँ के बीच अवश्य कोई घटना भूकम्प सी घटित हुई है और एक ऐसी असंख्य दरार है जिसके उस पार भाषाहीन, संवेदनहीन स्थिति में माँ उस अमानुषी क्षण की स्मृति में स्तम्भित खड़ी हैं। इतना समय बीत जाने पर भी वह आज भी केवल उसी क्षण को देख रही हैं, सुन रही हैं और जी भी रही हैं। उनका वर्तमान उसी एक क्षण पर जाकर जम गया है जबकि बाकी सब के लिए वह न जाने कितने वर्षों वाला अतीत हो गया होगा।—माँ की इस विवशता को समझने में गिरिधर ठक्कर का सारा व्यक्तित्व, व्यवहार बीच से चिर उठा होगा। इसीलिए वह घर से बाहर दूसरों के साथ सदा एक खास तरह का चौकन्नापन काम में लाते हैं और घर में दूसरा। निरन्तर आरे से चीरे जाने की व्यथा उन्हें होती रहती है।

लेकिन अब गिरिधर ठक्कर को लगता है कि यदि वह इस विषमता को नहीं जान पाते हैं तो या तो वह आत्महत्या कर लेंगे या पागल हो जाएँगे। लेकिन जानने की यह प्रक्रिया क्या इतनी आसान है ? माँ को वह लाख झकझोरें पर कैसी ही वर्षा के बाद सूखे पेड़ को झकझोरने पर भी वर्षाजल की कोई प्रतीति नहीं हो सकती, वैसी ही तो माँ हैं। पता नहीं बहुत अधिक झकझोरने पर वह अपने जड़मूल से ही हिल उठें। तब वह आज तक पेड़ होने का जो आभास देती हैं, वह भी नष्ट हो जाए लेकिन जानना उनकी अनिवार्यता बन गया था। भले ही वह जानना कितना ही आदिम या कितना ही भयानक क्यों न हो पर वह आज के इस अनिर्णीत, न जानने की स्थिति से फिर भी अच्छा होगा। व्यक्ति को यह जानना ही चाहिए कि वह क्या है और किस चीज का हिस्सा है। संभव है कि इस प्रकार के जान जाने के बाद आपके चारों ओर विद्रूप हाहाकार भर उठे, पर वह हाहाकार आज के इस मौन असंतोष से फिर भी अच्छा होगा। हो सकता है कि उस जान जाने के बाद केवल इतना ही जानना तब शेष रहे कि अब आप कितने बचे हो हैं। वह शेष, आज के इस भ्रामक समग्र से अधिक मूल्यवान होगा। मूल्यवान कभी भी विपुल नहीं हुआ करता है।

सुना भी था तथा जानते भी थे कि पिता कान्तिभाई ठक्कर विन्ध्या और सत-पुड़ा के जंगलों में ठेकेदारी किया करते थे। इससे अधिक की जानकारी सिवाय माँ के और किसी के पास क्या हो सकती थी? ठेकेदारी का यह काम वह हुशंगाबाद से भी किया करते थे। उनकी मृत्यु किसी पेड़ के उनके ऊपर गिर पड़ने से हुई थी। केवल माँ ही कुछ बता सकती है कि पिता की मृत्यु में पेड़ का गिरना कितना संयोग रखता है और कितना और कुछ। यदि संयोग नहीं था तो सम्भव है किसी की योजना रही हो। ठेकेदारों के कामों में तो लाग-डाँट रहती ही है। पर, क्या बात इतनी ही सहज रही होगी? यदि किसी की योजना से भी ऐसा हुआ है तो अवश्य कुछ और बात भी रही होगी जिसके कारण माँ का सारा व्यक्तित्व जीवन भर के लिए विकृत हो गया। केवल पति की मृत्यु, कितनी आकस्मिक या सांघातिक क्यों न हो, दुःखदायी हो सकती है पर एक समय के बाद स्थितियाँ सहज हो जाती हैं जबकि इतने वर्षों बाद भी माँ सहज नहीं हो सकीं, क्यों?

बात इतनी पुरानी तथा साधारण सी थी कि किसी दूसरे को एक साधारण ठेकेदार की क्या याद होगी। फिर सैकड़ों मील में फैले विन्ध्या-सतपुड़ा में वर्षों पुरानी एक ठेकेदार की साधारणता की तलाश क्या जंगल में गिरी किसी सुई की तलाश जैसी ही नहीं थी। दिन भर हुशंगाबाद में यहाँ-वहाँ पूछने पर एक बुजुर्ग मुसलमान ठेकेदार का पता चला जिन्हें पुराने दिनों और लोगों की जानकारी थी। उन्हें कान्तिभाई की कुल इतनी जानकारी थी कि वह बालाघाट के जंगलों की तरफ ही ज्यादातर ठेकेदारी किया करते थे। उस बुजुर्गवार को तो यह भी नहीं मालूम था कि कान्तिभाई नहीं रहे। यदि प्रश्न अपने स्वत्व का न होता तो शायद गिरिधर ठक्कर हुशंगाबाद के बाद लौट गये होते परन्तु उन्होंने सोचा कि सम्भव है बालाघाट में कुछ अधिक जानकारी मिले। हालाँकि वह स्वयं नहीं जान रहे थे कि वह क्या तलाश रहे हैं? बालाघाट में इमारती लकड़ियों के जो पीठेवाले थे उनसे कुछ खास पता नहीं चला। पटेल नामक जो पुराना ठेकेदार था उसके यहाँ उसके पुत्रों से इतना अवश्य पता चला कि उनके पिता किसी गुजराती के साथ कभी-कभी साझे में जंगलों की नीलामी खरीदा करते थे और शायद उस गुजराती ठेकेदार की मृत्यु किसी पेड़ के गिरने से हो गयी थी। इस सूचना से गिरिधर ठक्कर को इतना तो पता चल गया कि वह सही दिशा में चल रहे हैं। जब और कुछ जानना चाहा तो इन इन पटेल-पुत्रों ने केवल इतना ही बताया कि हो सकता है वन-विभाग वाले आपको कुछ बता सकें। वैसे वहाँ एक पुराना चपरासी है—हीरालाल, वह शायद आपको कुछ और जानकारी दे सके। वन-विभाग में पूछना व्यर्थ ही हुआ क्योंकि रेंजर से लेकर क्लर्क तक सब नये थे पर हीरालाल के पास भी कुल इतनी ही सूचना थी कि उसे कान्तिभाई की याद तो है पर इससे ज्यादा वह कुछ नहीं जानता। हाँ, इसके बारे में अवश्य ही एक चाय वाले को मालूम हो सकता है।

— तो उस चायवाले का ही पता बता दो।

— पता नहीं बाबू ! अब वह जिंदा भी होगा कि नहीं ।...वैसे उसका नाम भी याद नहीं रहा ।.. वह बस्तर जिले का एक आदिवासी है... आप इस शहर से उत्तर की ओर निकल जाइए । आगे एक नाला पड़ेगा । कोई दो कोस जाने पर एक बस्ती मिलेगी । वहाँ किसी से पूछ लीजिएगा ।

— क्या पूछना होगा ?

— वह चायवाले के नाम से ही जाना जाता है । वैसे उसकी दुकान बस्ती में नहीं है बल्कि बस्ती से आगे जंगल जहाँ से शुरू होता है उसी के मुहाने पर है ।

गिरिधर ठक्कर को इस जानकारी पर उलझन तो बहुत हुई परन्तु क्या करते । उन्हें हर बार लगता कि पता नहीं वह कहाँ चले जा रहे हैं और न जाने कहाँ पहुँचेंगे ।

अप्रैल का महीना था इसलिए अभी गरमी नहीं थी पर दिन लम्बे हो चले थे । दोनों ओर के पठारीपन पर धूप जैसे सूखने के लिए फैला दी गयी थी । जिस नाले के किनारे-किनारे वह चले जा रहे थे उसमें अधिक पानी नहीं था परन्तु बहता पानी था इसलिए स्वच्छ-प्रसन्न था । बरसात में जिस समय इसमें पानी काफी रहता होगा तब इसमें शब्द और वेग दोनों ही काफी होते होंगे । शब्द तो इस समय भी था परन्तु लगभग फुसफुसाहट जैसी ही थी । पानी कम था इसलिए नीचे उतरा लग रहा था । पेड़ें तक चट्टानें, नुकीले पत्थर बन कर उतरती चली गयी थीं । जल के किनारे चलना बहुत अच्छा लग रहा था । पथरीली चढ़ान और ढलान दोनों ओर फैली हुई थी । कहीं किसी की उपस्थिति नहीं लग रही थी । एक प्रशान्त निर्जनता थी जिसके बीच से गिरिधर ठक्कर चले जा रहे थे । कुछ अकेलापन होता है जो आपको बिखरा देता है तो एक अकेलापन ऐसा भी होता है जो आपको समग्र गुम्फित कर जाता है । ऐसा सिमटापन बच्चों का बोध कराता है जैसे आप कभी मिट्टी थे और अब सिमट कर धातु जैसे वज्र बन गये हैं । गिरिधर ठक्कर भी समग्र, सिमटा अकेलापन अनुभव करते चल रहे थे । पक्षियों के वापस लौटने की वेला अभी नहीं हुई थी इसलिए पेड़ भी निःशब्द, देखते खड़े थे । पेड़ों के ऊपर आकाश गुब्बारे सा उड़ता लग रहा था । कभी कोई पत्थर पैर की ठक्कर से लुढ़कता कुछ दूर शब्द करता सुनायी और दिखायी पड़ता लेकिन फिर सब शान्त हो जाता । जंगली हवा अवश्य कानों से टकराती सीत्कारें मारती लग रही थी । स्वयं ही थोड़ी देर बाद लगने लगा कि चपरासी ने जिसे दो कोस की दूरी बताया था, वह उससे कहीं ज्यादा थी । दोपहर को जब वह चले थे और अब शाम होने को आ रही थी पर अभी उस बस्ती का पता नहीं था जहाँ जाकर उस चायवाले को तलाशना है । और संभव है वहाँ पता चले कि अभी तो और मील दो मील चलना होगा । तब भला वहाँ पहुँचते-पहुँचते रात नहीं हो जाएगी ? और रात में वह उस जंगल में क्या करेंगे ? कहाँ जाएँगे ? यदि रात में ही लौटना पड़ा, जो निश्चित ही लगता है, तब क्या इस अनजाने प्रदेश में इस जंगल के रास्ते लौटना ठीक होगा ! पर अब पछताने से क ... भ नहीं था । वापस जाने का भी कोई प्रश्न नहीं था और कहाँ जाते ? स ... ... चित खोज के बाद ही सम्भव है । अब जो भी

परिणाम हो। तभी बस्ती के आसार नजर आने लगे। हर बस्ती दूर से प्याज की एक गाँठ होती है।

बस्ती में चायवाले की दूकान का वही पता मिला जो हीरालाल चपरासी ने बताया था। नाले के उस पार दाहिने हाथ जो पगडण्डी ऊपर जाती है, उससे चढ़ जाइए और इस पहाड़ की ढलान उतरते ही जंगल आरम्भ हो जाता है, वहीं करमा चाय वाले की दूकान है। चाय वाले का नाम करमा था। जानकारी मिलते ही बिना रुके तथा बिना थकान अनुभव किये वह नाले की ओर बढ़े। सूरज पहाड़ियों के पीछे ढलने लगा था इसलिए सूरज के छुपने के साथ ही पहाड़ों की छाया नीचे भरने लगी थी इसलिए अँधेरा जैसा होने लगा था पर वस्तुतः अभी सूर्यास्त में समय था। जैसे ही वह पहाड़ी के ऊपर पहुँचे तो हठात् उन्हें अच्छा लगा। बड़ी दूर तक का दृश्य खुल आया था। दिन अभी था, बल्कि कहना चाहिए कि अभी काफी दिन था, यह सोचकर ही उन्हें बहुत सन्तोष लग रहा था। एक बार मन में आया कि यदि सम्भव हुआ तो करमा चाय वाले से जल्दी से बातें करके वह जल्द लौट सकेंगे इसलिए अब उनके दिमाग में इस क्षेत्र का कुछ-कुछ भूगोल स्पष्ट लग रहा था। और वह उत्साह में नीचे उतरने लगे। यों तो उन्हें करमा चायवाले की दूकान नहीं खोजनी पड़ी क्योंकि वह वस्तुतः जंगल के मुहाने पर ही थी परन्तु वह जिस अनपेक्षित तरीके से हठात् उपस्थित हुई लगी वही आश्चर्य था। उस जंगल के मुहाने पर जिस नाटकीयता से वह दूकान थी उसमें वैसी ही सायासता लग रही थी जैसी कि महलों के बाहरी फाटकों के पास कोई गुमटी होती है। हालांकि वह किसी भी दृष्टि से दूकान तो नहीं ही थी, हाँ, चाय या और कोई चीज मजदूरों के लिए मिलती होगी इसलिए उसे दूकान ही तो कहा जा सकता है, और क्या? पेड़ की लकड़ियों को कामचलाऊ ढंग से खड़ा करके सागौन के पत्तों का एक छाजन तैयार कर लिया गया था जो पीछे की ओर दो तिहाई बन्द था। शायद मिट्टी की दीवार पर उधर का छाजन टिका हुआ था। उसी दीवार में पत्तों के टट्टर का एक दरवाजा था जो निश्चय ही रात में बन्द किया जाता होगा। दीवार के उधर क्या था, नहीं दिख रहा था। छाजन में एक तरह एक चूल्हा जल रहा था और एक ढंकी हुई एल्यूमिनियम की पतीली उस पर चढ़ी हुई थी। जिसकी भाप ढक्कन से फूटी पड़ रही थी। चूल्हे के सामने जो थोड़ी सी जगह थी उसमें दो-तीन मजदूर बैठे हुए चाय और बीड़ियाँ पी रहे थे। वे शायद दिन भर जंगल में ठेकेदार के लिए लकड़ियाँ काट कर वापस अपने घर जा रहे होंगे। उनकी कुल्हाड़ियाँ, आरी आदि सामान पास ही रखे थे। वे अपनी किसी स्थानीय बोली में बोल रहे थे, जो कि बहस जैसी लग रही थी।

एक परदेशी को, वह भी कुरते-पाजामे में, कंधे पर झोला टांगे देखा तो वे तीनों अचकचाये। उनका बोलना हठात् वैसे ही रुक गया जैसा कि हर उन्मुक्त आचरण के साथ होता है। चिड़ियाँ एकदम चहचहाना रोक देती है और फुर्र से उड़ जाती हैं, बस ऐसा ही हुआ। गनीमत हुई कि ये लोग फुर्र नहीं हुए। तीनों की आँखों में

सिवाय आश्चर्य के और कोई भाव नहीं था।
— इस दूकान का मालिक कौन है ? करमा की यही दूकान है न ?
वे तीनो राम-राम करते उठ खड़े हुए। उनमे से एक छाजन के दरवाजे से होकर पीछे की ओर गया और एक स्त्री के साथ लौटा। वह स्त्री उस मजदूर के साथ जिस प्रकार आयी थी उससे यही लग रहा था कि वह तो इधर आ ही रही थी, यह मजदूर तो मात्र एक कारण है। स्त्री शायद बुढ़िया भी नही रह गयी थी। अब तक गिरिधर ठक्कर का ध्यान भी नहीं गया था कि चूल्हे और दीवार के बीच कोई बिस्तर भी है और उस पर कोई लेटा भी है। वह तो हठात् खांसी सुनायी दी तो ध्यान गया। खांसी जिस प्रकार नहीं रुक रही थी उससे लगा कि व्यक्ति दमे का मरीज है। वह शायद मुँह लपेटे बिस्तरे मे ही खांस रहा था।—स्त्री के सफेद बाल उड़े पड़ रहे थे परन्तु देह से वह इतनी खंक थी कि चमड़ी और हड्डियों के बीच किसी भी प्रकार की न तो मज्जा और न ही मांसलता, कुछ भी नही रह गयी थी। चमड़ी इतनी पतली हो गयी थी कि अगर कोई छू दे तो भीतर की हड्डी निकल आये। शरीर के सारे अवयव भीतर की ओर खिचे लग रहे थे। गाल मुँह में भर जाने से ठोढ़ी और नाक प्रमुख हो उठे थे। उसने धोती को टांगो के अन्दर से ले जाकर कमर से कस रखा था तथा उसी का एक सिरा एक कंधे को ढँकते हुए पीछे कमर में पीठ की ओर से खुँसा था। सच मे उसे और कुछ पहनने की आवश्यकता ही नही थी। वह शरीर अवश्य थी पर स्त्री कहाँ थी ? शरीर भर का वह पहने हुए थी ही। न जाने क्यो गिरिधर ठक्कर को ऐसा लगा कि लोग तो अपने हाथो-पैरों की अंगुलियां चटकाते हैं पर यह स्त्री चाहने पर अपने सारे अवयव अलग करके चटका कर फिर लगा सकती है। निश्चय ही यदि ये मजदूर न होते और इस स्त्री को हठात् देख लिया होता तो वह आसन्न रह गये होते। स्त्री में एक बिल्लीपन था और किसी भी क्षण वह झपट्टा मार सकती थी। आते ही उसने एक क्षण को देखा और फिर चूल्हे की ओर बढ़ते हुए पूछा,
— चा मँगता साब ! उदर कू बइठ जाओ।
वैसे उसने किधर बैठ जाने के लिए कहा यह वह नही समझ पाये।
— इस दूकान का मालिक कौन है ?
इस प्रश्न पर स्त्री ने इस अगान्तुक को ध्यान से देखा। कंधे पर झोला और कुरते-पाजामे में देखा तो वह समझी कि कोई सरकारी आदमी है।
— तुम किसको पूछता साब ? करमा को या सिंगा को ?
— सिंगा...
— हमेरा लड़का है साब ! बहुत हरामी है। लोको का पइसा मार लाता है साब ! और हमेरे को देना पड़ता है। क्या तुमेरा भी....?
— क्या करमा नही है ?
— हमारा आदमी को तुम पूछता ! आप इस पापी का खांसी नई सुना क्या ?... पण तुम इसको कायको पूछता बाबू ? करमा कुछ किया है क्या ? यह नरक का

कीड़ा आज आठ महीने से मरने कोज नई आता ...मैं पेलेज बोला, सड़-सड़ के मरेगा।

बुड्ढे की खाँसी शायद कुछ ज्यादा ही हो गयी थी। मजदूर अपनी चाय पी चुके थे। उन्होंने पैसे चुकाये और जब अपनी-अपनी कुल्हाड़ी, आरी उठायी तो तीनों ने कहा,

— राम-राम रत्ती !!

पहाड़ के ऊपर भले ही पूरी तरह शाम नहीं हुई होगी पर इस जंगल के मुहाने पर, करमा की दूकान पर शाम पूरे सांगोपांग तरीके पर होने जा रही थी। दमे का मरीज करमा और चुड़ैलों जैसी इस स्त्री तथा पूरी तरह निर्जन स्थान में इस घिरती शाम में गिरिधर ठक्कर को बहुत असुविधा होने लगी। एक बार मन हुआ कि मजदूर अभी बहुत दूर नहीं गये होंगे, वह भी लौट जाए। इन बीमार पागलों से वह अपने पिता के बारे में आखिर क्या जानना चाहते हैं ?

'रत्ती' इसी नाम से तो मजदूरों ने इस स्त्री को पुकारा था, रत्ती जब एक जलती ढिबरी लेकर लौटी तो उन्हें ध्यान आया कि मजदूरों के जाने के बाद भीतर चली गयी थी। ढिबरी दीवार में खोंसने के ढंग पर टाँगी और बोली,

— तुमारे कू करमा से कुछ तपासना [पूछना] है क्या ?....तुम बाहेर गाम का है क्या ?

— हाँ, कुछ पूछना था।

— कुछ चोरी-चमारी का खिस्सा तो नहीं है साब! जंगल में साला रोजज कुछ होता है। स्त्री करमा के पास गयी और उससे कुछ अपनी भाषा में बोली। सिवाय खाँसने के करमा कुछ बोला यह तो गिरिधर ठक्कर ने नहीं सुना परन्तु लगभग घसीटने के ढंग पर स्त्री ने उसे दीवार से टिका जैसा दिया।

— इधर कू निकल आओ साब !

चूल्हे की लकड़ियाँ जलते हुए तिड़तिड़ा रही थी। चूल्हे की पीली-पीली आँच फर्श पर लिपी-कँपी पड़ रही थी। उस ऊबड़-खाबड़ फर्श पर वह नहीं समझ पा रहे थे कि रत्ती ने कहाँ बैठने के लिए कहा। तभी रत्ती चटाई का एक टुकड़ा ले आयी और उसे देते हुए बोली,

— बिछा के बैठ जाओ। ज्यास्ती बात मत करना साब ! एकदम कौड़ियार साँप सरीखा गुस्सैल है....चाय तो पिएगा न बाबू ?

गिरिधर ठक्कर को बराबर लग रहा था कि जीवन में उन्होंने यह कितनी बड़ी गलती की। बैठे-बिठाये वह यहाँ व्यर्थ को आये। पता नहीं यह करमा-रत्ती कौन हैं और इनका पिता से क्या सम्बन्ध था।—बुड्ढे की खाँसी अगर थोड़ी कम होती भी तो साँसें इतनी जोरों से चलने लगती थी कि गिरिधर ठक्कर की समझ में नहीं आ रहा था कि वह करमा से कब बातें शुरू करें। इस बीच रत्ती ने चाय और दो बिस्कुट लाकर सामने रख दिये।

— आप किसी कान्तिभाई ठेकेदार को जानते हैं ?

करमा शायद बहुत ऊँचा सुनता था। अब तक गिरिधर ठक्कर ने करमा को ठीक से देखा ही नहीं था क्योंकि वह बराबर अपने ही मे सोचते रहे थे और पछताते रहे थे। बात पूछ कर जब पहली बार भर आँख इस करमा को देखा तो वह ठगे से रह गये। करमा उनकी बात सुनकर या ऊँचा सुनने के कारण न सुन पाने पर भी मुँह और आँख दोनों बाये हुए था। सिर के ऊपर से आती ढिबरी की रोशनी में तो उतना स्पष्ट नहीं दिख रहा था परन्तु चूल्हे की लपलपाती आँच मे करमा का खाँसी से तमतमाया मुँह और भी अधिक तमतमा रहा था। करमा को देखते ही गिरिधर ठक्कर को मितली और सिहरन दोनों अनुभव हुईं। उसके बिस्तरे से तथा स्वयं करमा में से बदबू का भभकारा उठ रहा था। उसके गले में पचीसों तावीज और तरह-तरह के रंगीन पत्थरों की मालाएँ थीं। उसकी आँखें जैसे दो लहसुनियाँ हों। सपेरों के व्यक्तित्व और देखने में एक प्रकार की जैसी मान्त्रिकता होती है लगभग ऐसी मान्त्रिकता थी जो कि करमा के बुढ़ा जाने के कारण आँखो के नीचे झूली पड़ रही थी। नीचे का ओठ भी तो लटका पड़ रहा था। गिरिधर ठक्कर ने फिर जोर से पूछा,

— आप किसी कान्ति भाई ठेकेदार को जानते हैं ?

इस बार शायद उसके कान कुछ सुन ले गये थे। स्त्री इस बीच पीछे अपने काम में व्यस्त थी पर उसे भी सुनायी सब दे रहा था, तभी तो आटा माँड़ते हुए बीच ही में उठकर आयी थी और करमा के कान के पास मुँह ले जाकर अपनी भाषा में बोली, तो करमा ने गिरिधर ठक्कर की ओर देखते हुए पूछा,

— तुम कायकू पूछता है उस भाई को ? वो तो कबीच मर गया। हमेरा सेठ था।

— वो कैसे मरे ?

करमा बोलते हुए गिरिधर ठक्कर को जिस प्रकार टोहते हुए देख रहा था, वह गिरिधर ठक्कर को अच्छा नहीं लगा।

— हमेरे को क्या मालूम बाबू !....हम तो सेठ का मजदूरी, चाकरी करता था... पेड़ गिरा और मर गिया।... जाओ भाया ! जाओ साब ! हम गरीब लोग कू सताना ठीक ने ई... हम कुछ नई जानता...हम कुछ नई जानता....

और करमा ने गले से एक तावीज को दाहिने हाथ की मुट्ठी में कस कर दबाया और न जाने क्या ओठो से बुदबुदाने लगा। बुदबुदाना आरम्भ ही किया था कि फिर खाँसी घिर उठी।

रात शायद घिर आयी थी। चूल्हे की आँच मे छाजन खूब निखर आया था। बाहर एकदम सन्नाटा था। गिरिधर ठक्कर बहुत विपन्न मनःस्थिति में थे कि वह करें, तो क्या करें ! इतना स्पष्ट लगने लगा कि करमा शायद कुछ और भी बातें जानता है, जिनका सम्बन्ध पिता की मृत्यु से हो भी सकता है और नहीं भी। अभी वह संशय में ही थे कि करमा अपनी खाँसी दबाते हुए बोला,

— तुमारे को हमेरे पास कौन भेजा बाबू ?

— क्यों ? तुम यह क्यों पूछते हो ?

गिरिधर ठक्कर ने सुना जरूर पर समझने में थोड़ी देर लगी परन्तु जैसे ही समझा तो आद्यन्त ठण्डापन दौड़ गया ।....क्या पिता की हत्या हुई ? इस करमा ने उनकी हत्या की ? लेकिन क्यों ?

— जब तक इसको फाँसी नहीं होगी बाबू ! ये पापी मरेगा नहीं । उस दिन के बाद से यह भोगता रहा है पर मरता नहीं है । बामन का खून किया तो बिना कीड़े पड़े ही मर जाएगा ?....और वह भी बेकसूर....इसको अपने सेठ पर शक हो गया था बाबू ।

— क्या ? किस बात का ?

शायद इस बीच करमा अपने को समेट सकने में सक्षम हो गया था । वह जंगली जानवर की तरह उठा और उसने रत्ती को एक तमाचा मारते हुए कहा,

— चली जा यहाँ से, नहीं तो जिन्दा गाड़ दूँगा ।

मार खाकर रत्ती और भी बिफर उठी थी । उसके बाल फैल आये थे । उसकी भी आँखें उबलने लगी थीं । पता नहीं कब से वह भरी बैठी थी,

— जिन्दा तो पहले ही गाड़ दिया है. अब तो मैं तुझे गाड़ूँगी । बदजात ! जिसने मेरी इज्जत लूटी उसका तो तू बाल बाँका नहीं कर पाया और उस बेचारे सेठ को पेड़ गिरा कर मार डाला जो तुझ पर मेहरबान था...अबे हरामी के बच्चे ! अब उस सेठानी को छोड़ेगा कि नहीं ?... नरक के कुत्ते ...तेरा मंतर उस असली पापी पर क्यों नहीं चला ?

करमा फिर लपका पर इस बार हिम्मत करके गिरिधर ठक्कर ने करमा का हाथ पकड़ लिया तो वह झटक उठा । करमा ने हाथ पकड़ने वाले को कच्चा चबा जाने वाली आँखों से देखा पर गिरिधर ठक्कर से दृष्टि मिलते ही वह बिस्तरे पर गिर पड़ा और रोने लगा । करमा रो रहा था पर थोड़ी ही देर बाद कुछ बड़बड़ाने लगा । गिरिधर ठक्कर कुछ नही समझ पा रहे थे कि अब उन्हें क्या करना चाहिए । तभी करमा बड़बड़ाता रोता उठा और गिरिधर ठक्कर के पैरों पर गिर पड़ा ।

— मुझे माफ कर दो बाबू ! मैं कुत्ता हूँ . नहीं कुत्ता भी वफादार होता है लेकिन....

गिरिधर ठक्कर ने बिना बोले अपना पैर हटा लिया । इस पर रत्ती बोली,

— चल उठ । सेठानी को छोड़ेगा कि नहीं ?

करमा ने बाँह से नाक साफ करते हुए कहा,

— चल रत्ती ! जितना पाप कम हो सके। बाबू को भी ले चल ।

गिरिधर ठक्कर कुछ समझ नही पाये, बोले,

— कहाँ चलने को कह रहे हो ?

इस पर रत्ती बोली,

— डरो नही बाबू ! अब यह किसी का कुछ नही बिगाड़ सकता बहुत ओझा बनता था...चल उठ अब ।

और पूरी हिकारत से रत्ती ने करमा को उठने का आदेश दिया ।

इसके सिवाय चारा ही क्या था कि गिरिधर ठक्कर करमा और रत्ती के पीछे-पीछे चलें। हालांकि बिस्तर में खाँसते; दमे के मरीज करमा में और इस समय आगे-आगे चलते ओझा करमा में सम्बन्ध स्थापित कर पाना मुश्किल था। गले की ढेरों मालाएँ जब उसके चलने से टकरा जातीं तो अजीब कौड़ियों के खड़खड़ाने की सी आवाज होती थीं। वह कभी जोर-जोर से मंतर जैसा कुछ बोलता या फिर जंगली जानवरों की सी गले से आवाज निकालने लगता। उसकी इस आवाज पर सियार या ऐसे ही कुछ जानवर या तो बोलने लगते या फिर बोलते हुए चुप हो जाते। जब किसी झाड़ी के पास कुछ खड़खड़ होती तो वह हाथ की लाठी ठकठका देता और मतर के साथ-साथ बड़बड़ाने लगता कि—महाराज! अगर बैठे हो, तो अपने रास्ते जाओ, निकल जाने दो—और एकाध बार लगा कि पत्तों पर कोई चीज सरसरायी और चली गयी। पीछे-पीछे चलते हुए वह सर्वथा भयातुर नहीं थे, कहना तो गलत होगा पर शंकालु अवश्य थे कि पता नहीं इस नितान्त निर्जन जंगल मे इन दोनों के साथ इस रात में आकर उन्होंने ठीक किया कि नही। इधर के जंगलो और यहां के आदिवासियो के बारे में अमानुपी रीति-रिवाजो और पूजा-बलियों के बारे मे अजीब-अजीब क़िस्से-कहानियाँ सुन रखे थे पर किसी दिन उन्हें स्वयं इस स्थिति का सामना करना पड़ेगा इसकी कोई कल्पना भी नहीं थी। इतना वह आश्वस्त थे कि कोई अवांछित स्थिति आने पर वह इन दोनों से निपटने के लिए तो काफी थे और अनिश्चित के बारे में चिन्ता करने से लाभ? अब तो वह इस काँटे को पूरा निकाल कर ही रहेंगे। यदि वह बीच ही में लौट गये होते और इस काँटे को टूटा ही रहने दिया होता तो यह उत्तरोत्तर धँसकर और भी दर्द करता। पूरा काँटा उतना दर्द नही करता है जितना कि टूटा काँटा।

चैत्र की पूर्णिमा थी, यह गिरिधर ठक्कर को नही मालूम था। जब तक दूकान में थे तब तक वह जिस उत्तेजना और आवेश में थे उसमें बाहर देखने का मौका ही नहीं था। दूकान से निकल कर जब करमा और रत्ती के साथ जंगल में प्रवेश किया तो थोड़ी देर बाद खुली हवा; उन्मुक्त वायुमंडल और निरभ्र एकान्त में ऐसा लगा जैसे वह बहुत देर बाद पूरी साँसें ले रहे हैं। चांदनी पेड़ों के बीच से विभिन्न पैटर्न और आकृतियो में वन के एकान्त में फैली हुई थी। चांदनी के वहाँ होने में एक आत्म-तल्लीनता ऐसी ही एकाग्र थी जैसे कि कोई स्त्री प्रथम बार अपने उभरे कुच देखकर कुछ मुग्ध, कुछ विस्मित भाव से लीन हो। जब कभी पेड़ थोडे विरल होते और आकाश अधिक खुला हुआ आ जाता तो चन्द्रमा कैसे प्रकम्पित भाव से पेड़ों के बीच या ऊपर दिखलायी पड़ता था। वन जंगल है या अरण्य, भयानक है या मनोरम कहने के बजाय कहना चाहिए कि वन दोनों ही है। यह आपकी मनःस्थिति पर निर्भर करता है कि वन आपको कैसा लगता है। वस्तुतः वन शुरू मे भय उत्पन्न करता है क्योंकि वह डरने वाले को कभी स्वीकार नही करता। प्रत्येक सौन्दर्य की प्रकृति, स्त्री की ही होती है। जब क्रमशः आप उस वन मे प्रविष्ट हो लेते हैं और एक प्रकार का अधिकार भाव आपमे आ जाता है तब वन, जंगल न रहकर अरण्य बनकर अपने अरण्यानी रूप में

प्रस्तुत होने लगता है। आरम्भ में वन सन्नाटे का बोध देता है परन्तु कालान्तर में ऐसा वाचाली हो जाता है कि आप किसे देखें ? और किसे सुनें ? सारे पत्र, शाखा-प्रशाखाएँ हवा में काँपे पड़ रहे होंगे, और आपको टेर रहे होंगे कि हमें देखो। स्त्री जब अपने को प्रदर्शित करने पर आ जाती है तब आप सम्पूर्ण इन्द्रियों से भी उसे ग्रहण करना चाहने पर भी न ग्रहण कर पाते हैं और न समेट पाते हैं बल्कि अनुभव करते हैं—एक वेग, एक घटना की भाँति सौन्दर्य केवल घटित होता है ! तितलियाँ हैं कि अरण्यानी के विचित्र नेत्रों सी आपके आगे-पीछे निशब्द उड़ते हुए आपमें माया उत्पन्न करने लगती हैं। चिड़ियाँ फुदक रही होंगी तो पक्षी कल-कंठ से आपको अपनी ओर देखने को व्याकुल होंगे। उड़ते-गाते इस मायालोक में आप पाँवों में पड़े नाले के जल की उपेक्षा नहीं कर सकते। माना कि उसकी सत्ता विराट-जल की सी नहीं है परन्तु धरती पर जिस समर्पण भाव से वह बिछा, चल रहा होता है तो लगता है न कि अरण्यानी का दुकूल धरती पर पड़े-पड़े जल बनकर बहने लगा है और पेड़ों के बीच से कहीं चला जा रहा है।

अरण्य मे कीकर, इमली और पीपल के पेड़ों की भरमार थी, परन्तु साल और सागौन तथा शीशम के पेड़ तो बहुत भीतर जाकर क्रमशः शुरू होते थे। धरती पठारी तथा उबड़-खाबड़ थी। नाले भी बहुत थे पर अधिकांश सूख चुके थे। विन्ध्या-सतपुड़ा के नाले तो बरसात मे तो खूब जल भरे उद्दाम होते हैं परन्तु क्वार आते-आते सूखने लगते हैं और तब पूरे वर्ष भर उनके चट्टानी मार्गों पर उनका चलना भूरे रंग में केवल लिखा भर दिखता है। विन्ध्या में पर्वतीय सौन्दर्य की अपेक्षा एक ऐसा आदिमपन है जैसे आप शताब्दियों से उपेक्षित किसी प्राचीनतम खँडहर में पहुँच गये हैं जहाँ हर चीज, बल्कि उसका इतिहास तक जम गया है। मुँह खोले गुफाएँ अजदहों की याद दिलाती हैं परन्तु पास ही किसी झाड़ी या पेड़ में अप्रतिम रूप वाले फूल अपनी उन्मद सुगन्ध के साथ आपको आमन्त्रित करते मिल जाएँगे। अप्रतिम सुन्दर स्त्री का कामिनी रूप लपलपाती तलवार की तेज धार की तरह होता है कि जिसे पाने के बाद आप फिर वही नहीं रह जाते हैं। गिरिधर ठक्कर को बीच-बीच में लगता कि वह अपने भीतर भी यात्रा कर रहे हैं।

करमा और रत्ती कभी पगडण्डी पर चलते और कभी राह छोड़कर ऊँची-नीची चट्टानों पर चढ़ते-उतरते नाले फलांगते जिस तेजी से चल रहे थे उससे यह तो स्पष्ट था कि इस जंगल का राई-रत्ती इन्हें पता है परन्तु गिरिधर ठक्कर इस तरह के दुस्तर मार्ग पर सम्हल कर उतरते। मिट्टी खरखराने लगती और उन्हें लगता कि यदि पैर फिसला तो सूखे नालों की चट्टानों पर गिरकर हड्डी-पसली एक हो जाएगी। परन्तु गनीमत यह थी कि चाँदनी रात थी और वह भी निष्कलुष चाँदनी। ऐसी मलमली निरभ्रता थी कि जैसे चाँदनी चट्टानों पर खड़ी बिना पलक झपकाये ठगी सी आपकी ओर देख रही हो कि उसके इस निभृत नारी-एकान्त को दूषित करने के लिए यह कौन इस असमय में आ पहुँचा ? उस समस्त वायुमण्डल, चाँदनी रात, अरण्य की निविड़ता में ऐसा जादुई सम्मोहन था कि गिरिधर ठक्कर को चतुर्दिक सुगन्ध ही सुगन्ध अनुभव

हो रही थी। जंगल का सुगन्धमय हो उठना उसका समर्पण होता है। कैसा भावातीत सुख लग रहा था जैसे कोई विवस्त्र चम्पई देह आपको भुज भर भेंट ले।

— घबराना नहीं बाबू !

इस जैसे ही वाक्य रत्ती पहले भी दो-एक बार कह चुकी थी।

— एक बार मर्द का विश्वास आदमी न करे पर औरत कभी धोखा नहीं देती बाबू ! क्योंकि वह माँ होती है....मैं भी माँ हूँ बाबू !

गिरिधर ठक्कर को इन दोनों से कोई भय था ही नहीं पर इस बार जब रत्ती ने अपने को माँ कहा जो उन्हें बड़ा अजीब लगा। स्त्री के लिए पुरुष सदा भय का कारण होता है परन्तु स्त्री जब एक बार माँ बन जाती है तो पुरुष उसके सामने कितना बौना हो जाता है जिस सिगा की यह माँ है, निश्चय ही वह भी तो रूप-रंग में ऐसा ही होगा परन्तु हड्डियों के ढाँचे वाली रत्ती जब अपने पुत्र को माँ बनकर देखती होगी तो कैसा लगता होगा जैसे कि कोई ठूंठ, वनस्पति की हरितिमा से युक्त हो गया है।...शायद माँ कभी असुन्दर नहीं होती। सौन्दर्य की बात याद आते ही गिरिधर ठक्कर को लगा कि पता नहीं वह कौन था जिसने रत्ती जैसी स्त्री की इज्जत लूटी। सम्भव है कभी रत्ती आज की जितनी वितृष्ण नहीं लगती रही होगी। भूगोल केवल धरती को ही नहीं प्रभावित करता है बल्कि मनुष्य को भी। जिस प्रकार दो महीने जल भरे नाले साल भर तक सूखे पड़े रहते हैं वैसे ही तो इस भूमि के करमा और रत्ती हैं। इस समय कैसी मानवीय ऊष्मा का जल इन दोनों के चट्टानी व्यक्तित्व के पथों पर फिर बहने लगा है नहीं तो जंगली आदिमता तो है ही।

क्रमशः एक घोष सुनायी देने लगा था, शायद किसी नदी का था। शायद यह वही नदी आ गयी थी जिसके बारे में रत्ती ने बताया था कि उसके पार से ही सघन वन शुरू होता है जहाँ शाल, शीशम और सागौन की सघनता के कारण दिन में भी धूप नीचे नहीं आती। इधर ही शेर, चीते, चीतल आदि जानवर भी यदा-कदा मिल जाते हैं। इस नदी पर शाम के समय कभी-कभी ये जानवर पानी पीते दिख जाते हैं। गिरिधर ठक्कर ठीक तो नहीं बता सकते कि कितनी दूर चलकर आए होंगे पर घंटे भर से कुछ ज्यादा देर तक चले होंगे। उनके हिसाब से वह बालाघाट की ओर ही चले हैं। चट्टानी पथरीलापन नदी किनारे पहुँचकर जैसे समाप्त हो गया था। सामने के वन से शाल-शीशम और सागौन की वानस्पतिक गन्ध आने लगी थी। चाँदनी सिर ऊपर चढ़ आयी थी। नदी चौड़ी नहीं थी। पानी में बहाव था। चाँदनी में नदी का जल चमका पड़ रहा था। नदी एक भाषा बनकर बह रही थी।

तभी रत्ती बोली,

— बाबू को उस पार मत ले जा। तू ही चला जा और वो तेरा जंतर-मंतर उठा ला।

करमा ने रत्ती की ओर ऐसे देखा जैसे पूछ रहा हो कि तुम नहीं चलोगी ?

— जा, खड़ा क्या है ? मैं बाबू को अकेला नहीं छोड़ सकती।

नदी के किनारे-किनारे थोड़ी दूर तक तो करमा दिखा और फिर ओझल हो गया। रत्ती को उसकी दूकान पर जब पहली बार देखा था तब जो वितृष्णा हुई थी वह इस समय लगभग भय में परिणत लग रही थी। चाँदनी रात में चट्टान पर खड़ी रत्ती किसी आदिम अमानुषी की प्रतिमा लग रही थी। हठात देख लेने पर व्यक्ति मारे दहशत के बेहोश हो सकता है। तभी वह खिलखिला पड़ी। गिरिधर ठक्कर का चौंकना स्वाभाविक था।

— बाबू! यह जंगल जादू का देवता है। यहाँ हजारों गुफाएँ हैं और इन गुफाओं में हमारे पुरखे कभी रहा करते थे।... कभी-कभी रात में वे निकलते हैं....डरने की बात नहीं है बाबू! भलों को वह कोई नुकसान नहीं पहुँचाते।....करमा को थोड़ा टैम लगेगा बाबू!...जानते हो क्या बात थी?

और आवाज करती नदी, चट्टान पर बिछलती चाँदनी और जंगली रात के सन्नाटे में उसने अपने बेइज्जत होने की बात बतायी जिसे सुनकर करमा का खून खौल उठा था पर चूँकि वह भाग गया था इसलिए इसने मारे क्रोध में अपने सेठ से ही बदला लिया। तब भी इसका क्रोध शान्त नहीं हुआ तो सेठानी पर जादू कर दिया। वह तो गनीमत यही हुई कि सेठानी नर्मदा पार चली गयी तो इसका जादू इतना प्रभावकारी नहीं रहा नहीं तो सेठानी घुल-घुल कर मरती। रत्ती ने बताया कि लौटते में जो चीजें करमा दे उन्हें नर्मदा में फेंक देना तो सेठानी एकदम ठीक हो जाएँगी! हम लोगों का जादू नर्मदा के जल को नहीं लांघता। नर्मदा सबसे बड़ी मैया है न?...माँ तो पालन करने के लिए हैं।

बोलती हुई रत्ती को देखते हुए गिरिधर ठक्कर को कभी यह खूँखार अंधी गुफा लगती तो कभी प्रसन्न बहती हुई नर्मदा लगती। और जब उसने कहा कि माँ तो पालन करने के लिए होती है तो वह प्रेत-प्रतिमा से निकलकर वनदेवी जैसी श्यामा-माँ लगने लगी।—तभी करमा का उस पार पुकारना सुनायी दिया। रत्ती ने भी खास किस्म से जवाब दिया और देखते-देखते करमा सामने आ खड़ा हुआ। आते ही उसने सिन्दूर का तिलक गिरिधर ठक्कर को लगाना चाहा तो वह चौंके। इस पर रत्ती बोली,

— बाबू! देवी का टीका है। यही रक्षा करेगा। लगवा लो।

टीका लगाने के बाद उसने लाली-पीले रँगे नाड़ों से बँधे दो सूए दिये तथा कपड़े में बँधे चावल-उड़द जैसी कोई चीज दी और बोला,

— बाबू! मैंने काम तो बहुत बुरा किया था....तुम जितना चाहो मुझे मार लो पर घर जाते समय हुशंगाबाद में नर्मदा मैया में ये सारी चीजें बहा देना और मैया को प्रणाम कर लेना....हो सके बाबू! तो मुझे तुम और सेठानी माफ कर देना....मैं बहुत बुरा आदमी हूँ बाबू!

और उसने धोती की खूँट से अपनी रोती हुई आँखें पोंछी! रत्ती बोली,

— चलो बाबू! तुम्हें यहीं से बालाघाट पहुँचा देते हैं। यहाँ से पास ही है....हम गरीब लोग तुम्हें खाना भी नहीं खिला सके।

गिरिधर ठक्कर किसी को भी अपने जाने के बारे में कुछ नहीं बता गये थे। केवल अपनी माँ से इतना ही कह गये थे कि दो-चार दिनों के लिए बाहर जा रहे हैं। शायद इससे अधिक की जानकारी माँ को चाहिए भी नहीं थी। और कोई ऐसा था नहीं कि जिसे मन की बात बताते। हाँ, गोविन्द गौरा अवश्य ऐसे थे जिन्हें थोड़ा-बहुत कुछ कहा जाता तो सम्भव है ये लोग थोड़ा सुनकर कितना-कुछ समझते। और गिरिधर ठक्कर ने जब आज तक अपने व्यक्तिगत जीवन में किसी को झाँकने भी नहीं दिया था तब गोविन्द-गौरा को क्या बताया जाता? परन्तु लौटने के दूसरे ही दिन वह गोविन्द के यहाँ पहुँचे।

लेकिन घर लौटते समय बराबर कुतूहल बना रहा। नर्मदा में जिस समय वह करमा-रत्ती के द्वारा दी गयी चीजें प्रवाहित कर रहे थे उस समय खासी उत्तेजना थी। नर्मदा का पूर में खिला बिल्लौरी जल कैसा बोलता सा लग रहा था। कैसा प्रवाह था जिसमें इतिहास को भी बहा ले जाने वाली आदिम प्रखरता थी। चारों ओर के पर्वतीय निर्जन परिवेश में से नर्मदा न जाने कब पहली बार चली होगी। तब नर्मदा को न जाने कैसा लगा होगा। उसके बाद कौन जानता है कौन-कौन इसके जल पर से नावों में, पैदल, तिर कर या डूब कर पार उतरे होंगे। क्या किसी दिन विन्ध्य के इस आदिम एकान्त में नर्मदा के मसृण हरित जल को एक क्षण को भी भय नहीं लगा होगा? शायद तरब से भय नहीं लगता तभी तो नर्मदा के कारण विन्ध्य की चट्टानता कैसी रम्य लगती है और पर्वतों के कटाव और गहरेपन के कारण नर्मदा कैसी अन-

स्पर्शित कामिनी सी सुन्दर लगती है। कोई स्पर्श कर ले तो न जाने कहाँ भाग जाए। धूप की कितनी विशाल मलमली कनातें सूख रही थीं। इसी प्रकार रात में चाँदनियाँ भी अप्सरियों सी टहलती होंगी। क्या इन तत्वों में आपस में कोई सम्बोधन, संलाप या सम्प्रेषण नहीं होता होगा? क्या ये सब बिना किसी प्रयोजन के अनन्तकाल से एक-दूसरे के साथ अबोले ही होंगे? क्या भाषा, मनुष्य की भाषा को ही कहा जाता है? क्या मानवीय भाषा पर्वतों के आदिम अनुभवों को व्यक्त कर सकती है? क्या नदी के स्त्रीत्व के लिए मानवीय भाषा के पास कोई शब्द है? चट्टानों को फोड़कर पहाड़ों पर फिसलते खड़े ये सागौन, शीशम और साल के वृक्ष क्या कुछ भी अनुभव नहीं करते? फूलों की सुगन्ध, धूप की ऊष्मा, वर्षा की तेज बौछारें, हाड़ कँपा देने वाली सर्द हवाएँ क्या इन पेड़ों को कुछ भी अनुभव नहीं होतीं? इन्द्रियाँ न हों, पर स्वत्व तो है और अनुभव स्वत्व को होता है, इन्द्रियाँ तो माध्यम हैं। उन्हें लगा कि अभी वह जो नर्मदा में खड़े हैं, जल में उनकी प्रकम्पित छाया प्रवाह के साथ बीत रही है, क्या नर्मदा को भी इस क्षण की कोई स्मृति नहीं रहेगी? क्या स्मृतियों का केवल मानवीय प्रकार ही एकमात्र प्रकार है? नहीं, सृष्टि की भी अपनी स्मृति होती है। हमें उसकी प्रकृति और प्रकार का पता नहीं है अतः उसे मुख्यतः जड़ मानकर निश्चिन्त हो जाते हैं। जड़ तो कलेवर है। एक चेतन ही सर्वत्र, अनाविल रूप से विद्यमान है जो अपने एकान्त को बहुल रूप में व्यक्त कर रहा है क्योंकि उस अद्वैत को न देखा जा सकता है और न ही समझा जा सकता है। यह सृष्टि उसका व्यक्त रूप है जो प्रकृति है। उस एक पुरुष की प्रकृति का नाम ही सृष्टि है जिससे हम माया-भाव से जुड़ते हैं। हमारे और उस पुरुष के बीच इतने विभ्रम हैं कि हम पूर्ण सत्य की जानकारी के अभाव में स्वयं को ही बहुत अधिक महत्व देने लगते हैं। जबकि हम किसी भी अन्य नगण्य की भाँति ही नगण्य हैं। सृष्टि में न मोह है, न आसक्ति है और न किसी प्रकार का भाव। केन्द्रीय शक्ति प्रयोजन है। प्रयोजन के पूरा हो जाने पर आप नगण्य हैं, आपकी कोई उपादेयता नहीं है। आप अपने को लाख महत्वपूर्ण, केन्द्रीय, शक्तिशाली सब कुछ समझें पर एक क्षण में आपका सर्वस्व हरण हो जाता है और आप 'हैं' से 'थे' बन जाते हैं। 'हैं' के इस संसार में 'थे' की कोई आवश्यकता नहीं होती। रोने का नाटक भले ही कितना किया जा रहा हो, पर आप अब वह नहीं हैं।

नर्मदा में पानी कम हो चला था। मिलिटो रंग की बालू का विस्तार फैल आया था। नर्मदा के पेट में धँसी चट्टानें उभर आयी थीं। नर्मदा का जल किनारे की ओर जैसे ढलँग आया था। स्नान के बाद गिरिधर ठक्कर का मन न जाने क्यों नर्मदा के प्रति कृतज्ञता से भर उठा। किसी भी तत्व के स्वरूप का साक्षात् इसी प्रकार की मानसिकता के साथ किया जा सकता है।

पहले भी वह घर लौटते रहे हैं पर कभी सशंकित मन से नहीं पर आज जिस समय वे घर पहुँचे तो गली के मोड़ से ही देख लिया कि माँ छत पर खड़ी हैं। और भी इस तरह उन्हे खड़े देखा होगा पर कभी कोई भाव नहीं आया होगा। न जाने क्यों ऐसा लगता कि जैसे माँ ने भी उन्हे गली में घूमते देख लिया है और वह *शायद नीचे* उतरने के लिए अदृश्य हो गयी। और जिस समय वह दरवाजे पर पहुँचे तो दरवाजा *खटखटायें* इसके पूर्व ही माँ खड़ी दिखायी दीं। पहले भी माँ दरवाजा खोलती रही हैं पर उनकी आँखो मे ही नही बल्कि पूरे व्यक्तित्व में किसी दीवाल-घड़ी के हठात् ठहर जाने की प्रतीति होती थी। वैसे संख्या हैं पर घड़ी की सुइयां *एक खास समय पर जाकर थम* गयी हैं। आपको भ्रम होता है कि घड़ी चल रही है, टिक-टिक की आवाज भी सुनायी पड़ रही है पर सुइयां हैं कि ठहरी पुतलियों सी निर्निमेष हैं।—लेकिन आज पहली बार उन्होने माँ की पुतलियो को काँपते हुए देखा, पलकें थरथराती लगी और लगा कि माँ के मुख पर कोई वाक्य है जिसे वह अपने ओठो में बुदबुदा रही हैं लेकिन गिरिधर ठक्कर सुन नही पा रहे हैं। पहले कभी ऐसा नही लगा कि यह माँ का व्यक्तित्व है पर उस क्षण माँ को अंक में भर लेने को मन हुआ और सच ही उन्होंने माँ को अपने में समेटा तो पहले तो वह थरथरायी, फिर जो बरसने पर आयीं तो रोम-रोम से रो उठीं। पहली बार माँ को मानुषी पाया और वह अन्तरतम से प्रसन्न हो उठे। रुदन सबसे बड़ी विश्वसनीय प्रतिक्रिया है। सारा व्यक्तित्व कैसा निचुड़ उठता है। शारीरिक और मानसिक सारी ऐंठन दूर हो जाती है। जो बात वर्षों-वर्षों किसी कारण से न कह सके हों उसे यदि किसी दिन कहना पड़े तो संकोच तो होता ही है पर भाषा भी छोटी पड़ जाती है। ऐसी विषमता में भाषा में कहना कितना कठिन होता है जब पूरा स्वत्व कहने पर आया हुआ हो। भाषा किस-किस को व्यक्त करे? और तब ऐसे में व्यक्ति भाषा उतार फेंकता है और चीख पड़ता है। समग्रता भाषा के द्वारा नही केवल ध्वनि से ही व्यक्त की जा सकती है। माँ का वह रुदन, गिरिधर ठक्कर के निकट स्पष्ट वाक्यों में तथा सुन्दर अक्षरों में लिखा गया ऐसा आत्मीय दस्तावेज हो रहा था कि जिसके अभाव में यह घर, यह सम्बन्ध तथा स्वयं उनका जीवन ऊसर हो चुका था। जीवन में शायद पहली बार आत्मीयता के अभिषेक में वह नहा रहे थे और उन्हे लग रहा था *कि जैसे माँ ने उन्हें आज ही जन्म दिया।*

जिस समय वह गोविन्द के यहाँ पहुँचे सवेरा जैसा ही था। वह जान रहे थे कि ये दोनों उनके हठात बाहर चले जाने के बारे में अवश्य पूछेंगे पर वह यह नहीं समझ पा रहे थे कि इस बारे मे कितना कुछ बताना ठीक रहेगा। जिस समय वह हाल मे पहुँचे गोविन्द अखबार पढ़ रहे थे। जैसे ही आहट हुई और गोविन्द ने देखा तो अवाक होते हुए बोले,

— वाह गिरिधर भाई ! आप सहसा कहाँ चले गये थे ?
और इतना कहकर जोर से गौरा को सूचना देते हुए बोले,
— देखो तो कौन आया है ?
और गिरिधर ठक्कर ने देखा कि लाल रंग की बनारसी में कहीं जाने के लिए दरवाजे पर गौरा खड़ी थी। जैसे ही अपने गिरिधर दादा को देखा तो बोली,
— आप कहाँ चले गये थे ?
— कहीं खास तो नहीं गया था।
— सुना आपने, दादा क्या कह रहे हैं ?
— मैं क्या सुनूँ, तुम्ही सुनो। जो इन्हें न जानता हो वह आश्चर्य करे।
वस्तुस्थिति को टालने की गरज से गिरिधर ठक्कर ने कहा,
— आप लोग कहीं जाने की तैयारी में हैं।
-- जा तो मैं रही हूँ। आपको तो शायद मालूम नहीं होगा।
— क्या ?
— पंचानन का विवाह तय हो गया है। आज शाम तिलक है।
— चलो अच्छा हुआ।
— क्यों, दादा का निमन्त्रण आपने कहाँ रखा ?
इस पर गोविन्द ने कहा,
— वो देखो, टेबल पर जो लैटर-रैक है, उसमें पीछे दाहिने हाथ रखा है।
इस पर गिरिधर ठक्कर हँसते हुए बोले,
— कितनी चिट्ठियों के बाद है, यह भी बता दो।—गौरा। इतना कील-काँटे से दुरुस्त आदमी बहुत कष्ट देता है।
गौरा निमंत्रण लेकर लौटी थी। उसे देते हुए बोली,
— 'अपनी बहन को देने के पूर्व यह सब आपको सोचना चाहिए था। अब क्या !!— हाँ, आपने बताया नहीं कि आप कहाँ गये थे ? मामी से पूछते हम लोग गये थे....
गोविन्द निमंत्रण पढ़ चुके थे। हँसते हुए बोले,
— बताऊँगा गौरा ! तुम दोनों को तो बताऊँगा ही। जीवन की इतनी बड़ी बात भला तुम लोगों को नहीं बताऊँगा तो और किसे बताऊँगा ? पर मेरा ख्याल है कि इस समय तुम्हें भी जल्दी है। शाम के तिलक के कारण तुम लोग व्यस्त होगे। देखो, हुआ तो कल बैठेंगे।
और जैसे ही वह चलने को हुआ तो गोविन्द ने कहा,
— क्या बिना कुछ खिलाये-पिलाये भेजोगी ?
— चाय आ रही है पर दादा का साथ आप देंगे। मुझे वैसे भी देर हो गयी है। दीदी रास्ता देख रही होंगी।
— तुम जाओ। मेरी चाय की चिन्ता अगर इतनी ही है तो ये गोविन्द किस दिन की दवा है ?

और गौरा जाने के लिए उठ गयी।

दूसरे दिन रात को खाना खाकर गिरिधर ठक्कर, गोविन्द और गौरा तीनों मसनद पर बैठकर बातें करते रहे गिरिधर ठक्कर ने जीवन मे पहली बार इतने खुलकर वैयक्तिक जीवन के बारे मे किसी से चर्चा की और जब वह अपनी यात्रा, यात्रा के प्रयोजन आदि को विस्तार से बता ले गये तो गौरा की आँखें छलछला आयीं। गौरा शायद अपनी रुलाई छुपाने के लिए उठना चाहती थी परन्तु गिरिधर ठक्कर हँसकर बोले,

— पगली कहीं की न जाने कितने लोग इस संसार में ऐसे होंगे जो पीढ़ियों से संतप्त और संत्रस्त होंगे। जीवन मे कभी सुख नाम की चीज देखी भी नहीं होगी... हम लोग तो लाख दर्जे अच्छे हैं। क्या गोविन्द ने कम सहा ? क्या तुमने कम भोगा ? ... और अब तो माँ काफी नार्मल हो गयी हैं।

इस पर गौरा बोली,

— अब आप वह मकान छोड़ दीजिए। क्यों नहीं कहीं खुले में कोई दूसरा खोज लेते ?

— गौरा ! तुमने मेरे मन की बात कह दी। फीगंज में बिजली घर के पास एक पारसी का मकान खाली है।

इस पर गोविन्द बोले,

— मेरा ख्याल है कि मकान-मालिक रहता है उसमें।

— मकान-मालिक न कहो, मकान-मालकिन है जो नीचे के हिस्से मे रहती है। उसका एक ही लड़का है जो मह्र मे मिलिट्री केन्टोमेन्ट में जनरल-स्टोर्स की दूकान चलाता है।

— क्या ऊपर का हिस्सा है।

— हाँ गौरा ! अच्छे-खासे तीन कमरे हैं। बहुत साफ-सुथरा है और किराया भी दस रुपये हैं।

— दस रुपये वैसे ज्यादा ही किराया है। देखते-देखते मकानों के किराये कैसे बढ़ने लगे हैं। आज से चार-पाँच साल पहले फीगंज मे कोई रहने को तैयार नहीं होता था।—ठीक है दादा ! वहाँ के खुले वातावरण में मामी को भी अच्छा लगेगा।

— सोचता तो मैं भी ऐसा ही हूँ।

और गिरिधर ठक्कर उठ खड़े हुए। उन्हें देर भी हो गयी थी। तथा वह इससे अधिक कुछ और बातें करना भी नहीं चाहते थे उन्हें यह अच्छा लगा कि उनके बोलते समय गोविन्द गौरा ने उन्हे टोका नहीं, बस सुनते बैठे रहे।

पंचानन के विवाह का अन्तिम कार्य सत्यनारायण की कथा भी आज समाप्त हो गयी। पूरे विवाह के करियावर के समय दुर्गा अपने क्रोध को रोके रही, कहना चाहिए तरह देती रही। दुर्गा को क्रोध करते देखना तो दूर, किसी ने सुना भी नहीं होगा। अपने-पराये सबके प्रति अत्यन्त सहिष्णु और उदार चरित्र की दुर्गा. शारदा को लेकर आहत और दुःखी दोनों थी। दूर-पास के सगा-सोइयों, जाति-बिरादरी के लोगों ने जब तरह-तरह से तरह-तरह की बातें कहीं तो दुर्गा सकते में आ गयी। और तो और परजाति के घरों में भी जब वह विवाह के तेड़े [निमंत्रण] के लिए गयी होगी, जैसे बड़ी दूकान वालों के यहाँ, सीकामोरी वालों के यहाँ तो उन्होंने पूछा कि आपकी बड़ी बहू आपके भाई गोविन्द के बारे में तो यह कह रही थी, और भी न जाने क्या-क्या...यही सब सुनते-सुनते दुर्गा के कान उस दिन पक गये जब वह झालानी जी की कोठी पर नर्मदा मासी को लेकर कामिनी बेन को विवाह के लिए तेड़ने गयी था। माना कि बहुत ही शिष्ट-शालीन तरीके पर ही उन्होंने पूछा था कि आपकी बहू क्यों इस तरह की बातें करती है? पर यह सुनकर दुर्गा हक्की-बक्की रह गयी। वैसे वह जानती है कि शारदा को बहुत घमण्ड है। अपने पिता की सम्पत्ति, जिसकी कि वही उत्तराधिकारिणी बनेगी, साथ ही अपने पति की कमाई और सामाजिक प्रतिष्ठा का भी तो दर्प है। वह तो कहिए कि सास-ससुर किसी मामले में हेठे नहीं थे नहीं तो अब तक शारदा ने न जाने क्या-क्या रंग दिखा दिये होते। उसका रोज का ही व्यवहार कौन अपनों वाला था? विपु या शशि को अगर 'बड़दा' के यहाँ जाना ही पड़ा तो कैसे माथा उतारनी के ढंग से जाते हैं। कातिक-चौक और मगरमुँहे में दूरी ही कितनी है? पर क्या मजाल जो वार-त्यौहार के अलावा कभी ऐसे ही भूलकर सास के पास आए। किसी दिन पास आकर नहीं बैठी होगी और न तबीयत के हालचाल ही पूछे होंगे।

मेहमान की तरह ही आयी होगी और जाने वालों के साथ लौट गयी होगी। खैर, हमें क्या करना है। दुर्गा को वैसे भी शारदा से कभी अपेक्षा नहीं रही। बड़नगर के बड़े रावले की लड़की सी ठस्के से आयी और शुरू के दिनों में ही व्यक्त कर दिया होगा कि अगर उसे कुछ करना भी है तो वह अपने घर में शायद ही कुछ करे। यह घर तो सास-ससुर का है। यह घर-परिवार सास-ससुर का है—भला इससे उसे क्या लेना-देना ? शायद इसीलिए शारदा का दान-दहेज का सारा सामान यथावत रूप में दुर्गा ने कातिक-चौक वाली हवेली में ही सीधा पहुँचाया था कि पता नहीं कल से शारदा न भी सही तो बहू के माता-पिता ही कुछ कहने लग जाएँ कि हमने तो यह दिया था, पता नहीं उसका क्या हुआ ? हो सकता है शारदा की सास ने अपने बेटे-बेटियों को देने के लिए रख लिया हो। किस-किसका मुँह बन्द किया जाएगा ? दुर्गा शायद ऐसा न भी करती अगर धूर्जटी कायदे का होता। पहले ही वह कौन करेला नहीं था और शारदा के आने के बाद से तो नीम चढ़ा हो गया। इसलिए दुर्गा ने इन बदली हुई परिस्थितियों में अपने को शारदा-धूर्जटी की गृहस्थी से पृथक कर लिया। लेकिन आपके अलग कर लेने से क्या होता है ? दुनिया तो ऐसा नहीं जानती। आप सास हैं और शारदा आपकी बड़ी बहू है। किसी को क्या पता कि आपने भीतर ही भीतर क्या किया। दुनिया को तो यही न पता होगा जो उसे सुनने-सुनाने से या थोड़ा-बहुत ताकने-झाँकने से आ देखने-सूँघने को मिल जाए। आप लाख ढाँक-मूँद कर चल रही हों पर जब शारदा पूरी दबंगई के साथ चौराहे पर घर के मैले कपड़े धोने बैठ जाए तो आसपास के लोगों पर छींटें तो गिरेंगे ही और लोग उस गीलेपन के कारण पूछेंगे नहीं कि क्यों बहू ! घर में धोने की जगह नहीं है ? पारिवारिक काण्डों और प्रकरणों को विस्तार इसी प्रकार की 'विदुषी महिषियों' के द्वारा ही तो मिलता है।

कथा का प्रसाद लेकर लोग जा रहे थे। कुछ ने विवाह सम्पन्न हो जाने पर, कुछ ने नयी बहू के आगमन पर दुर्गा को बधाइयाँ दीं और प्रसाद का दोना आँचल में बाँध कर चलती बनीं। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय की अब वैसी आयु नहीं रह गयी थी कि वह सारा काम सिर पर ओढ़े रहें तब भी वह पूरे विवाह के समय खटती रही हैं। वह तो गौरा और वासुदेव की बहू ने अगर दिन-रात एक न किया होता तो यह दुर्गा के मान का नहीं था कि विवाह की घाटी इतनी आसानी से पार होती। दुर्गा बराबर देखती रही कि शारदा ने किसी दिन किसी काम में हाथ बँटाना तो दूर बल्कि चार बहुओं के बीच सिवाय खिलखिलाते रहने के और कुछ किया हो। दुर्गा ने जब चार बार बुलाया होगा तब कहीं एक बार आयी होगी लेकिन नर्मदा मासी या गौरा ने बुलाया होगा तो क्या मजाल जो गयी हो। जाना तो दूर सुनकर जवाब तक नहीं दिया होगा। दुर्गा को एक बार अपनी अवमानना की चिन्ता नहीं थी परन्तु नर्मदा मासी के साथ यह व्यवहार और गौरा का तिरस्कार उसे कदापि सहन नहीं था परन्तु पूरे विवाह में वह कलह बचाने के ख्याल से चुप ही रही। कान्ता के विवाह में पानदान को लेकर क्या काण्ड मचाया था ? गौरा ने तो किसी दिन न तो कुछ कहा और न

बताया ही पर क्या वह जानती नहीं कि गौरा को बदनाम करने के लिए ही शारदा ने यह प्रपंच किया था ? बड़ी ही विघ्न-विनाशक का अवतार आयी है । वह तो कहो कृष्णशंकर की माँ और मामा लोग समझदार थे नहीं तो बात का बतंगड़ बनाने में तो देवी जी ने कोई कसर नहीं छोड़ी थी ।

जब स्त्रियाँ जा चुकीं तो दुर्गा बड़े दिनों बाद नर्मदा मासी माँ के पास जाकर बैठ सकी । शरीर से थकित और मन से व्यथित जब दुर्गा को देखा तो मासीमाँ ने पूछा,

— बहुत थक गयी होगी । चलो सारा काम निर्विघ्न समाप्त हो गया ।

— मासीमाँ ! आप न होतीं तो क्या यह अकेले गौरा से समेटता ?

— बड़ी सत्पात्र है ।

— गोविन्द की बहू के लिए तो मासीमाँ ! मेरे रोम-रोम से आशीर्वाद निकलता है । भगवान बहू दे तो ऐसी ही नहीं तो

और अपना अधूरा वाक्य जिस प्रकार ताली बजाकर हथेलियाँ जोड़कर सिर से लगाया उससे बहुत अधिक व्यंजित हो गया ।

— दुर्गा ! संसार में सभी तरह के लोग होते हैं । शारदा में अभी बचपना है । जहाँ दो-चार बाल-बच्चे हुए तो सब समझ आ जाएगी और फिर तुम्हें करना भी क्या है । वह अपने घर तुम अपने घर । दिखाने को भले ही वे लोग अलग न लगें पर जानने वाले क्या जानते नहीं हैं ?

— मासीमाँ ! मुझे तो इस शारदा की कोई बात ही समझ में नहीं आती ।

— बुरा मत मानना दुर्गा ! मैं किसी दूसरे मतलब से नहीं कह रही हूँ—तुममें सास के कोई लक्षण नहीं हैं । न काटो पर क्या फूफकारने से भी गये ? इतना सीधा भी किस काम का कि कुत्ता मुँह ही चाटे ?....मैं कहती हूँ तुम किसी दूसरे का सम्मान नहीं करना चाहती हो तो मत करो पर अपने सास-ससुर का तो करो । किसी के लिए तो आदर हो मन में ? माँ-बाप के पैसों पर ऐसा भी क्या इतराना ? मुझे तो बहुत बुरा लगता है जब स्त्रियाँ पूछती हैं कि शारदा ऐसा क्यों कह रही थी ?

— मासीमाँ ! इस बार यह कान्ता के ब्याह के बाद अपने पीहर गयी और लौटने पर वो जो भागमीपुरे में बुआ जी हैं न ?

— अनुप्या बेन ।

— हाँ, उनके घर बोली कि उसकी माँ को लगता है कि सासूमाँ, मतलब मैं, कुछ जादू-मन्तर, टोना-टोटका करवाये हूँ ताकि उसके कोई बाल-बच्चा न हो । हुई न यह इसकी माँ जैसी ही बात ? जैसा सुनती थी कि कान्ता की सास सुशीला बेन को जैसा दुःख इस बहू की माँ ने दिया वैसा तो कोई दुश्मन भी नहीं देता है ।

— सुना तो मैंने भी है दुर्गा !

— कोई माँ अपने बेटे-बहू के घर बच्चा न हो ऐसा सोच सकती है ? करना तो दूर

की बात है ।

— दुर्गा ! जाने दो क्या करोगी ?

— गोविन्द-गौरा के लिए यह क्या-क्या बातें नहीं करती है । गोविन्द हमारी सम्मति
मार ले गया नहीं तो वह सब हमें ही मिलता । गौरा की माँ तो भीख माँगती
थी । भला गोविन्द जैसे पगली के लड़के को गौरा के अलावा मिलता कौन था ?
इसमें विष्णु काका की लड़की रेवा का सम्बन्ध हम लोग माँगने गये थे तो इसके
घर वालों ने मना कर दिया । मैं कहती हूँ मासीमाँ यह आखिर चाहती क्या
है ?... मैं सोचती थी कि चलो दो-चार बरस में सबके ब्याह-शादी निबट जाएं
तो अपने सामने ही सबका हिस्सा-बाँट हो जाए । पर मुझे ऐसा लगता है कि
इसके पहले ही हो जाए तभी ठीक है ।

इस पर नर्मदा मासी हँस पड़ी ।

— यही तुम्हारी समझ है ?

— क्यों ?

— घर-मकान, जमीन-जायदाद, रुपये-पैसे का ही तो हिस्सा-बाँट करोगी न ?

— सब अपना-अपना घर बार सम्हालें । हमारी तो साँसत दूर हो ।

— दुर्गा ! मैं यह नहीं कहती मत करो । कर दो, करना भी चाहिए पर यह याद
रखो कि दुनिया में कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जिन्हें तुम कभी नहीं समझ सकते ।
जिसके सींग झगड़ने के लिए खुजलाते हैं वह बालू में ही सींग घुसाकर अपनी
खुजली मिटा लेते हैं । जो दोगी उसके बारे में तो डकार नहीं ली जाएगी पर जो
नहीं मिलेगा उसके लिए वो-वो आल्हा घर-घर जाकर गाया जाएगा कि तुम
चकित रह जाओगी ।

— मासीमाँ ! मेरी तो कुछ समझ में नहीं आता ।

— इससे काम नहीं चलेगा दुर्गा ! जैसे प्रेम आवश्यक है वैसे ही ताड़ना भी जरूरी
होती है । आज्ञाकारिणी बहू सास-ससुर की आँख की पुतली होती है परन्तु बरा-
बरी, शहजोर बहू आँख का तिनका होती है और उस तिनके को किसी उपाय से
निकालना तो पड़ता है । कितनी देर तक आँख का किरकिराना सहा जा सकता
है ?— मुझे तो तुम्हारी भी गलती लगती है इसमें ।

— क्या ?

— तुमको उस पर अंकुश रखना चाहिए। ठीक है जिस दिन अलगौझा हो जाए । एक
लकड़ी के दो टुकड़े हो जाएँ उस दिन के बाद से, हमारी बला से वह जो चाहे
करे, पर जब तक है उसे हमारे कहे में रहना चाहिए । दुनिया में सभी को अपनी
पत्नियाँ प्रिय होती हैं तो ठीक है पति के साथ सेज पर जो चाहे करो, पर घर में
तो घर की मर्यादा, सम्बन्धों के बीच ही चलना होगा ।—क्या हम नहीं बहू रहीं
हैं ? क्या तुम नहीं बहू थीं ? ठीक है दीदी की तरह भी सास को नहीं होना चाहिए
पर शारदा की तरह भी तो बहू को नहीं होना चाहिए । मुझे तुम्हारा यह गाम-

पना समझ में नहीं आता। पूरे ब्याह में मैं तो जान-बूझकर ही उससे ज्यादा नहीं बोली वर्ना उसकी मजाल थी जो एक बार बुलाने पर न आती? सासें, ननँदें सब मरे-खपें और यह ऐसी लाट-गवर्नर हो गयीं कि ठिठोली से फुर्सत ही नहीं है।—तुम क्या सोचती हो कि इसकी सारी बातें हमें नहीं पता हैं?—और सच तो यह है दुर्गा! कि इसमें सबसे ज्यादा गलती धूर्जटी की है। तुम्हें उसे डपटना चाहिए। ठीक है बड़े हो गये हो, चार आदमियों में नाम भी हो गया है, चार पैसे कमाने लगे हो पर यह क्या बात हुई? स्त्री ने कान में फुसफुसा दिया तो अब उसके चारों ओर मँडरा रहे हैं।

तभी कल खुलने की आवाज हुई और दोनों देखा कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल, पण्डित नागेश्वर उपाध्याय के साथ चले आ रहे हैं। दुर्गा ने मौसिया ससुर को देखा तो सिर का पल्लू थोड़ा खसका लिया। पण्डित नागेश्वर उपाध्याय ने अपनी पत्नी को सुनाते हुए कहा,

— तो तुम अभी यहीं हो?

— क्या आप घर से आ रहे हैं?

— घर नहीं गया वर्ना यहाँ ताला ही पड़ा मिलता। वो तो कहो त्र्यम्बक दिख गया तो याद भी आया कि आज सत्यनारायण की कथा भी थी। हो गयी कथा क्या?

— आपको धरम-करम की बातों से क्या लेना-देना?

— क्यों, प्रसाद से तो है ही।

— प्रसाद ही क्यों, घर वालों का तो भोजन भी है।

— तुम्हारी दीदी का घर है इस नाते से चलो मैं भी घर वालों में शामिल कर लिया जाऊँगा।

और सब लोग बैठक में आ गये। तकिये से आराम से पीठ टिकाते हुए पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बोले,

— चलो, त्र्यम्बक! आधी घाटी तो पार कर ही आए। मणि का लग्न भी हो जाए तो लड़कों का क्या।

— आपके आशीर्वाद रहे मासाजी! तो बाकी की घाटी भी...

— त्र्यम्बक! आशीर्वाद वाली बात तुम अपनी मासीमाँ से करो। ऐसे करियावरों में मरना-खपना, करना-खटना इनको आता है।

इस पर तपाक से श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय बोलीं,

— और आपको क्या आता है? धरमशाला में पहुँच कर कपड़े बदल कर बढ़िया सा सोला-मुकुट निकाला और पहना। इसके बाद पत्तल पर बैठ गये। त्रिपुण्ड्र लगाने वाले के सामने माथा कर दिया। ठीक से देख लिया कि दक्षिणा और सुपारी रखी है या नहीं। और फिर ब्रह्मार्पण किया और....

— क्या तुम भी, कितनी देर कर रही हो इतनी देर में तो पत्तल के दाल-चोखे [चावल] ठण्डे हो जाएँगे तब भला लड्डू खाने में देर नहीं हो जाएगी? ..

और सब हँस दिये। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,

— बड़ा अच्छा संयोग है कि अभी न तो बच्चे ही हैं और न कोई बाहर का ही मौजूद है।

नर्मदा मासी की बात सुनकर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल चौंके कि क्या बात है।

— अभी आप लोग आये तभी हम दोनों सास-बहू बैठकर घर-गृहस्थी की बातें कर रही थीं। असल में आदमी लोगों को जब तक उनकी आँख में अँगुली डाल कर न दिखाया जाए तब तक उन्हें कुछ नहीं दिखलायी देता।

इस पर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बोले,

— तुम्हारा मतलब अगर मुझसे है तो....

— आप दुनिया से कोई न्यारे नहीं हैं। यह त्र्यम्बक यों तो अपने को बहुत लगाता है, बड़ा नाम है। सारी दुनिया 'शुकुलजी महाराज' 'शुकुलजी महाराज' करती है पर इसे पता है कि घर में क्या हो रहा है?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने अपनी खुल गयी चोटी में गाँठ लगाते हुए कहा,

— मासीमाँ! हो सकता है बातों के बारे में बहुत विस्तार से न जानता होऊँ पर पतीली का एक चावल देखो तो वही बात और दूसरा चावल देखो तो वही बात। ऐसा नहीं कि बातें समझता नहीं हूँ।

— तो ऐसे समझने से क्या फायदा कि जिससे गलत आदमी को बराबर शह मिलती रहे?

इस पर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बोले,

— ये बातें अपनी तो समझ में कुछ आ ही नहीं रही हैं।

— ये बातें धूर्जटी और उसकी बहू को लेकर हो रही हैं।

— क्यों क्या हुआ इन दोनों को? धूर्जटी की बहू तो....

इस पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,

— अच्छा हुआ जो भगवान ने आपको दस-पाँच बाल-बच्चे नहीं दिये वर्ना मेरी भी वही साँसत होती जो बेचारी दुर्गा की हो रही है।

— क्यों त्र्यम्बक! तुम्हारी मासी क्या कह रही हैं?

— मामाजी! घर-घर मिट्टी के चूल्हे हैं। चार बर्तन हैं, टकराते हैं तो आवाज तो होती है। असल में शारदा का अपना खास स्वभाव है। आदमी अपने स्वभाव का गुलाम होता है। वह जहाँ बैठती है, जिन भी लोगों में बैठती है, जो मुँह में आता है कहती है। बिना यह सोचे-समझे कि वह किसके बारे में, क्या कह रही है।

इसका विरोध करते हुए श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,

— ऐसी बात नहीं त्र्यम्बक! कि वह नहीं जानती हो कि किसके बारे में क्या कह रही है।

— तो मासीमाँ! बताइए कि क्या किया जाए? किसी को अगर इस बात की चिन्ता

न हो कि घर-परिवार की एक इज्जत होती है तो आप क्या कर सकते हैं ?

— मुझे तुम दोनों की यह सदाशयी विवशता समझ ही में नहीं आती ।

पत्नी की इस बात पर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बोले,

— तो तुम क्या चाहती हो कि बाप-बेटे और सास-बहू में झगड़ा हो जाए ?

इस पर खीझते हुए श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,

— यही आप मुझे समझ पाये इतने वर्षों में ? ऐसी ही लड़ाने वाली होती तो दीदी के जमाने में इस दुर्गा को वो-वो समझाती कि अब तक दुर्गा मँज-मँजाकर बक्की [छुरी] हो गयी होती ।

— पता नहीं क्या बात है जो तुम धूर्जटी की बहू पर इतना बिगड़े हुए हो ।

— जब आपको पूरी बात पता ही नहीं है तो क्यों आधी रोटी पर दाल झेलने दौड़ पड़ते हैं ?

इस पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— माताजी ! बात कुल इतनी है कि वह अपनी माँ के कहने में चलकर अपनी ससुराल में भी वह वैसा ही नरक घोलना चाहती है जैसा कि उसकी माँ ने अपनी ससुराल में किया । इसलिए इस परिवार और इससे जुड़नेवाले दूर-पास के लोगों के बारे में भी जो और जैसा मन में आता है लोगों से कहती है ।

— तो क्या धूर्जटी को नहीं मालूम है यह ?

— हो सकता है न मालूम हो ।

दुर्गा अभी तक चुप बैठी थी पर इस बार बोली,

— पत्नी बड़बोली होती ही पति की शह पर है ।

— मान लो बहू को घर की इज्जत का इतना ध्यान न हो पर धूर्जटी को तो सोचना ही चाहिए । उसकी इज्जत का भी ख्याल है ।....अरे हाँ एक बात याद आयी ।

सब चौंके कि पता नहीं पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को कौन सी बात याद आयी । वह बोले,

— अच्छा, अच्छा, वो भार्गव वकील साहब कुछ पूछ रहे थे कि यह गोविन्द के घर का क्या किस्सा है ?

— कैसा किस्सा ?

पण्डित त्र्यम्बक ने चौंकते हुए पूछा ।

— आज आठ-दस दिन से भी ज्याद हुआ होगा तो वह कह रहे थे कि धूर्जटी ने उनके पास रतलाम के किसी सज्जन को भेजा था जो पहले इसके मालिक थे ।

इस पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,

— लेकिन आपने मुझे तो कुछ नहीं बताया ।

— एक तो भूल गया और मुझे यह कोई खास बात नहीं लगी । भार्गव साहब को नहीं पता था कि रतलाम वाले सज्जन मेरे भतीजे थे ।

— क्या कह रहा था बसन्ती उनसे ?

— बसन्ती ने यों कहा कि मकान तो गोविन्द को वैधानिक ही बेचा गया है।
इस पर दुर्गा बोली,
— मासीमाँ! घुर्जटी के माध्यम से उसकी बहू चाहती है कि कुछ न सही तो मुकदमे-बाजी ही हो।
इस पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,
— तो गोविन्द का क्या जाएगा? उसे तो वकील की जरूरत होगी नहीं और बसन्ती के वकील के रूप में खुल्लमखुल्ला तो बच्चू घुर्जटी आएँगे नहीं। टट्टी की ओट से शिकार खेला जाएगा। मुसीबत होगी तो उस गधे को होगी।
पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बोले,
— पर बसन्ती ने एक बार भी इसकी जिद नहीं की।
— कैसे करता? वह बेचारा तो मोहरा है।
— कमाल है, बाप तो बड़े कामदार थे, ठाकुरों-ठिकानों को ठिकाने लगाते थे और बेटे ऐसे निकले कि पहले हल्ले में ही झोल खा गये।

तभी बाहर का दरवाजा खोला और गोविन्द दिखा। उसे देखते ही पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बोले,
— अकेले? गौरा कहाँ रह गयी?
इस पर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,
— जी वो सवेरे से आप लोगों के लिए ऊपर भोजन बना रही है।
हँसते हुए पण्डित नागेश्वर उपाध्याय ने कहा,
— भोजन की चर्चा कब से हो रही है और अब सुन रहा हूँ कि सवेरे से बन रहा है पर अब देखना है कि इस मनुष्य योनि में प्राप्त होता है कि नहीं।
सब हँसने लगे। तभी गोविन्द बोले,
— काका! मुझे कुछ आसार ठीक नजर नहीं आ रहे हैं।
किसी ने भी वाक्य को महत्व नहीं दिया। केवल पण्डित नागेश्वर उपाध्याय ने पूछा,
— क्या? कैसे आसार?
— राजनीति के।
— क्यों? कोई खास बात हुई?
— जयपुर-सम्मेलन से रावल जी आज ही लौटे हैं और वहाँ देशी रियासतों में भी स्वायत्त-शासन के लिए आन्दोलन करने का प्रस्ताव पास हुआ है तो सरकार किसी भी समय कुछ कर सकती है।
इस पर हँसते हुए पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बोले,
— चलो तब तो जल्दी से बढ़िया खाना खा लिया जाए पता नहीं कितने दिन जेल में रहना पड़े। लेकिन गोविन्द! इस बार तो तुम भी नहीं बचोगे।
— आँधी जब आती है तो पत्ते भी दौड़ने लगते हैं।
पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल यह सुनकर सन्नाटे में आ गये थे।

— क्या सच ही हमारी सरकार कुछ करेगी ?
इस पर गोविन्द बोले,
— प्रायः तो सरकारें झपट्टा मारना ही चाहती हैं ताकि आप उन पर वार न कर सकें। कभी धोखा खा जाएँ यह बात दूसरी है—पर आप चिन्तित क्यों हैं ?
— चिन्तित नहीं। समय का बदलना देख रहा हूँ।...वैसे कब तक होगा ?
— होने का कोई समय नहीं होता जीजा जी ! पुलिस इस समय भी आ सकती है और आधी रात को भी।
इस पर दुर्गा बोली,
— तो तुम और गौरा दो-चार दिन यहीं रहोगे।
हँसते हुए गोविन्द बोला,
— पुलिस को ले जाना होगा तो क्या यहाँ से नहीं ले जा सकती है ?
— तुम वकील क्या हो गये हो बहस बहुत करते हो। ठीक है तुम अपने घर जाओ पर गौरा को नहीं ले जाओगे।
— खतरा मुझे है दीदी ! गौरा को नहीं।
— मुझे ही सब लोग परेशान करते हैं....मैं किसी को कहीं नहीं जाने दूँगी।

अभी वाक्य पूरा भी नहीं हुआ था कि दरवाजे पर आहट हुई। प्रायः तो लोग कल खोलकर आते हैं पर जब दरवाजे पर आहट होती है और भीतर कोई नहीं आता तो समझ लिया जाता है कि आगन्तुक कोई बाहरी व्यक्ति है।
तभी दरवाजे की कुण्डी खट्खट् हुई है और आवाज सुनायी दी,
— कोई है ?
पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल धड़कते दिल से उठे और दरवाजे पर पहुँच कर देखा कि— पुलिस ! ! बोले,
— शुकुल जी ! हमें क्षमा करें। हमें मालूम हुआ है कि आपके यहाँ पण्डित नागेश्वर उपाध्याय और पण्डित गोविन्द जोशी आये हुए हैं। उनके नाम वारन्ट हैं।
'वारन्ट' शब्द सबने सुना और दुर्गा सन्न रह गयी। क्या इतनी जल्दी सब घटित हो गया ? पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने उन्हें भीतर बुलाया। इंसपेक्टर और तीन-चार पुलिस के जवान थे।
— इंसपेक्टर साहब ! आज हमारे यहाँ कथा थी। अब हम लोग भोजन करने के लिए बैठने ही वाले थे। क्या....
— नहीं, नहीं, भोजन कर लें, हम लोग बैठे हैं। क्या करें महाराज ! हमारा काम ही ऐसा है।
— हाँ भाई, काम भी सरकारी। आप भी प्रसाद लें तब तक ये लोग भोजन कर लें।
और किसी प्रकार भोजन हुआ और पण्डित नागेश्वर उपाध्याय तथा गोविन्द को लेकर पुलिस चली गयी।

दूसरे दिन सवेरे तक धर-पकड़ होती रही। सारे संभावित नेता लोग पकड़ लिये गये। शायद गिरिधर ठक्कर को लेकर पुलिस थोड़ी परेशान रही क्योंकि वह घर पर नहीं थे, उज्जैन के बाहर गये हुए थे इसलिए पुलिस ने सारे रास्तों पर नाकेबन्दी कर रखी थी। वह सावेर गये हुए थे। वहाँ रात ही में इन्दौर जाने वाली आखिरी बस से खबर पहुँच चुकी थी कि उज्जैन में धर-पकड़ शुरू हो गयी है। लोगों ने गिरिधर ठक्कर से कहा कि क्यों नहीं आप इन्दौर होते हुए खण्डवा वगैरा चले जाते। वह केवल हँस दिये। क्या भागते फिरने के लिए राजनीति में गये हैं? और किसी खास मौके पर भागा भी जा सकता है पर यह तो कोई ऐसी बात नहीं है और वह ताँगे से ही उज्जैन रवाना हो गये। उन्हें पूरी आशा थी कि क्षिप्रा पर अवश्य ही पुलिस लगी होगी और अगर उनका सोचना सही है तो वह क्षिप्रा पर ही गिरफ्तार कर लिये जाएँगे। पुलिस कल से अवश्य ही उनके घर के चक्कर लगा रही होगी। शायद है माँ को कुछ चिन्ता हो। क्या किया जा सकता है? सार्वजनिक कामों के समय व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा का विशेष ध्यान नहीं रखा जा सकता है। ताँगे में बैठे हुए वह चिन्तित नहीं, उत्सुक थे कि पता नहीं सरकार ने किसको छोड़ा होगा। वैसे आश्चर्य यही था कि प्रायः तो होल्कर सरकार ही इस तरह की राजनीतिक धर-पकड़ में आगे रहती है। ग्वालियर-राज्य में सारा कार्य लस्टम-पस्टम ही चलता है पर इस बार न जाने कैसे सींधिया सरकार होल्करों से बाजी मार ले गयी। और क्षिप्रा के पुल पर आशा के अनुरूप ही पुलिस तैनात मिली और गिरिधर ठक्कर को ताँगे से उतार लिया गया। ताँगे वाले और बाकी तीनों सवारियों ने देखा कि गिरिधर ठक्कर को पुलिस ने गाड़ी में बैठाला और उज्जैन की ओर दौड़ चली।

सावेर से चलते समय बस-अड्डे पर जब गफूर का ताँगा उज्जैन आने के

लिए तैयार खड़ा देखा तो बस की प्रतीक्षा करना बेकार समझा। गफूर ने भी जब गिरिधर भाई को देखा तो खुश हो गया। गिरिधर ठक्कर ने कुछ टोह लेने के ख्याल से पूछा भी कि, कहो गफूर मियाँ! क्या हाल हैं शहर के? उस बेचारे को भी क्या मालूम था। वह तो कल सावेर के पास एक गाँव की सवारियाँ लेकर उन्हें उनके गाँव छोड़ने आया था। गाँव से लौटा तो रात हो गयी। सोचा रात में सावेर ही रुक लिया जाए और सबेरे सवारियाँ लेकर उज्जैन लौट जाएगा। बाकी धर-पकड़ या गिरफ्तारी के बारे में उस बेचारे को क्या मालूम, जो गिरिधर भाई को बताता? और सवारियों को इन बातों से क्या मतलब हो सकता था? हाँ, उज्जैन पहुँच कर भले ही कुछ मालूम हो और पता नहीं अभी पूरी उज्जैन को भी मालूम है कि नहीं, कौन जाने? पर जब क्षिप्रा के पुल पर गिरिधर भाई को पुलिस ने ताँगे से उतारा तो सवारियाँ और गफूर सभी सकते में आ गये कि क्या बात हो गयी? इसका मतलब तो हुआ कि उज्जैन में कुछ गड़बड़ी हुई है? गफूर की समझ में नहीं आ रहा था कि कल तक तो कहीं-कुछ नहीं था, रात भर में ही ऐसा क्या हो गया? भैया, ये राजनीति की बातें हैं। पता नहीं कैसे गफूर ने कोठी के गुम्बद दिखने पर पर स्वतः से ही बोलते हुए कहा,

— भैया, ये सब बड़े लोगों की बातें हैं आज ये जेल जा रहे हैं तो कल ये ही तो राज भी करेंगे, हम लोगों का क्या, ताँगा आज भी हाँकते हैं और ताँगा कल भी हाँकेंगे।

और सवारियों ने देखा कि गफूर ने अपने वादे के मुताबिक दस बजे फ्रीगंज पहुँचा दिया। फ्रीगंज के घंटा घर में ठीक दस बज रहे थे।

कोतवाली पहुँचकर मालूम हुआ कि जितने नेता उज्जैन में मौजूद थे वे सब कल शाम ही को पकड़ लिये गये थे। कोतवाली में मौजूद सभी को आश्चर्य था कि गिरिधर ठक्कर अभी तक क्यों नहीं आये। किसी को नहीं मालूम था कि वह सावेर गये हैं, उज्जैन में हैं ही नहीं। जब नौ बजे के लगभग गिरिधर ठक्कर भी कोतवाली में लाये गये तब लोगों को पता चला कि हजरत यहाँ थे ही नहीं। लोगों का ख्याल था कि गिरफ्तारी की सुगबुग मिल गयी होगी, तो शायद है कहीं खसक लिए हों। हालाँकि गिरिधर ठक्कर इस प्रकार के व्यक्ति नहीं थे। वैसे होने को तो कई लोग नहीं थे। अयाचित वकील तो शायद ग्वालियर किसी मुकदमे के सिलसिले में गये हुए थे इसलिए हो सकता है कि वहीं पकड़ लिए गये हों, हाँ पुस्तके साहब जरूर अपने स्वास्थ्य के सिलसिले में पिछले पन्द्रह दिनों से पूना के पास लोनावाला गये हुए थे, इसलिए उनके इस समय होने का प्रश्न ही नहीं था। बाकी के सभी तो मौजूद थे। शायद वकीलों के एक दल ने यह स्टेटमेण्ट दिया है कि वह देशी रियासतों में स्वायत्त-शासन

को सिद्धान्त रूप में तो स्वीकार करते हैं पर ग्वालियर राज्य में श्रीमन्त की छत्रछाया में सरदार आंग्रे आदि का जो मंत्रि-मंडल है वह स्वायत्त-शासन की मांग को काफ़ी सीमा तक पूरा करता है। अच्छा होता कि श्रीमन्त सरकार इस मंत्री-मण्डल में किसी जन-प्रतिनिधि को भी शामिल कर लेते पर इसके लिए किसी जन-आन्दोलन को हम लोग अनावश्यक समझते हैं। वकीलों के इस समुदाय में धूर्जटी भी था इसलिए सरकार ने इन लोगों को नहीं पकड़ा।—अभी किसी को पता नहीं था कि यहीं भैरोगढ़ में इन्हें रखा जायगा या कहीं बाहर ले जाया जाएगा और तभी शहर कोतवाल नरसिंहराव जाधव ने सूचना दी कि सबको मुँगावली ले जाया जाएगा। यदि किसी को घर से कुछ मँगवाना हो तो बता दे।

उज्जैन जैसे शहर के लिए एक साथ सार्वजनिक-सभा के इतने नेताओं की गिरफ्तारी बहुत बड़ी खबर थी। सबके पास अपनी-अपनी सूचनाएँ, खबरें, व्याख्याएँ और भाष्य थे। कोई भी अपने को इस मामले में हेठा नहीं पड़ने देना चाहता था। प्रायः तो इस चौराहे की इस सड़क-गप्पाष्टक मण्डली में अपने-अपने ही सुर अलापे जाते हैं पर आज सबके पास एक ही विषय था।

— यार, पर ये हो क्या रहा है ?
— रण्डी का नाच।
— *की न भड़वों की सी बात। साले, चार भले लोगों में कैसी बात की जाती है इसे घर वालों ने तो ही नहीं सिखाया होगा पर पड़ोस में तो कोई शास्त्रीजी रहते ही होंगे।*
— चिढ़ गया साला। अबे इत्ती मोटी बात के बारे में पूछ रहा है कि ये क्या हो रहा है ?
— अच्छा अब तू मत बोल बे। हाँ, तुम क्या पूछ रहे थे ?
— अपने बाप का नाम और पता।

इतना सुनना था कि बैठा हुआ मारने को नीचे उतरा और खड़ा हुआ लपक लिया। वो-वो गाली-गुफ्ता हुई कि फिर सारी बात बीच ही में रह गयी। पर आढ़तियों और व्यापारियों में धन्धे की बात के बजाय सब इसी पर झूमे हुए थे कि अब क्या होगा ?

— भैया राजमल ! जब तुम्हारी दूकान कोई लेने का एलान करे तो क्या तुम गोमुखी में माला फेरते बैठोगे ? वही सरकार ने किया। जयपुर अधिवेशन में देशी राज्य परिषद वालों ने देशी राज्यों में भी स्वायत्त-शासन की मांग के लिए आन्दोलन

करने का प्रस्ताव पास किया तो सरकार ने ये इतनी पुलिस और सेना क्या अपनी ऐसी-वैसी के लिए जमा कर रखी है ?

— तो ब्रिटिश भारत में भी तो कांग्रेस यही कर रही है।

— वाह यार नानकचंद ! लाखों गज कपड़ों के थान नाप दिये होंगे पर कभी अपनी बुद्धि नापकर नहीं देखी। अंग्रेजों से स्वायत्त शासन की माँग तो समझ में आती है कि वे विदेशी हैं पर देसी राज्यों की बात भी क्या वैसी ही है ?

— बढ़-चढ़ के तो तुम बाबूलाल, ऐसे बोल रहे हो जैसे सारी जानकारी रखे हो। कांग्रेस का और चाहे सार्वजनिक-सभा का या प्रजा-मण्डल का हो, स्वायत्त शासन से मतलब जनता का शासन से है। तुम्हारे यहाँ ये मराठे सरदारों का मंत्री-मण्डल क्या जनता का है ?

— अच्छा तुम्हारी बात सही हो, तो फिर यह सब धर-पकड़ तो होगी ही।

— धर-पकड़ ? भाई जान, राज्य के लिए खून-खराबे तक होते हैं। वो तो गांधी जी की मेहरबानी से अब तक बचे हुए हो वर्ना....

— ले आये न तुम हर बात में अपना गांधी !...मैं कहता हूँ कि गांधी जी सात जनम तक आजादी नहीं दिला सकते।

— भैया, सात जनम तक तो यह कलियुग भी नहीं रहेगा—जोड़ लो हिसाब....परीक्षित कब हुआ था यार ?

— औरंगजेब के बाद।

और सब हँस पड़े। पर वकील और नयी उमर के लोगों में काफी चिन्ता थी।

— सुना है कुछ वकीलों ने सार्वजनिक-सभा के सदस्य होने पर भी स्वायत्त शासन को लेकर कुछ लीपापोती वाला स्टेटमेण्ट दिया है।

— तो इसीलिए ये शुक्ला वकील आदि लोग नहीं पकड़े गये ?

— यार, ये धूर्जटी वकील बड़ा काइयाँ है।

— बिल्कुल राजनीति के काबिल आदमी हैं।

— यार, अगर राजनीति में वकील ही घुसे रहें हो तो ये लोग वहाँ भी दाँव-पेंच लगायेंगे ?

—भैया, मुफ्त का पैसा, दीमागी ऐयाशी का शौक और समय जिसके पास हो वह जाए राजनीति में। ये सामने बैठे हुए बनिये-व्यापारी जाएँगे ?

— ये तो प्यारे, नेताओं की गायें हैं।

— तुम तो यार, नेताओं को ऐसा कह रहे हो जैसे परम मूर्ख हों।

— अरे, अभी भले ही दस-पांच चरखा चलाने वाले, तकली कातने वाले दिख रहे हों पर आजादी आ जाने के बाद क्या होगा ? जब सरकार में चले जायेंगे तो फिर सरकार में बने रहना भी चाहेंगे और देख लेना देश और सरकार में दरार बढ़ती ही जाएगी।

— वाह यार, बात तो तुम पते की कह रहे हो।

— हमेशा यही हुआ है कि आजादी और क्रान्ति के पहले जो नेता लोगों के बीच बैठे थे, वे साले सरकार में पहुँच जाने के बाद ऐसे तोताचश्म हो जाते हैं कि बिना पहरे के शायद....

— बस यार, यो लोग सुन लेंगे वो ठीक से कर भी नहीं पाएँगे।

लोग हँसे मगर किसी ने कहा,

— सुना मुंगावली ले गये हैं।

— तो अब क्या होगा ?

— कुछ तो होगा ही। दो-चार दिन में जनता से हड़ताल करने को कहा जाएगा। ब्रिटिश भारत में पहला चुनाव होने जा रहा है।

— सब जानते हैं कि कांग्रेस ही जीतेगी।

— ज्यादातर प्रान्तों में तो जीतेगी ही पर बंगाल, पंजाब, सिन्ध, सीमाप्रान्त में मुश्किल है ?

— यह जिन्ना और मुस्लिम-लीग का अच्छा तमाशा है।

— तुम इसे तमाशा कह रहे हो। जनाब, अंग्रेज बहुत दूरदर्शी कौम है। तुम्हें याद है न कि पहले हिन्दुस्तान के नक्शे में बर्मा, लंका आदि भी थे ?

— हाँ, थे तो।

— जैसे ही यहाँ जन-जागरण और राजनीतिक चेतना आयी उसने इन दोनों को हिन्दुस्तान से अलग कर दिया। जैसे-जैसे हम आजादी की तरफ बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे अंग्रेज हमारे देश को छोटा करता जा रहा है ताकि जिस दिन बाध्यता में आजादी देनी ही पड़ी तो एक टूटा-फूटा देश आपको मिल जाएगा। अन्तिम रूप से उसके दिमाग में है कि बलूचिस्तान, सीमाप्रान्त, सिन्ध, पंजाब और बंगाल इस देश के हाथों से निकल जाए। दक्षिण से उत्तर का कोई खास ऐतिहासिक सम्बन्ध है भी नहीं। इस तरह क्या बचेगा ?

— यार, तुम तो बहुत ही पते की बात बता रहे हो।

— अपना यह माणकलाल सर्राफ कोई ऐसा-वैसा आदमी है ? गिरिधर भाई के साथ रहता है और युवराज लाइब्रेरी की सारी किताबों को आप जो समझते हैं कि दीमक खा गयी हैं, नहीं—अपने माणक भैया ही....

और सब हँस पड़े। किसी ने पूछा,

— अच्छा यार माणक ! यह बताओ कि इस राजनीति का चरित्र कभी बदलेगा ?

इस पर माणक बोला,

— तलवार क्या हमारे युग में तलवार नहीं है ?

— तो फिर यह गाँधी जी जैसे लोग क्या कर रहे हैं ?

— आपको हुआ तो आजादी दिला देंगे। उसके बाद आप जानें और आपका काम जाने। तलवार को नष्ट तो किया जा सकता है पर उसकी प्रकृति को तो मेरा ख्याल है गाँधी जी क्या स्वयं भगवान भी नहीं बदल सकते। सच तो यह है कि

गांधी जी देशभक्ति कर रहे हैं। आजादी के बाद जब यह देशभक्ति, राजनीति बन जाएगी तब देखना आनन्द ही आनन्द होगा।

और 'आनन्द' कहते हुए माणक ने जो मुद्रा बनायी उसमें कुछ को हँसी आ गयी।

— तो तुम्हारा मतलब है कि राज्य चाहे कैसा भी हो, सब एक सरीखे होते हैं!

— मावे की सारी मिठाइयों में शक्कर और भूनने से जो थोड़ा अन्तर पड़ता हो, वह अलग बात है नहीं तो स्वाद सबका एक जैसा ही क्या नहीं होता?

— तो तुम्हारा मतलब यह कि यह जो आजादी की लड़ाई, आन्दोलन है यह सब झोल है?

— यह मैंने नहीं कहा। मैंने तो राज्य, राजनीति और समाज के तालमेल को सामने रखकर कहा कि राज्य का मतलब सत्ता होता है, राजनीति का मतलब सत्ता की लड़ाई होता है और समाज का मतलब इस लड़ाई का कच्चा माल। यदि गलत-फहमी नहीं होगी तो निराशा नहीं होगी—बस।

इस पर किसी ने कहा,

— ये सब किताबी बातें हैं। तुम्हारी बातों से तो लगता है कि यह स्वाधीनता का आन्दोलन बेकार की चीज है। तुम ही एक समझदार की दुम हो।

— तुम साले माणक की बात कुछ समझे भी कि यों ही बोल रहे हो?

— आप बड़े समझ गये हैं। गांधी, जवाहरलाल, सरदार पटेल जैसे लोगों से ज्यादा समझ है इनकी? अपनी औकात तो देखते नहीं और चले हैं आलोचना करने। देश और आजादी के नाम पर अभी पुलिस ले जाकर दो घंटे हवालात में रख दे तो कपड़े खराब हो जाएँगे और बातें ऐसी बड़ी-बड़ी करेंगे कि जैसे अफलातून यही हैं।

झल्लाते हुए कोई बोला,

— आखिर साला खटमल गन्धाया ही।

— चलो यार, चलो। सब खाया-पीया बेकार गया।

और सब चल दिये।

देवास-गेट पर जो मराठी-शाला है उसके पीछे किसी मराठा सरदार का बाड़ा है और उस बाड़े में बीसियों महाराष्ट्रीय मध्यवर्गीय परिवार रहते हैं। दो-तीन बड़े मकान हैं जो पुराने पेशवाई स्थापत्य कला के नमूने हैं उनमें से आधे से ज्यादा लकड़ी के होंगे। कभी इन घरों में सरदारों के सम्पन्न परिवार रहते रहे होंगे पर अब इन घरों में लोगों ने दीवारें खड़ी कर ली हैं और दो-दो, तीन-तीन कमरे हथिया कर रह रहे होंगे। इन मकानों का किराया या विभिन्न देव-संस्थानों को जाता था अतः ये मकान न कभी पुतते थे और न कोई मरम्मत ही करवाता था। ऐसे ही एक मकान के एक हिस्से में सिद्धनाथ वासुदेव पुणतांबेकर नामक एक युवक रहता था, जो कि महाराजवाड़ा स्कूल में गणित का अध्यापक था। परिवार में मात्र उसकी एक माँ थी तथा एक छोटी बहन, बस। वैसे वह राजनीति में रुचि रखता था पर यह कठिन था कि वह अपनी रुचि के कारण कम्यूनिस्ट था या दिवाकर दाते, जो कि उसका मित्र था, के कारण वह पार्टी के काम में रुचि रखता था। शायद पुणतांबेकर की रुचि इतनी ही थी कि उसके घर सेल-मीटिंगें तो नहीं परन्तु कम्यूनिस्ट विचार के मित्र-परिचित प्रायः मिलते और विचार-विमर्श होता था। चन्द्रशेखर तो प्रायः इन बैठकों में जाता रहा है परन्तु पंचानन आज पहली बार ही आया था।

लम्बे चले गये उस मकान में बाहर से ही लकड़ी की सीढ़ियाँ थीं। लकड़ी का ही एक लम्बा सा बारजा बाहरी दीवार से लगा-लगा चला जाता था। इस बारजे में से ही विभिन्न परिवारों के घरों में जाया जा सकता था। पुणतांबेकर सबसे आखिरी वाले हिस्से में रहता था। लकड़ी की नीची छत के दो कमरे थे। पीछे की ओर शायद इसी तरह का बारजा होगा वहाँ पर्दे का पार्टीशन करके रसोईघर बनाया हुआ था। सबसे आगे वाला कमरा पुणतांबेकर का था और दूसरा कमरा न केवल माँ-बेटी का

ही था बल्कि बाकी घर का पूरा सामान भी अँटा पड़ा था। चूँकि सिरे पर था इसलिए एक सुविधा बहुत बड़ी यह थी कि दीवार में एक ओर खिड़कियाँ थीं। यह सुविधा बीचवाले घरों को नहीं थी। कमरे नीची छत के अवश्य थे परन्तु लम्बाई-चौड़ाई के ख्याल से बहुत छोटे भी नहीं थे। आगे वाले कमरे के एक तिहाई हिस्से में टाट का एक पार्टीशन कर दिया गया था और वह शायद माँ का पूजा-घर था। चूँकि पूरे समय तो पुणतांबेकर बाहर ही रहता था इसलिए सिवाय शाम के यह कमरा भी खाली ही रहता था। शाम को भी प्रायः तो पुणतांबेकर स्कूल से लौटकर चाय-नाश्ते के बाद स्टेशन चला जाता जहाँ रेलवे-इंस्टीट्यूट में बाकी सब मित्र-साथी मिल ही जाते थे। वैसे तो ज्यादातर ये बैठकें पुणतांबेकर के घर ही होती थीं पर कभी कभी एक दूसरे साथी बी० यू० देशमुख के घर भी होती थी। बी० यू० देशमुख आगरे-उज्जैन रेलवे-स्टेशन के सामने जो चाल जैसे मकान बने हैं उनमें से एक में रहता था। उसके यहाँ सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि अड़ोस-पड़ोस के लोग रह-रहकर ताक-झाँक करते रहते थे कि आये दिन यह किन लोगों की मीटिंगें होती हैं। वैसे तो बी० यू० देशमुख यहाँ अकेला ही रहता था। उसके पिता देवास में डाक्टर थे। बी० यू० देशमुख के बारे में यह कहना कठिन था कि वह कम्यूनिस्ट था कि नहीं परन्तु वह ताश का नम्बरी शौकीन था और ब्रिज खेलने के शौक के कारण ही वह उज्जैन में रहता था। हाँ, दिवाकर दाते उसका क्लास-फेलो रह चुका था इस नाते वह भी गाहे-बगाहे कभी पेम्फलेट वगैरा पढ़ लेता था मगर उसकी कोई रुचि नहीं थी इसलिए भी किसी आपद्-धर्म में ही बी० यू० देशमुख के यहाँ बैठक होती थी।

इन बैठकों में कालेज के दो-एक प्रोफेसर भी होते थे। इनमें एक थे प्रोफेसर बसन्त देवलालीकर। फ्रेंच में जिसे 'दिलेताँ' और हिन्दी में हरफनमौला कहते हैं, बस इसी प्रकार के यह महाशय थे। कुछ दिन शांति-निकेतन तो कुछ दिन वर्धा आश्रम भी रह आये थे पर शायद वैचारिक रुझान से यह मार्क्सवादी थे। केवल चित्रकार ही नहीं थे बल्कि थोड़ा-बहुत रवीन्द्र-संगीत भी जानते थे। भाषाओं को सीखने का खासा शौक था अतः स्मृति बहुत तेज थी। थोड़ा-बहुत लिखने-पढ़ने का भी शौक था। देवलालीकर शायद दिवाकर दाते के अलावा किसी से नहीं दबते थे। दिवाकर दाते का परिवार रहता तो इन्दौर में था परन्तु दिवाकर वर्षों से पार्टी के काम से उज्जैन ही में रहते थे। वैसे तो दिवाकर मजदूर-यूनियन के काम से भी जुड़े हुए थे परन्तु उनकी सारी गतिविधि, उठना-बैठना अधिकतर नवयुवकों, हिन्दी-मराठी के साहित्यिकों और बुद्धिजीवियों के बीच ही होता था। वैसे यहाँ के सार्वजनिक सभा के नेताओं में केवल गिरिधर ठक्कर से ही थोड़ी बहुत आत्मीयता थी। गिरिधर ठक्कर जहाँ अभी अनिर्णीत मनः स्थिति में थे कि मार्क्स का रास्ता सही है या गांधी का वहाँ दिवाकर परम आश्वस्त थे कि मार्क्सवाद ही मानवता की नियति है। कई बार दोनों में बहस हो जाया करती थी पर इसके बावजूद आत्मीयता में कोई कमी नहीं थी। इसी प्रकार के एक प्रसंग में पंचानन का दिवाकर से परिचय हुआ था और

धीरे वह परिचय आत्मीयता बनता गया। पंचानन को दिवाकर की जो बात प्रिय थी वह यह कि वह जो भी कहते थे उसके पीछे आग्रह नहीं विचार होते थे। आप उनसे सहमत हों या असहमत, यह भिन्न बात है। साथ ही दिवाकर अपनी बात दृढ़ता से कहते थे परन्तु कटुता लेशमात्र को भी नहीं होती थी। एक बौद्धिक की तरह सोचते हुए बोलना और विचारों को उनकी ऐतिहासिकता में देखना, यह दिवाकर का ढंग होता था। दिवाकर कामरेड अवश्य थे पर कामरेडपना शायद बिल्कुल ही नहीं था, सिवाय इसके कि वह एक प्रकार से 'चेन-स्मोकर' थे। अपनी निजी न तो कोई विशेष आवश्यकता ही थी और न सम्पत्ति ही। दो-चार मित्र, परिवार थे जहाँ वह खा-पी लेते और फिर कुरता-पाजामा पहन कर रेलवे-इंस्टीट्यूट के पीछे वाले कमरे में किताबों और अखबारों में खोये रहते थे। हाँ अध्ययन के इस व्यसन ने उनकी आँखें माइनस दस तक पहुँचा दी थीं। पर कुल मिलाकर काठी और मन से महाराष्ट्रीय पुरुषत्व ही झलकती थी। पंचानन जानता तो नहीं पर सुना है कि सम्पन्न पिता ने तो चाहा था कि पुत्र पूना के फार्ग्यूसन-कालेज से कुछ विशिष्ट बनकर निकले पर सुना कि पुत्र ने पिता की छाया तक नहीं दाबी। शायद इसीलिए पार्टी के काम से अगर इन्दौर आते भी थे, तो बहुत गुपचुप रहकर चले आते थे। दिवाकर वैसे तो आत्मलीन व्यक्ति थे परन्तु सतर्कता शायद अवचेतन तक थी इसलिए वह किसी भी अपरिचित या नव-परिचित के सामने कभी अपने को व्यक्त नहीं करते थे। उपेक्षा तो किसी की नहीं करते थे परन्तु अभ्यर्थना का भाव भी नहीं होता था। मराठी-गुजराती वाला चाय का व्यसन दिवाकर को भी था जिसके बारे में वह हँसते हुए कहा करते थे कि ज्ञानेश्वर महाराज ने तो भैंसे से महिम्नपाठ करवाया था पर मैं एक दिन यह सिद्ध कर दूँगा कि व्यक्ति केवल चाय पीकर सौ वर्ष जीवित रह सकता है—और यह कहते हुए साधारण कद के, गौरवर्ण के, नीली आँखों वाले दिवाकर में हल्की सी माधुरी झलक आती थी वर्ना तो वह हमेशा एक कर्मठ व्यक्ति का ही बोध देते थे। किसी भी प्रकार की भावुकता से दिवाकर का कोई सम्बन्ध नहीं था इसीलिए उन्हें रवीन्द्र या शरद प्रिय नहीं थे। गांधी से जो मूलभूत शिकायत उन्हें थी कि गांधी, मानवीय भावुकता की राजनीति चलाना चाहते हैं जबकि भावुकता यथार्थ को, समस्याओं को धुँधला देती है। गांधी एक सन्त हो सकते हैं, सदाशयी हो सकते हैं पर राजनीतिक यथार्थ की ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक की कोई समझ नहीं है। ऐसा व्यक्ति अच्छा देशभक्त हो सकता है परन्तु उसका नेतृत्व स्वीकार करना इतिहास के उस मध्ययुगीन सामन्ती-युग में लौटना होगा जिससे मुक्त होने के लिए फ्रान्स की राज्यक्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति और सर्वहारा की बोल्शेविक क्रान्ति हुई। गांधी के बारे में बोलते हुए दिवाकर संयत तो बहुत रहते थे परन्तु उनके निष्कर्ष तीक्ष्ण और पैने हुआ करते थे जैसे कि वह गांधी से निरन्तर टकरा रहे हैं और गांधी तब भी अविचल हैं।

जब से सार्वजनिक सभा के नेताओं की गिरफ्तारी हुई है तब से दिवाकर ने इंस्टीट्यूट में बैठना ही नहीं बल्कि आना ही छोड़ दिया था। दिवाकर के गिरफ्तार होने

की कोई सम्भावना भी नहीं थी परन्तु सतर्कता की दृष्टि से अधिकांश को नहीं मालूम था कि वह कहाँ भूमिगत हो गये हैं। भले ही उनके दो एक विश्वसनीय लोगों को मालूम रहा हो पर ज्यादातर तो लोगों ने आँखों ही आँखों में देखा और सुना, और अखबार या पैम्फलेट लेकर चलते बने। पंचानन का इन लोगों से कोई बहुत-अधिक सम्पर्क नहीं था अतः वह केवल एकाध बार ही गया और लौट आया। विशेष जिज्ञासा भी नहीं दिखायी क्योंकि वह जानता था कि पूछने का कोई अर्थ नहीं होगा। पर आज कालेज से जैसे ही वह बाहर निकला तो गेट के सामने जो 'तृप्ति-मन्दिर' होटल है—वहाँ से एक व्यक्ति लपक कर आया और बड़े नाटकीय तरीके पर एक पुर्जा थमाकर चलता बना। उस व्यक्ति ने पुर्जा जिस प्रकार थमाया उससे उसे लग गया कि यह कोई गुप्त सन्देश है और संभव है दिवाकर ने ही भिजवाया हो। पुर्जा उसने बिना पढ़े ही जेब में रख लिया और घर आ गया। घर पहुँचते ही पुर्जा देखा तो केवल इतनी सूचना थी कि आज रात को पुणतांबेकर के घर मीटिंग है। रात, शब्द का मतलब वह जानता था कि दस बजे रात में ही मिला जाता है और उसमें खास-खास लोग ही उपस्थित होते हैं। जिस प्रकार से देश का राजनीतिक वातावरण गरमाने लगा था उससे सभी प्रभावित हो रहे थे। कांग्रेस बंगाल, पंजाब आदि कुछ प्रदेशों को छोड़कर चुनाव जीत गयी थी और पहली बार भारतीयों की सरकार तथा मन्त्रि-मण्डल बने थे। एक उत्साह था परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय जगत में द्वितीय विश्वयुद्ध किसी भी दिन आरम्भ होने की स्थिति में था। चारों ओर गाँवों में रंगरूटों की भर्ती शुरू हो गयी थी।

गिनती के चार-पाँच लोग थे। शायद पंचान को पहुँचने में थोड़ी देर हो गयी थी। जब वह पहुँचा था तो दरवाजा बन्द था। भीतर से बातें करने का दबा-दबा सा स्वर आ रहा था। उसने दरवाजे को जैसे ही ढकेला तो भीतर की वह दबी-दबी आवाज भी थम गयी और फिर किसी ने दरवाजे के पास आकर भीतर से ही पूछा,

— कौन ?

— मैं पंचानन हूँ।

और दरवाजा बहुत सतर्कता से खोला गया। इस सतर्कता में भाव था कि पहले देख लिया जाए कि आगन्तुक वही है या नहीं। और पंचानन के भीतर आने पर दरवाजा फिर से बन्द कर लिया गया। कमरे के बल्ब पर कागज शायद जानबूझ कर लगा दिया गया था ताकि प्रकाश बाहर नहीं जाए। कमरे में घुटेपन के कारण बीड़ी-सिगरेट का धुँआ और गन्ध दोनों घिरे हुए थे। चाय के कप एक तरफ कर दिये गये थे। बीच में एकाध अखबार फैला हुआ था। पंचानन के आने के कारण शायद बातचीत का तार टूट गया था। दिवाकर ने सिर्फ इतना कहा,

— तुम्हें थोड़ी देर हो गयी।

— गोपाल-मन्दिर पर कोई ताँगा ही नहीं मिला, पैदल आना पड़ा।

— पंचानन ! हम लोग देश की वर्तमान परिस्थिति के बारे में चर्चा कर रहे हैं।— हाँ, तो तुम क्या कहना चाह रहे थे देवलालीकर ?

देवसालीकर सिगरेट ही नहीं बल्कि चाय भी नहीं पीता था। वह दोनों घुटने मोड़े नमाज पढ़ने की मुद्रा में बैठा था, बोला,

— मुझे लगता है कि युद्ध बहुत जल्द शुरु होने वाला है। चैम्बरलेन की सारी दौड़-धूप बेकार जाएगी। जर्मनी को रूस से खतरा है इसीलिए वह रूस से सन्धि करने को बाध्य है। हिटलर कभी नेपोलियन वाली भूल नहीं दुहराना चाहेगा कि रूस से भी लड़ाई मोल ले, और अब रूस भी वह जारशाही वाला रूस नहीं रह गया है।

इस पर दिवाकर ने उसे बीच ही में टोका,

— तुम यह विश्लेषण कोई नया नहीं कर रहे हो। सवाल तो यह है कि अंगरेज अगर युद्ध में पड़ते हैं, जो कि पड़ेंगे ही क्योंकि वही सबसे बड़े उपनिवेशवादी हैं, तो वह उस युद्ध में भारत के लोगों को, अर्थ-व्यवस्था को, उत्पादन और सैन्य-शक्ति को झोंकना चाहेंगे तब कांग्रेस क्या करेगी ? राज्य का जो यह नया चारा अंग्रेजों ने उनकी ओर फेंका है उसे वह निगलते हैं कि नहीं ?—क्यों पंचानन ! तुम क्या सोचते हो ?

— मेरा तो ख्याल है कि दिज मैरिज विल नाट लास्ट लॉग।

इस पर दिवाकर ने अपनी दूसरी सिगरेट सुलगाते हुए कहा,

— क्यों ? मेरीजेज आर सेटल्ड इन हेवन।

और हँस दिये। पंचानन बोला,

— कांग्रेस भी जानती है कि यह स्वराज्य नहीं है। असली बागडोर अभी भी अंग्रेजों के हाथों में है। इस अधूरी सत्ता के लिए मैं नहीं समझता कि कांग्रेस युद्ध में देश की अर्थ-व्यवस्था को झोंके जाने के कुचक्र में सहयोग देगी। और एक बात दिवाकर जी ! यह कि आप जिस व्यक्ति के बारे में बहुत कटु हैं वह गांधी, इसे कभी नहीं स्वीकार करेंगे। हां अगर सिर्फ कांग्रेस ही होती तो मैं सोच सकता था कि कांग्रेस यह चारा नीति के नाम पर निगल जाएगी, परन्तु गांधी के लिए स्वाधीनता एक मूल्य है; राजनीतिक प्रश्न नहीं है।

— तुम्हारे गांधी ने तो बोअर-युद्ध में अंग्रेजों का साथ दिया था। युद्ध को शायद वह अहिंसा नहीं मानते। मेरा तो ख्याल है कि वह शायद यह सलाह दे दें तो आश्चर्य नहीं कि कांग्रेस रँगरूटों की भर्ती में साथ दे।

और हँस दिये। लेकिन पंचानन ने इतना ही कहा,

— आप सही हो सकते हैं, पर मुझे ऐसा नहीं लगता।

— कोई कारण है या केवल ख्याल है ?

— ऐतिहासिक परिस्थितियों का अन्तर है और तब के गांधी के गांधी में तात्विक अन्तर आ गया है।

— पंचानन ! ऐतिहासिक यथार्थ को में

किक नतीजे ही निकलेंगे। युद्ध ग

सकेगी ? यदि तुम उनके युद्ध के प्रयासों में सहयोग न देकर बाधा उत्पन्न करोगे तो क्या अंग्रेज चुप बैठा रहेगा ?

— आपकी पार्टी क्या करेगी ?

— अभी तो यह संकट आया नहीं है। फिलहाल अगर यह युद्ध होता है तो यह साम्राज्यवादी युद्ध होगा।

— क्या रूस का जर्मनी से सन्धि कर लेना उचित होगा ?

— सर्वथा उचित होगा। इसलिए कि इस साम्राज्यवादी युद्ध से किसी समाजवादी देश को क्या लेना-देना ? दूसरे इस युद्ध से साम्राज्यवादी शक्तियाँ कमजोर होंगी, जो कि विश्वव्यापी कम्यूनिस्ट आन्दोलन के लिए हितकारी होगा। तीसरे यदि भूलकर नयी जर्मनी रूस पर हमला करता है तो रूस को युद्ध के लिए समय मिल जाएगा। और सच तो यह है कि ये सभी प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ हैं इन्हें कमजोर किया जाना चाहिए।

— क्या इसीलिए कम्यूनिस्ट पार्टी आजादी की लड़ाई में खुल कर हिस्सा नहीं लेती है ?

— पंचानन ! आजादी की लड़ाई अपने आप में कोई महत्वपूर्ण चीज नहीं है वस्तुतः महत्वपूर्ण है कि इसे लड़ कौन रहा है और किसके लिए लड़ा जा रहा है।

— तो, आप भी तो गांधी जी की तरह साध्य से अधिक साधन को महत्व दे रहे हैं। साधन की पवित्रता....

अपनी सिगरेट झल्लाकर बुझाते हुए दिवाकर ने कहा,

— यह पवित्रता, अपवित्रता—देखो यार ! इस भाषा से क्षिप्राजी के किनारे किसी का संकल्प करवाया करो। आइ एम सिक आफ दिज़ सार्ट आफ टरमीनालॉजी। —आजादी की लड़ाई सिर्फ मजदूर वर्ग ही लड़ सकता है। ये बड़े बाप के बेटे, बिड़ला-जमनालाल के बेटे-दामाद आजादी की लड़ाई लड़ेंगे ?

— माफ़ करिएगा, शायद आप आवेश कर रहे हैं, तर्क नहीं।

इस पर दिवाकर दाते हतप्रभ नहीं हुए बल्कि शान्त होते हुए बोले,

— बात तुम ठीक कह रहे हो। असल में कांग्रेस का चरित्र मुझे 'डूबियस' लगता है।

इस पर पंचानन ने हँसते हुए कहा,

— राजनीति में चरित्र की बातें करना क्या प्रतिक्रियावादी आदर्शवादिता नहीं है ?

— चरित्र से मेरा तात्पर्य नैतिकता वाला नहीं है। स्वाधीनता की अवधारणा ही उनकी स्पष्ट नहीं है।

— यह तो तभी कहा जा सकता है जब अवधारणा को स्वरूपित किये जाने का अवसर आये।

— अच्छा तुम यह बताओ कि गांधी के और कांग्रेस के साथ किस वर्ग की सहानुभूति है ?

— पूरे समाज की।

— इससे कुछ स्पष्ट नहीं होता। हमारे देश का किसान कुछ जानता ही नहीं है। शहरों के मजदूरों पर कांग्रेस की कोई पकड़ नहीं है। कुछ छात्रों, निम्न वर्ग के बाबुओं के अलावा देश का सारा पूँजीपति वर्ग ही क्यों कांग्रेस के साथ है? मुसलमान आपके साथ नहीं हैं। हरिजन अशिक्षित ही हैं। अब बताओ, समाज तुम किसे कहते हो?

इस पर पंचानन ने कहा,

— बोलशेविक क्रान्ति में समाज तो दूर, पूरी तरह क्या मजदूर भी साथ थे? किसी भी आन्दोलन या क्रान्ति में लड़ते कुछ ही लोग हैं, समाज को तो उसकी केवल प्रतीति होती है

अब तक बाकी के लोग चुपचाप तो थे पर इस बहस से उकता चुके थे!— दिवाकर के कारण चुप थे। देवालालीकर ने आखिरकार टोकते हुए कहा

— इस बहस को हम लोग फिलहाल रहने ही दें। आप शुरू में मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारिता के बारे में कुछ बता रहे थे।

दिवाकर ने अपनी नयी सिगरेट सुलगायी और पुणतांबेकर से बोले,

— मेरा ख्याल है कि आज अब रहने ही दिया जाए। मूल बातें रह गयीं। सार्वजनिक-सभा के लोगों की गिरफ्तारी के बारे में हमें व्यक्तिगत तौर से तथा पार्टी लाइन के रूप में कुछ तो स्टैण्ड लेना ही होगा।

इस पर पुणतांबेकर बोला,

— पार्टी-लाइन यहाँ कैसे तय हो सकती है? यह कोई सेल-मीटिंग या पार्टी-मीटिंग थोड़े ही है। बाहरी लोग भी हैं।

— हाँ, बाहरी कह सकते हो.. पर एक पंचानन को छोड़कर....और पंचानन की जहाँ तक बात है तो हमें पूरी कोशिश करनी चाहिए कि यह पार्टी के निकट आएँ इसलिए कि विवेकशील हैं।

इस पर हँसते हुए पंचानन ने कहा,

— लेकिन मैं तो किसी राजनीति में नहीं हूँ।

दिवाकर उठ चुके थे, बोले,

— तब तो और भी अच्छा है। पार्टी को बुद्धिजीवियों की जितनी जरूरत है उतनी किसी दूसरी राजनीतिक पार्टी को हो ही नहीं सकती इसलिए कि कम्यूनिस्ट होने का मतलब ही है—विचारवान होना।

और सब बाहर निकले। लगभग आधी रात हो चुकी थी पर अभी एक प्रोग्राम बाकी था और वह था चाय का कार्यक्रम। देवास-गेट की दूसरी दूकानें तो बन्द हो चुकी थीं पर चाय वालों और हलवाइयों की दूकानें खुली थीं। सामने आगर-लाइन के पार नयी-नयी म्यूनिसिपल सराय बनी थी, इसके कारण एक दीवार का बोध था जिसके कारण सड़क के पार का पहले वाला खुलापन खत्म हो गया था।

दिवाकर होटल की लकड़ी की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए बोले,

— पता नहीं क्यों, यह जरूर लगता है कि औद्योगिकता के साथ नगर बड़े होते जाते हैं और आदमी छोटा लगने लगता है।

इस पर पंचानन ने कहा,

— किसी पेम्पलेट में इसका भी निदान दिया गया होगा।

दिवाकर समझ तो गये कि पंचानन ने चोट की है, पर वह कुल इतना ही बोले,

— अगर नहीं होगा तो निदान निकलेगा दोस्त ! आदमी ही नहीं पार्टी भी ग्रो करती है।

और चाय का आर्डर देवलालीकर ने दिया।

— इससे कुछ स्पष्ट नहीं होता। हमारे देश का किसान कुछ जानता ही नहीं है। शहरों के मजदूरों पर कांग्रेस की कोई पकड़ नहीं है। कुछ छात्रों, निम्न वर्ग के बाबुओं के अलावा देश का सारा पूंजीपति वर्ग ही क्यों कांग्रेस के साथ है? मुसलमान आपके साथ नहीं हैं। हरिजन अशिक्षित ही हैं। अब बताओ, समाज तुम किसे कहते हो?

इस पर पंचानन ने कहा,

— बोलशिविक क्रान्ति में समाज तो दूर, पूरी तरह क्या मजदूर भी साथ थे? किसी भी आन्दोलन या क्रान्ति में लड़ते कुछ ही लोग हैं, समाज को तो उसकी केवल प्रतीति होती है

अब तक बाकी के लोग चुपचाप तो थे पर इस बहस से उकता चुके थे!—

दिवाकर के कारण चुप थे। देवालालीकर ने आखिरकार टोकते हुए कहा

— इस बहस को हम लोग फिलहाल रहने ही दें। आप शुरू में मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारिता के बारे में कुछ बता रहे थे।

दिवाकर ने अपनी नयी सिगरेट सुलगायी और पुणतांबेकर से बोले,

— मेरा ख्याल है कि आज अब रहने ही दिया जाए। मूल बातें रह गयीं। सार्वजनिक-सभा के लोगों की गिरफ्तारी के बारे में हमें व्यक्तिगत तौर से तथा पार्टी लाइन के रूप में कुछ तो स्टैण्ड लेना ही होगा।

इस पर पुणतांबेकर बोला,

— पार्टी-लाइन यहाँ कैसे तय हो सकती है? यह कोई सेल-मीटिंग या पार्टी-मीटिंग थोड़े ही है। बाहरी लोग भी हैं।

— हाँ, बाहरी कह सकते हो... पर एक पंचानन को छोड़कर....और पंचानन की जहाँ तक बात है तो हमें पूरी कोशिश करनी चाहिए कि यह पार्टी के निकट आएँ इसलिए कि विवेकशील हैं।

इस पर हँसते हुए पंचानन ने कहा,

— लेकिन मैं तो किसी राजनीति में नहीं हूँ।

दिवाकर उठ चुके थे, बोले,

— तब तो और भी अच्छा है। पार्टी को बुद्धिजीवियों की जितनी जरूरत है उतनी किसी दूसरी राजनीतिक पार्टी की हो ही नहीं सकती इसलिए कि कम्यूनिस्ट होने का मतलब ही है—विचारवान होना।

और सब बाहर निकले। लगभग आधी रात हो चुकी थी पर अभी एक प्रोग्राम बाकी था और वह था चाय का कार्यक्रम। देवास-गेट की दूसरी दूकानें तो बन्द हो चुकी थीं पर चाय वालों और हलवाइयों की दूकानें खुली थीं। सामने आगर-लाइन के पार नयी-नयी म्यूनिसिपल सराय बनी थी, इसके कारण एक दीवार का बोध था जिसके कारण सड़क के पार का पहले वाला खुलापन खत्म हो गया था।

दिवाकर होटल की लकड़ी की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए बोले,

— पता नहीं क्यों, यह जरूर लगता है कि औद्योगिकता के साथ नगर बड़े होते जाते हैं और आदमी छोटा लगने लगता है।

इस पर पंचानन ने कहा,

— किसी पेम्पलेट में इसका भी निदान दिया गया होगा।

दिवाकर समझ तो गये कि पंचानन ने चोट की है, पर वह कुल इतना ही बोले,

— अगर नहीं होगा तो निदान निकलेगा दोस्त! आदमी ही नहीं पार्टी भी ग्रो करती है।

और चाय का आर्डर देवलालीकर ने दिया।

लगते आषाढ़ की सन्ध्या थी। आज दिनों नहीं, महीनों नहीं बल्कि कहना चाहिए वर्षों बाद बड़ी निश्चिन्तता के साथ दुर्गा, पंचानन की बहू प्रमिला के साथ ऊपर छत पर बैठी हुई थी। वैसे आज सास और बहू दोनों ने सिर धोये थे। इधर कुन्ती, कान्ता के जाने के बाद से कभी भूले ही मणि से दुर्गा ने अपना सिर दिखवाया होगा या तेल डलवाया होगा पर आज प्रमिला ने जब आग्रह करके सास का सिर भी देखा और तेल डालकर कांगसी [कंघी] से जब बाल सुलझाकर चोटी भी गूंथ दी तो दुर्गा को अपने बचपन के दिन याद आने लगे। माँ कैसे सिर धो दिया करती थी और फिर बालों में से जूएँ खींच-खींचकर निकालती थीं और जब घी [उन दिनों घी ही डाला जाता था] डालकर कसकर बाल बाँध देती थीं तो मुँह कैसा अपने को ही निकला पड़ा लगता था। आज बहू ने भी तो वैसा ही कुछ किया था पर देह और मन पर से कितना समय, कितने लोग और कितने अनुभव बीते। वह शारदा को लेकर जितनी दुःखी थी उतनी ही प्रसन्न वह प्रमिला को लेकर थीं। पंचानन के विवाह के पूर्व तक वह डर रही थी कि पता नहीं जो लड़की बम्बई में रही हो वह पता नहीं कितनी तेज निकले। देवास के पास के गँवई नेवरी की लड़की ने शहर में आकर शहरियों को भी वो-वो नाच नचाये कि नचाये भले, तब भला यह बम्बई की महरानी जो न करें, थोड़ा है। पर जबसे आयी है तब से घर, घर की व्यवस्था और घर के लोगों की सारी जिम्मेदारी न केवल अपने से ही ओढ़ी बल्कि लगा कि बहू नहीं बेटी आयी है। फलतः क्या मजाल जो प्रमिला को कोई कुछ कह सके। मणि अगर अपनी भाभी का काम में हाथ न बँटाये तो दुर्गा ऐसी डाट पिलाती है कि, बस। पर प्रमिला कभी ऐसा मौका ही नहीं आने देती कि मणि को डाट पड़े। भले ही शाक-भाजी प्रमिला ने ही कतरी हो पर पूछने पर साफ झूठ बोल देती कि—अभी मणि ही तो कतर कर गयी है। और

इसी तरह की भूठ जब दुर्गा पकड़ लेती है तब प्रमिला आँखों में जिस प्रकार हँस देती है उसे देखकर दुर्गा के मन में प्रमिला के लिए न जाने क्या-क्या होने लगता है।

दुर्गा को शारदा से शिकायत हो ही क्या सकती थी? दुर्गा ने तो स्वयं ही धूर्जटी की गृहस्थी पहले दिन से ही अलग कर दी थी तो उसके पीछे यही तो भाव था कि धूर्जटी की वकालत के लिए यह घर ठीक नहीं था। कातिक-चौक वाली हवेली खाली ही थी। बाहरी लोगों के आने-जाने वहाँ उठने-बैठने की सुविधा भी रहेगी और फिर दूर ही कितनी है। बहू को भी घर सम्हालना आ जाएगा। हर स्त्री अपना एक घर चाहती है। दूसरे के घर में भले ही हलवा खाया जाए पर स्त्री अपने घर में खिचड़ी ही पकाये-खाये तब भी स्वामीत्व का बोध होता है। दुर्गा को भला इसमें क्या आपत्ति हो सकती थी? लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं था कि ऐसा किसी दरारवश किया गया था। और दुर्गा को अपने बाबा [पण्डित श्रीरमण आचार्य] की प्रिय उक्ति याद आ गयी कि स्त्री, चीनी पंखा होती है। आरम्भ में वह जितनी सिकुड़ी-सिमटी होती है कालान्तर में उतनी ही फैल जाती है। शारदा को, यद्यपि वह सुन्दर नहीं थी तब भी, दुर्गा ने कभी यह अपने से अनुभव नहीं होने दिया होगा कि वह सुन्दर नहीं है या प्रिय नहीं लगी। यदि गुण न हों तो सुन्दरता को लेकर क्या चाटे? दुर्गा को यही लगा कि वह सुन्दर नहीं है तो क्या, यदि गुणवती है तो सब कुछ मिल गया। हालांकि शारदा की माँ की अनेक बातें ब्याह के समय आयी स्त्रियों ने पहले ही बता दी थीं परन्तु दुर्गा ने उन्हें नहीं विश्वासा। दुनिया सभी के बारे में चिह्न-चेष्टा किया करती है। शुरू दिन से शारदा पर यह नहीं व्यक्त होने दिया कि उसे कुछ पता, बहुत कुछ पता है, तब भी शारदा का व्यवहार बहुत जल्द 'तेरा-मेरा' का हो गया। यह भी कोई खास बात नहीं थी। सास ने जब स्वतः सब सौंप दिया तो वह क्या हवा में लड़ती? पर हाँ, दुनिया में हवा में लड़ने वाले भी होते हैं। अब पूछो कि गोविन्द-गौरा की बातों से तुम्हें क्या लेना-देना? मान लो कि गोविन्द सगा नहीं है और उसे अगर बड़दा अपनी सम्पत्ति दे गये तो इसका मलाल दुर्गा को होना चाहिए कि तुम्हें? तुम कौन, काजी के मुल्ला? अभी आये को दो दिन हुए नहीं हैं, कंगन छूटा नहीं है और सगे-सम्बन्धियों के दूर-पास का नाता-रिश्ता खोजा जा रहा है और चार लोगों में बैठकर बखाना जा रहा है। यही माँ-बाप ने सिखाया? और तो कोई लच्छन दिखे नहीं। कभी किसी दिन अपने ससुर को हाथ से बनाकर कोई खास चीज खिलायी नहीं कि लगे कि चलो, नयी बहू घर में आयी है। न देवर-ननँद को अपने पास बैठालकर अपनापन ही जताया। ठीक है, अपने जाये को तो सभी भक मारकर प्यार करते हैं। कोई भला तुमसे क्या आशा रखे कि पीछे से तुम किसी दूसरे का ध्यान रखोगी?—इस बार माँ के यहाँ से क्या आयी कि नया शिगूफा शुरू—कि उसके कोई बाल-बच्चा इन चार बरसों में इसलिए नहीं हो रहा है कि सास और गौरा मिलकर कोई जंतर-मंतर किये हैं। इसको कहते हैं कि चूल्हे पर खड़े होकर आकाश में पेगला [पैबन्द] लगाना। किसी करवट चैन नहीं। गौरा के पीछे तो जैसे सत्तू बाँधकर पड़ी है। फूटी आँख नहीं देखना चाहती। पता नहीं

यह धूर्जटी भी गोविन्द से अब क्यों खिचा-खिचा रहता है। इस बार कान्ता के विवाह में कुन्ती और माधव आये तो पता नहीं उन दोनों भी से सीधे मुँह बातें नहीं कीं। पता नहीं इतना घमण्ड किस बात का है। पैसे का घमण्ड तो समझ में नहीं आता। कौन इनसे कम है? इसी के मारे बेचारी गौरा इतना कम आती है। सत्यनारायण की कथा के दिन आयी और थोड़ी देर के बाद चली गयी तो चली-चली रात में खाने के वक्त ही आयी। अब पूछो कि घर में काज-करियावर हो तो काम-काज कौन करे? और फिर घर जाने की क्या आवश्यकता थी? कोई बाल-बच्चे छोड़कर आयी थी क्या? किसके लिए घर गयी थी? धूर्जटी तो कोर्ट में था, तब? और क्या अपने से नहीं समझ में आया कि परायी गौरा और छोटी ननँद इतने आदमियों का खाना सवेरे से बना रही हैं, कथा का सारा प्रसाद भी बनाया, और तुम बिना कुछ कहे सुने चली गयीं? अरे, कहकर तो पड़ोसी से भी करवाया जा सकता है। ऐसा क्या हुआ था तुम्हें? सिर दुख रहा था क्या? क्या पेट पिरा रहा था? जिसके पेट पिराने की बारी आ गयी वह गौरा तो दिन भर चूल्हे की आग में सिकती बैठी रही परन्तु इन महारानी को नहीं दिखा कुछ? सबको घोलकर पी गयी है। अपनी सास की तरह यदि दुर्गा भी होती तो काटकर फेंक देती। लेकिन ठीक है क्या करना, जिसका जो जाने। अगर शारदा सोचती हो कि किसी दिन तो सासूमाँ कुछ कहेंगी, तो फिर वह जवाब देगी; तो तुम जानती नहीं कि तुम्हारी सासूमाँ ने ऐसी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हैं। बेटे-बहू हो, ठीक है! आत्मीयता रखोगे तो आत्मीयता पाओगे भी, नहीं तो दुर्गा कभी किसी के लिए रोनेवाली नहीं और न कटु होगी। वह तो पंचानन-प्रमिला के लिए भी फीगंज के नये मकानों में से एक में प्रबन्ध करना चाहती थी पर पंचानन ने पहले दिन ही माँ को ऐसा करने से बरज दिया। और जब प्रमिला लौट-लाटकर आयी और जब इसका व्यवहार भिन्न पाया तो बेटी की भाँति गले से लगा लिया। दुर्गा को बड़दा का कहना हमेशा याद आता है कि सम्बन्ध यदि भारी लगने लगे तो समझ लो कि वह व्यक्ति मर गया है। शव का ही बोझ लगता है, जीवित आदमी का नहीं। और मृत को कोई कितना ढो ही सकता है? ऐसे मृत को जितने शीघ्र ठिकाने लगा दोगे, उतने ही दुर्गन्ध से बच सकोगे। दुर्गा ने बड़दा की यह बात गाँठ बाँध रखी थी। इसलिए वह उदार भी उन्मुक्त मन से होती थी और असम्पृक्त भी बिना किसी खेद के ही होती थी। जिसके प्रति जो कर्तव्य है उसे पूरा करने के बाद वह सामने वाले को स्वतन्त्र कर देती थी। वह बन्धनयुक्त थी तो केवल पति के साथ ही, शेष का क्या। चाहे वह सन्तान ही क्यों न हो।

प्रमिला पैर के अँगूठे के नीचे दबे बालों को अँगुलियों में लपेट रही थी, बोली,

— सासूमाँ!

— क्या?

— दो दिन से मामी के कोई समाचार नहीं आये। आप उन्हें यहीं बुला लें। मामाजी भी नहीं हैं, वहाँ अकेले में तबीयत ज्यादा-कम हो जाए तो नौकर-नौकरानी क्या कर लेंगे?

— चाहती तो मैं भी हूँ बहू ! पर गौरा की बात ठीक लगती है कि नौकरों-चाकरों पर घर छोड़ा भी तो नहीं जा सकता ।
— तो फिर आप ही वहाँ चली जाइए, यहाँ की कोई चिन्ता मत करिए ।
दुर्गा हँस पड़ी,
— बहुत माया है तेरे मन में प्रमिला ! ..आज अगर मैं न भी रहूँ तो मुझे चिन्ता नहीं होगी ।
प्रमिला पहले तो कुछ समझी नहीं परन्तु फिर बोली,
— *सासूमाँ ! पता नहीं शारदा दीदी क्यों यह परायों का सा व्यवहार करती हैं ।*
— तुमसे भी कुछ कहती है न ?
— वह जिन गौरा भाभी के पीछे हाथ धोकर पड़ी रहती हैं वैसा तो मैंने उनमें कुछ भी नहीं पाया । इतनी पढ़ी-लिखी पर किसी बात का घमण्ड नहीं । अब तुम नेवरी में रहकर नहीं पढ़ पायी तो इसका कोई क्या करे ? भगवान ने सभी कुछ तो तुमको दे रखा है । जेठजी का कितना नाम है । वकालत भी खूब चलती है । क्या नहीं है तुम्हारे पास ? और सासूमाँ ! किसी से आदमी अपनी तुलना क्यों करे ? तुम वह हो तो नहीं जाओगे, रहोगे तो स्वयं ही न, फिर ? भगवान ने सबको एक अर्थ देकर भेजा है । जो तुम हो वह वह नहीं है । उसे भी आपसे ईर्ष्या हो सकती है । पर इसका कोई अर्थ भी नहीं है ।
— मैं जानती हूँ बहू ! जो व्यक्ति जीवन में तपता नहीं है उसमें मनुष्यत्व नहीं आ पाता है । जिस प्रकार तुम्हारे पिता-माता को उनके दोनों भाइयों ने सब कुछ हड़प कर अलग कर दिया और वे तुम लोगों को लेकर जिस प्रकार बम्बई में रहे होंगे उसकी मैं कल्पना कर सकती हूँ । इस संघर्ष ने ही तुम्हें यह गहरी दृष्टि दी है । तुम्हारी जेठानी ने सिवाय परिवार की कूप-मण्डूकता के और क्या देखा है ? सम्पन्न परिवार था, भाग्य था कि सम्पन्न परिवार में विवाह हुआ और यहाँ भी जो और जैसा उसे मिला वह तुम जानती हो । भला ऐसा व्यक्ति विकास क्या करेगा ? न पढ़ी, न लिखी । देखने के नाम पर अपनी माँ को देखा कि अपनी देवरानी का जीवन नरक कर दिया । भला जिसके सामने यही उदाहरण हो तो उससे क्या आशा की जा सकती है ?—होगा बेटा ! हम अपने लिए जिम्मेदार हैं, कोई क्या करता है इससे दुःखी होने की कोई आवश्यकता नहीं है ।—मैं सोचती हूँ कि न हो तो तुम और मणि दोनों गौरा के पास चली जाओ । उसका भी मन बहलेगा । तीन महीने चढ़ गये हैं और फिर गोविन्द भी नहीं है ।
तभी छत की सीढ़ियों पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल की आवाज सुनायी दी,
— यहाँ बैठी हुई क्या कर रही हो भाई !
प्रमिला ने ससुर की आवाज सुनी और फिर छत पर दिखे तो उसने घूँघट ले लिया ।
दुर्गा हँसते हुए बोली,
— आपको किसने बताया कि हम लोग यहाँ हैं ?

— बताता कौन ? पूरा घर जब खुला है तो कोई भी समझेगा कि घर के लोग या तो छत पर होंगे या...
— बच्चे तो नीचे ही थे ।—बहू ! चाय का प्रबन्ध करो तो ।
और प्रमिला तेल, कंघी सब उठाकर नीचे चली गयी । प्रमिला के जाने पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,
— बरसों में छत पर आना हुआ होगा ।
— यों गरमियों में तो सोते हो और कहते हो कि....
— अरे सोने के लिए आना एक बात है और शाम के समय ऐसे खुले में बैठना दूसरी बात है....वो देखो उन पतंगों में पेंच हो रहा है ।....तुम नहीं जानती हो कि मैं खूब पतंग उड़ाया करता था । बाबा बहुत डाँटते थे ।
— पेंच तो आप अब भी लड़ाते हैं ।
— पर पतंग एक ही है ।
— ले आइए दूसरी पतंग ।
— पतंग लायी नहीं जाती । पतंग अपने से आती है ।
और दोनों हँस पड़े । वह बोले,
— अरे हाँ, एक खुशखबरी ।
— क्या ?
— गोविन्द वगैरा एकाध दिन में छूटकर आ रहे हैं ।
— चलो अच्छा हुआ । मैं छोटी बहू से कह रही थी कि न हो तो तुम और मणि वहाँ दो-चार दिनों के लिए चली जाओ । तीन महीने चढ़ गये हैं । ऐसे में उसे अकेला नहीं रहना चाहिए ।
— लो, और हमें कुछ भी खबर नहीं इसकी ।
— इस तरह की बातों की खबर आप लोगों को क्यों होनी चाहिए ?
— चलो नहीं होनी चाहिए, बस ।...यह धूर्जटी के घर कुछ नहीं सुनायी पड़ता ऐसा कुछ !
— आप जाने और आपका बेटा-बहू जाने । आज चार बरस तो हो गये । ऐसा सूखा तो मारवाड़ में भी नहीं पड़ता ।
— तुम तो शारदा को लेकर जच्चा अस्पताल भी हो आयी हो ।
— राम जाने । पता नहीं यह अस्पताल वाले क्या देखते हैं । अरे जब सब ठीक है तो फिर....
तभी मणि की आवाज सीढ़ियों से होती हुई ऊपर सुनायी दी ।
— चाय बन गयी माँ !
— अच्छा ।
और दोनों उठकर चले । दुर्गा ने चटाई को गोल तहाया और बगल में दबा लिया ।

द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हो चुका था। जर्मनी और रूस की सन्धि भी हो चुकी थी। युद्ध पूर्व प्रान्तीय स्वायत्त-शासन के अन्तर्गत जो कांग्रेसी तथा लीगी मन्त्रि मण्डल प्रान्तों में स्थापित हुए थे वे युद्ध के प्रश्न पर डगमगाने लगे थे। अँग्रेज सरकार कांग्रेस से युद्ध में निःशर्त सहयोग माँग रही थी। जबकि कांग्रेस बिना पूर्ण स्वाधीनता के इस सहयोग को देने के पक्ष में नहीं थी। यह स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही तय किया जा सकता है कि इस युद्ध में भारतीय धन, जन किस सीमा तक सहयोग दे। भारतीय कम्युनिस्टों की स्थिति बड़ी खराब थी। रूस की जर्मनी से सन्धि के कारण अँग्रेज कम्यूनिस्टों को शंका की दृष्टि से देख रहे थे। कम्यूनिस्ट इस लड़ाई को साम्राज्यवादियों की लड़ाई कहने लगा था। जर्मनी के मुकाबले में अँग्रेजों को अधिक सभ्य, प्रजातान्त्रिक मानने के कारण भूतपूर्व कम्यूनिस्ट नेता एम० एन० राय अँग्रेजों के पक्षधर हो गये थे इसलिए कम्यूनिस्टों ने अपने भूतपूर्व नेता को अँग्रेजों का एजेन्ट, कहना शुरू कर दिया था। गांधी तो उनकी दृष्टि में सदा ही प्रतिक्रियावादी, पूंजीपतियों के दलाल थे। नेहरू अवश्य चतुराई से अपनी इमेज कभी राष्ट्रीय, कभी अन्तर्राष्ट्रीय आदि बनाया करते थे पर चूँकि पिछले दिनों चीन के कुमिंगतांगी नेता च्यांगकाई शेक से नेहरू की मित्रता, युद्ध की बदली हुई परिस्थितियों में नेहरू के चरित्र को सन्देहास्पद बना रही थी, इसलिए कम्यूनिस्ट नेहरू को लेकर दुविधा में थे। तब भी पूरी कांग्रेस में नेहरू उन्हें समाजवाद की ओर झुके लगते थे पर अभी स्थितियाँ साफ नहीं थीं क्योंकि भारतीय राजनीति की बागडोर गांधी के हाथों में थी।

और आखिरकार कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफे दे दिये। पूरी राजनीति में गतिरोध आ गया। इतना तो स्पष्ट था कि अँग्रेज फिर दमन की नीति अपनाएँगे पर अभी यह स्पष्ट नहीं था कि कांग्रेस क्या करे। गांधी बहुत स्पष्ट नहीं थे कि सार्वजनिक

आन्दोलन का स्वरूप क्या होना चाहिए। एक गुणात्मक परिवर्तन यह भी आ गया था कि रूस और जर्मनी की दस-वर्ष की सन्धि टूट चुकी थी और जर्मनी ने रूस पर भी हमला कर दिया था। इसका नतीजा यह हुआ कि जो युद्ध कल तक साम्राज्यवादियों का था वह रूस के आ जाने पर 'पीपुल्स-वार', जनता की लड़ाई हो गयी। कल तक कम्यूनिस्ट अंग्रेजों के विरोधी थे पर अब वे अंग्रेजों के साथ हो गये। चूंकि कांग्रेस युद्ध का समर्थन नहीं कर रही थी इसलिए गांधी और कांग्रेस सभी साम्राज्यवादियों के एजेन्ट कहलाये जाने लगे। अंग्रेज वाइसराय तथा सरकार से लगातार गांधी जी का पत्र-व्यवहार, मेल-मुलाकात भी व्यर्थ हो रहा था। चूंकि अंग्रेज युद्ध में अत्यधिक व्यस्त थे अतः यह एक सीमा तक ही अपने उपनिवेशों में दमन की नीति अपना सकते थे अतः उपनिवेशों को राष्ट्रीय शक्तियों की छवि को धूमिल एवं बदनाम करने के अलावा और कोई नीति हो नहीं सकती थी और इसके लिए कम्यूनिस्टों से अच्छे औजार उन्हें मिल नहीं सकते थे। कम्यूनिस्टों को कांग्रेस से अपना हिसाब-किताब पूरा करने का यह अच्छा अवसर था और उन्होंने राष्ट्रीय संकट की इस चरम घड़ी में पूरी तरह अपना राजनीतिक विद्वेष निकाला। गांधी के सार्वजनिक आन्दोलन की संभावना बनने तक वैयक्तिक सत्याग्रह की बात पूरे देश में आग की तरह फैल गयी। लोगों को लगा कि गांधी ने आन्दोलन का यह संकेत किया है जिसकी प्रकृति वैयक्तिक ही होगी पर चरित्र, घोर आत्मसंयम का होगा।

बहुत ही तनावपूर्ण मानसिकता में सार्वजनिक सभा की कार्यकारिणी की बैठक हो रही थी। सभी के भीतर के दोनों दलों में इस बात को लेकर असहमति थी कि वैयक्तिक सत्याग्रह की प्रासंगिकता देशी राज्यों के सन्दर्भ में क्या अर्थ रखती थी! रावल जी महाराज का कहना था,

— देशी राजा भी तो प्रकारान्तर से अंग्रेजों की आज्ञा मानकर वैसा ही दमन, शोषण करते हैं जैसा कि अंग्रेज करते हैं। जिस युद्ध के प्रश्न को लेकर कांग्रेसमन्त्रि-मण्डल भंग हुए क्या वे ही कारण कमोवेश रूप में हमारे राज्य में भीन हीं हैं? रंगरूटों की भर्ती, राज्य का कोष, अर्थ-व्यवस्था क्या सब युद्ध के काम में नहीं लाया जा रहा है? इधर सुनने में आ रहा है कि इटली और जर्मनी के बहुत सारे कैदियों को रखने, खिलाने-पिलाने और सुरक्षा आदि का सारा खर्चा कई देशों राज्यों पर डाला जाने वाला है। क्या यह सब खर्चा हमारी अपनी कमाई का नहीं है? और क्या यह सब हमसे पूछ कर होगा? तब भला देशी

राजाओं का और अंग्रेजों का चरित्र भिन्न कैसे हुआ ? देशी राजा लोगों की हैसियत शायद किसी अंग्रेज गवर्नर के बराबर भी नहीं होगी। सारा देश इन अंग्रेजो को गिरवी में दे दिया गया है। हम कब तक इन देशी राजाओं को अपना कहकर छलावे मे रहेगे ? सारे शासकों की एक ही जात होती है जिस प्रकार शोषित प्रजा भी समान रूप से शोषित होती है।

रावल जी के इस कथन से मराठी ग्रुप के कुछ लोगों को काफी असुविधा हो रही थी। इस पर मराठी ग्रूप के एक सदस्य ने कहा,

— गांधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह की बात कही ही अँग्रेजी भारत के सिलसिले में है क्योंकि यहीं मन्त्रिमण्डल भंग हुए हैं। हां यदि कोई सार्वजनिक आन्दोलन कांग्रेस ने शुरू किया होता तो सार्वजनिक-सभा का दायित्व था कि वह भी अपने राज्य में कोई आन्दोलन करती। लेकिन हमें यह नही भूल जाना चाहिए कि जहाँ इन दो प्रकार के शासकों में समानताएँ हैं वहां भिन्नताएँ भी हैं। और इस भिन्नता का बड़ा अर्थ है। मैं यह नही मान सकता कि अँग्रेज वाइसराय जिस दृष्टि से इस देश को देखता है उसी दृष्टि से भारतीय राजा-महाराजा भी देखते होंगे। अँग्रेज कभी इस देश का नहीं हो सकता इसी तरह भारतीय राजा-महाराजा कभी इस देश से बाहर का नहीं हो सकता।

इस पर गिरिधर ठक्कर ने कहा,

— आप बात घुमाइए नहीं। प्रश्न तो यह है कि सार्वजनिक-सभा व्यक्तिगत-सत्याग्रह के कार्यक्रम में सहयोग दे या न दे ?

— बात घुमाने की इसमें क्या बात है ? यह व्यक्ति का अपना स्वतंत्र निर्णय होना चाहिए। जब कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह के बारे में अपनी बैठक में कोई निर्णय नहीं लिया तो सार्वजनिक-सभा को क्यों करना चाहिए, यह समझ में नहीं आता।

अधिकांश लोग इस तर्क से सहमत थे कि व्यक्तिगत सत्याग्रह के बारे में सार्वजनिक-सभा कोई न तो निर्णय ले, न किसी को आदेश दे। गांधी जी ने एक संकेत दिया है इस पर कोई सत्याग्रह करना चाहता है तो यह उसका अपना निर्णय होगा, सभा पर उसका कोई दायित्व नहीं होगा।— अभी तक दत्तात्रय जोशी, जो कि 'हरिजन सेवक संघ' के मंत्री थे बोले,

— अध्यक्ष जी की आज्ञा से मैं यह पूछना चाहता हूँ कि व्यक्तिगत सत्याग्रह के बारे में सभा कोई निर्णय क्यों न ले ? माना कि कांग्रेस ने नहीं कहा पर गांधी जी के कथन के बाद किसी व्यक्ति का या संस्था का कहना क्या अर्थ रखता है ? मैं बराबर देखता हूँ कि एक वर्ग, देश और स्वाधीनता की लड़ाई से ज्यादा महत्वपूर्ण इस बात को मानता है कि हमारे श्रीमन्त पर तो कोई आंच नहीं आ रही है ? हम यहां इन राजा-महाराजाओं की लड़ाई लड़ने के लिए हैं या जनता की लड़ाई ?

किसी को कम से कम दत्तात्रय जोशी से इतने साफ-साफ कथन की अपेक्षा नहीं थी। ऐसा काम गिरिधर ठक्कर तो कर सकते थे पर स्वयं दक्षिणी ब्राह्मण होने के कारण जब दत्तात्रय जोशी के मुँह से ऐसी बात सुनी तो मराठी-ग्रुप सकते में आ गया। इस ग्रुप के सारे अग्रज नेता, जैसे पुस्तके, अयाचित आदि गम्भीर हो उठे। अयाचित जी ने देखा कि बिना बोले काम नहीं चलेगा अतः कहा,

— हमारे दत्तात्रय जोशी अभी युवक हैं और समझते हैं कि जोश का नाम ही देश-भक्ति है।

इस पर दत्तात्रय जोशी ने आपत्ति की,

— अध्यक्ष जी ! मैं इस बात पर आपत्ति करता हूँ। कोई युवा है या कोई वृद्ध, यह प्रश्न नहीं है।

इस पर आयचित जी ने वैसे ही शान्त भाव से कहा,

— आप तो सरेआम कुछ लोगों पर यह लांछन लगा रहे हैं कि वे सरकारपरस्त हैं। क्या यह आपत्ति की बात नहीं है ?

गिरिधर ठक्कर ने कहा।

— दत्तू भाई ने किसी का नाम नहीं लिया। उन्हें जिस प्रकार स्थितियाँ दिखती हैं केवल उनका संकेत दिया।

धूर्जटी जो कि अभी तक चुप था, बोला,

— मैं कुछ कह सकता हूँ अध्यक्ष महोदय ?

इस पर रावल जी महाराज ने कहा,

— आप अवश्य कहें पर मैं एक निवेदन कर दूँ कि जबकि देश के सामने घोर संकट की घड़ी उपस्थित हो गयी है तो यह अच्छा होगा कि हम छोटी-छोटी बातों में न उलझें बल्कि चीजों को, समस्याओं को विशाल परिप्रेक्ष्य में देखें।—हाँ, अब आप कहें।

— चाहे कोई व्यक्ति गाँधी जी हो या नेहरू जी हो, हमें उनकी बात भले ही पालन करनी पड़े पर बहस की छूट होनी चाहिए।

इस पर गिरिधर ठक्कर ने कहा,

— हम लोग बहस नहीं तो और क्या कर रहे हैं ?

इस पर धूर्जटी ने कहा,

— बहस करने का यह तो ढंग नहीं होता। मुझे तो लगता है कि गांधी जी हमेशा अपनी ही मनमानी करते हैं।

रावल जी को कुछ असुविधा हुई, बोले,

— आप जानते हैं आप क्या कह रहे हैं ?

— मैं जानता हूँ और अपना दायित्व भी समझता हूँ। गांधी जी के इस द्वैत चरित्र को आप क्या कहेंगे ? जब पट्टाभी हार गये और सुभाष बाबू जीत गये तो जिस प्रकार उन्होंने पट्टाभी की हार को अपनी हार कहा तो क्या यह लोकमत के

विरुद्ध उनकी मनमानी नहीं कही जाएगी ?

मीटिंग में उपस्थित सभी लोग धूर्जटी शुक्ल की इस बात से स्तब्ध थे। किसी को यह नहीं आशा थी कि व्यक्तिगत सत्याग्रह की बात पर से गांधी-विरोध उठ खड़ा होगा। रावलजी बोले,

— मैं समझता हूँ कि हम लोग मूल विषय से बहुत दूर निकल आये। वैसे मैं इस बात पर इतना ही कहना चाहूँगा कि गांधीजी के कथन के पीछे सुभाष बाबू की उग्र राजनीति से असहमति तो थी पर उनकी अवमानना नहीं थी और अगर गांधीजी अपनी बात ही मनवाना चाहते तो कोई उन्हें रोक सकता था ?—मैं समझता हूँ कि हम लोग व्यक्तिगत सत्याग्रह पर ही चाहें तो बहस करें।

अब तक पुस्तके साहब मौन बैठे हुए थे। उन्हें लगा कि उन्हें अब बोलना चाहिए। यह बहुत क्षीण देह के मेधावी व्यक्ति थे, नामांकित वकील भी थे। बहुत ही धीमे-धीमे बोलते थे।

— असल में गांधीजी को समझने में हर आदमी से भूल होती है। गांधीजी के अलावा कोई भी व्यक्ति चाहे वह जवाहरलाल नेहरू हों, सरदार पटेल हों, सुभाषचन्द्र बोस हों, भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई का पर्याय नहीं है। इसका बहुत बड़ा कारण है। गांधीजी जानते हैं कि उनका उद्देश्य स्वाधीनता है और अपने इस एक उद्देश्य को वह जिस मार्ग, पद्धति या सिद्धान्त से प्राप्त करना चाहते हैं उसमें वह कोई समझौता नहीं करते। बारम्बार वाइसराय से बातें करते हैं पर जैसे ही खतरा देखते हैं कि अंग्रेजों की बात माननी पड़ सकती है तब कोई न कोई बहाना खोज लेते हैं।

बीच ही में टोकते हुए गिरिधर ठक्कर ने कहा,

— गांधीजी सुभाषचंद्र बोस की उग्र राजनीति से इतना ज्यादा परहेज करते हैं कि उन्हें हार कर फार्वर्ड-ब्लाक बनाना पड़ता है। सुभाष बाबू के भीतर जो देश के प्रति उत्कट समर्पण की भावना के प्रति कोई सहिष्णुता नहीं ? जबकि रामगढ़ कांग्रेस में मौलाना आजाद ने सभापति की हैसियत से जो भाषण दिया वह किस मुस्लिम लीगी नेता से कम था ? गांधीजी हर आदमी के लिए ये अलग-अलग मानदण्ड क्यों काम में लाते हैं ? मुझे आपकी यह बात ठीक लगती है कि गांधीजी का लक्ष्य आजादी है पर बाकी के लोगों का लक्ष्य आजादी में से निकलने वाली शासन-सत्ता पर ध्यान है और सारी गठजोड़ उसी के लिए है। गांधी का तो केवल नाम है। सुभाष बोस चुनौती बन सकते हैं परन्तु मौलाना आजाद की हैसियत ही क्या है ? गांधी की देशभक्ति की 'आड़ से कोई अभी से अपनी सतर्क राजनीति खेलने लगा है।

— आप क्या कहना चाहते हैं ?

रावलजी ने पूछा।

— मैं जो कहना चाहता हूँ वह कोई छुपी हुई बात नहीं है पर मैं किसी का ना"

सेना चाहता । रिहर्सल के रूप में स्वायत्त-शासन के अंतर्गत मंत्रिमण्डल बने थे, बाकी का आजादी के बाद होना है

गिरिधर ठक्कर की इस बात पर कइयों को असुविधा हो रही थी । धूर्जटी ने कहा,

— इस तरह की बातें करने से लाभ ही क्या है जब आप किसी बात का प्रमाण ही न दे सकें ?

अयाचित वकील ने कहा,

— अच्छा तो यही है कि हम अपनी बहस को यहीं तक सीमित रखें । हमारी अपनी ही कोई कम समस्याएँ नहीं हैं । मेरी बात को यदि अन्यथा न लिया जाए तो मैं एक बात यह कहना चाहता हूँ कि सभा की मजदूरों में जो गतिविधि है उसमें कम्यूनिस्टों का साथ में होना कहाँ तक ठीक है ?

शायद गिरिधर ठक्कर जवाब देना चाहते थे पर गोविन्द जोशी जो कि बराबर चुप थे, बोले,

— अयाचित जी यह जानते ही होंगे कि मजदूरों में सभा की क्या, कांग्रेस की भी कोई खास पकड़ नहीं है । वैसे भी उज्जैन में मजदूरों को लेकर कोई खास काम तो हुआ नहीं है । कहने को कम्यूनिस्टों की एक यूनियन अवश्य है पर उस संगठन के माध्यम से गिरिधर ठक्कर ने जिस प्रकार लड़ाई लड़ी वह हम जानते हैं ।

इस पर तत्काल धूर्जटी ने कहा,

— शायद अयाचित जी यही जानना चाहते हैं कि गिरिधर ठक्कर जी ने सभा के मंत्री के रूप में यदि कम्यूनिस्टों की यूनियन के साथ सहयोग किया तो वह किसके कहने से किया ?

रावल जी सारी बात समझते थे, बोले,

— मेरी समझ में यह नहीं आ रहा है कि गिरिधर भाई पर एक अच्छे काम के लिए क्यों प्रहार हो रहे हैं ।

धूर्जटी ने टोका,

— यह प्रहार की बात नहीं है, सिद्धान्त की बात है । सार्वजनिक-सभा या कांग्रेस का कोई व्यक्ति किसी ऐसी राजनीतिक संस्था] के साथ सक्रिय हो सकता है जिसकी रीति-नीति, उद्देश्य और सिद्धान्त सभा और कांग्रेस से भिन्न ही नहीं, विरोधी हों ? कोई अगर कम्युनिस्टों से सहयोग किया जा सकता है तो हिन्दू महासभा या मुस्लिम-लीग से सहयोग क्यों नहीं हो सकता ?

गिरिधर ठक्कर ने बोलना चाहा तो गोविन्द जोशी ने रोका और वह बोले,

— जहाँ तक मैं जानता हूँ कि गिरिधर भाई बहुत पहले से मजदूरों में भी काम करते आ रहे हैं । अगर तथ्यात्मक गलती नहीं करता हूँ तो कह सकता हूँ कि वह सभा के मंत्री होने के पूर्व से ही मजदूर-यूनियन में थे अतः यह कहना क्या ठीक होगा कि गिरिधर भाई, जो कि सभा के मंत्री हैं, मजदूर-यूनियन, जिसमें कम्युनिस्टों की प्रधानता है, किसके कहने से हैं ? मतलब यह कि उनका यह राजनीतिक कार्य,

सभा के राजनीतिक कार्य के विरुद्ध है अतः उनसे पूछा जाए और इस पर कुछ कार्रवाई की जाए, है न ? सारी मंशा यही तो है। पर अच्छा हो कि हम सब उस संघर्ष के दिनों के अपने-अपने आचरणों के बारे में भी सोच देखें कि श्रमिकों की उस जायज लड़ाई के समय किसके पक्ष में थे और हमने कितने मजदूर विरोधी कार्य किये। कम से कम गिरिधर भाई ने, चाहे कम्यूनिस्टों का साथ दिया हो, जबकि सच यह है कि कम्यूनिस्टों ने ही इनका साथ लिया था, मजदूरों के हित में एक शानदार लड़ाई लड़ी और उज्जैन के इतिहास में वह मजदूरों की पहली विजय थी।

इस पर कई लोग उठकर खड़े हो गये। रावल जी ने पूछा,

— आप लोग सब उठ क्यों गये ?

कुछ लोगों ने कहा,

— गोविन्द जी ने प्रकारान्तर से कई नामांकित लोगों पर स्पष्ट लांछन लगाया है। क्या इसके बाद और कोई अपमान बाकी रह गया है ?

इस पर रावल जी बोले,

— वैसे गोविन्द जी ने नाम तो किसी का लिया नहीं। और फिर जवाब देने का सबको अधिकार है। अगर सामाजिक, राजनीतिक जीवन में इस प्रकार के आरोपों पर वाकआउट किया जाएगा तो क्या इससे शंका की पुष्टि नहीं होगी?....और गिरिधर भाई की भी बात सुननी चाहिए।....मैं तो हर बार कह रहा हूँ कि हम मूल विषय से बहुत दूर निकल आये हैं। ये या इस तरह की बातों का तो कोई अन्त ही नहीं हो सकता।

इस पर पुस्तके साहब उसी प्रशान्त भाव से बोले,

— रावल जी का कथन ठीक है। मैं तो यही समझता हूँ कि सार्वजनिक सभा भी अपने किसी सदस्य को व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिए कोई आदेश भी नहीं देती और न इसमें कोई सैद्धान्तिक आपत्ति देखती है।

और इसके बाद खिन्न मन से सब उठ खड़े हुए।

गोविन्द का नियम था कि वह सबेरे कम से कम आध घंटे चरखा चलाते उसके बाद वह अपने मुकदमे आदि के धन्धे से लग जाते थे। जब से सार्वजनिक-सभा की पिछली बैठक हुई थी तब से वह बहुत दुःखी थे। चरखा कातते समय ही मन एकाग्र हो पाता था इसलिए कभी-कभी समय मिलने पर रात में भी कातने बैठ जाते थे। धूर्जटी का और उसकी पत्नी का जो व्यवहार देख-सुन रहे थे उससे कहीं मर्माहत तो थे ही परन्तु इधर राजनीति में भी धूर्जटी जिस प्रकार व्यवहार कर रहा था उसे वह अब स्पष्ट समझ रहे थे। पहले तो उनका ख्याल था कि धूर्जटी कई मामलों में अपने स्वतन्त्र विचार रखता है इसलिए वह अप्रत्याशित आचरण करता है परन्तु वह सशंक हो उठे जब उन्हें मजदूरों की हड़ताल के समय मालूम हुआ कि वह मिल मालिकों और मैनेजर से अन्दर ही अन्दर साठ-गांठ किये है। इसके बाद वह बराबर उनके और गिरिधर ठक्कर के बारे मे किसी के माध्यम से कुछ भी प्रवाद फैलाने की चेष्टा करता है। वह स्वयं व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लेना चाहते थे परन्तु रावल जी महाराज, नटवरलाल जी परीख, गिरिधर ठक्कर आदि ने गौरा के आसन्न प्रसव को देखते हुए रोक दिया। नतीजा यह हुआ कि सबके कहने पर दत्तात्रय जोशी और गिरिधर ठक्कर ने ही व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किये। हालांकि गोविन्द नहीं चाहते थे कि गिरिधर ठक्कर सत्याग्रह करें। वह उनकी पारिवारिक स्थिति जानते थे कि अगर फिर पकड़ लिये गये तो गिरिधर ठक्कर की माँ की मुसीबत हो जाएगी। इधर एक अच्छाई यही हुई थी कि गौरा ने अपनी इन बुआ से सान्निध्य बढ़ा लिया था फलतः कभी वह आ जाती थीं या कभी गौरा ही फीगंज उनके पास चली जाती थी। व्यक्तिगत सत्याग्रह को लेकर भारत सरकार और बम्बई सरकार का रुख कड़ा होता दिख रहा था। गांधी जी और वाइसराय दोनों एक-दूसरे से सहमत नहीं हो पा रहे थे।

अंग्रेज स्वाधीनता के बारे में कोई भी आश्वासन युद्ध के दौरान नहीं देना चाहते थे परन्तु चाहते थे कि कांग्रेस और गांधी जी अंग्रेजों का न केवल समर्थन ही करें बल्कि सक्रिय सहयोग दें। कांग्रेस के अधिकांश नेताओं को लग रहा था कि अंग्रेज इस समय अड़चन में फँसे हैं अगर इस समय कोई जबर्दस्त आन्दोलन शुरू कर दिया जाए तो देश का मनस भी तैयार है, राजनीतिक परिस्थितियाँ भी अनुकूल हैं और अंग्रेज बहुत अधिक प्रतिकार करने की स्थिति में भी नहीं है। अंग्रेजों को यही भय था कि अगर कांग्रेस या गांधी जी इस समय कोई जनव्यापी आन्दोलन छेड़ देते हैं तो उनकी स्थिति बड़ी खराब हो जाएगी इसलिए वाइसराय निरन्तर बातचीत का सिलसिला बनाये रखकर इस संकट की घड़ी को टाल ले जाना चाहते थे। गांधी जी सब कुछ समझ रहे थे परन्तु उन्हें एक सीमा के बाद अंग्रेजों पर दबाव डालना नैतिक दृष्टि से गलत लग रहा था। हमें आजादी चाहिए, यह ठीक है परन्तु इसके लिए अंग्रेजों की मुसीबत का समय चुनना कौनसी नैतिकता है ? हाँ, हम अपना दबाव उन पर बनाये रखें और व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रयोजन ही यह था।

और शायद अंग्रेजों से यह भूल हो ही गयी कि व्यक्तिगत-सत्याग्रह के प्रतीक का अर्थ उन्होंने कांग्रेस और गांधी जी की कमजोरी समझा। उन्हें लगा कि कांग्रेस के पास जन-व्यापी आन्दोलन करने की न तो कोई योजना ही है और न शक्ति। यदि होती तो अपनी आजादी प्राप्त करने का यह स्वर्ण अवसर था। यदि अंग्रेज ऐसी किसी दुरभि में होते तो शत्रु पर चोट करने में कमी नहीं चूकते। नतीजा यह हुआ कि व्यक्तिगत-सत्याग्रहियों की धर-पकड़ शुरू हो गयी। सब तरह कि राजनीतिक, गति-विधियों पर पाबन्दी लगा कर समझौते की सारी आशाएँ खत्म कर दीं। और इस तनाव भरे वातावरण में आगामी अगस्त ४२ में कांग्रेस अधिवेशन की घोषणा हुई।

कल रात जब से रेडियो पर यह घोषणा सुनी तब से वह और भी अधिक चिन्तित थे। वह बम्बई अधिवेशन में जाना चाहते थे परन्तु यह किस प्रकार सम्भव होगा अभी इस बारे में स्पष्ट नहीं थे। वैसे तो दो दिन पूर्व ही व्यक्तिगत-सत्याग्रह आन्दोलन समाप्त जैसा ही हो चुका था क्योंकि अब लड़ाई व्यापक क्षेत्र में होगी इसके आसार स्पष्ट हो चले थे। जोशी और ठक्कर द्वारा व्यक्तिगत-सत्याग्रह समाप्त कर दिये गये थे। अभी हालांकि अगस्त में दो माह की देरी थी परन्तु तनावपूर्ण स्थिति थी। यहाँ से ए० आई० सी० सी० के प्रतिनिधि के रूप में तो रावल जी, पुस्तके साहब और अयाचित ही सदस्य थे परन्तु प्रेक्षकों के रूप में कइयों के जाने की संभावना थी। अभी कोई नहीं जानता था कि इस अधिवेशन में क्या होने वाला है। गांधी जी ने एकदम मौन धारण कर लिया था। परिस्थितियों की अथाहता को सब थाहना चाह रहे थे।

आज रोज की भाँति तो गोविन्द एकाग्र भाव से चरखा नहीं चला पा रहे थे क्योंकि एक साथ वैयक्तिक समस्याओं के साथ राजनीतिक उलझाव भी मन में घिरते और न जाने कहाँ खो जाते। तभी गौरा आयी।

— लीजिए, आप अभी चरखा ही कात रहे हैं। रोज तो आप घंटा कातते हैं पर
आज चूंकि कहीं जाना है न तो घंटे भर बैठ कर कातेंगे।
गोविन्द खिसिया गये। सच तो यह कि वह राजनीतिक उहापोह में इतना अधिक खोये हुए थे कि वह यह भूल ही गये कि पत्नी ने नागेश्वर जी उपाध्याय के यहां चलने के लिए कहा था। नागेश्वर जी गौरा के दूर के काका लगते थे इसलिए वह उन दोनों को काका-काकी कहती थी इसलिए वह भी उन्हें उसी रूप में पुकारने लगे थे। नागेश्वर जी मोतीझरे से पीड़ित थे। इधर वह कई बार जल्दी-जल्दी बीमार पड़ते रहे हैं और दुबले भी काफी हो गये थे।
— मुझे तैयार होने में कोई देर नहीं लगेगी।
और वह चरखा समेटने लगे, तो गौरा बोली,
— आप तैयार हों, मैं यह सब समेट दूंगी।
और गोविन्द तैयार होने चले गये।

भागसीपुरे की बाहरी सड़क पर ही तांगा रुका और जैसे ही यह लोग गली के मुहाने वाले बड़े से फाटक पर पहुँचे कि इन्हें रोने-पीटने की आवाज सुनायी दी। वैसे तो इस मुहल्ले में ज्यादातर लोग जाति के ही थे पर गोविन्द-गौरा को उन लोगों के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। वह तो नागेश्वरजी के कारण दो-चार बार आने से मुहल्ले को थोड़ा बहुत पहचानने लगे थे सड़क के दोनों ओर के फाटकों के भीतर पचासों मकानों की बसाहट वाला यह मुहल्ला उज्जैन के पुरातन मुहल्लों में से एक है। ठण्डी-पतली गलियों के भीतर गलियां बाहरी आदमी के लिए भूल-भुलैया से कम नहीं थीं। यहां ऐसी स्त्रियां मिल जाएँगी जो सिवाय धर्मशाला में जीमने जाने के अलावा कभी इन गली-मुहल्लों से बाहर नहीं गयी होंगी। क्योंकि सारे सगा-सोई, काज-करियावर, जीना-मरना सभी कुछ तो इन गलियों तक सीमित है। गलियों के बाहर के संसार के बारे में स्त्रियों को क्यों जानकारी होनी चाहिए? इस घर की लड़की तीन घर छोड़कर बहू बनकर गयी होगी तो उस घर की लड़की इस घर के मामा के यहां गयी होगी। एक घर से दूसरे के घर की छत ज्यादातर तो मिली ही होगी तो आना-जाना, मिलना बैठना, निन्दा-शिकायतें सभी होती हैं। और अगर दो घरों के बीच में कोई गली आ गयी होगी तो बहुएँ मौका और सुनसान देखकर अपनी-अपनी बारियों [खिड़कियों] में खड़ी होकर अपना-अपना दुखड़ा एक-दूसरे को सुनाकर सन्तोष कर लेती हैं। एक-दूसरे के घरों के न केवल खाने-पीने की गंध या छौंके की आवाज ही सुनायी पड़ती

रहती है बल्कि मार-फटकार सभी कुछ तो आता सुनायी पड़ता है। इन बहुओं में कइयों के लिए सारी दुनिया का मतलब मालवा, मालवे का मतलब उज्जैन और उज्जैन का मतलब भागसीपुरा ही था। घर की छतों पर से भी तो आकाश, भागसीपुरे के मकानों के पीछे तक ही तो है। कभी बाहर से आये किसी देवर, ननँदोई या जमाई [दामाद] से जब कुछ दूसरे-दूसरे नाम, घटनाएँ सुनने को मिलतीं तो कैसा अजीब सा लगने लगता है कि इतना सब कहाँ हो रहा है? यह गाँधीजी कौन हैं? आजादी की लड़ाई क्या होती है? लड़ाई तो तीर-तलवार से होती है....और जब किसी की कुछ, किसी की कुछ लगने वाली श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय ने भागसीपुरे के इन घरों में जा-जाकर काम करना शुरू किया तो सासों को तो बहुत ही बुरा लगा। किसी ने सम्बन्ध होने के कारण तो किसी ने आयु के बड़प्पन के कारण भले ही अपनी असहमति जतला दी हो कि बहुओं का काम घर-गृहस्थी देखना होता है कि ये सब फिजूल के कामों को करना चाहिए? लड़कियाँ बहुत अधिक पढ़ेंगी-लिखेंगी तो आदमी लोग चूल्हा-चक्की सम्हालेंगे? और फिर लड़कियों को क्या अपने ही पास रखना है क्या? कल न जाने किसके यहाँ जाना है। मिडिल पास कराओ तो ठीक और न पढ़ाओ तो ठीक। बेपना रोटी ही है और पैदा बच्चे ही करने हैं। इन दो कामों से तो छुट्टी है नहीं। इससे फुर्सत हो तो भले ही कर लो नारी-जागरण। जहाँ और कई जागरण होते हैं वहाँ यह भी सही पर यह कहो कि लड़कियाँ-बहुएँ गली-गली घूमें तो, ऐसा तो न कभी हुआ और न होगा। इसलिए जब कभी श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय इन गलियों में दूर से दिख जाती हैं तो सासू जी के डर के मारे बहुएँ फटाक से बारियाँ बन्द कर लेती हैं कि अगर सासू माँ ने देख लिया तो कच्चा हीं चबा जाएँगी।

जैसे ही फाटक में घुसे और बाँये हाथ नागेश्वरजी का मकान दिखलायी दिया तो देखा कि उधर लोगों की खासी भीड़ है और रोना-पीटना भी उसी दिशा से आ रहा है। गोविन्द-गौरा की समझ में नहीं आया कि क्या बात है। लोग-बाग अपने चबूतरों पर, गली में खिड़कियों में, छज्जों में खड़े उधर ही देख रहे थे। दोनों को सहसा असुविधा होने लगी। इन दोनों को देखकर स्त्रियों ने प्रश्नसूचक दृष्टि से एक-दूसरे की ओर देखा। इस प्रकार से लोगों का उन्हें देखना खास असुविधाजनक लग रहा हो परन्तु उन्हें साथ ही कुछ स्पष्ट भी हो रहा था। वे दोनों धड़कते दिल से जल्द-जल्द पहुँच जाना चाहते रहे कि क्या बात है? बीमार तो नागेश्वर जी थे ही पर....और नागेश्वरजी के घर के सामने खासी भीड़ थी। भीतर से रोना-पीटना आ रहा था....तो क्या?....नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता क्या ऐसा नहीं हो सकता?....गौरा को देखा तो लोगों ने रास्ता दे दिया। गौरा बहुत तेजी से भीतर की ओर चली गयी।

नीचे आँगन में नागेश्वरजी को लिटा रखा था। दूरी पर कोने में पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल उदास बैठे हुए थे। उनके पास ही रोता हुआ वासुदेव था जिसे पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल सान्त्वना दे रहे थे। स्त्रियाँ दूसरे बरामदे में थीं। दुर्गा ने नर्मदामासी को सम्हाल रखा था जिनका रोते हुए बुरा हाल हो रहा था। गोविन्द की समझ में

रहा था कि यह सब कैसे-क्या हुआ तथा इसके बारे में किससे पूछा जाए। गौरा जाकर दुर्गा दीदी के पास बैठ गयी। सबको रोते देखकर उसे भी रुलाई छूट रही थी। पिछले दिनों माँ की मृत्यु के बाद वह इन्हीं काका-काकी के साथ ही तो थोड़े दिनों तक रही थी और उसने किसी दिन परायापन नहीं अनुभव किया था। लेकिन यह भी नहीं समझ पा रही थी कि सहसा काका की मृत्यु कैसे हो गयी? गोविन्द अभी जीजाजी के पास जाने की सोच ही रहे थे कि उन्हें पंचानन दिखा। पंचानन ने भी मामा को देखा तो वह उनके हावभाव से समझ गया कि इन्हें भी कुछ नहीं मालूम है। और होता भी कैसे? स्वयं बाबा व माँ को ही कहाँ मालूम था? वह तो,सवेरे चाय पी रहे थे कि वासुदेव काका दौड़ते आये और घबराते हुए बोले कि बाबा की तबीयत बहुत खराब है, माँ ने जल्दी से बुलाया है। और तब माँ-बाबा जैसे बैठे थे वैसे ही उठ पड़े। बाबा ने पहुँचने पर देखा कि बुखार तो बहुत ही तेज है। थर्मामीटर लगाकर देखा तो १०५° डिग्री बुखार था। किसी की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। डाक्टर सामन्त को लिवाने दौड़ाया तो वैद्यजी के पास भी आदमी दौड़ा गया। इसी बीच खून की दो कै हुई और नागेश्वरजी की आँखें पलट गयी। वैद्यजी और डाक्टर आये जरूर पर बहुत देर हो चुकी थी। किसी का ख्याल था कि तेज बुखार के कारण दिमाग की नस फट गयी। कोई कुछ कह रहा था। सब हतप्रभ थे। यह ठीक था कि नागेश्वरजी की स्थिति गड़बड़ ही चल रही थी। पिछले साल भर से एक न एक रोग उनको लगा ही रहता था। किसी का ख्याल था कि उनका व्यवसाय ठीक नहीं चल रहा था और शायद बाजार का देना बढ़ गया था। यह वह किसी पर व्यक्त नहीं करना चाहते थे। शायद यही सदमा था जो उन्हें भीतर ही भीतर खाये जा रहा था। हालाँकि यह लोगों का सिर्फ कयास था, ठीक से कोई नहीं जानता था कि वास्तविकता क्या थी। सिवाय इसके कि वह एक वर्ष में काफी घुल गये थे। हालाँकि वासुदेव ने सारा व्यवसाय पिछले दिनों सम्हाल लिया था तब भी नागेश्वरजी स्वभावतः ही चिन्ता करनेवाले व्यक्ति थे। परिवार भी कोई बड़ा नहीं था। एकमात्र पुत्र वासुदेव था। वासुदेव के भी केवल दो ही बच्चे थे। काफ़ी बड़े हो गये थे वे दोनों भी। किसी भी अर्थ में गृहस्थी कच्ची नहीं थी। भानजे त्र्यम्बक से कहकर फ़ीगंज में एक प्लाट खरीद लिया था।

इस बीच सार्वजनिक-सभा के कई लोग आ गये। सभा की ओर से, 'हरिजन सेवक संघ' की ओर से तथा दो-एक सामाजिक संस्थाओं की ओर से मालाएँ चढ़ायी गयी। रावल जी के आने पर जो रुदन हलका पड़ गया था वह मुखर हो उठा। और देखते-देखते शव को अन्तिम स्नान कर तिकटी पर बाँधा जाने लगा। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय का रुदन सुनकर सबको रुलाई छूट रही थी पर एक सीमा पर आकर मनुष्य और उसकी सारी भावनाएँ, सम्बन्ध, सब कैसे विवश हो जाते हैं। किसी भी आर्तता का कोई अर्थ नहीं होता। अब सब कुछ होगा पर गया हुआ ही कभी फिर एक क्षण को नहीं होगा। और जिस समय कंडे की अग्नि वासुदेव को थमायी गयी और वह अर्थी के आगे चला तथा लोगों ने 'रामनाम सत्य है' की गुहार लगायी तो स्त्रियों

का रुदन इतना प्रखर हो गया कि सारा वातावरण खौलता जल हो उठा। पूरी सेरी एक साँस और एक पाँव पर जैसे खड़ी थी। किसी की नीम नीचे बँधी गैया तक इतने लोगों को देखकर सशंक थी। जब तक अर्थी बाहर फाटक से बाहर निकलकर सड़क पर नहीं आयी तब तक स्त्रियाँ श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय को पकड़े-पकड़े रोते हुए पीछे आयीं।

सड़क पर आती अर्थी देखकर लोग रास्ते से हटकर खड़े हो जाते। एक-दूसरे से पूछने लगते और पहचान जाने पर गहरी निश्वास लेने लगते और देखते-देखते अर्थी पटनी-बाजार में निकल आयी। बाजार में जहाँ दूसरे व्यापार हो रहे थे, मृत्यु की यह शव-यात्रा भी एक व्यापार सी बीत रही थी, हालाँकि लोगों के व्यक्तित्व, स्वत्व कुछ क्षण को ठगे से रह जाते। कुछ साथ में हो लेते और देखते-देखते शवयात्रा, महायात्रा का रूप लेकर एक बाजार से दूसरे बाजार होते हुए क्षिप्रा तट की ओर बढ़ती गयी।

गत वर्ष ही फ्रीगन्ज के लिए एक ओवरब्रिज तैयार हुआ था। अस्पताल के कोने और माधव-कालेज की फील्ड की ओर जो पिछवाड़ा है वहाँ एक पतली सी सड़क है, वह सड़क ही मेन-सड़क को काटकर आगरे-लाइन को पार करके पहले वाटर-वर्क्स की टंकी के यहाँ घुमाव लेती थी पर ओवर-ब्रिज बनने के बाद से वह घुमाव निकाल दिया गया है और अब विनोद-मिल की बगल से ही ओवर-ब्रिज शुरू हो जाता था और रेलवे-लाइन पार कर ग्रेंड-होटल के पास खत्म हो जाता था। देवास-गेट की ओर से आने पर रेलवे-लाइन का जो फाटक पड़ता था वहाँ माँ-साहब की गुम्बदों वाली बड़ी सी धर्मशाला थी। ओवर-ब्रिज बन जाने के कारण वह धर्मशाला थोड़ी दब गयी थी परन्तु उसकी बगल से एक सड़क निकाल दी गयी थी और जो कि घूमकर ओवर-ब्रिज पर चढ़ जाती थी। ब्रिज में सुविधा के लिए लाइन के दोनों ओर सीढ़ियाँ भी बनी हैं पर लोग अभी भी लाइन-पार करते ही रहते हैं। हाँ, इस ओवर-ब्रिज से फ्रीगंज आने-जाने की बहुत सुविधा हो गयी थी नहीं तो पहले कभी किसी ट्रेन के आने के समय या शंटिंग के कारण प्रायः फाटक बन्द रहता और मोटर-ताँगे प्रतीक्षा करते घंटों खड़े रहते थे। रेलवे-ब्रिज उतरते ही ग्रेन्ड-होटल की बगल वाली सड़क सीधे घंटाघर चली जाती है पर बाँये हाथ जो सड़क घूमती है वह बिजलीघर होती हुई आगे जाकर मक्सी-रोड बन जाती है। घंटाघर जाने वाली सड़क और बिजलीघर जाने वाली सड़क के बीच एक बड़ा सा तिकोना प्लाट था जिसे बच्चों ने फील्ड बना रखा था। इसी बिजली-घर वाली सड़क पर बम्बइया-चाल की शैली वाली एक तिमंजली इमारत है, इसमें माधव-कालेज के प्रोफेसर तथा कुछ विद्यार्थी भी रहते हैं। प्रोफेसर बसन्त देवलालीकर इसी में सबसे ऊपर की मंजिल पर बिजलीघर की तरफ के कोने में रहते थे। उनकी छोटी सी बालकनी से बिजलीघर के फौवारे बड़े सुन्दर लगते थे। कई बार जब हवा

तेज होती थी तो कभी छींटें भी आ जाते थे। वैसे तो इस बिल्डिंग में बीसियों परिवार रहते थे पर ज्यादातर महाराष्ट्रीय परिवार ही थे। उज्जैन में कालेज होने पर भी कोई छात्रावास नहीं था अतः बाहर से आये छात्रों को कालेज के आसपास के मुहल्लों में ही रहना पड़ता था। साधारण घर के विद्यार्थी ज्यादातर देवास-गेट, मालीपुरा या ब्राह्मणगली में ही इक्के-दुक्के या दो-चार मिलकर रहते थे पर जो थोड़े सम्पन्न होते थे वे सामान्यतः फ्रीगंज में रहते थे। वस्तुतः फ्रीगंज, उज्जैन की सिविल-लाइन्स ही था। वैसी ही खुली-खुली बनावट, सोफियाने मकान, योजना के साथ बनाये गये आधुनिक बाजार, शान्त सड़कें तथा बड़ा सा घंटाघर। ग्रेन्ड-होटल की विक्टोरियाई जमाने के रोब-दाब वाली लाल-इमारत तथा उसके बड़े से लॉन-उद्यान उसे भव्यता प्रदान करते थे। घंटाघर के चारों ओर भी गुम्बदों वाली बम्बइया ढंग की इमारतों से बड़ी रमणीयता लगती थी। उज्जैन की गलियों वाली प्राचीनता का कहीं नामोनिशान नहीं था। जो भी था, बहुत ही आधुनिक था।

इधर दो-एक महीनों से 'पुरोगामी साहित्य-परिषद्' की बैठक नहीं हुई थी, पर आज उसी की बैठक प्रोफेसर बसन्त देवलालीकर के आवास पर हो रही थी। प्रायः इन बैठकों में स्थानीय तथा नवोदित लेखक जमा होते थे। नवोदित लेखकों में अधिकतर छात्र ही होते थे और छात्रों पर देवलालीकर का खासा प्रभाव था इसलिए उनमें से अधिकांश का झुकाव वामपंथी, प्रगतिशील साहित्य की ओर ही होता था। देवलालीकर कविता-कहानी भी लिखते थे पर प्रमुख रूप से वह आलोचना में ही रुचि रखते थे फलतः इन गोष्ठियों में वह आये दिन कोई न कोई पेपर या लेख पढ़ते, या फिर किसी प्रगतिशील पत्रिका में निकले किसी लेख का ही पाठ किया जाता और तब बहसें होतीं। इस प्रक्रिया को 'ब्रेन-वाशिंग' कहा जाता था। देवलालीकर अक्सर कहा करते थे कि जब तक समाज के विभिन्न वर्गों, समुदायों के बीच के आर्थिक सम्बन्धों की जानकारी नहीं होगी तब तक नयी वैचारिकता आ ही नहीं सकती। धर्म, कला, संस्कृति और साहित्य सब उस मूल आर्थिक-सत्ता, प्रभुत्व और शोषण की रक्षा करते हैं। व्यक्ति की परिकल्पना पूंजीवादी अवधारणा है तथा समाज की ठोस चेतना, समाजवादी वास्तविकता है। जब तक इस मूलभूत बात को लेखक नहीं समझेगा तब तक उसका लेखन जन-जीवन के साथ नहीं जुड़ सकेगा। जो कुछ भी धर्म, कला, साहित्य और सभ्यता के नाम पर श्रेष्ठ या विशिष्ट है वह शोषण-प्रसूत है, पूंजीवाद का प्रतीक है अतः जन-विरोधी है इसलिए आज के लेखक को सर्वथा नयी जमीन से शुरू करना होगा और वह जमीन प्रगतिशीलता की या समाजवाद की ही होगी। मार्क्सवाद केवल आर्थिक वैषम्य का ही दर्शन नहीं है, बल्कि वह शोषणहीन नये समाज तथा सामाजिकता से ओतप्रोत नये व्यक्ति के निर्माण का ऐतिहासिक दस्तावेज है। मार्क्स के पूर्व किसी भी विचारक ने मानव-मुक्ति की ठोस आधार-भूमि नहीं तलाशी थी। उनमें से अधिकतर तो आत्मा, या कर्म या करुणा में खो जाते रहे। पहली बार मानवीय सभ्यता के इतिहास में उत्पादन के वैषम्य से उपजे तथा विकसित समाज के आर्थिक शोषणवाले

स्वरूप को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन पर खड़ा करके सोचा गया। गलत वैचारिकता को या भ्रामक साहित्य की तथा समाज की गलत समझ से सही साहित्य कैसे लिखा जा सकता है ? कभी-कभी जब बातों की या 'ब्रेन-वाशिंग' की अति हो जाती थी तो पंचानन प्रायः टोक देता था कि साहित्य, रचना होता है, उत्पादन नहीं। 'मेघदूत' को कालिदास लिख सकते थे पर कोई समाज 'मेघदूत' का उत्पादन नहीं कर सकता है। और ऐसे समय प्रोफेसर देवलालीकर या और कोई व्यक्ति सामाजिक उपयोगिता की बात उठा देता। पंचानन को इस प्रकार के कठमुल्लेपन से खासी असुविधा होने लगती कि इन बैठकों में सिवाय वर्ग-संघर्ष, जनवादी-चेतना, कुत्सित समाजशास्त्र आदि की ही बातें होतीं। भूलकर भी किसी साहित्यिक मानदण्ड की कोई चर्चा नहीं होती। एक ओर जहाँ छायावादी सौंदर्य की, प्रकृति प्रेम की रचनाएँ प्रतिक्रियावादी घोषित की जातीं वहीं राष्ट्रीय भावनाओं की कविताओं का भी मजाक बनाया जाता कि इस प्रकार का राष्ट्रवाद प्रकारान्तर से पूँजीवाद ही है। सारा राष्ट्रीय आन्दोलन, पूँजीवादी आन्दोलन है और गांधी इस पूँजीवाद के प्रमुख प्रवक्ता हैं। अधिकांश नवोदित लेखकों की समझ ही में नहीं आता था कि जिस मजदूर-वर्ग के सामाजिक, वर्गीय और राजनीतिक चरित्र एवं चेतना को लेकर कविता-कहानी लिखने को ही साहित्य कहा जा रहा है उसके बारे में जब वे कुछ भी नहीं जानते हैं तो क्या वह लेखन, रचना बन सकेगा ? साहित्य के बारे में सारी पौर्वात्य और पश्चिमात्य समझ तथा उपलब्धियाँ इनकी दृष्टि से प्रतिगामी थीं। और खासकर भारतीय-दृष्टि को तो हिन्दू-दृष्टि कहकर विचार के योग्य ही नहीं समझा जाता।

पिछली मीटिंग में देवलालकर ने 'समाजवादी सौन्दर्य की वर्गीय-चेतना' शीर्षक से एक टिप्पणी पढ़ी जिसका सिर-पैर तक किसी की समझ में नहीं आया। तब पंचानन को कहना पड़ा,

— पता नहीं प्रोफेसर देवलालीकर ने सौन्दर्य के साथ समाजवादी विशेषण क्यों लगाया ? जैसा कि वह कहते हैं कि सौन्दर्य निरपेक्ष नहीं होता, वैसे यह एक बहस-तलब नतीजा है फिर भी अगर हम इसे मान लें तो यह नहीं समझ में आता कि जब सौन्दर्य, एक कलात्मक चेतना है ; कला, साहित्य या सौन्दर्य के हर निरूपण में यह वर्ग-संघर्ष की और वर्ग-चेतना की बात ले आना सिवाय दुराग्रह के और क्या है ? मार्क्सवाद का राजनीति और आर्थिक व्यवस्था में दखल देना तो समझ में आता है क्योंकि वह मुख्यतः आर्थिक सिद्धान्त है परन्तु कला-साहित्य में यह कौन सी नयी समझ देता है, यह नहीं स्पष्ट होता है। आप लोग साहित्य के सिद्धांतों के बारे में केवल फतवे देकर चुप रह जाना चाहते हैं क्योंकि चर्चा के द्वारा आप 'रस' या 'कैथारसिस' या कलात्मक सौन्दर्य के बारे में कितना विचार हो चुका है इससे बचना चाहते हैं क्योंकि मार्क्सवादी, कलात्मक समझ के आधार पर एक भी बड़े लेखक या बड़ी रचना को नहीं प्रस्तुत कर पाते हैं। जिस गोर्की को इतना उछाला गया उसको ही क्या याद में समाजवादी कलात्मक समझ ने यातना नहीं

दी ? क्रान्ति के मसीहा-कवि मायकोवस्की ने बाद में आत्महत्या क्यों की ? शायद पंचानन उस दिन बहुत कुछ कहना चाहता था परन्तु छात्र-कवियों ने शोर करना शुरू कर दिया तो पंचानन अपनी बात अधूरी ही छोड़कर चुप रह गया। वह बराबर सोचता रहा कि अगर साहित्य और कला को इसी प्रकार से विकृत किया जाता रहा तो सारा लेखन कहाँ जाएगा, कहना कठिन है। वह पहले भी तर्क कर चुका है कि लेखक तो स्वभावतः समाज के साथ जुड़ा ही होता है। उसके लिए इस प्रकार की राजनीतिक घेरे बंदी का क्या अर्थ है ? जिस भक्तिकाल को धार्मिक आन्दोलन कहा जाता है क्या उन सन्त-कवियों से ज्यादा कोई कवि आज है जो अपने समाज से, समाज के शोषितों—उपेक्षितों से जुड़ा हुआ है ? धर्म को केवल अफीम मान लेना और मार्क्सवाद को ही केवल संजीवनी स्वीकारना—क्या तथ्य परक है ? मानवीय मुक्ति की क्या कोई परिकल्पना मार्क्सवाद के पास है ! मजदूर राज्य को मानवीय-मुक्ति का पर्याय मान लेना क्या ठीक होगा ? वैचारिकता तो यहाँ तक जाती है कि राज्य की कैसी ही परिकल्पना अप्राकृतिक है, मनुष्य को अपना ही आत्मतंत्र विकसित करना होगा, जिसे 'स्वतंत्रता' कहा गया। स्वतंत्रता 'फ्रीडम' का पर्याय नहीं है। कई बार उसे लगता कि मार्क्सवाद, राजनीतिक सेमेटिज्मा या इस्लाम का राजनीतिक स्वरूप है। वैसी ही कट्टरता, 'एक' के प्रति वही दुराग्रह तथा हर वैचारिक उदारता का विरोधी। उसे तब लगा था कि इन मीटिंगों में जाना व्यर्थ है। इन्हें अन्ध अनुयायी चाहिए न कि कोई विचारवान व्यक्ति।

पर इस बार की मीटिंग के लिए प्रोफेसर देवलालीकर ने बहुत आग्रह किया था कि अवश्य आएँ। पंचानन जान रहा था कि पिछले दिनों देश में तेजी से जो राजनीतिक घटनाएँ घट रही थीं उससे कम्युनिस्ट बहुत चिन्तित थे। यदि कांग्रेस या गांधी कोई सार्वजनिक आन्दोलन या कार्यक्रम देश के सामने रखते हैं तो दूसरी राजनीतिक पार्टियाँ तो इस राष्ट्रीय आन्दोलन में साथ दे देंगी परन्तु कम्युनिस्ट नहीं दे पाएँगे। भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के बारे में उनकी समझ ही विपरीत थी। साथ ही जबकि सारी पार्टियां युद्ध का बहिष्कार किये हुए थीं वहाँ अकेली कम्यूनिस्ट पार्टी ने ही कल तक के साम्राज्यवादी-युद्ध को अपने 'क्रॉस रोड' और 'जनयुग जैसे अखबारों के द्वारा दिन-रात लोक-युद्ध कहना शुरू कर दिया था फलतः अंग्रेजों का साथ दे रही थी। कम्यूनिस्ट पार्टी अपनी ही स्वविरोधी बातों के कारण राष्ट्रविरोधी हो गयी थी। साहित्य में भी इनका यह द्वैत बहुत स्पष्ट होता जा रहा था। रवीन्द्रनाथ का साहित्य तो प्रतिक्रियावादी था परन्तु चूँकि अपनी रूस-यात्रा के बाद रवीन्द्रनाथ ने 'रूसेरचीठी' पुस्तक में रूस की प्रसंशा कर दी थी तथा प्रगतिशील आन्दोलन की अध्यक्षता भी कर दी थी फलतः रवीन्द्रनाथ को प्रगतिशील मानना उनकी बाध्यता हो गयी थी। इसके विपरीत जन-जीवन से जुड़े भारतीय साहित्य के अप्रतिम कथाकार शरद बाबू उनके लिए प्रतिगामी लेखक थे क्योंकि वे कांग्रेस के साथ थे। हिन्दी में कम्यूनिस्टों की स्थिति और भी दयनीय थी। गाँधीवादी प्रेमचंद को स्वीकारना उनकी विवशता थी क्योंकि

कम्यूनिस्टों के पास कोई बड़ा कथाकार नहीं था साथ ही छायावादी, अद्वैतवादी निराला को भी कम्यूनिस्टों ने स्वीकार किया क्योंकि काव्य के क्षेत्र में उनके पास कोई नाम ही नहीं था। और जब कभी पंचानन जैसे लोग इस प्रकार की स्वविरोधी बातों की ओर संकेत करते तो ऐसे लोगों का विरोध होता।

जब पंचानन वहाँ पहुँचा तो मीटिंग शुरू हो चुकी थी। दिवाकर दाते को मौजूद देखकर आश्चर्य तो नहीं हुआ पर पंचानन चौंका अवश्य। दिवाकर दाते बोल रहे थे,

— हम एक नाजुक दौर से गुजर रहे हैं। यह ठीक है कि हम इस समय अकेले पड़ गये हैं पर इसका कारण यह नहीं है जो कि हमारे बारे में कांग्रेस या भारतीय पूँजीवादियों द्वारा समर्थित राजनीतिक पार्टियाँ कह रही हैं। सवाल इस समय भारतीय आजादी से बड़ा है संसार के एकमात्र सर्वहारा के मजदूर-राज की रक्षा। रूस दुनिया के मजदूरों की आशा है अगर इस युद्ध में रूस पराजित या कमजोर होता है तो दुनिया के सारे शोषित, मजदूर कमजोर होते हैं। संयोग से अंग्रेज इस समय रूस के साथ है अतः ऐसे समय अगर अंग्रेज कमजोर होते हैं तो रूस कमजोर होता है। कांग्रेस और गांधी सीमित दृष्टि की पूँजीवादी राष्ट्रीयता और आजादी के लिए अंग्रेजों पर दबाव डालना चाहते हैं। जाहिर है कि कम्युनिस्ट पार्टी का सोचना भिन्न है। हम भी आजादी चाहते हैं पर हमारी आजादी की परिकल्पना मजदूर-राज ही है न कि टाटा-बिड़ला राज की, जो कांग्रेस और गांधी की है। दूसरे जब लड़ाई का क्षेत्र इस समय व्यापक है तो उसे स्थानीय बनाकर हम कमजोर ही करेंगे। इसीसे जुड़ा हुआ सवाल मुसलमानों का भी है। कांग्रेस की आजादी का मतलब हिन्दुओं की आजादी से है। मुसलमानों की संस्था मुसलिम-लीग का सतर्क होना या चौकन्ना स्वाभाविक है। अगर कांग्रेसी आजादी आती है तो मुसलमानों को उनकी माँग के अनुरूप पाकिस्तान का पृथक राज मिलना ही चाहिए।—तो मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि आप लेखकों को कांग्रेस के; पूँजी-वादियों के और प्रतिक्रियावादी ताकतों के प्रचार में नहीं आना चाहिए। हम कम्युनिस्टों को रूस से पैसा मिलता है, हम अंग्रेजों के एजेण्ट हैं—ये सारे प्रचार इस बात को स्पष्ट करते हैं कि भारत के शोषितों और मजदूरों की ताकत बढ़ रही है। एक बात साफ हो जानी चाहिए कि क्रान्ति का नेतृत्व मजदूर ही करता है क्योंकि वह हर तरह से शोषित है। भारतीय किसान सैकड़ों वर्षों से पुराने दकियानूस विचारों, रूढ़ियों, परम्पराओं और आस्थाओं से जुड़ा है। भूमि उसके लिए भगवान है। इस मनोवृत्ति ने उसे जड़ बना रखा है। वह किसी भी मूल्य या ऐसे किसी विचार को नहीं ले सकता जिसमें सामूहिकता या पंचायती भावना का कोई दर्शन हो। मजदूर का चूँकि उस उद्योग से कोई ऐसा लगाव नहीं होता अतः उसे नये समाज के सामूहिकता वाले दर्शन को समझाया जा सकता है। गांधी भारत की इस पारम्परिक धार्मिक जड़ता को पहचानते हैं इसलिए उसी को उभाड़ कर अपना राष्ट्रीय आन्दोलन चला रहे हैं। गांधी के सारे आर्थिक कार्यक्रम उसी

भारतीय पारम्परिक जड़ता को बरकरार बनाये रखने के लिए ही हैं इसलिए लोगों
के बीच गांधी एक राष्ट्रीय नेता लगते हैं। तो, आप लोगों को इन बातों को सम-
झना चाहिए। इसी अगस्त के प्रथम सप्ताह ये दो-चार दिन बाद ही बम्बई में
कांग्रेस का अधिवेशन होने जा रहा है जिससे सतर्क रहने की जरूरत है।

दिवाकर के चुप होते ही पंचानन ने केवल इतना ही पूछा कि क्या दूसरे भी
कुछ कह सकते हैं ? तो देवसासीकर बोले,

—पंचानन जी ! हम सब आपका राष्ट्रीय दृष्टिकोण जानते ही हैं। आपको कामरेड
दाते के विश्लेषण से अवश्य चोट पहुँची होगी। आप अवश्य कहें पर आज नहीं
क्योंकि कामरेड दाते को अभी भोपाल ट्रेन से जाना है।

और कोई भी कुछ कहे इसके पूर्व ही दाते के उठने के साथ ही सब उठ पड़े। पंचानन
पूर्ण आत्मग्लानि से भर उठा कि क्या इसी 'सरमन आन द माउंट' के लिए आग्रह करके
बुलवाया गया था ?

गौरा को अस्पताल से लेकर दुर्गा लौटी तो ताँगा मगरमुंहे के मुहाने पर ही रुक गया। गोविन्द गौरा के इस प्रथम पुत्र को दुर्गा ने अपनी गोदी में ले रखा था। गौरा को इस प्रथम प्रसव के समय केवल देरी के अतिरिक्त और कोई कठिनाई नहीं हुई थी पर वह एकदम पीली पड़ गयी थी—फिर भी पुत्र को जन्म देने का परम सन्तोष उसके उस पीताभ मुख पर भी स्पष्ट लिखा हुआ था। हालाँकि गोविन्द बम्बई-अधिवेशन में गये हुए थे अतः गौरा जान रही थी कि पति नहीं हैं परन्तु तब भी अज्ञात में उसे लग रहा था कि पति, दीदी के घर बैठे हुए होंगे और जब उसे पुत्र के साथ घर लौटा देखेंगे तो कितनी प्रसन्नता होगी। बच्चे को दुर्गा ने ले रखा था और प्रमिला गौरा को सम्हाले हुए थी। अस्पताल से सारा सामान पंचानन पहले ही ले आया था। जिस दिन से गौरा को अस्पताल में भर्ती करवाया गया था दुर्गा को एक रात के लिए भी अकेला नहीं छोड़ा था परन्तु प्रमिला तो पूरे समय एक पैर पर ही नाचती रही। हालाँकि प्रमिला को बच्चे होने का अनुभव ही क्या था अतः सारे समय वह ऊपर का ही देखती-भालती रही। आधी रात में भी गरम पानी के लिए अस्पताल का पंचायती गरम पानी नहीं लिया गया बल्कि प्रमिला ने स्टोव पर ही सारा काम किया होगा। गौरा के यहाँ से भी स्टोव मँगवा लिया गया था। चूँकि प्रमिला को सारी चीजों का बन्दोबस्त करना होता था अतः वह सास-ससुर से तो कुछ नहीं कह सकती थी इसलिए पंचानन को प्रमिला की अर्दली में रहना पड़ता था। गोविन्द बम्बई-अधिवेशन नहीं जाना चाहते थे क्योंकि गौरा के आसन्न प्रसव की उन्हें चिन्ता थी पर दीदी के सामने वह न तो कुछ कह ही सकते थे और न ही कुछ कर सकते थे। तभी तो दुर्गा ने जब देखा कि गौरा के कारण गोविन्द बम्बई नहीं जाना चाहता तो फटकार दिया कि, औरतों का यह मामला है तो तुम इसमें क्या करोगे? इस तरह आदमी लोग करने

लग जाएँ तो दुनियाँ के सारे काम धन्धे धरे के धरे रह जाएँ—तुम क्या हो ? लेडी डाक्टर हो या दाई हो ?—जाओ अपना काम-धन्धा देखो और अभी तो मैं हूँ !!'—तब भला गोविन्द क्या करते ?

वर्षों बाद इस घर में कोई छोटा बच्चा आया था। घर जैसा ही हँसता सा लगा जैसे वर्षों से हँसा ही नहीं था। दुर्गा अपने भतीजे को कैसे सम्पूर्ण भाव से उठाये हुए थी जैसे वह संसार की कोई अलभ्य सम्पदा सहेजे हुए है। वर्षों से वह कभी इतनी आमूल रसमय नहीं हुई थी। यौवन के दिनों में अपने ही बच्चों को गोदी में उठाना, उनके चिकने, गदराये अंगों का स्पर्श अपूर्व सुख देता है, बहुत अच्छा लगता है पर वार्धक्य में जब अपने ही घर-परिवार में किलकारता कोई बच्चा आप स्पर्श करते हैं तो जो आनन्दातीत अनुभूति होती है उसमें जीवन के सारे रोग-शोक, ताप-सन्ताप सब धुल जाते हैं। बच्चा लुढ़कते जल की भाँति अपनी दृष्टि से जब कभी आपको देखने लगता है तो लगता है न कि आप सृष्टि के नाभि-केन्द्र तक स्पष्ट देख रहे हैं ? धूर्जटी के यहाँ कोई बाल-बच्चा भी नहीं हुआ और प्रमिला....शायद थोड़ा समय अभी और लगे....और दुर्गा तन-मन से पूर्ण प्रस्फुटित द्वार पर पहुँची तो द्वार पर खड़ी मणि ने कैसे ललक कर बच्चे को अपनी गोदी में ले लिया। एक क्षण को घर कैसा वाद्य सा झनझना उठा। इधर वर्षों से यह घर कैसा क्रमशः खाली और मौन होता गया नहीं तो पहले यही घर कैसा भरा-भरा सा लगता था। बच्चों के आवन-जावन से पूरा घर उबला पड़ता था। सीढ़ियों को तो चैन ही नहीं होता था। घर का हर कोना किसी न किसी के माध्यम से सुनायी पड़ता था। चूल्हे पर चढ़ी दाल का अदहन उबल-उबल कर लकड़ियाँ बुझाने लगता परन्तु क्या मजाल जो कुन्ती-कान्ता को सुनायी पड़े और जब उन्हें डाटा जाता तो लड़कियाँ कैसे झल्लाकर अदहन सम्हालतीं, चूल्हे की लकड़ियाँ फिर से जलाये जाने के लिए ठीक करतीं। बुझे चूल्हे को फूँकतीं तो राख कैसे उड़-उड़ कर मुँह पर आती। माथा नहाती लड़कियाँ कभी अरीठे के लिए तो कभी बेसन-तैल के लिए नहानघर से शोर करने लगतीं पर क्या मजाल जो सारा प्रबन्ध पहले से ही करके जाएँ—जो करे वह माँ ही करे। किसी को अपनी बनियाइन नहीं मिल रही है तो जिससे पूछो वही मुँह बा देगा—यहीं तार पर ही तो सूख रही थी....अब पूछो कि क्या बाहर का कोई आया था जो उठा ले गया ? क्या कोई घाघरा-पल्टन वाली चाकू-छुरी लेकर घर में घुस आयी थी तुम्हारी बनियाइन ले जाने के लिए ?—और जब मिलती तो वहीं आसपास ही मिलती। मुसीबत लेकिन दुर्गा की ही थी। ऊपर-नीचे के विधु और शशि में तो ऐसी मारा-मारी चलती कि समय पर न बचाओ तो एक-दूसरे का माथा ही फोड़ डालें। लेकिन तब भी घर कैसा सदस्य जैसा लगता कि आपको दीवालें, सीढ़ियाँ, खिड़कियाँ, छज्जे, छतें सब देख रहे हैं और हँस रहे हैं। तराने से या कहीं से भी कोई सगा-सोई आया नहीं कि पूरण-पोली के चने की दाल पीसी जा रही है या केसरिया भात बन रहा है तो पूरा घर क्या गली से ही पता चल जाता था कि बासमती चावल बन रहे हैं। बैठक में कैसे आये दिन लड़के-लड़कियों की जन्मकुण्डलियाँ

मिलायी जातीं कि कहीं भूल से कोई मंगली बहू न आ जाए। आज अमावस्या का सीधा किसी विधवा ब्राह्मणी को दिया जा रहा है तो खास-खास पूर्णिमाओं पर पाँच ब्राह्मणों को भोज दिया जा रहा है। ब्याह-शादी के तेड़े देने जाया जा रहा है तो गीत गाती औरतों को खोले भर-भर के बताशे दिये जा रहे हैं...द्वाराचार की भीड़ में कौन किसकी सुन रहा है? केवल खिलखिलाहटें, औरतों की आपसी चढ़ा-ऊपरी कि वर को पहले कौन देखता है? रेशमी साड़ियों, सोलो-मुकुटों में कभी ग्रह-शान्ति की जा रही है तो कभी गणेश-पूजन। भँवरी [सप्तपदी] के हवन से पूरे घर में कैसा धुँआ भर जाया करता था। आँखों का पानी तो आप पोंछ लेती हैं पर बड़ी सी मोती की नथ के मारे तो नाक साफ करना भी मुश्किल होता था। आप पति के साथ-साथ 'स्वाहा' के समय साथ भी दे रही हैं और हर दो मिनिट पर कोई न कोई किसी न किसी बात के लिए घसा आ रहा है और साड़ी के बाहर से आपके कान के पास से पूछ रहा है कि 'पूजा वाली सुपारियाँ कहाँ रखी हैं?'—सिर अपना !!—लेकिन तब भी जीवन कैसा शब्द और गन्ध बनकर कभी स्वस्तिपाठ के स्वरों में, तो कभी शहनाई के स्वरों में, तो कभी रात के निभृत एकान्त में हठात बज पड़ने वाली चूड़ियों की आवाज का उत्सव बनकर बीतता ही चला गया और निरन्तर बीत रहा है। देह पर से बेसन के उबटन की तरह यह सारी सांसारिक माया कैसे छूटती गयी। सब अपनी-अपनी दिशाओं में चले गये। कुछ भगवान के घर चले गये तो लड़कियाँ अपने-अपने घर चली गयीं। लड़कों का क्या। धूर्जटी का संसार अलग ही है, पंचानन जरूर साथ में है। मन्या [चंद्रशेखर] गया तो पढ़ने ही था पर इधर कृष्णशंकर के भी पत्रों से लगता है कि वह कम्यूनिस्टों के चक्कर में काफी दिनों से काशी में नहीं है। विधु पढ़ाई पूरी करके अब किसी बड़ी नौकरी के लिए काम्पीटीशन में लगा है। पढ़ाकू तो वह है ही, आ ही जाएगा पर पता नहीं इस शशि का क्या होगा। पढ़ने में बुरा नहीं है पर इसे अपनी पूजा-पाठ से ही फुर्सत नहीं। क्या पता अज्ञात में ही अपने बड़े मामा का इस पर प्रभाव पड़ा हो। ले-देकर रही मणि तो अगले फाल्गुन में विवाह का विचार है। यहीं फ्रीगंज में सूरत के रमणभाई पण्ड्या हैं। अच्छी खासी तम्बाकू की आढ़त है परन्तु उनके लड़के कनु पण्ड्या ने पेट्रोल-पम्प तो लगा ही लिया है साथ ही मोटरों के 'स्पेअर-पार्ट्स' का भी स्वतन्त्र व्यवसाय शुरू कर दिया है। रमण भाई को विवाह की बहुत जल्दी है। वह बीमार तो रहते ही हैं पर चूँकि परिवार में और कोई निकट का नहीं है और जो कुल-कुटुम्ब के हैं वे सब गुजरात में हैं, मालवा में नहीं हैं अतः पुत्र की गृहस्थी जल्द बस जाये तो वह निश्चिन्त हो जाएँ। रमण भाई अगर नहीं माने तो देवोत्थानी एकादशी के बाद जो भी शुभ मुहूर्त होगा विवाह कर दिया जाएगा। अपनी ओर से तो दुर्गा वर्षों से तीनों लड़कियों के विवाह की तैयारी करती आ रही है। आज कुंकुम-पत्रिका छपे, बँटे और आज ही आप चाहें तो वह बीसियों बोरियाँ भरकर धरमशाला में पहुँचा दे। प्रश्न या समस्या तैयारी की नहीं है। मन तो यही है कि जैसी कुन्ती-कान्ता की शादी हुई वैसी ही धूम-धड़ाके से मणि की भी हो तो किसी को

बुरा नहीं लगेगा। शहर का मामला है इसलिए बहुत सारे खर्चे तो वैसे ही बच जाएँगे। चार सगा-सोई आएँगे और अगर पहले की सारी शादियों से मणि की शादी उन्नीस हुई तो कहेंगे नहीं ? तो क्यों किसी को कहने का मौका दिया जाए ? जब भगवान ने दिया है, जल्दी किसी बात की है ? नहीं तो फिर शोभा से यह काम भी हो तो हमें भी लगे कि चलो आखिरी लड़की थी तो क्या, काम तो उसी शान से हुआ। और फिर रमण भाई को इतनी दौलत-कमाई को खाने वाले कौन दस-पाँच हैं ? हाँ, रमण भाई की बीमारी जरूर ऐसी है कि किसी भी दिन कुछ भी हो सकता है। दिल के दौरे के बारे में कोई क्या कह सकता है ? चलो, जैसा होगा, देखा जाएगा।

अभी दुर्गा, गौरा और उसके बच्चे को लेकर व्यवस्थित हो ही रही थी कि दरवाजे पर कुण्डी खटखटाने की आवाज हुई। इस तरह दरवाजे की कुण्डी खटखटा-कर तो न तो कभी कोई परिचित आया होगा और न सगा-सम्बन्धी। मुहल्ले वालों की तो बात ही क्या। हो सकता है कोई बाहर का हो। दुर्गा ने पहले सोचा कि मणि से कहें कि देख तो, कौन है ? पर जवान लड़की को इस प्रकार की अनिश्चयात्मकता में भेजना ठीक नहीं समझा और वह स्वयं ही उठी। दिन का समय था इसलिए कोई विशेष हिचक नहीं हुई लेकिन रात का समय होता तो बिना पूछे-ताछे कभी नहीं खोलतीं। और दरवाजा खोलते ही चौंक गयी,

— अरे, आप ?

दुर्गा हठात नहीं समझ पायी कि श्रीमती कामिनीबेन झालानी कैसे सहसा आज आयी ? उनके पीछे नौकरानी चुप खड़ी थी। विवाहों में दो-चार बार अवश्य आयीं हैं पर साधारण दिनों में तो कभी नहीं आयीं, तब आज कैसे ?

— आइए, आइए।

— मेरे आने से आप चौंक गयीं न ?

कामिनी बेन ने हँसते हुए अपना वाक्य पूरा किया,

— तभी तो मैं नहीं आती।

दुर्गा आगे-आगे चलकर जल्दी पहुँचना चाह रही थी। कामिनी बेन दुर्गा का आगे जाना समझ ले गयीं। दुर्गा तत्काल लौटी और कामिनी बेन को बैठक में बैठाते हुए बोली,

— आपके आने से मुझे बहुत अच्छा लग रहा है। बड़ा ही शुभ दिन है।

— कहीं भी अनायास जाने को कितना मन करता है दुर्गा बेन ! पर घर-गृहस्थी का जंजाल कहीं भी जाने नहीं देता।

— स्त्री के साथ यह विवशता ज्यादा है।

— तो पुरुषों को दुनिया के बाहरी झंझट होते हैं। किसी को चैन नहीं है।....आप जानती हैं मैं आज इस समय क्यों आयी हूँ ?

— जानती तो नहीं हूँ पर मुझे ऐसा लगता है कि शायद मैं सोच सकती हूँ।

कामिनी बेन ने हँसते हुए पूछा,

— जैसे ?

— शायद आपको पता लगा हो कि गौरा के लड़का हुआ है।

कामिनी बेन लगभग हतप्रभ होते हुए बोलीं,

— या तो आप ज्योतिष जानती हैं या कोई देवी-देवता सिद्ध कर रखा है।

दोनों हँस दी। दुर्गा बोली,

— देवी तो सामने बैठी ही हैं।

— असल में मुझे दो दिन पहले मालूम हुआ परन्तु बड़ी बहू इन दिनों बीमार चल रही है इस कारण निकलना नहीं हो पाया। लेकिन आज तो संकल्प कर ही लिया था कि अस्पताल जरूर जाऊँगी।

— तो क्या आप अस्पताल गयी थी ?

— वहीं से तो मालूम हुआ कि आप लोग अभी थोड़ी ही देर पहले ही चली गयी हैं। एक बार मन में आया कि अभी आप लोग घर पहुँचे ही होंगे और मैं जा धमकूँगी।

— कैसी बातें कर रही हैं।

और तभी मणि बच्चे को उठाये गौरा के आगे-आगे आती हुई दिखलायी दी। कामिनी बेन ने पहली बार गौरा को उसके विवाह के समय ही देखा था। गौरा इस समय क्षीण और पीताभ दोनों दिखी पर मार्मिक ज्यादा लग रही थी। मणि से बच्चा दुर्गा ने ले लिया और कामिनी बेन को देते हुए बोली,

—लीजिए, सम्हालिए अपना नाती।

कामिनी बेन ने बच्चे को गोदी में ले लिया। गौरा ने आगे बढ़कर प्रणाम किया।

— वाह, गौरा से हजार गुना सुन्दर तो हमारा नाती है।

इस पर दुर्गा ने चुटकी लेते हुए कहा,

— इसलिए कि यह हमारे भाई का लड़का जो है।

गौरा को कामिनी बेन अपने पास बैठाल रखा था। गौरा दोनों की बातें सुनते हुए सलज्ज भी थी और प्रसन्न भी। कामिनी बेन ने पूछा,

— पहचान तो रही हो न ?

गौरा ने जवाब तो कुछ नहीं दिया पर जिस भाव से उनकी ओर देखा उसमें कामिनी बेन को लगा कि उन्हें ऐसा नहीं पूछना चाहिए था, बोलीं,

— गोविन्द जी क्या नहीं हैं यहाँ ?

दुर्गा ने जवाब दिया,

— गोविन्द तो कांग्रेस अधिवेशन में बम्बई गया है ।
— गोविन्द लौट आएँ तो कभी आप लोग सब आने की कृपा करें ।
और उन्होंने मणि से कहा,
— सुनो बेटी ! वो नौकरानी बैठी है न, उसे बुला लाओ तो ।
मणि चली गयी । नौकरानी के हाथों में छोटी सी अटैची थी । नौकरानी ने वह अटैची लाकर कामिनीबेन के पास रख दी । कामिनीबेन ने उसे खोला । बच्चे के लिए सोने के कंगन, कमर के लिए चाँदी का कँदोरा, पाँवों के लिए पैंजनियाँ और चाँदी का गिलास, कटोरी थे । गौरा के लिए बनारसी साड़ी थी और गोविन्द के लिए एक दुशाला था । सारी चीजें उन्होंने जब दुर्गा को दीं तो वह बोली,
— यह सब किसलिए ?
— जब बेटी है, दामाद है और नाती है तो क्या ये लोग अपना अधिकार नहीं लेंगे ?
— मणि !
दुर्गा ने जब मणि को संबोधित किया तो कामिनीबेन बोलीं,
— आप क्यों बच्ची को परेशान करती हैं । आप तो जानती ही हैं कि मैं कुछ भी नहीं खाती-पीती ।
— यह संसार व्यवहार-जगत है यह तो आपने सिद्ध कर दिया ।
— अच्छा तो इलायची खिला दें ।
मणि इस बीच उठ कर जा चुकी थी । कामिनीबेन बहुत ही मुग्ध भाव से बच्चे को देख रही थीं, बोलीं,
— गौरा ! डाक्टर या कोई दूसरा लाख कहे, बच्चे को कभी ऊपर का दूध मत देना ।
इस पर दुर्गा बोली,
— इसे दूध उतरता है इसलिए इसकी कोई समस्या नहीं है ।
— इस मणि के अलावा भी आपकी कोई लड़की है क्या ?
— नहीं है, यही भगवान की कृपा है ।
— कब कर रही हैं इसका विवाह ?
— बस, बहुत जल्द विचार है । शायद फोगंज में ही इसका सम्बन्ध तय हो जाए ।
— चलो, अच्छा है । दोनों बड़ी तो बाहर चली गयी, कम से कम एक तो शहर ही में रहे । लड़कों के विवाह हो गये ? अभी जो मणि के साथ थी वह पंचानन की बहू है ।
— नहीं, अभी तीन बैठे हैं । अनपरणे [अविवाहित]
— अरे लड़कों का क्या, आगे-पीछे हो ही जाएगा । चिन्ता तो असल में लड़की की होती है ।
मणि इस बीच तश्तरी में कुछ मिठाई और पानी लेकर आयी और श्रीमती कामिनीबेन झालानी के सामने रख दिया । आयु की सन्धि पर खड़ी मणि हीरे की लौंग सी दमक रही थी । कामिनीबेन ने बहुत ही मुग्ध भाव से उसे देखा और हँसते हुए कहा,
— बड़ी अच्छी इलायचियाँ हैं ये तो ।

मणि, कामिनी बेन की बात बूझ ले गयी परन्तु सिवाय झेंपने के वह कर ही क्या सकती थी। और वह एक क्षण रुक कर इस बार सचमुच में इलायचियाँ लेने चली गयी तो दुर्गा ने कहा,

— नानी बनने की खुशी में मुँह नहीं मीठा करेंगी ?

— मुँह मीठा तो मुझे करवाना चाहिए था....खैर फिर कभी, आज तो आप ही जीतीं। और एक मिठाई ले ली। मणि इस बीच इलायचियाँ ले आयी थी। कामिनीबेन ने मिठाई खाकर पानी पिया और इलायची उठाते हुए कहा,

— दुर्गा बेन ! तो अब आज्ञा है ?—गौरा ! गलती मेरी ही है कि बेटी को बहुत पहले ही बुलाना चाहिए था...खैर...आना, अच्छा ! !...तो चलें अब !

और वह उठीं। इस पर दुर्गा ने कहा,

— आप तो बैठी भी नहीं और इतनी जल्दी चल दीं !

— असल में घर पर कुछ खास कह-सुनकर भी नहीं आयी, नहीं तो जरूर बैठती.... फिर कभी।

और कामिनी बेन ने गौरा के बच्चे को एक बार फिर प्यार किया। दरवाजे तक सब उन्हें छोड़ने आये। कामिनी बेन ने तो दुर्गा को भी सड़क तक चलने से मना किया पर वह नहीं मानी। मणि अपनी माँ के साथ हो ली। मगरमुँहे के मुहाने पर कामिनीबेन की विक्टोरिया खड़ी थी। विक्टोरिया में बैठते हुए वह दुर्गा से बोली,

— सबके साथ आपको आना है... और मणि ! तुम जरूर आना।

— जरूर।

मणि ने 'जरूर' जिस प्रकार कहा उसे सुनकर कामिनीबेन तो हँसी ही पर दुर्गा भी। और कामिनीबेन को लेकर विक्टोरिया गोपाल-मन्दिर की ओर बढ़ गयी।

दुर्गा वापस जब घर पहुँची तो देखा कि गौरा बिस्तरे पर निढाल लेटी हुई है और बच्चा पास में लेटा, सोया है। गौरा आँखें बन्द किये हुए थी और काफी थकी लग रही थी। दुर्गा को लगा कि गौरा झपक गयी है। कामिनीबेन द्वारा दी गयी चीजें नीचे से ऊपर आ गयी थी पर यों ही पटक दी गयी थी। दुर्गा ने ध्यान से उन चीजों को देखना चाहा कि गौरा न पलकें खोलीं और बोली,

— आप आ गयीं !

— तुम सोयी नहीं ? बहुत थकान लग रही है न ? प्रमिला कहाँ है ?

गौरा ने बड़ा फीका-फीका सा हँस दिया, बोली,

— यह कोई सोने का वक्त है ? प्रमिला अभी तो यहीं थी।
दुर्गा ने पास में लेटे बच्चे के पास जगह बनाकर बैठते हुए कहा,
— सोने का समय न होता तो ये महाराज सोते क्या ?
और बच्चे के सिर पर जिस ममत्व भाव से वह हाथ फेरने लगी उसमें भाषा तथा स्पर्श दोनों की समग्रता दुर्गा को आकण्ठ ममता बनाये दे रही थी। वह जिस आत्मस्थ भाव से बच्चे पर हाथ फेर रही थी उसमें ऐसा लग रहा था जैसे वह फूल को नहीं बल्कि फूल के रंग को सतर्कता से सहला रही है जिसमें फूल कहीं जाग न उठे। हाथ फेरते हुए डूबी हुई थी बल्कि कहना चाहिए कि वह सुदूर अतीत में खोयी हुई थी। व्यक्ति जब भी अनुपस्थित होता है तब सारी इन्द्रियाँ, स्वत्व सब के सब कैसे सामने वाले को बरजते होते हैं कि कहीं वह सामनेवाला कुछ बोलकर उस मुग्धता को खण्डित न कर दे। कैसी पवित्रता सी होती है कि आप उसे देखें जरूर पर कुछ बोलकर व्यतिक्रम न उत्पन्न करें। दुर्गा शायद अतीत की ऊपरी सतह पर थी तभी तो गौरा को उनको गहरी निश्वास सुनायी दी। गौरा को अपनी माँ स्मरण हो आयी। कैसा विवश मातृत्व था माँ का, परन्तु दीदी का मातृत्व कैसा सुगन्ध दे रहा था। गौरा ने अनेक दिनों बाद दीदी को बहुत ध्यान से देखा। दीदी निश्चित ही अप्रतिम सुन्दर तो कभी नहीं रही होंगी परन्तु काम्य माधवता अवश्य रही होगी तभी तो इस आयु में भी एक मोहकता है। गाल थोड़े से झूलने लगे हैं लेकिन इससे सौन्दर्य गौरवपूर्ण लगता है। उभरे कपोलों के बीच तराशी, सुघड़ नाक कैसी सटीक लगती है जैसे नाक को ऐसा ही होना चाहिए। सुलगता नाक का हीरा दीदी की सम्भ्रान्तता का ही नहीं बल्कि आन्तरिक गरिमा का प्रतीक लगता है। ओठों की बनावट में पतलापन अवश्य है परन्तु उनमें संस्पर्शिता इतनी स्पष्ट लिखी हुई है कि सम्पूर्ण अधर, एक वाक्य है, जिसे दीदी कहते-कहते रुक गयी हैं। वर्ण, कंचन नहीं कुन्दन है जो कि दीदी की सरलता के साथ मिलकर केवड़े की सुगन्ध सा मुखर लगता है। एक अपार करुणा, एक अवढर अपनापन, सन्नद्ध ममता कैसी दीदी के विस्फारित नेत्रों में रसी-बसी है। कैसी सरलता, कैसी निश्छलता है, परन्तु न जाने कितनी परीक्षाओं के बाद व्यक्तित्व को यह तापसता मिली होगी, कौन जानता है !—और गौरा की निश्वास निकल पड़ी। दुर्गा निश्चय ही बच्चे में आत्मस्थ थी परन्तु गौरा की निश्वास वह सुन ले गयी, शायद अनजाने ही निश्वास जोर से निकली, तो वह चौंकी,
— गौरा ?
— जी।
— क्या बात है ? साँस क्यों छोड़ रही है ?
गौरा का मन तो बहुत हुआ कि दीदी से सटकर वह सम्बन्ध अनुभव करे परन्तु मर्यादा भी होती है अतः वह इतना ही बोली,
— प्रमिला से कहूँ कि ये सारी चीजें हटा दे।
— हाँ, तरह-तरह के लोग आते हैं और...

अभी वाक्य पूरा भी नहीं हुआ था कि 'कस' की आवाज हुई और देखा कि धूर्जटी तथा शारदा दोनों आये हैं। सामान समेटने का समय भी नहीं था और इस प्रकार समेटने का कुछ दूसरा अर्थ भी लिया जा सकता था। दुर्गा को बच्चों के पास से उठने में समय अपेक्षित था और गौरा के लिए जल्दी से उठना सम्भव ही नहीं था। आते ही शारदा, गौरा के पास गयी और बोली,

— लो, हम लोग तो अस्पताल गये थे, मालूम हुआ कि सब लोग चले गये।

इस बीच दुर्गा उठ चुकी थी। शारदा ने देखा कि सास बच्चे के पास से हट गयी हैं तो उसने पर्स से लाल कागज में लिपटा चाँदी का एक झुनझुना निकाला और बच्चे के निर्बोध हाथ में थमा दिया। तभी शारदा की दृष्टि श्रीमती कामिनीबेन झालानी के द्वारा दी गयी चीजों पर गया। दुर्गा या गौरा कोई दिखाये या कुछ कहे इसके पूर्व ही वह चीजें देखने लगी। साड़ी बहुमूल्य तो नहीं थी परन्तु सुन्दर बहुत थी।

— देखी आपने ये चीजें ?

शारदा ने स्पष्टतः यह बात अपने पति से कही थी। धूर्जटी शायद शारदा के पूर्व ही आँखों से थोड़ा बहुत देख चुका था।

— यह साड़ी कहाँ से खरीदी सासूमाँ ?

दुर्गा और गौरा दोनों ही समझ ले गयीं कि शारदा क्या समझ रही है। आश्चर्य भी था ही कि इसने किसी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व यह पूछना भी जरूरी नहीं समझा कि कौन दे गया। बल्कि अब कुछ भी कहना भले ही सच, शारदा को झूठ ही लगेगा; और इसकी आवश्यकता ही क्या है ? जब धूर्जटी ने देखा कि शारदा के पूछने पर भी माँ ने कुछ जवाब नहीं दिया तो वह खिसिया गया, बोला,

— सुनो, जल्दी चलो, जाल साहब के यहाँ पहुँचने में देर न हो जाए।

और लगभग सभी को आश्चर्य था कि कोई कुछ नहीं बोला।

— मैं कहती न थी कि पहले तुम्हारे इन गोविन्द मामा ने तुम्हारी सम्पत्ति हथियायी और अब तुम्हारी मामी मीठी-मीठी बनकर दूसरा माल भी हड़पने के चक्कर में हैं। जाल साहब के यहाँ जाने की बात तो केवल वहाँ से निकल सकने का बहाना थी। शारदा ने कपड़े बदलते हुए उपरोक्त बात कही थी। हालांकि धूर्जटी बहुत आश्वस्त नहीं था कि इतना सब माँ ने आते ही खरीद कर मामी को दे दिया होगा। न कोई मौका था और न कोई अवसर। माँ इस तरह चुपके-चुपके क्यों देंगी भला ? या यह भी हो सकता है कि लड़के की सूरज-पूजा के दिन के लिए पहले ही खरीद लिया हो। अभी

दिया न हो। और दिया भी तो माँ का पहला भतीजा है। उन्हें प्रसन्न होना ही चाहिए। जब शारदा ने सन्तान को जन्म नहीं दिया तो इसमें माँ का क्या दोष? माँ ने तब कुछ न किया होता तो शारदा का बुरा मानना वाजिब भी था।

घूर्जटी बोला,

— पता नहीं तुम्हें पैसे-सम्पत्ति की इतनी हाय क्यों है? किस बात की कमी है तुम्हें? जब सन्तान नहीं हैं तब तो यह हाय-हत्या मचा रखी है और अगर होतीं तो पता नहीं क्या करतीं?

शारदा साड़ी बदल चुकी थी। साड़ी की चुन्नटें ठीक करते हुए बोली,

— सन्तान न हुई तो इसमें मेरा दोष है?...दुनिया तो टबूका [ताना] मारती ही है अब आप भी कहने लग गये न? हां, और क्या; सुनना और भोगना तो स्त्री के ही भाग्य में होता है।

और घूर्जटी ने देखा कि शारदा रोने के बिन्दु पर पहुँच गयी है। घूर्जटी की सारी तेजी, वकालत पत्नी के सामने धरी रह जाती है।

— नहीं मेरा मतलब....

— मैं जानती हूँ आपका मतलब....मैं सुन्दर नहीं हूँ, मैं निपूती हूँ, मैं लड़ाकू हूँ, मेरे ही कारण आपकी आपके परिवार से नहीं बनती है....ठीक है मुझे नेवरी भेज दीजिए और आप चाहे तो अपना दूसरा विवाह ऐसी स्त्री से कर लें जो आपका घर भर दे....ठीक है किसी का भाग्य ही खोटा हो तो कोई क्या कर सकता है? ....जिनके लिए मैं बुराई मोल लूँ वही दोष निकालने लगे तो फिर रह क्या गया?

और वह रो उठी। घूर्जटी वैसे भी साधारणतः पत्नी से बहुत घबराने वालों में से है लेकिन अगर पत्नी रोने लग जाए तो फिर उसके सारे हाथ-पाँव ही फूल उठते हैं। वह स्वयं भी अपनी इस भीरु प्रकृति को कभी नहीं समझ पाया कि वह जब कोर्ट के बड़े बड़े वकीलों के दांत खट्टे कर देता है, सार्वजनिक-सभा की मीटिंगों या सभाओं में जिस तरह से लोग उसका लोहा मानते हैं वही अपनी पत्नी के सामने न जाने क्यों भीगी बिल्ली बना रहता है। जब भी शारदा ने रोया होगा तो उसका मन प्रायः हुआ है कि यह जो व्यर्थ की बात में टेसुए बहा रही है तो कसकर डाट क्यों नहीं देता? या ऐसे ही रोते छोड़कर कहीं कुछ देर के लिए चला क्यों नहीं जाता? प्रायः शारदा ने माँ या बाबा को छोड़कर सभी के लिए अपशब्दों का प्रयोग किया होगा। गोविन्द-मामा और गौरा मामी को तो फूटी आँख नहीं देख सकती। अपने सामने किसी को कुछ न समझना कई बार घूर्जटी को बहुत खल जाता है पर किसी दिन भी वह खुले शब्दों में या डाटकर नहीं बरज सका। नतीजा सामने था कि वह पंचानन की बहू प्रमिला के साथ ऐसा व्यवहार करती है जैसे नेवरी से साथ में दासी लायी हो। इसीलिए कुन्ती या माधवजी के आने पर वह संशक बना रहता कि कहीं शारदा कोई ऐसी-वैसी बात उन लोगों से भी न कर बैठे। हालांकि कुन्ती और माधव ने कभी कोई ऐसा पराया व्यवहार शारदा ने नहीं किया होगा पर आत्मीयता तो नहीं ही दिखायी होगी अतः उन लोगों के इस

ठण्डे व्यवहार के प्रति भी शारदा उसी से शिकायत करती। जिसका मतलब होता कि सासूमाँ और गौरा उन लोगों के कान भरती हैं। कुन्ती छोटी बहन है तो अपने दादा के घर स्वयं आना चाहिए ? इस पर घूर्जटी कुल इतना ही तर्क दे पाता कि तुम भी कमाल करती हो—क्या घर के हिस्से हो गये हैं ? अभी तो माँ-बाबा बैठे हैं....और फिर तुम्हीं ने कब उन दोनो को तथा उनके बच्चों को घर आने का निमन्त्रण दिया, पर स्त्री तो तर्कातीत होती है।

घूर्जटी स्वयं ही राजनीति के दाँव-पेचो को लेकर चिन्तित था। वह बम्बई अधिवेशन में नही गया। उस समय तो लगा कि नहीं जाना चाहिए पर रेडियो के समाचार तथा अखबारों की खबरों से तो लग रहा था कि न जाकर भारी भूल की। बहुत ही तूफानी अधिवेशन हो रहा था। युद्ध अपनी चरमावस्था में था। सुभाष बाबू कलकत्ते में नजरबंदी के बावजूद अपने घर से गायब हो चुके थे। अंग्रेज सरकार युद्ध के मोर्चे पर भले ही विजयी हो रहे हो परन्तु भारत में उनकी साख इस एक घटना से बहुत गिर गयी थी। इधर कांग्रेस और गांधी जी पर भी चारों ओर से दबाव पड़ रहा था कि देश को कुछ न कुछ संकल्प लेना ही होगा। अधिवेशन में 'करो या मरो' का वातावरण गूँज रहा था। लग रहा था कि किसी भी क्षण कुछ भी घटित हो सकता है। भला ऐसे महत्वपूर्ण अधिवेशन में मराठी-ग्रुप के निर्णय से सहमत होकर उसने भारी भूल की थी जो सिंधिया सरकार और प्रकारान्तर से अंग्रेज सरकार के भी साथ बने रहना चाहते थे। हलांकि अयाचित, पुस्तके आदि कई मराठी नेता इस सीमित दृष्टिकोण के साथ नहीं थे। पूरी उज्जैन के सभी छोटे-बड़े नेता बम्बई गये थे। असल में वह पब्लिक-प्रासीक्यूटरी के लालच में था कि इस गाढ़े समय अगर उसने राजभक्ति दिखायी तो सरकार संभव है उसके मराठी न होने पर भी उसे यह पद दे दे। वह इसी परेशानी में था कि इस भारी भूल का परिष्कार कैसे किया जाएगा ? अपनी दुरंगी स्थिति को वह सभा में बड़ी चालाकी से छुपाता रहा है पर इस समय वह स्पष्ट हो गयी। अगर इसका उसे लाभ नहीं मिलता है, जो कि लगता है कि नहीं ही मिल सकेगा क्योंकि सरकार के खास व्यक्ति सरदार आंग्रे सिवाय मरहठों और मुसलमानों के, किसी का विश्वास नही करते, कम से कम गैरमहाराष्ट्रीय का तो नहीं हो विश्वास करते हैं। हालाँकि विनोद मिल के मैनेजर जाल साहब ने पूरा आश्वस्त कर रखा था कि आपका नाम ग्वालियर तक चला गया है।

यही सब सोचते हुए उसे लगा था कि घर पहुँच कर थोड़े आराम से बैठा जाएगा। हुआ तो शारदा से कुछ परामर्श करेगा। क्योंकि दाँव-पेंच के बारे में शारदा कभी-कभी बहुत पते की बात बताती है पर इस समय तो शारदा ने यह काण्ड खड़ा कर दिया। वह झल्ला पड़ा,

— पता नही तुमको तो कभी-कभी हवा से भी लड़ना अच्छा लगता है।

— क्या ?

और घूर्जटी ने देखा कि शारदा रोना छोड़ कर आग्नेय दृष्टि से उसे देखने लगी।

— तुम यही सब फिजूल-फिजूल की बातें दिन भर सोचती रहती हो और अपना दिमाग खराब किये रहती हो।

— हाँ, मुझे शौक चर्राता है लड़ने का। मैं ही बुरी हूँ तभी तो कहती हूँ कि भेज दीजिए न नैवरी मुझे और आप जाइए अपने परिवारवालोंके साथ, मामा-मामी के साथ रहिए। वे लोग आपके सगे हैं। क्यों न होंगे, परायी तो एक मैं हूँ। सासूमाँ भी तो यही चाहती है कि मैं नहीं रहूँगी तो आप अलग नहीं रहेंगे। पंचानन भैया चालाकी बरत रहे हैं कि हम लोग अलग जैसे ही हैं। चन्द्रशेखर का पता ही नहीं है। विधु बड़ी नौकरी पाकर चला ही गया है और रह गये आपके यह छोटे भगतजी महाराज—शशिशेखर तो उसका क्या। ...मैं सब समझ रही हूँ।

— अच्छा, अब तुम अपनी यह पुरान बन्द करो। रोज-रोज वही की वही बात।

— रोज-रोज वही की वही बात नहीं होगी तो क्या दूसरी होगी?

— तो तुम क्या चाहती हो कि मैं सब पर मुकदमे चला दूँ?

— जमीन-जायदाद के लिए मनुष्य को करना ही पड़ता है।

— ऐसा तुम्हारे परिवार में हुआ होगा हमारे यहाँ नहीं।

— मुझे क्या करना है। अगर आपको ही अपनी चिन्ता नहीं है तो आप जानें। मुझे तो माँ-बाबा इतना दे जा रहे हैं कि चार पुश्त बैठी-बैठी खाये।

— मैं जानता हूँ, इसी का तो तुम्हें घमण्ड है।

— घमण्ड होता तो तुम्हारे ये मामा-मामी एक दिन नहीं टिक पाते।

— तुम उन दोनों के पीछे न जाने क्यों हाथ धोकर पड़ी हो। बड़े मामा की सम्पत्ति थी, उनकी मर्जी से वह किसी को भी दे जाते। हम-तुम कहने वाले कौन होते हैं? तुम्हारे ही बहकावे में आकर मामा के मकान को लेकर झंझट करवायी और मेरी जगहँसाई हुई सो अलग और परिवार में बुरा बना।—अच्छा छोड़ो यह सब। जरा रेडियो लगा दो, समाचार आने वाले होंगे।

शारदा को लगा कि वह पति को उस बिन्दु पर पहुँचा रही है कि पंडित गोविन्द जोशी पर कोई मुकदमा चलवा सकेगी परन्तु जब देखा कि पति आगे बात करना ही नहीं चाहते तो वह उठ गयी।

॥ समाहार-प्रकरण ॥

६ अगस्त सन १९४२ ।

कल रात ही रेडियो पर गांधीजी, नेहरू, पटेल आदि सारे बड़े नेताओं के पकड़ लिये जाने का समाचार आ चुका था । पूरा देश सन्नाटे में आ गया । पूरे देश की आँखें बम्बई अधिवेशन पर लगी थीं । सुभाष बोस जिस प्रकार निकल भागे थे उसके कारण भी काफी उत्तेजना थी । कांग्रेस जिस ऐतिहासिक कगार पर खड़ी थी उसमें उसके सामने दूसरा कोई विकल्प नहीं था । देशव्यापी आन्दोलन होगा । यह सब जानते थे पर उसके स्वरूप और प्रकार के बारे में गांधीजी के अलावा,किसी को कोई स्पष्ट जानकारी नहीं थी । अंग्रेजों को गांधीजी से सत्याग्रह की अपेक्षा थी पर वह आतंकवादी भारत-छोड़ो, का महामन्त्र देश को दे देंगे इसकी कोई आशा नहीं थी इसीलिए जब अधिवेशन में गांधीजी ने प्रकृत्या शांत रहते हुए भी 'क्विट-इन्डिया' का उद्घोष किया तो स्पष्ट हो गया कि देश को अब अंग्रेजों को सहन नहीं करना है । अभी इस उग्र आन्दोलन का स्वरूप स्पष्ट हो इसके पूर्व ही सब पकड़ लिये गये । देश को तुरन्त बहुत बड़े झटके की प्रतीति हुई । जो नेता बच गये थे उन्हें लगा कि अब जल्द से जल्द अपने प्रदेशों को लौट जाएँ । हालांकि वे जानते थे कि वे जहाँ अपने प्रदेश-नगर में पहुँचे नहीं कि गिरफ्तार कर लिये जाएँगे । अंग्रेजों की मंशा यही थी कि जनता और नेताओं के बीच हठात रिक्तता उत्पन्न हो जाने पर जनता के सामने सिवाय थोड़ी सी उत्तेजना के और कोई व्यवस्थित कार्यक्रम नहीं होगा इसलिए गांधी जी जिस विस्फोट की स्थिति सोचते रहे होंगे उसे नेतृत्व के अभाव में कोई दिशा नहीं मिलेगी और उसे दबा देना आसान होगा । युद्ध की जैसी स्थिति चल रही थी उसमें अंग्रेज दो मोर्चों पर नहीं लड़ सकते थे । और हुआ भी यही कि बाकी के नेता जैसे ही अपने घरों को पहुँचे तो धर लिये गये । हालांकि गांधीजी ने स्पष्ट कर दिया था कि लोग जेल जाने के बजाय बाहर रह

कर काम करें और अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर मजबूर करें। गाँधीजी के इस कथन में जो निहित महत्व था उसे ही दिशा-बोध के रूप में स्वीकार कर जयप्रकाश, लोहिया आदि नेता भूमिगत हो गये। इस सारी स्थिति में सन्‌ ४२ का आन्दोलन भूमिगत तथा हिंसात्मक आन्दोलन हो गया।

बम्बई से लौटे रावलजी, अयाचितजी, गोपीकृष्ण विजयवर्गीय आदि नेता भी रात ही में पकड़ लिये गये थे, इस समाचार से पूरी उज्जैन चौंक उठी थी। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि जो नेता बाहर थे वे सब अज्ञातवास में चले गये थे, अब अगर भारत छोड़ो आन्दोलन को होना है तो नेतृत्व का क्या हो? उसके स्वरूप का क्या हो? उसका दायित्व किस पर होगा? अब सब की दृष्टि गिरिधर ठक्कर पर थी। सबको विश्वास था कि वह बूढ़े नेताओं की भाँति नहीं पकड़े जा सके होंगे और न ही ऐसे भूमिगत हुए होंगे कि पता ही नहीं चले। हालाँकि वह उज्जैन लौट आये थे पर वह घर पर तो नहीं ही थे, साथ ही किसी भी सम्भावित स्थान पर भी नहीं थे। गोपाल-मन्दिर के दोनों चौक, सार्वजनिक-सभा के दफ्तर के सामने की सड़क 'युवराज जनरल लाइब्रेरी, से लेकर कण्ठाल की पूरी सड़क तथा सती-दरवाजे के पार तक लोग जमा होते जा रहे थे। भय, वदहवासी, चिन्ता, उत्सुकता लिये लोग ठठ्ठ के ठठ्ठ में चौक की ओर बढ़ रहे थे। अभी सबेरे के आठ-नौ ही बजे होंगे पर लगता था कि जैसे पूरी उज्जैन, सड़क पर आ गयी हो। वैसे भी शोर हो रहा था परन्तु जब कभी कोई 'वन्दे ऽ ऽ मातरम !!' या महात्मा गाँधी की जय !! का नारा उछालता तो वह नारा लोगों के सिर पर से चलता हुआ दिखलायी देता था। एक थरथराहट सी लिख उठती। जिज्ञासाएँ, प्रश्न, कौतूहल सबकी आँखों में, ओठों पर थे परन्तु भाषा के तथा पूछे जाने के अभाव में चिपके दिख रहे थे। ठीक ही था, कौन-किससे पूछता? इन बातों का उत्तर या समाधान दूर-दूर तक नहीं दिखलायी पड़ रहा था। जो कुछ कह सकने, बता सकने की स्थिति में हो सकते थे उन्हें सरकार ने पहले ही हिरासत में ले लिया था—तब कौन है, जिससे पूछा जाए? कुछ के लिए अच्छा खासा तमाशा था कि—देखा, मजा आ गया न? लेकिन यार, यह सब हुआ क्या?—तो अब क्या होगा?—कुछ नहीं, सरकार जेल में इस बार वो ऽ मार मारेगी, ऐसा सड़ा देगी कि सुराज का सारा बुखार निकल जाएगा—फिर भी सबके अवचेतन में इतना तो था ही कि कुछ होना चाहिए।—हमारा देश है तो क्या विदेशी को चले जाने के लिए कहना जुर्म है?—तब भी लोगों की समझ में यह नहीं आ रहा था कि अंग्रेजों की इस ज्यादती

का विरोध कैसे किया जाए ? वैसे सब जान रहे थे कि नौकरीपेशा जितने इस समय दिखलायी दे रहे हैं वे सब दस बजे के आसपास अपनी दुम दबाये दफ्तरों में न पहुँच जाएँ तो कहना। और ठीक भी है। नौकरी पर नहीं जाएँ, खासकर ऐसे समय तो, न निकालते हों तो तुरन्त निकाल दें। सरकार के अंकुश में सबसे पहले तो ये बाबू लोग ही आते हैं। जहाँ तक व्यापारी-वर्ग की बात है तो इनकी दुहरी साँसत है। अभी हड़ताल, दूकानें बन्द करने का नारा दिया जाए तो ये दूकानें बन्द कर देंगे परन्तु अगर सरकार ने हुकुम निकाल दिया कि खबरदार, जो दूकानें बन्द कीं--तो बेचारे डरते-डरते खोलेंगे ही। और जाहिर है जनता जब अपने नारे की अवहेलना देखेगी तो क्या इनकी दूकानें, सामान बच जाएगा ? सरकार कहाँ-कहाँ, किस-किस की रक्षा करेगी ? जहाँ तक मजदूर-वर्ग का सवाल है तो वह जरूर ही कुछ कर सकता है पर मजदूर यूनियन पर तो कम्यूनिस्टों का प्रभाव है और कम्यूनिस्ट तो घोषित रूप से अंग्रेजो के साथ है---तब ? तो क्या यह आन्दोलन जन्म लेने के पूर्व ही मृत हो जाएगा ? और कहीं इस समय किसी तरह अंग्रेज इस आन्दोलन को दबा ले गये तो आगामी बीसियों वर्षों तक कांग्रेस फिर कोई आन्दोलन करने की स्थिति में नहीं होगी। अगर कहीं इस विश्व-युद्ध में अंग्रेज जीत गया तब तो वह इस देश पर उसके बाद ऐसा पक्का इन्तजाम करेगा कि कोई फिर चूं तक नहीं कर सकेगा।---लेकिन अभी भी एक वर्ग से कुछ आशा हो सकती है, और वह वर्ग है---विद्यार्थी-वर्ग !!

और लोगों ने सुना कि देवास-गेट से विद्यार्थियों का एक बड़ा भारी जुलूस, झण्डों और नारों के साथ हजारों की संख्या में गोपाल-मन्दिर की ओर चला आ रहा है।---क्या ? विद्यार्थियों का जुलूस ??---लोग जो कि अपने ही हताश सोचने तथा आपसी निरुद्देश्य बहसों से थक चुके थे, ऊब चुके थे---इस समाचार से स्फूर्त लगने लगे। भीड़ जो कि उद्देश्यहीन घूम रही थी उसे जैसे एक काम मिल गया। लगभग सबकी ग्रीवाएँ, मुँह और आँखें सती-दरवाजे की ओर उठ गयीं। उन्हें अपेक्षा हो उठी कि अभी ढेर से उत्तेजक नारे, लहराते झण्डे और जोश में भरे विद्यार्थी दिखलायी देंगे तो बाकी के लोगों में भी कुछ प्रतिक्रिया जागेगी। अभी तक जो निराशा का भाव था वह उत्साह में बदल गया। अभी थोड़ी देर पहले तक जो आन्दोलन अपने जन्म के साथ ही मृत लगा था, वह जीवित लगने लगा।

बाढ़ का जल जिस प्रकार शब्द करते हुए क्रमशः फैलता जाता है। वैसे ही सब प्रकार की बाढ़ों की भी यही प्रकृति होती है। हठात् कुछ नहीं होता। सबसे पहले किनारे वाला छोटा जल ऊबचूब करता है। छोटी सी खलबल होती है और जरा सा फैल जाता है कि तभी पीछे से थोड़ा सा बड़ा जल आ जाता है और उस छोटे से जल को और आगे ठेल देता है। यह छोटा सा जल चौंकता जरूर है कि यह क्या हुआ ? कि तभी और भी बड़ा सा जल ढेर सी मात्रा में तथा फुँफकारते हुए सब तरह के जलों को दूर-दूर तक फैलाने लगता है---और बाढ़ आ जाती है। अब न कोई जल छोटा ही रह जाता है और न बड़ा। केवल जल हो जाता है। अदम्य शक्ति सम्पन्नता और एक

अन्तर्निहित अनहद धरती पर लिप उठते हैं। प्रत्येक धरती इसी प्रकार जलमग्न होती है। मानवीय धरती पर भी बाढ़ इसी प्रकार आया करती है। देवास-गेट से चला विद्यार्थियों का जुलूस भी बाढ़ के सामान ही बढ़ रहा था। आस-पास की गलियों से लोग निकल-निकल कर उस जुलूस को, जो कि आरम्भ में विद्यार्थियों का ही था, बाढ़ की शक्ल में परिवर्तित करते जा रहे थे। 'कल्पवृक्ष-कार्यालय' तक पहुँचने तक हजारों की संख्या वाला यह जुलूस केवल विद्यार्थियों का नहीं रह गया था। झण्डे, धूप और हवा में चमकते-लहराते इस मानवीय बाढ़ की दिखने वाली भाषा लग रहे थे, जो चल भी रही थी और कँप-कँप कर एक दृश्य भी लग रही थी। घरों की खिड़कियाँ, छज्जों, बारजों से उत्सुक, चिन्तित, जिज्ञासु मुख ही मुख दिखलायी दे रहे थे। बच्चों के लिए एक अभूतपूर्व तमाशे का अवसर था। जब भी कोई जयकार उठती तो ये बच्चे केवल 'जय' को ही उद्‌घोषित करके सन्तुष्ट हो जाते थे क्योंकि बाकी का नारा उनसे सर्वथा अपरिचित होता था। आज के पूर्व कभी 'इंकलाब जिन्दाबाद' सुना ही नहीं था और न ही इसका अर्थ किसी को पता था—कोई नारा आरम्भ करता था और आवाज की, उद्‌घोष की एक तेज चिचियाती लकीरें खिंच उठतीं। गाने-गाये जा रहे थे और बीच-बीच में भोंपू पर कोई विद्यार्थी नेता कुछ एलान करता चल रहा था कि—अभी थोड़ी ही देर में गोपाल मन्दिर चौक में एक आम-सभा होगी जिसमें आप सब लोग आयें....हमारे नेताओं को बंदी बना देने वाली सरकार हम सहन नहीं करेंगे—अंग्रेजों को देश छोड़ना ही होगा—आइए, चलिए गोपाल-मन्दिर चौक और स्वराज्य के इस यज्ञ में अपनी भी आहुति डालिए—वन्दे ऽऽ मातरम् !!

और गोपाल-मन्दिर चौक तक जुलूस के पहुँचने के पूर्व ही पुलिस के पैदल और घुड़सवार सिपाही चारों ओर तैनात थे। पुलिस को देखते ही कुछ लोगों में दहशत छा गयी। विद्यार्थी-नेता बारम्बार चिल्लाकर लोगों को शान्त रहने के लिए एलान कर रहे थे। मन्दिर के सामने वाले चौक में सिनेमा की सीढ़ियों पर कामचलाऊ मंच बना दिया गया था। वैसे तो जुलूस रास्ते भर दूकानें बन्द करवाता आ रहा था। लाउड-स्पीकरों पर दूकानदारों को दूकानें बन्द कर देने के लिए कहा जा रहा था। अधिकांश ने बन्द भी कर दी थी परन्तु कुछ बोहरों और मुसलमानों की दूकानें फिर भी खुली थीं। कुछ विद्यार्थी-नेताओं ने उन लोगों से दूकानें बन्द करने की प्रार्थना तक की थी परन्तु जैसे वे न बन्द करने पर तुले हुए थे।

जुलूस अब सभा में परिणत हो गया था। इतनी भीड़ तो सिंहस्थ के मेले में भी

नहीं होती है। तिल धरने की जगह नहीं थी। तरह-तरह की देशभक्ति की कविताएँ और गाने गाये जा रहे थे। लोग सन्नाटे में थे कि पता नहीं अब क्या होगा। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि इतने बड़े जन-समुदाय को कौन सम्बोधित करेगा और क्या कहेगा। क्योंकि लगभग सारे बड़े नेता पिछले दो दिनों में गिरफ्तार कर लिये गये थे। कोई कहता कि उन्हें भैरोगढ़ में रखा गया है तो कोई कहता कि उन्हें सीधे मुंगावली जेल ले जाया गया है। पर कोई भी निश्चयात्मक तरीके से नहीं बता पा रहा था कि गोविन्द जोशी और गिरिधर ठक्कर पकड़े गये हैं कि नहीं। तब भी लोगों को न जाने क्यों पूरी आशा थी कि अगर गिरिधर ठक्कर पकड़े नहीं गये होंगे तो वह अवश्य ही यहाँ आएँगे, और हुआ भी यही। बार-बार मंच से घोषणा हो रही थी कि अब सभा का कार्यक्रम शुरू होने जा रहा है। अभी कुछ प्रमुख नेतागण आपको यह बताएँगे कि जब हमारे नेता सब पकड़ लिये गये हैं तब हमें यह भारत-छोड़ो आन्दोलन किस प्रकार चलाना है और अंग्रेजों की नींद हराम करनी है। देश अब विदेशियों की हुकूमत को सहन नहीं करेगा। ये पुलिस, फौज जनता का मनोबल नहीं तोड़ सकेंगे। गांधी जी ने साफ कहा है कि जेल जाने से अच्छा है बाहर रहकर काम किया जाए। हमारे नेता आपको बताएँगे कि कौन सा काम करना होगा जिससे विदेशी सरकार मजबूर हो जाए और हमारा देश छोड़ने के लिए बाध्य हो।

चारों ओर पुलिस अधिकारी तथा कलक्टर आदि खड़े थे। सब जान रहे थे कि किसी भी क्षण सरकार और उसके ये सिपाही हरकत में आ सकते हैं। गनीमत यही थी कि ये लोग चौक के दूसरे वाले हिस्से में किनारे दूर खड़े थे। दो-एक विद्यार्थी-नेता बहुत तेज-तर्रार भाषण दे चुके थे। लोग सुविधा के स्थानों पर खड़े थे, साथ ही सतर्क भी थे कि ऐसी-वैसी बात होने पर अपनी रक्षा की जा सके। लोग तो खपरैलों तक पर चढ़े बैठे थे। कुछ बारजों में तो इतनी भीड़ लग रही थी कि किसी भी क्षण सब धराशयी हो सकते थे। तभी माइक्रोफोन पर किसी ने एलान किया कि गोविन्द जोशी को रास्ते में ही पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया है। इतना सुनना था कि दो एक विद्यार्थी-नेताओं ने सरकार विरोधी नारे लगाने शुरू किये। नारों का इतना तेज शोर होने लगा कि लोगों को लगा कि पुलिस अब किसी भी क्षण बीच में कूद सकती है। तभी घोषणा हुई कि अब आपके सामने गिरिधर भाई भाषण देंगे। गिरिधर भाई का नाम सुनते ही लोग जो कि भय के मारे, आशंका के कारण खिसकने की सोच रहे थे, वे भी रुक गये कि देखें यह क्या कहते हैं। हालांकि सब जान रहे थे कि गिरिधर भाई को यहीं पकड़ लिया जाएगा और सभा भंग कर दी जाएगी। सकता है गोली-डण्डा भी चले परन्तु तब भी लोग गिरिधर भाई को सुनने के लिए खड़े थे। उन्होंने पहले तो बम्बई अधिवेशन का थोड़ा वर्णन सुनाया और बताया कि आज जब हमारे सारे बड़े नेता जेल में हैं तो हमें क्या करना चाहिए। देश को अब सिर्फ सरकार को बाध्य करना है। सरकार न चले इसके लिए जो भी, जैसा भी काम करना पड़े, करना होगा। इस आन्दोलन में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न नहीं है। यह सत्याग्रह भी नहीं है

बल्कि एक प्रकार से अब देश को दुराग्रह ही करना होगा। देश हमारा है तो सरकार भी हमारी ही होनी चाहिए।

अभी भाषण चल ही रहा था कि वोरा-बाखल की ओर से कुछ हल्ला सुनाई दिया। गिरिधर भाई ने भाषण बीच ही में रोक कर इस गड़बड़ी का कारण जानना चाहा तो मालूम हुआ कि कुछ लड़कों ने वोहरों से दूकानें बन्द करने के लिए कहा तो कुछ मारपीट शुरू हो गयी। अभी कोई कुछ कहे इसके पूर्व ही वोहरों की मस्जिद से ईंट-पत्थर चलने लगे और एक क्षण में ही भगदड़ मच गयी। किसी की समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि यह क्या हो गया और कैसे हो गया। जो जहाँ था वहाँ से भाग खड़ा हुआ और थोड़ी देर पूर्व तक जहाँ 'वन्दे मातरम' 'भारत माता की जय' 'महात्मा गाँधी की जय!!' के नारे गूँज रहे थे वहाँ तत्काल ही 'अल्ला हो अकबर' 'जय महाकाल' के साम्प्रदायिक नारे गूँजने लगे। लोग ईंट-पत्थरों से अपनी जान बचाने के लिए भाग हो रहे थे कि देखते-देखते छुरेबाजी होने लगी। ये छुरेबाज लोग कौन थे, कहाँ से आये थे और सहसा कैसे आ गये—यह किसी को पता नहीं था। स्कूल के बच्चे चीख-चिल्ला रहे थे। गुण्डे अब खुलकर सामने आ गये। किसी का सिर फट गया था तो किसी की कमर टूट गयी थी। कोई खून से लथपथ पड़ा था तो अधिकांश चिल्लाते हुए भाग रहे थे। गिरिधर ठक्कर को आश्चर्य यही था कि पुलिस दूरी पर खड़ी थी और यह सब घटित हो रहा था। सारे विद्यार्थी नेता भी चकित थे कि यह क्या हो गया? सरकार और पुलिस से मुठभेड़ की तो पूरी सम्भावना थी पर यह हिन्दू-बोहरा काण्ड हो जाएगा इसकी कल्पना ही नहीं थी। किसकी गलती थी या पहल किसने की थी इसे जानने का कोई माध्यम ही नहीं था। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि इससे आन्दोलन शुरू होते ही भ्रष्ट किया जा रहा था। जिस चौक में अभी हजारों आदमी मौन भाव से भाषण सुन रहे थे वहाँ कुछ घायलों और ईंट-पत्थरों तथा गुण्डों के और कोई नहीं दिखलायी दे रहा था। दो-एक विद्यार्थी-नेताओं को कहा गया कि मस्जिद की ओर सफेद रूमाल दिखाते हुए संकेत करो कि इसे बन्द करें। जैसे ही ये लोग नीचे उतरे तो गुण्डों ने उन पर भी हमला कर दिया। जब लगभग सब भंग हो गया तब पुलिस हरकत में आयी। साथियों ने गिरिधर भाई को समझाया कि वह निकल जाएँ वर्ना वह पकड़ लिये जाएँगे और आज की इस सारी गड़बड़ी का कारण उन पर मँढ़ दिया जाएगा। परन्तु गिरिधर भाई ने कहा कि नहीं उनका भागना ठीक नहीं होगा क्योंकि वह तब तुम लोगों को परेशान करेगी। अगर पुलिस उन्हें पा जाएगी तो बाकी के लोग भूमिगत कार्यवाही आसानी से करते रहेंगे।

और हुआ भी वही। मजिस्ट्रेट ने आकर आज की इस सारी कार्यवाही का जिम्मेदार गिरिधर ठक्कर को ठहराते हुए गिरफ्तार कर लिया। अभी यह हो ही रहा था कि फिर हल्ला हुआ कि विनोद-मिल के मजदूर काम छोड़कर बोहरों की दूकानें लूटते चौक की तरफ आ रहे हैं। पुलिस ने यही उचित समझा कि मजदूरों के पहुँचने के पूर्व ही गिरिधर ठक्कर को ले चला जाए। जिस समय जीप पर उन्हें बैठाल कर

गाड़ी चली तो चौक के मैदान में टूटी बोतलों के टुकड़े, शीशों की किरचें, ईंट-पत्थर तथा लोगों के जूते, टोपी आदि बिखरे पड़े थे। और वही हुआ कि पुलिस के जाते ही गुण्डे फिर सक्रिय हो गये। हिन्दू जो भाग गये थे, वे इस बीच सारी तैयारी करके लौटे और मजदूरों के साथ मिलकर बोहरों की एक-एक दूकान तोड़ डाली गयी, लूट ली गयी। चारों ओर जितने मुँह, उतनी तरह की अफवाहें। कोई कहता कि गिरिधर भाई को बोहरों ने मार डाला। कोई बताता कि पचीसों लाशें पुलिस जीप पर लाद कर ले गयी है। जो घर, जो खिड़कियाँ खुली थीं और जिनमें से लोग झाँक रहे थे, वे दरवाजे, बारजे की खिड़कियों के पल्ले ऐसे बन्द हो गये जैसे इस घर में ही क्या बल्कि इस गली-मुहल्ले में भी कोई नहीं रहता। आज ही क्यों, वर्षों से यह गली, ये रास्ते ही नहीं बल्कि पूरा शहर वीरान है। सन्नाटा सड़कों पर लिखा था और उसे ईंट-पत्थरों से लिखकर लोग न जाने कहाँ चले गये थे।

रमण भाई पण्ड्या का आग्रह था कि देवोत्थानी एकादशी के दिन ही विवाह हो जाए फलत: मणि का विवाह कनु पण्ड्या से कर दिया गया। हालांकि दुर्गा की बिलकुल इच्छा नहीं थी क्योंकि गोविन्द के जेल चले जाने से वह बहुत दु:खी थी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने भी समझाया कि जिस प्रकार ये लोग पकड़े गये हैं उसमें लगता तो नहीं कि सरकार जल्द छोड़ेगी इसलिए गोविन्द को लेकर मणि का विवाह कितने दिन टाला जा सकता है ? और इस तर्क के सामने दुर्गा को झुकना ही पड़ा। गोविन्द के जेल चले जाने के बाद से दुर्गा, गौरा को अपने ही घर ले आयी थी। उस बड़े से घर में छोटे से आशुतोष को लेकर गौरा को असुविधा होगी सोचकर दुर्गा इन दोनों को ले आयी थी। पर यही बात शारदा को खल गयी। फलत: मणि की शादी के पूरे समय शारदा ने जी खोलकर गौरा का अपमान किया होगा। यद्यपि गौरा बराबर मौन ही रही होगी तब भी दुर्गा को शारदा के इस ओछे व्यवहार का पता लग ही गया इसलिए एक दिन दुर्गा ने शारदा को खासी फटकार सुना दी। विवाह के समय तो शारदा सास द्वारा किये गये अपमान को पी गयी पर जैसे ही बरात विदा हुई कि वह अपने पति पर बिफर उठी। धूर्जटी लेकिन हर बार शारदा की बात को अनसुना ही करता रहा था। वह जानता था कि शारदा गौरा को केवल नापसन्द ही नहीं करती है बल्कि जैसे शत्रुता पाले हुए है जबकि उसे क्या किसी को भी गौरा के किसी व्यवहार से कोई शिकायत तो दूर बल्कि आत्मीय ऊष्मा ही अनुभव होती थी। स्वयं धूर्जटी को गोविन्द-मामा की राजनीति में आदर्शवादितासे कष्ट होता था अन्यथा वह कभी मामा को बहुत चाहता रहा है। आज भी वह संकोच तो करता ही है। गौरा ने भी सदा स्नेह ही दिया है पर वह अपने इन मामा-मामी को लेकर कभी अपने मन की स्पष्ट राय शारदा को नहीं कह पाता है।

एक दिन वह कोर्ट न जा सका। इधर दो-चार दिनों से उसकी तबीयत कुछ

ठीक नहीं चल रही थी । दुर्गा ने भी जब उड़ते-उड़ते सुना कि धूर्जटी की तबीयत ठीक नहीं है और आज वह कोर्ट भी नहीं गया तो माँ के नाते चिन्ता सहज थी । हालांकि यह कातिक-चौक वाले इस घर में यदा-कदा हो गयी है । शाम को ठाकुर जी की आरती करके शशि को साथ में लेकर पुत्र को देखने निकली । अभी सीढ़ियों पर ही थी कि धूर्जटी और शारदा की तेज आवाजें सुनायी दीं । सहसा उसके पैर रुक गये । शारदा कह रही थी ।

— देखिए, आज एक लकड़ी के दो टुकड़े हो जाने चाहिए ।

शारदा की बात धूर्जटी नहीं समझ पाया कहना तो गलत होगा, पर उसने पूछा,

— क्या ! तुम क्या कहना चाहती हो ?

— मैं आपसे एक हजार बार कह चुकी हूँ कि आप बाबा के रहते सारा हिस्सा-बाँट करवा लें वर्ना आपकी माताजी आपको कानी कौड़ी नहीं मिलने देंगी । मणि को जानते हैं—दहेज मे इतना दिया जितना कि कुन्ती और कान्ता दोनों का नहीं दिया होगा । उस पर ये आपकी भिखमंगी मामी अपने बच्चे के साथ महीनों के लिए नहीं बल्कि अब तो बरसों के लिए आपके घर में आ गयी हैं । मान लो आपके वो लाड़ले मामा....

— मैं कहता हूँ शारदा ! तुम यह अनाप-शनाप बकना बन्द करोगी की नहीं ?

— क्या खाकर आप मेरा मुँह बन्द करेंगे ? मैं किसी की दबेलदार नहीं हूँ । मैं भी इस घर की बड़ी बहू हूँ । उस पंचानन की प्रमिला जैसी मूर्ख नहीं हूँ कि गौरा के बहकावे में आ जाऊँ । आप को अपनी माँ से कहना होगा कि हमने किसी को खिलाने-पिलाने का ठेका नहीं लिया है । कल से अगर मामा जेल से बाहर ही नहीं आये तो....सारी सम्पत्ति हजम करके बैठ गये और अब हमारी छाती पर मूँग दल रहे हैं....पर मैं यह सब नहीं होने दूंगी, भले ही सासू माँ के ये लोग कितने ही लाड़ले हों....समझे ?

और तभी शशि ने देखा कि माँ जो कि आगे-आगे सीढ़ियों पर थीं, सिर पकड़ कर दीवाल पकड़ते हुए गिरने को हुईं कि शशि ने गिरती माँ को थाम लिया पर इस थामने में माँ के बोझ से झटका लगा और वह लुढ़का । इस गिरने का शब्द जैसे ही ऊपर पहुँचा तो धूर्जटी और शारदा चौंके कि यह सीढ़ियों पर कौन है ? वैसे तो सीढ़ियों पर अँधेरा था पर धूर्जटी ने बत्ती जलाकर देखा तो सन्न रह गया—अरे, यह तो माँ है, शायद गिर पड़ी हैं ।....वह एक क्षण मे सब कुछ समझ गया....कि माँ ने शारदा की सारी बातें सुन ली हैं, पर माँ, जो कि कभी नहीं आती, तो आज कैसे आयीं ?.... कहीं उसे ही देखने तो नहीं आयी थीं ? और वह लपका ।

दुर्गा को चोट तो ज्यादा नहीं थी पर सदमा ज्यादा लगा था । शारदा ने भी जब सासू माँ को देखा, तो वह भी सन्नाटे मे तो आ ही गयी । उसे कभी कल्पना ही नहीं हो सकती थी कि किसी और ने नहीं बल्कि स्वयं सासूमाँ ने उसकी सारी बातें सुन ली हैं । एक क्षण को तो उसे डर लगा परन्तु तत्काल ही उसे अपने में साहस अनुभव

होने लगा कि सुन लिया तो अच्छा ही हुआ। रोज-रोज के घुटने से तो एक दिन का कह-सुन लेना कहीं अधिक अच्छा है। सासुमाँ और गौरा के इस पराये व्यवहार को देखकर ही तो यह प्रमिला की बच्चो भी उससे कैसे खिचे-खिचे व्यवहार करती है। ठीक है, मैं भी देखती हूँ कि उसके पहले जापे [प्रसव] में कौन काम आता है।

धूर्जटी नीचे पहुँच कर माँ को सहारा देकर ऊपर लाना चाहता रहा परन्तु दुर्गा ने कहा कि, नहीं कोई खास बात नही।

— तुम्हारी तबीयत कैसी है अब ?

— मैं तो अब ठीक हूँ।

धूर्जटी ने पत्नी से कहा,

— जाओ जल्दी से पानी गरम करके नमक डालकर माँ को सेंकने का प्रबन्ध करो।

शारदा जाने को हुई तो दुर्गा ने कहा,

— कुछ नही, मुझे कुछ नही हुआ। जरा सा पैर फिसल गया....बुढ़ापे का शरीर है न....चल शशि !

धूर्जटी का कितना मन हुआ कि वह माँ को जबरदस्ती रोके, ऊपर ले जाए और उनके पैरो की सिकाई करे पर न जाने क्यों वह कुछ नहीं कह सका। जाते हुए माँ को देखते हुए वह स्वयं को धिक्कार ही रहा था परन्तु अपने से कहीं अधिक शारदा पर क्रोध आ रहा था कि अब वह माँ को इन बातों के बाद कैसे मुँह दिखाएगा ?

हालांकि दुर्गा ने भरसक कातिक चौक वाले घर से निकलते हुए पूरी चेष्टा की कि धूर्जटी और शारदा को उनकी चेष्टा के बारे में, दर्द के बारे में पता न चले इसलिए वह शशि के कन्धे पर कुछ ज्यादा ही जोर देकर चल रही थीं। हालांकि उन्हे अवचेतन में लग रहा था कि चोट शायद ज्यादा ही आयी है पर वह किसी प्रकार एक बार घर पहुँच जाना चाहती रहीं। वह जब आयी थी तो पुत्र के लिए हल्की सी ललक थी पर इस समय... और उन्हे लगा कि यह संसार, इसके सम्बन्ध शायद इसी प्रकार धीरे-धीरे समाप्त होते हैं। शायद प्रयोजन पूर्ति की सूचना इसी प्रकार मिला करती है। अब आप अप्रासंगिक होते जा रहे हैं इसकी सूचना प्रकृति इसी प्रकार दिया करती है।....ठीक भी है, दो-चार दिनो में हो प्रमिला को बच्चा होने वाला है तो फिर स्यान खाली नहीं करना पड़ेगा ? और प्रमिला को बच्चा होने वाला है, इस विचार मात्र से उस दर्द में भी ममत्व उभर आया।

जैसे ही दुर्गा घर पहुँची तो जैसे हंगामा खड़ा हो गया। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बैठक में अकेले बैठे हुए थे। पत्नी को देखते ही उन्हें लगा कि यह इस प्रकार क्यों चल रही है? पूछा,

— क्या बात है? लँगड़ा क्यों रही हो?

— कुछ नहीं, जरा सा पैर फिसल गया।

रास्ते में दुर्गा ने शशि को समझा दिया था कि उसने अपने दादा-भाभी की यदि कोई बात सुनी है तो उसे किसी को भी कहने-सुनने की जरूरत नहीं है। शशि से उन्होंने कहा,

— जा तो बेटा! अपनी भाभी को बुला ला।

गौरा को जैसे ही खबर मिली तो वह हाथ का काम छोड़कर भागी। वह रसोई बना रही थी। प्रमिला अपने कमरे में लेटी हुई थी। उसकी तबीयत ठीक नहीं थी। आशुतोष अब थोड़ा-थोड़ा बोलने लगा था। उसके 'भाभी' पुकारने पर प्रमिला खूब जोरों पर खिलखिला पड़ती थी तो आशुतोष खिसिया जाता था। प्रमिला के लिए तो आशु अच्छा-खासा खिलौना था। जब वह कहता कि बड़ी भाभी [शारदा] तो कभी प्यार भी नहीं करती तो प्रमिला उसे अपने से सटा लेती। प्रमिला को भी आश्चर्य होता कि आशु जैसे बच्चे को देख-सुनकर कोई प्यार न करे, यह असम्भव ही था। आशु एकदम गौरा की ही भाँति सुन्दर था। वैसी ही बड़ी बोलती सी आँखें और जब वह बोलना खोजते हुए ढंग पर जब सोचते हुए टूटा-टूटा सा बोलता तो प्रमिला को लगता कि वह आशु का क्या करे?

गौरा और प्रमिला ने बहुत तरह से जानना चाहा कि वह कैसे गिर गयीं पर सिवाय गिरने के वे दोनों और कुछ न जान सकीं। शशि ने भी कुल इतना ही बताया कि धूर्जटी दादा को देखने गयी थीं तो सीढ़ियों पर से पैर फिसल गया। मानने को तो उन दोनों ने मान ही लिया पर न जाने क्यों विश्वास नहीं आया। वहीं बैठक में ही दुर्गा का बिस्तरा लगा दिया गया। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने वैद्य जी के यहाँ से दवाई शशि के हाथ मँगवा ली।

— अरे हाँ, आज कचहरी में मालूम हुआ कि विधू सेशन-जज बन गया और मुरार से ग्वालियर तबादला भी हो गया।

— और उस पगले ने घर कोई चिट्ठी भी नहीं लिखी।

— मेरा ख्याल है कि यह सब हठात् ही हुआ होगा। दो-एक दिन में चिट्ठी भी आती होगी।

— इसका भी आप कहीं अब प्रबन्ध कर डालें तो फिर अकेले शशि की चिन्ता रह जाएगी।

— हाँ, तुम ठीक कहती हो। समय बड़ा खराब आ रहा है।

— मुझे तो रह-रह कर घबराहट होने लगती है। विधू और शशि की चिन्ता दूर हो तो किसी तरह जान छूटे।

— तुम्हारी जान कैसे छूट सकती है ? अब तो नाती-पोतों के दिन आये हैं ।
— कर्तव्य से ज्यादा किसी सम्बन्ध में सनना नहीं चाहती ।
— क्या सब कुछ तुम्हारे हाथ में है ?
— न हो, पर सब कुछ बेहाथ भी नहीं होता । अब चीजों पर से हमारी पकड़ ढीली हो रही है । इसके पहले कि उनके जाने का हमें दुःख हो, अच्छा है कि हम पहले से त्यागने की मनःस्थिति बना लें ।
— वो, पंचापन को तुमने सौ रुपये दिये कि नहीं ?
— सौ रुपये ? किस बात के लिए ?
— अरे वो मन्या ने दिल्ली के पते पर मँगवाये हैं कि नहीं ।
— मन्या ने अच्छी हम लोगों की सांसत कर रखी है । उसकी पार्टी न हुई हमारी जान की आफ़त हो गयी । पढ़ना-लिखना सब छोड़कर कभी कलकत्ता तो कभी दिल्ली—घरवाले तो उसके लेखे से जैसे हैं ही नहीं । पता नहीं किसी दिन कोई मुसीबत न खड़ी कर ले अपने लिए ।

तभी बाहर के दरवाजे की 'कल' बोली । दोनों ने एक साथ ही देखा कि श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय अपनी बहू के साथ आयी हैं ।

पंचानन, दिवाकर दाते की बातें सुनकर बहुत उत्तेजित था। मराठी-शाला के पीछे वाले बाड़े में पुणातांबेकर के घर लोग बैठे हुए बातें कर रहे थे।

— दिवाकर जी! कम्यूनिस्ट पार्टी का इधर का सारा रोल तो बड़ा प्रतिक्रियावादी रहा है।

दिवाकर दाते ने हँसते हुए कहा।

— चलो तुमने प्रतिक्रियावादी ही कहा। लोग तो हमें राष्ट्रघाती, देशद्रोही तक कहते हैं।

— पर क्या यह सही नहीं है?

— क्या?

— देश अपनी स्वाधीनता की लड़ाई अंग्रेजों से लड़ रहा है और कम्यूनिस्ट पार्टी अंग्रेजो के साथ है। अब तो सुना है कि आप पाकिस्तान की माँग को भी उचित मानने लगे हैं।

— और क्या-क्या सुन रहे हो?

पंचानन को लगा कि दिवाकर दाते उससे खिलवाड़ कर रहे है, बहस नही।

— आपके पास और आपकी पार्टी के पास इन बातों का क्या जवाब है?

— स्पष्ट है कि हम भी देश की स्वाधीनता चाहते हैं पर कांग्रेसियों वाले स्वराज्य के हम साथ नहीं हो सकते क्योंकि ऐसी आजादी टाटा-बिरला और बड़े घरानों वाले राजनीतिज्ञों के लिए ही आएगी। उसमें सर्वहारा को क्या मिलना है?

— तो आप अपने ढंग की आजादी के लिए ही क्या अंग्रेजों के साथ हैं?

— पंचानन! उत्तेजित न होओ, राजनीति सीधी लकीर का नाम नही है। कांग्रेस और तुम्हारे गाँधीजी राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हो सकते हैं पर जन-चेतना के नहीं। ये

बड़े वकील, बड़े घरानों के सुविधाभोगी लोग आजादी मिल जाने पर उसमें जनता की हिस्सेदारी होने देंगे ?

— क्या रूस में सबकी हिस्सेदारी है या जो कम्यूनिस्ट हैं वही सत्ता में हैं ?

— रूस के बारे में सुनकर तुम जो भी नतीजे निकालोगे वे जल्दबाजी के होंगे, भ्रामक होंगे ! मानव-इतिहास में पहली बार मजदूर-राज की स्थापना हुई है और पूरी दुनिया को यह खटक रहा है वह चाहे हिटलर हो या रूजवेल्ट या चर्चिल । मैं तो इस सूची में तुम्हारे गांधी का भी नाम जोड़ना चाहूँगा । वैज्ञानिक भीमकाय प्रगति को तुम्हारे गांधी चरखे और तकली से रोक देना चाहते हैं । दोस्त ! चीजों को सही ढग से देखने की आदत डालनी होती है ।....और जहां इस पाकिस्तान का सवाल है, तो उस मांग में अनौचित्य क्या है ? मुसलमान अगर अपने लिए अलग देश, अपनी सभ्यता, भाषा और संस्कृति के लिए हिन्दुओं से अलग एक भूमिखण्ड मांगते हैं तो आपको बुरा क्यो लगता है ? अगर हिन्दुस्तान बनना है तो पाकिस्तान बनने से आप क्यो चौंकते हैं ?

— इसका मतलब तो हुआ कि अगर सिख, हरिजन, ईसाई सभी इस प्रकार मांगने लगेंगे तो देश क्या रह जाएगा ?

— जिन्हे जितना देश चाहिए अगर वे मांगते हैं तो देना होगा । सारा देश आप अपने लिए ही चाहते हैं, है न ? देश क्या सिर्फ हिन्दुओं का ही है ?

— तो रूस में क्यों यह सिद्धान्त नहीं लागू किया गया ?

— तुम जैसे लोग हर बात में रूस को क्यों बीच मे ले आते हो ?

— इसलिए कि रूस में कम्यूनिस्ट पार्टी और आन्दोलन तथा अब राज्य–राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचते हैं जबकि यहां की कम्यूनिस्ट पार्टी इस देश की उपज है ही नहीं ।

— तब कहां की है ?

— क्यों दिवाकर भाई आप कहलवाना चाहते हैं कि आपकी पार्टी का जन्म तो ताश-कंद में हुआ था । आपकी तो यहां कलम लगायी गयी है इसीलिए आपको हर बार अपने फलने-फूलने के लिए वोल्गा का पानी ही चाहिए, गंगा का जल पड़ते ही आपको टाटा-बिड़ला की गन्ध आने लगती है ।

— दोष तुम्हारा नहीं है दोस्त ! गांधी और कांग्रेस ने इस देश की मानसिकता को, आदिम यथास्थितिवाद को बरकरार रहने दिया क्योंकि बिना इसके राष्ट्रीय आन्दोलन का यह इतना बड़ा स्वांग चलता कैसे ? तुम्हारे गांधी कहते हैं कि पाकिस्तान के लिए वह अपने प्राण दे देंगे । यह दबाव की राजनीति है । अंग्रेजों ने इस देश की सत्ता मुसलमानों से ली इसलिए जब अंग्रेज सत्ता वापस करेगा तो मुसलमान अगर अपने लिए सिर्फ पाकिस्तान मांगते हैं तो आप प्राण दे देंगे— यह अहिंसा, व्रत, उपवास, प्रार्थना, मौन का ढोंग नहीं चलेगा दोस्त ! राजनीति, राजनीति की तरह ही खेली जाती है ।

— तो क्या इसी राजनीतिक सिद्धान्त के कारण आप अंग्रेजों के साथ हैं ?

— कम्यूनिस्ट पार्टी कभी जनता की पार्टी नहीं बन सकी है इसलिए हमें आत्मसुरक्षात्मक स्टैण्ड तो लेना ही पड़ेगा ।

— भले ही देश की स्वाधीनता लटाई में पड़ जाए ?

— यार, हम तो इस लड़ाई में कहीं पार्टी के रूप में हैं ही नहीं । लटाई में अगर स्वाधीनता पड़ेगी भी तो वह भी गांधी और कांग्रेसियों के कारण न कि कम्यूनिस्ट पार्टी के कारण । हमारी लड़ाई तो बहुत लम्बी चलेगी, यह हम जानते हैं । एक पूंजीवादी सत्ता, जो विदेशी भी है अगर गयी तो देसी पूंजीवादी सत्ता काबिज हो जाएगी । पूंजीवाद में चुनाव नहीं किया जा सकता है । जिन्हें यह स्वाधीनता मूल्यवान लगती है वो लड़ ही रहे हैं ।

पंचानन, दिवाकर दाते की बातें सुनकर वितृष्ण हो उठा । उसके भावों को दिवाकर दाते समझ गये थे इसलिए फिर बोले,

— पंचानन ! अच्छा हुआ तुम राजनीति में नहीं गये । कम्यूनिस्ट तुम कभी बन नहीं पाते और पूंजीवादी सम्प्रदायवाद में तुम्हारा कहीं अता-पता ही नहीं चलता ।

और पंचानन खिन्न मन से उठ गया ।

जिस प्रकार की तेजी से देश में घटनाएँ घट रही थीं उससे पूरा देश खौलता हुआ जल लग रहा था। विश्व-युद्ध ने जहाँ मँहगाई बढ़ा दी थी वहाँ राशन-कार्ड जैसी नयी प्रथा ने लोगों को उजलत में डाल दिया था। जो मिट्टी का तैल मारा-मारा फिरता था अब उस पर भी राशन हो गया। राशन न हुआ, जान की आफत हो गया। गेहूँ, चावल, दाल, चीनी—जो चीज देखो उसके लिए लाइन में खड़े होओ—क्यों? क्या जरूरत आ पड़ी इसकी? घी-तैल तो सुना था पर यह वनस्पति-घी, 'डालडा' क्या है साहब? कल तक जो कपड़ा चार आने गज अच्छा-खासा मिलता था अब वह बारह आने, एक रुपये हो गया और वह भी राशन-कार्ड पर। धन्य है यह सरकार!! दिन भर नौकरी करने जाओ और फिर कन्ट्रोल की दूकान पर तैल की बोतल पकड़े, झोला उठाये खड़े रहो। सवेरे-शाम कन्ट्रोल की दूकानें नहीं खुलतीं, क्योंकि सरकारी हैं, दिन में खुलेंगी—तब भैया, नौकरी पर कौन जाएगा? तुम?? अजीब सांसत है। यार, ऐसा लगता है कि कांग्रेस ने यह ४२ का आन्दोलन क्या छेड़ा अँग्रेज इसी का दण्ड हमें दे रहा है। और क्या, अपने यहाँ तो नहीं हुआ है पर सुना है कानपुर-दिल्ली-कलकत्ता में जहाँ हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते हैं सरकार अब सामूहिक जुर्माना ठोक देती है। आप उस दंगे के समय भले ही उस शहर में हो न रहे हों पर दण्ड भरिए—कहो, कैसी रही?....सुना नेतागण छोड़े गये हैं....और कोई क्रिप्स महाशय शिमला में तशरीफ लाये हैं। सुना उनकी जेब में कोई योजना है—जरूर कोई करामाती योजना होगी।

रोज की ही तरह जमनालाल चौरसिया की दूकान पर गहमा-गहमी थी। उसी प्रकार दोनों पट्टियों पर बैठे हुए लोग मौज-पानी में लीन भी थे और दुनिया-जहान को लेकर झींख भी रहे थे। सबको लग रहा था कि परिवर्तन हो रहा है

पर इतनी तेजी से परिवर्तन की आशा किसी को नहीं थी। लोगों को लगता था कि ठीक है, समय बदलने के साथ-साथ चीजें हमेशा से बदलती आयी हैं। जब मोटरें नहीं थीं तो घोड़ा-गाड़ी थी। घोड़ागाड़ी को देखकर बैलगाड़ी क्या नहीं चौंकी थी? कल तक जो हफ्ते में एकाध बार दूर आकाश में चीलगाड़ी दिखती थी अब वह हवाई जहाज बनकर हफ्ते में एक बार इन्दौर में उतरने लगा है। लेकिन परिवर्तन की गति और तेजी के सामने तो रुई और चाँदी के भावों का गिरना भी मात हो रहा था। लोगों को युद्ध समाप्ति तक तो यह स्पष्ट लगने लगा कि कल और आज में अब वैसा ही सम्बन्ध रहने वाला नहीं है जैसा कि पिछले दशक में था। सहसा बदलाव का भाव था, मानसिकता इसकी अभ्यस्त नहीं थी। अब समाचार-पत्र केवल रुई-चाँदी के भावों के लिए ही नहीं रह गये थे। छपने वाली खबरों से केवल कुछ शहर और कुछ लोग ही सम्बन्धित नहीं रह गये थे। मुस्लिम-लीग जो कल तक एक साधारण राजनीतिक पार्टी थी अब वह सहसा राष्ट्रीय स्तर की एक शक्तिशाली पार्टी बन रही थी। मुसलमान एक अलग राष्ट्र हैं—इस नारे की प्रतीति लोगों को अब अपने शहर में ही होने लगी थी। सारे मुसलमान मोहल्लों में वहे ही जोश-खरोश के साथ हरे झण्डे तथा उत्तेजक नारों वाले बेनर दिखलायी देने लगे थे। अब इन मोहल्लों में से रात-बेरात अकेले-दुकेले निकलने में औरतों को ही नहीं बल्कि आदमियों को भी सशंक रहना पड़ रहा था। लगने लगा कि जैसे अविश्वास अंकुरित ही नहीं बल्कि पल्लवित किया जा रहा है। क्या इसीलिए महाराजवाडे के सामने राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ की शाखा में भीड़ होने लगी थी? कल तक जो अपने शहर में एक खुलापन आत्मीयता, अपनत्व लगता था वह प्रतिदिन के अखबारों की उत्तेजक खबरों के साथ समाप्त होता जा रहा था। क्रिप्स-योजना पर जब गांधी जी और कांग्रेसी नेताओं ने असहमति प्रकट की तो उस डामिनियन-स्टेटस के बारे में मुस्लिम-लीग ने असहमति दिखलायी। गांधी जी और कांग्रेस जो कुछ चाहते थे, वह तत्काल चाहते थे और पूर्ण स्वाधीनता चाहते थे जब कि अँग्रेज टालमटूल कर रहे थे ताकि किसी प्रकार युद्ध समाप्त हो तो वह खुलकर भारतीय राजनीति में दाव-पेंच लगाएँ। अभी वह कभी जिन्ना, तो कभी मास्टर तारासिंह, तो कभी अम्बेदकर के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम-समस्या का बहाना बना कर या सिखों और हरिजनों की सुरक्षा के नाम पर ढील दिये जा रहे थे। पाकिस्तान की माँग को इस सारी स्थिति से हवा मिल रही थी। पंजाब और बंगाल में उत्तेजना फैलने लगी थी। गंगा-यमुना का मैदान तप रहा था और लगता था कि कभी भी विशाल पैमाने पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे शुरू हो सकते हैं। गांधी जी, कायदे-आजम जिन्ना को मनाने पर लगे थे पर अँग्रेज तुले थे कि किसी भी कीमत पर हिन्दू-मुस्लिम समझौता न हो सके। गांधी जी इस बात पर भी राजी थे कि पहले अँग्रेज चले जाएँ उसके बाद अगर मुसलमान पाकिस्तान माँगेंगे तो चुनाव करवा दिया जाएगा, और जो भी नतीजा होगा वह मान लिया जाएगा। अँग्रेज इस तनाव की स्थिति का लाभ लेना चाह रहे थे। कांग्रेस जो कि अपने को पूरे राष्ट्र की

प्रतिनिधि समझती थी उसे अँग्रेज नष्ट करना चाहते थे और उसे हिन्दुओं की ही प्रतिनिधि संस्था के रूप में सिद्ध करना चाहते थे। अँग्रेज जानते थे कि इस कूटनीति का प्रभाव गाँधी जी पर तो नहीं होगा परन्तु बाकी के कांग्रेसियों से घोषित, अघोषित समझौते, आश्वासन प्राप्त किये जा सकते हैं। जब देखा कि गाँधी की पकड़ देश पर से कम नहीं हो रही है, बल्कि गाँधी बलूचिस्तान, सिन्ध और सीमाप्रान्त तक में राष्ट्रीयता कायम कर पा रहे हैं तो मुस्लिम-लीग को भड़का कर पाकिस्तान की माँग के लिए उनके द्वारा 'डाइरेक्ट-एक्शन—डे' की घोषणा करवा दी जिसका साफ मतलब था कि ढाका से लेकर क्वेटा तक तथा कश्मीर से लेकर केरल तक हिन्दू-मुस्लिम दंगों का श्री गणेश होने जा रहा है। जब कांग्रेसी नेताओं ने देखा कि स्थिति पूरी तरह काबू के बाहर होती जा रही है और देश में चारों ओर भयंकर दंगे शुरू हो गये हैं तो उन्हें लगा कि पाकिस्तान की माँग के बारे में फिर से सोचा जाए। लाखों हिन्दू-मुसलमान इस खून-खराबे में, आगजनी में, छुरेबाजी में तबाह होने लगे। गाँधी जी और कांग्रेस के हाथ से सारी स्थितियाँ खिसकने लगीं तो कांग्रेसी नेता बाध्य होकर अँग्रेजों की बहुत सी अमान्य बातों के लिए भी तैयार हुए जिनका कोई लिखित प्रमाण तो नहीं मिलता परन्तु घटित होते हुए जिन्हें देखा गया। गाँधी ने राजनीति के स्थान पर जनता के बीच जाना ही श्रेयस्कर समझा। इस बीच कांग्रेस ने बाध्य होकर पाकिस्तान की माँग जैसे ही स्वीकार की कि उसके बाद तो घटनाएँ और भी तेजी से घटने लगीं। कोई भी कह सकता था कि इतने बड़े पैमाने पर हत्याकाण्ड, स्वाधीनता के बाद शरणार्थियों की लाखों की संख्या अनायास नहीं थी। एक सुनियोजित योजना थी जो योजनाबद्ध तरीके से, अँग्रेजों के नियन्त्रण में घटित हो रही थी। सबको एक मात्र गाँधी ही खटक रहे थे क्योंकि उनकी दृष्टि राष्ट्र पर थी, न कि राज्य पर। जिन्ना, नेहरू, पटेल या कोई भी नेता रहे हों सबकी दृष्टि राष्ट्र से हटकर राज्य पर केन्द्रित हो चुकी थी इसलिए वे सब गाँधी के स्थान पर माउन्टबेटन से वार्ता में लगे थे। गाँधी अन्तिम समय तक पाकिस्तान की माँग से सहमत नहीं थे। कांग्रेस की कार्यकारिणी ने भी पाकिस्तान को स्वीकार लिया था, गाँधी द्वारा घोषित उत्तराधिकारी नेहरू भी पाकिस्तान के सामने झुक गये थे। इसलिए गाँधी वितृष्ण होकर नोआखाली चल दिये। गाँधी का यह जाना भारतीय राजनीति से सदा के लिए उनका जाना था, पर वह गये जनता के बीच ही।

जो जितना ही संवेदनशील और संस्पर्शी व्यक्ति होता है उसके लिए जीवन प्रत्यक्ष से अधिक अप्रत्यक्ष होता है। इन्द्रियगत तो वह भी सामान्य व्यक्तियों की ही भाँति होता है परन्तु उसके अनुभव की अन्तर्भूमि बहुत ही सघन होती है। ऐसे व्यक्तियों में सब कुछ बहुत गहरे उतरता जाता है। धातुओं में काँसा कितनी देर तक झनझनाता रहता है जब कि दूसरी धातुएँ कब की चुप ही नहीं हुई रहती हैं बल्कि भूल भी जाती हैं कि कभी वे झनझनायी भी थीं। दुर्गा को सीढ़ियों से गिरने के कारण जो भी चोट आयी थी उससे कहीं अधिक मान्यताओं से गिरने के कारण वह आमूल एवं आकण्ठ न केवल झनझनायी ही बल्कि पूर्ण रूप से तिड़क उठी। अपने जीवन में कई प्रकार के ऊँच-नीच देखे होंगे परन्तु किसी दिन, किसी आत्मीय सम्बन्ध के द्वारा *विश्वास नहीं खण्डित हुआ होगा। वह जीवन भर दूसरों के लिए भी सुगन्धित स्तबक* जैसी ही रही और घर-परिवार के लिए तो वह पूर्ण उत्सुक समर्पित रही थी। देह वही होती है, हमारे जीवन का क्रम वही होता है, सब कुछ वैसा ही रहता है तब भी मांस, हड्डियों को छोड़कर झूलने लगता है। कल तक जो चमड़ी कैसी चमकती थी, वही कैसी *शीशे की किरचों जैसी तिड़क उठती है। सुनते समय पूरी तरह कान न बनो* तो ध्वनि, शब्द और वाक्य ही नहीं बनती। देखती आँखों में व्यक्ति का संबंध तभी दिखलायी देता है जब आप समग्र भाव से उसे देखें। शायद व्यक्ति की जीवनी-शक्ति इसी क्रमबद्धता के साथ धीरे-धीरे समाप्त होती है लेकिन अगर किसी कारण से ऐसे परिवर्तन के समय कुछ अप्रत्याशित सहसा घट जाए तो तत्काल व्यक्ति को लगने लगता है कि बिना घुटनों पर हाथों का जोर लगाये खड़ा नहीं हुआ जा सकेगा। वस्तुतः भोगकर्ता मन होता है, देह तो माध्यम है। हमें सामान्यतः व्यक्ति की देह ही दिखलायी देती है, मन नहीं।

उस दिन की चोट नहीं बल्कि सदमा ही दुर्गा के लिए सांघातिक हो गया। चूंकि वह सहसा का अनुभव था इसलिए झटका भी तीव्र ही था। सीढ़ियों से भले ही वह देह से गिरी हो परन्तु वह अन्तर में उससे कहीं अधिक ऊँचाई से गिरी थी इसलिए देह की चोट में और मन की चोट में तात्विक अन्तर था। दुर्गा हताश होने वालों में से कभी नहीं थी और जब ऐसे संकल्पवान व्यक्ति टूटते हैं तो फिर आद्यन्त और आकण्ठ ही टूटते भी हैं। किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के सन्दर्भ में वैचारिक विकीर्णता अधिक खतरनाक हुआ करती है। इन दिनों जिस प्रकार की घटनाएँ और समाचार सुनने-भोगने पड़ रहे थे उसमें वह हताश से कहीं अधिक टूट रही थी। यही होता है। वर्षों-वर्षों मकान आँधी-तूफान सब सहता चला आता है पर एक बार किसी वर्षा में मकान टूट भर जाए तब देखिए कि वे नंगी दीवारें कैसे छोटे से छोटे जल के वेग को भी नहीं सहन कर पाती हैं और उत्तरोत्तर क्रमशः ढहती ही जाती हैं। कैसा लीला-रहस्य है। तत्व पहले तो एक संयोग-क्रम में एक-दूसरे के निकट आते हैं और स्वरूप ग्रहण करते हैं उसके तत्काल बाद से ही उस रचना या सृष्टि को वे सारे तत्व अपनी-अपनी ओर खींचने लगते हैं। यह खींचना ही उस रचना का जीवन होता है। इस क्रम में समय या काल अपने ढंग से कार्य कह रहा होता है, जो कि उस रचना में आयु बनकर व्यक्त होता है और एक स्थिति पर पहुँच कर जब सारे तत्व भूलने लगते हैं तब उस रचना में काल, आयु बनकर अन्तिम रूप से उड़ जाने के लिए शेष दिखलायी देता है।

गोविन्द ने तो दुर्गा को अपने निर्णय से नहीं अवगत कराया परन्तु नर्मदा मासी माँ के द्वारा सुनकर वह अवाक रह गयी। पति ने एक बार गोविन्द को लेकर उससे मजाक तक किया था कि गोविन्द तो कर्ण है और दुर्गा, कुन्ती। भले ही यह मजाक विक्त रहा हो पर क्या सत्य नहीं था? अपनी किसी भी सन्तान से कम विह्वल वह गोविन्द के लिए क्या नहीं रही हैं? कैसे जीवन भर वह इस गोविन्द को लेकर आँच में उलटती-पलटती रोटी बनकर सिकती रही है पर उसी गोविन्द को लेकर जब धूर्जटी को अपनी पत्नी के कहने पर न जाने क्या-क्या कहता-सुनता देखा-सुना तो उसे विश्वास नहीं आया। उस दिन जब अपने ही कानों से शारदा की बातें सुनी तो उस क्षण सीढ़ियों पर खड़े-खड़े लगा जैसे शरीर का सारा रक्त पैरों की राह बह उठने को अकुला रहा है। दीमाग की सारी नसें फट पड़ेंगी। और दो दिन पूर्व जब नर्मदा मासीमाँ ने बताया कि सार्वजनिक-सभा की कार्यकारिणी में धूर्जटी ने गोविन्द पर बहुत खुलकर आक्षेप किये, लांछन लगाये तो सारे सदस्य अवाक रह गये। मासीमाँ की बातों से ही दुर्गा को लगा कि देश की राजनीति जिस तेजी से अपनी प्रकृति और प्रकार बदल रही थी राजनीति का केन्द्र राष्ट्र से राज्य बनता जा रहा था उस क्रम में केन्द्रीयता भी अब गांधी से हटकर नेहरू की ओर खिसक रही थी और यह सब आदर्शवादी देशभक्ति के स्थान पर यथार्थवादी राजनीति के नाम पर हो रहा था इसलिए गांधीवादी, आदर्शवादी तथा निष्ठावान लोग क्रमशः छाँटे जा रहे थे। इस क्रम में रावलजी और गोविन्द जैसे व्यक्तियों पर भी चोट हो तो आश्चर्य की क्या बात है? जीवन चाहे वैयक्तिक,

पारिवारिक या राष्ट्रीय हो—प्रयोजन की धुरी पर ही घूमता है। देशभक्ति का भी प्रयोजन लगभग समाप्त हो रहा था और केन्द्र में राजनीति प्रतिष्ठापित हो रही थी। गोविन्द इस ऐतिहासिक अनिवार्यता को तथा अपनी मानसिकता को समझ चुके थे अतः गौरा से परामर्श करके वही इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि वापस गाँव जाया जाए और वहाँ के घुने जीवन और लोगों के बीच रहकर कुछ सार्थक रचनात्मक कार्य किया जाए। वकालत का पेशा कभी भी गोविन्द को आकर्षित नहीं कर सका था बल्कि उज्जैन में बने रहने के लिए मात्र माध्यम था क्योंकि देश की राजनीतिक गतिविधियों में रुचि होने के कारण राजनीति से जुड़ने की अनिवार्यता भीतर से अनुभव करते थे। जब तक देशभक्ति का उफान था तब तक आन्तरिक राजनीति की क्रूरता, विद्रूपता नहीं उभरी और दुर्गन्ध भी नहीं आयी। गाँधी के केन्द्रीय व्यक्तित्व में विपरीत गुरुत्वाकर्षणों के तेज से तेज झटकों को आत्मसात कर जाने की अपूर्व क्षमता थी परन्तु जिस प्रकार के दंगे, हत्याकाण्ड, मूल्यों का विघटन, मान्यताओं का झुठलाना तेजी से हो रहा था उसमें स्वयं गाँधी अनिर्णीत मनःस्थिति में दिखलायी दे रहे थे कि अगर कांग्रेस तथा अपने द्वारा ही घोषित उत्तराधिकारी नेहरू के साथ बने रहते हैं तो वह राज्य के तो हो जाएँगे पर राष्ट्र हाथ से छूट जाएगा। इसलिए जब गाँधी ने कांग्रेस तोड़ दो का सुझाव दिया उस समय स्पष्टतः अन्तिम दरार उत्पन्न हो गयी जिसमें गाँधी के उत्तराधिकारी नेहरू और शेष कांग्रेसी राज्य के साथ हो गये और गाँधी, पीड़ित मानवता, त्रस्त और रक्त स्नात जनता तथा चौथड़े कर दिये गये राष्ट्र के साथ अकेले खड़े थे। भला ऐसी विषमता में राजनीति में बने रहने का अर्थ ही क्या था, जबकि राजनीति—देश, जनता और राष्ट्र को भोगने के लिए छोड़कर अभिषिक्त होने के लिए उन लोगों के साथ परामर्श, सहमत हो जिनके विरुद्ध इतने आन्दोलन किये। दो राष्ट्रों का सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ा और सारे मानवीय तथा नैतिक आदर्श और मूल्यों का स्थान समझौतों ने ले लिया। इस प्रकरण में जब गाँधी ही उपेक्षित कर दिये जा रहे थे तब किसी अन्य की क्या बिसात थी ?

दुर्गा को सुन-सुनाकर गोविन्द के इस निर्णय की भनक हुई तो वह बहुत अकुलायी, दुःखी हुई। वह राष्ट्रीय राजनीतिक परिवेश तो इतना नहीं समझती थी कि गोविन्द इस सीमा तक वितृष्ण हो जाएगा पर उसे यह जरूर लग रहा था कि निर्णय के इस मुहाने तक पहुँचाने में धूर्जटी का विशेष हाथ है और यह सोचकर वह हाहाकार से भर उठती थी। पर किसे क्या कहे यह भी नहीं समझ पा रही थी। वैसे वह जानती थी कि गोविन्द में नाम मात्र को भी आक्रोश या आवेश नहीं है। उसे रह-रहकर धूर्जटी पर ही अधिक गुस्सा था। रावलजी जैसे गाँधीवादी और शान्त प्रकृति के नेता तथा प्रकारान्तर से गोविन्द का मखौल उड़ाने वाले तुम कौन होवे हो ? क्या तुम किसी दिन जेल गये ? जनता के बीच खड़े हुए ? सरकार से सुविधाएँ लेते रहने की राजनीति में अब तुम्हें ये तपे हुए देशभक्त लोग बाधक लगते हैं तो तुम्हारे जैसे लोग इनका मजाक उड़ाएँगे ?.... और क्या वह जानती नहीं कि तुम्हें यह सब कौन सिखा रहा है ?....पर वह विवश थी।

अपने कानों से अपने बारे में ही जब शारदा की बातें वह सुन आयी थी तब उसके बाद सिवाय घुलते जाने के और क्या बचा था ? शरीर तो दुःख रहा था पर मन तो पूरी तरह खण्डित हो चुका था। अपना ही दूध जब फट जाए तब व्यक्ति क्या करे ? क्या इसे ही सन्तान कहते हैं ? जिन आँखों को काजल आँज-आँज कर देखना सिखाया, उजलाया, वे ही आँखें बड़ी होकर आँखें दिखाने लगें तो व्यक्ति किससे कहे ? और क्यों ? ...और कोई किसको-किसको लेकर रोये ? कल जब पति ने विधु का पत्र लाकर सामने रख दिया तो वह समझ नहीं पायी कि वह इसे पढ़कर क्यों नहीं सुनाते ? ऐसे काँप क्यों रहे हैं ?

— क्यों ? क्या बात है ?

— चिट्ठी है और क्या।

पति ने जिस प्रकार जवाब दिया उससे स्पष्ट लग रहा था कि उनकी वाणी में न केवल क्रोध ही बल्कि उनके पूरे स्वत्व के काँपने की जैसे ध्वनि भी आ रही है।

— किसकी है ?

— तुम्हारे लाड़ले जज साहब की....एक दक्षिणी लड़की से जज साहब ने शादी कर ली है। तुम्हें सिर्फ सूचना दी है।

दुर्गा पति का सुनना ज्यादा देख-सुन रही थी बल्कि बात को समझना तो थोड़ी देर बाद हुआ इसीलिए जब बात सुनी-समझी तो उसे लगा कि सारे ढाँचे को सारी चमड़ी और माँस छोड़कर भूल आया है और मन छिटक कर दूर जा गिरा है। अपने स्वत्व के पदार्थ रूप को जब वह गहना चाहती है तो चेतन छिटक उठता है और चेतन को थामे रहना चाहती है तो पदार्थ लटका पड़ता है। ऐसी साँसत, विषमता उसने पहले कभी नहीं भोगी। प्रश्न यह नहीं था कि विधु ने क्यों परजाति से विवाह किया। ठीक है, लड़के को जो उचित लगा वही किया पर ऐसा करने में घर-परिवार के लोग क्या कहीं नहीं आते थे ? क्या यही सुख देने के लिए तुम सन्तान थे ? तुम्हारी इच्छाएँ हैं तो माँ-बाप की भी तुमसे कुछ अपेक्षाएँ होंगी ही।... मनुष्य एक सीमा के बाद कितना विवश, कितना असहाय हो जाता है इसकी प्रतीति जितना खाती तथा तोड़ती है उतनी तो वे वास्तविक की घटनाएँ एवं स्थितियाँ भी नहीं करती हैं। घटनाएँ या स्थितियाँ नहीं बल्कि उनकी स्मृतियाँ ही मनुष्य को अधिक सालती और तोड़ती हैं। दुर्गा इन दिनों के पूर्व तक शायद ही कभी असहाय हुई हो। तब भी नहीं जब वह इस घर में वर्षों-वर्षों पूर्व एक अनजान व्यक्ति की भाँति, मूक बहू बनकर आयी थी। तब वह बिल्कुल अकेली थी परन्तु तब भी एक अज्ञात, अस्पष्ट आत्मविश्वास सा था लेकिन आज समस्त पुत्र-कलत्र के होते हुए भी कैसी असहायता थी कि वह खुलकर 'ओ माँ !!' कहकर चीख भी नहीं पा रही थी।... धूर्जटी की बहू ने क्या उस पर भी लांछन नहीं लगाया कि वह अपनी ही सन्तानों में भेद-भाव करती है... मन्या का कुछ पता ही नहीं....जैसी मारकाट की सूचनाएँ, दंगे-फसाद हो रहे हैं उसमें पता नहीं वह कहाँ है .. विधु ने जो किया उसे कोई क्या कहे ? . गोविन्द-गौरा को आँख की पुतली माना उन्हें ही ` को

सन्तान लांछित करे तो दुर्गा किससे क्या कहे ? क्या कुल-कुटुम्ब, घर-परिवार का यह पसारा इसी सब फजीहत के लिए होता है ! क्या इसे ही सांसारिक सुख कहा जाता है ? क्या इसी के लिए देह और मन से बारम्बार कीचड़ में सनना होता है ?....नहीं, बड़दा ठीक कहा करते थे कि दलदल सर्वत्र ही दलदल होता है । या तो इससे दूर रहो, जो मुश्किल है, या फिर—जैसी ही पैर धरा नहीं कि तब इससे दलदल से कोई नहीं बचा सकता । उत्तरोत्तर धँसते जाना और अपने निश्चित डूबते जाने को घुटते हुए अनुभव करना होता है ।
और दुर्गा फफक-फफक कर रो पड़ी । ऐसा नहीं पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने अपनी पत्नी को रोते नहीं देखा । पर रोने-रोने में अन्तर होता है । फटते हुए कपड़ा जैसे चीत्कार करता है लगभग उसी प्रकार रोना दुर्गा में से उठ रहा था । जल जब धरती को फोड़कर बाहर आता है तब धरती विदीर्ण हो जाती है, विकृत हो जाती है । पत्नी को जब इस प्रकार स्वत्व से रोते हुए देखा तो पूरा जीवन उनकी आँखों के आगे कौंध गया । विवाह के दिन जब वधू के रूप में प्रथम बार दुर्गा को देखा था तब भी हाथ गहते हुए कैसी प्रकम्पितता लगी थी तब यह हाथ कैसा सुडौल और चिकना था और आज जब वही हाथ अपने वृद्ध हाथ में थरथरा रहा है तो स्वयं अपने भीतर भी कैसी विह्वलता लग रही है।
— रो रही हो ?
इतना कहा जरूर पर लगा कि इसके आगे कहना व्यर्थ है । रोती हुई किसी भी ममता को किसी भी जिज्ञासा या किसी भी भाषा से सान्त्वना नहीं दी जा सकती । एक सीमा के बाद जीवन, भाषा को भी लाँघ जाता है। उसकी गति अबाध हो जाती है क्योंकि तब वह भी प्रकृति और तत्त्ववत हो जाता है । पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल चूँकि पुरुष थे इसलिए अपनी सन्तानों की माँ नहीं थे । अपनी सन्तानों के अवतरित होने पर उनमें कुछ भी वैसा नही घटित हुआ था जैसा कि स्त्री के साथ होता है....इसलिए वह रो भी नहीं पा रहे थे । और जब मन का पश्चाताप, रो नहीं पाता तब यह टूटे काँटे सा कसक-कसक उठता है । टीस सी उठती है । ऐसा बलगम, जो हड्डियों से चिपका पड़ा हो उसे निकाल फेंकने के लिए आप समग्रता के साथ जोर लगाकर खाँसते हैं, आँखें लाल होकर बाहर निकल-निकल पड़ती हैं पर वह बलगम हड्डियों में घरघराता चिपका ही हुआ रहे तो व्यक्ति क्या करे ?
तभी ऊपर से प्रमिला के बच्चे का रोना सुनायी दिया। प्रमिला शायद काम-काज में बझी हुई होगी और बच्चा जाग कर रो रहा है। अपने आँसू पोंछते हुए दुर्गा ने पति से कहा ।
— शशि है न ?
— हाँ, क्यों ?
— उससे कहो कि जाकर अपनी भाभी से कहे कि बच्चे को ले ले । अगर वह जरूरी काम कर रही हो तो बच्चे को नीचे ले आये ।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल उठे ।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल की बड़ी साँसत थी। आज पन्द्रह दिनों से दुर्गा की तबीयत ठीक ही नहीं हो रही थी, बल्कि बराबर गिरती ही जा रही थी। गिरने से जो घाव हुआ था वह तो ठीक हो गया था पर शारीरिक व्याधियाँ उभर आयी थीं और किसी भी तरह की दवाइयों से स्थिति सम्हल ही नहीं पा रही थी। लड़कियों को खबर कर दी गयी थी। कुन्ती और कान्ता दोनों चली आयी थीं। जो घर इधर सुनसान रहने लगा था अब फिर बच्चों और नाती-पोतों की उपस्थिति से गुंजान लगने लगा था पर दुर्गा के मन और स्वत्व पर से ही स्वाद उतर गया था। वह जो नहीं रही थी बल्कि अपने अनिवार्य अन्त तक पहुँचने के लिए अपने को वहन कर रही थी इसीलिए दुर्गा के बोलने, देखने सबमें कैसा फीका-फीकापन लगता था। नाती-पोतों को अपने चारों ओर देखकर उनसे बोलते-बतियाते हुए भले ही किसी अन्य को भूली सी दिखती हो पर वह जानती है कि वह खुलकर ममतामयी नहीं हो पाती। वह अब किसी भी व्यक्ति, सम्बन्ध और भाव को अधिक से अधिक स्पर्श भर करती है लेकिन किसी दिन ललक कर गहती नहीं है। न जाने उसे क्यों एक अव्यक्त घबराहट सी प्रत्येक समय लगती और वह चौंक चौंक पड़ती। अज्ञात में लगता कि जैसे कोई आया, लेकिन कौन? पूछने पर वह भी नहीं बता सकती थी कि वह किस 'कौन' को आया हुआ देखना चाहती है।

दुर्गा को शायद झपकी लगी थी। झपकी ही कहनी चाहिए, क्योंकि बाहर के दरवाजे पर जैसे कोई पुकार रहा था—'शुक्लजी', 'शुक्लजी महाराज !!'—हो सकता है कोई यजमान आया हो। दुर्गा शायद पतले जल में डूब-उतरा रही थी? यह इसलिए कि वह सपना नहीं देख रही थी बल्कि सोच रही थी—क्या सोच रही थी? यह बात वह भी नहीं जानती। पर इतना जरूर था कि वह ठीक से न तो लेट पा रही थी और न निश्चिन्त मन से सोच ही पा रही थी।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने जैसे ही दरवाजा खोला तो देखा कि तार वाला है। ....तार? तार कहाँ से आया? कौन भेज सकता है? और लगभग काँपते हाथों से तार लिया। तार हाथ में लेते ही न जाने क्यों ऐसा लगा कि जैसे तार नहीं कोई अंगारा छू लिया हो। तार का लिफाफा जिस मुश्किल से उन्होंने फाड़ा, वही जानते हैं। शशि किसी काम से अपनी मामी के पास ऊपर जाने के लिए सीढ़ियों के पास खड़ा था, तार आया देखकर वहीं खड़ा रह गया था, कि पता नहीं किसका तार है। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के अवचेतन में स्पष्ट था कि निश्चित ही कुछ अवांछित घटा है और वह किस व्यग्रता, आकुलता से क्षणान्त में ही जानने को छटपटा रहे थे यह उन्हें देखकर शशि को स्पष्ट था। बाबा जिस तेजी में तार को पढ़ रहे थे, बल्कि बराबर पढ़ रहे थे और हर बार के पढ़ने पर जिस तेजी से उनमें परिवर्तन लग रहा था उसके कारण शशि वहीं सीढ़ियों के पास नहीं खड़ा रह सका। जबकि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लग रहा था कि जो कुछ भी उन तक व्यक्त हुआ है उसे वह सहन नहीं कर पाएँगे। उनके दोनों घुटने काँप उठे। बगलें भीग उठीं। कान जैसे झनझना उठे। उन्हें लगा कि अगर वह किसी चीज से नहीं टिकते तो वह ढह पड़ेंगे।

— हे भगवान !!
और दीवार से पीठ टिकाते हुए तार उनके हाथ से छूट गिरा। शशि ने लपककर तार उठा लिया। वह भी व्यग्र था कि तार में ऐसा क्या है कि बाबा ऐसे निरुपाय हो उठे। और जैसे ही शशि ने तार पढ़ा तो हठात उसके मुँह से निकल पड़ा,
— नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता।
और वह तार लेकर ऊपर की ओर भागा। पर, ऐसा क्या नहीं हो सकता ?
दुर्गा ने जब अपने पुत्र का चीख जैसा चिल्लाना सुना तो पहले तो वह अपने स्वत्व के ऊपर के जलों तक बहुत मुश्किलों से नीचे के जलों को ठेलती हुई ऊपर आयी। ऐसा करने में जो उसे परिश्रम करना पड़ा वह उसके मुख पर लिखा दिख रहा था। अभी वह कुछ पूछे, समझे तब तक उसे लगा कि घर में जैसे कुहराम मच गया है।....शोर, लगभग रोने-पीटने जैसा शोर....किस बात का है यह ? क्या हो गया ऐसा ? किसका तार था ? कोई उसे क्यों नहीं बतलाता कि तार क्या था ?....और उसे सीने में तेज दर्द अनुभव हुआ। वह चीखी। दुर्गा की चीख सुनकर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल जो कि इस समय तक अपने को किंचित सहेज पाये थे, लपककर आये। पत्नी सीने के पास मलते हुए पसीने-पसीने हो रही थी। आँखों में पूछना जैसे अँजा था। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल विह्वल पत्नी को सम्हाले हुए थे। उन्होंने उसी प्रकार जिस ढंग से शशि को आवाज दी उसे सुनकर सारे लोग नीचे भागे आये।
— जाओ, डाक्टर को बुलाकर लाओ।
शशि जाने को उद्यत हुआ कि दुर्गा अपने को बहुत-कुछ सहेज चुकी थी। पूरी शक्ति लगाकर उसने पूछ ही लिया,
— किसका तार था ?
जानते सब थे। दुर्गा ने पूछा भी सबसे ही था भले ही पूछते समय देखा पति की ओर हो या लेकिन 'पत्नी' को, 'माँ' को, 'सासूमाँ' को कौन जवाब दे ? पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के रहते भला कौन क्या कह सकता था ? कान्ता, कुन्ती, प्रमिला सबकी रोती हुई आँखें देखकर दुर्गा ने फिर कहा,
— क्या मन्या का तार था ?
दुर्गा ने पूछने के जिस अन्तिम मुहाने पर सबको पहुँचा दिया था उसके बाद न कहना सम्भव ही नहीं था। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,
— शायद दिल्ली मे दंगे में किसी ने...
सहसा घर की छत अनपेक्षित रूप से गिरे और हरहराता मलबा और धूल का अम्बार टूट गिरे तो दबना, हठात दबना—डूबने, जलने, साँस घुटने, धँसने सभी जैसा एक साथ होता है न ? आप अच्छे-खासे खड़े हों और सहसा भूकम्प में आपके पैरों के ठीक नीचे की धरती चिर उठे तो आप कैसे खड़े-खड़े तराश दिये जाते हैं और क्षणान्त में आपका वह व्यक्तित्व लीलकर धरती फिर धरती बन जाए, तो क्या हो ? विराट के सामने समर्पण करना ही होता है।

पड़ा। और अन्त में पूरी मानवता के प्रतीक-पुरुष के रूप में गोलियों से ढह जाना पड़ा। राजनीति से जब भी प्रार्थना-व्यक्तित्व सहन नहीं होते तब यही प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

सब शेष हो चुका था। राष्ट्र, राज्य बन गया था। लाखों नर-नारी हत्या, लूट पाट, बलात्कार, धर्म-परिवर्तन में तबाह हो रहे थे। शरणार्थियों से पूरी धरती खौलता जल हो गयी थी। अपने नगर, ग्राम भय के पर्याय बन गये थे। सारे मूल्य निरर्थक हो गये थे पर किसी में फिर से इतिहास की प्रक्रिया बदलने की न इच्छा, न कामना और न ही शक्ति रह गयी थी। जिसमें थी वह अकेला गांधी, मूल्यों, संस्कृति, दर्शन और विचार के परिवृत्त में फेंक दिया गया था। कर्मवीर गांधी से महात्मा गांधी तक की यात्रा करने वाले ऐतिहासिक व्यक्ति की आवश्यकता अब न उसके द्वारा घोषित उत्तराधिकारी को ही रह गयी थी और न उसके द्वारा कांग्रेस को समाप्त कर देने के परामर्श वाली कांग्रेस को ही रह गयी थी। चूंकि राष्ट्र की समाप्ति होने पर ही राज्य जन्मा था इसलिए गांधी की परिसमाप्ति पर ही शेष को अभिषिक्त होना था—और हुआ भी वही।

गोविन्द के लिए शुक्ल-परिवार में अब क्या शेष था ? दुर्गा दीदी की मृत्यु के बाद केवल भाव ही था। कल दुर्गा दीदी की त्रयोदशा भी हो चुकी थी।

— गौरा ! सारा समान नीचे पहुँच गया न ?

— हाँ, आप चलिए। मैं भी भगवान और तुलसी को प्रमाण कर आऊँ।

— गौरा !

पति ने जब दुबारा उसका नाम कहा तो वह चौंकी, पूछा,

— क्या बात है ?

गोविन्द ने गौरा को, गौरा में से देखते हुए देखा और निश्वास लेते हुए कहा,

— कुछ नहीं, चलो।

— आप शायद कुछ कहना चाह रहे थे।

— शायद, गौरा ! जब बहुत-कुछ कहने को हो तब कुछ नहीं कहना चाहिए। आशुतोष नीचे बैलगाड़ी में पहुँच गया ?

गौरा समझ गयी कि आशु की बात तो पति ने अपने को आड़ में करने के लिए कही। गौरा घर बन्द करने के पूर्व भगवान और तुलसी को प्रणाम करने के लिए आँचल ठीक करते हुए बढ़ गयी।



आधुनिक भारतीय साहित्य के शीर्षस्थ कवि, कथाकार एव विचारक श्री नरेश मेहता का जन्म १५ फरवरी १९२२ को शाजापुर, मालवा के एक सम्पन्न ब्राह्मण परिवार मे हुआ। उज्जैन के माधव कालेज से इटरमीडिएट के बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी मे एम० ए० किया। पारिवारिक पाडित्यपूर्ण वातावरण के साथ ही काशी के मनीषात्मक परिवेश तथा ऋषिवत् आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और प० नन्ददुलारे वाजपेयी के सान्निध्य से वैदिकता के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हुई। वैष्णव संस्कार, शिवत्व के सम्पर्क में आकर औपनिषदिक आभा मे स्वरूपित हो गया।

सन् '४२ के स्वाधीनता-सग्राम मे सक्रिय भाग लिया। छात्र-आन्दोलन तथा कांग्रेस-कम्यूनिस्ट पार्टी से लगभग १५ वर्षों तक सम्बद्ध रहे। दिल्ली में ट्रेड-यूनियन के एक साप्ताहिक के सम्पादन के अलावा 'कृति' जैसे प्रमुख मासिक के सम्पादक रहे। आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रो पर छह वर्षों तक कार्यक्रम अधिकारी। इतने विभिन्न अनुभवों के बाद सन् '५९ में स्वतन्त्र-लेखन के निर्णय के फलस्वरूप गत २० वर्षों से प्रयाग में स्थायी वास।

आज के समकालीन लेखन मे अपनी सृजनात्मक विपुलता, विशिष्ट दृष्टि, निष्णात भाषा और विशाल फलक को समेटने वाली क्लासिकी शैली के कारण सर्वथा विशिष्ट नाम ही नही, प्रतीक बन चुके हैं। पूर्णत: कवि होने पर भी गद्य के क्षेत्र में भी अप्रतिम व्यक्तित्व। शौक के नाम पर पान, सुगंधित तम्बाकू और इत्र। रुचियो मे हिमालय-यात्रा, संगीत, अध्यात्म, तन्त्र, ज्योतिष और बतरस। पूछने पर सदा अपनी अलिखित कविता की पक्ति :

ओ मेरे दाता !
दी है फकीरी तो देना सकल्प भी !